Hkkjr dk bfrgkl

प्राचीन काल से 1526 ई०

ch- ,- I

(Option– I)

njLFk f'k{kk funs'kky;
egf"kZ n;kuUn fo'ofo|ky;
jksgrd&124 001

Copyright © 2002, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

Developed & Produced by EXCEL BOOKS PVT. LTD., A-45 Naraina, Phase 1, New Delhi-110028

विषय सूची

क्रम सं०	विषय	पृष्ठ सं०
अध्याय 1	इतिहास के स्रोत	5
अध्याय 2	प्रागैतिहासिक काल, नवपाषाण काल व धातु युग	14
अध्याय 3	सिंधु घाटी सभ्यता	21
अध्याय 4	वैदिक काल	36
अध्याय 5	सामाजिक विकास	59
अध्याय 6	महाजनपदों का उदय	74
अध्याय 7	जैन और बौद्ध धर्म	80
अध्याय 8	मौर्य साम्राज्य	93
अध्याय 9	मौर्योत्तर काल	110
अध्याय 10	संगम काल	118
अध्याय 11	गुप्त काल	131
अध्याय 12	गुप्तोत्तर काल	157
अध्याय 13	गुप्तोतर काल में स्त्रियों की स्थिति	168
अध्याय 14	राजपूत काल	175
अध्याय 15	भारत पर तुर्की आक्रमण	191
अध्याय 16	दिल्ली सल्तनत का विस्तार	202
अध्याय 17	दिल्ली सल्तनत का विघटन एवं पतन	221
अध्याय 18	दिल्ली सल्तनत – समाज और अर्थव्यवस्था	227
अध्याय 19	दिल्ली सल्तनत – धर्म और संस्कृति	235
दीर्घ उत्तरीय प्रश्न		250

v/;k; 1

bfrgkl ds lzksr

"इतिहास का अध्ययन अतीत का अध्ययन है। गुजरी घटनाओं का सही ढंग से अध्ययन तभी संभव है जब स्रोत प्रामाणिक हों और वे घटनाओं को कल क्रमानुसार प्रस्तुत करें। इस अध्याय में हम प्राचीन भारत के इतिहास के स्रोतों के बारे में पढ़ेंगे।

- *धार्मिक ग्रंथ*
- *ऐतिहासिक एवं सामाजिक ग्रंथ*
- *विदेशियों के विवरण*
- *पुरातात्विक सामग्रियाँ*

çkphu Hkkjrh; bfrgkl ds lzksr

भारत के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक संरचना को जानने के लिए तथा उसे क्रमबद्ध तरीके से लिपिबद्ध करने के लिए इतिहासकार अनेक स्रोतों से जानकारी इकट्ठा करते हैं। भारतीय इतिहास के मुख्यतः चार स्रोत हैं–

(1) धार्मिक ग्रंथ

(2) ऐतिहासिक एवं सामाजिक ग्रंथ

(3) विदे ियों के विवरण, और

(4) पुरातात्विक सामग्रियाँ

इस सभी में पुरातात्विक सामग्रियों की इतिहास के लेखन में सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता है और इन्होने इतिहास को क्रमबद्ध करने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

(1) **धार्मिक ग्रंथ–** भारत एक धर्म प्रधान दे ा रहा है और इस धरा (धरती) पर मुख्य रूप से तीन धर्मों का प्राचीन काल में उदय हुआ–वैदिक धर्म, जैन धर्म और बौद्ध धर्म। इन सभी धर्मों के ग्रंथ इतिहास लेखन में सहायता करते हैं।

(क) ***वैदिक ग्रंथ*–** इसके अंतर्गत वेद, पुराण, महाकाव्य, स्मृतियाँ आदि आते हैं। वेद भाब्द का अर्थ 'ज्ञान' है। इन ग्रंथों से हमें आर्यों के जीवन के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। वेदों की संख्या 4 है–ऋगवेद, यजुर्वेद, सामवेद और अर्थववेद। पहले तीनों वेदों को 'त्रिवेद' कहते हैं।

(i) *ऋगवेद*– यह सबसे प्राचीन वेद है। इससे आर्यों की राजनीतिक प्रणाली व इतिहास की जानकारी मिलती है। इसमें मंत्रों का संकलन है जिन्हें यज्ञों के अवसर पर देवताओं की स्तुति के लिए ऋशियों द्वारा उच्चारित किया जाता था। इसमें 1028 सूक्त हैं। जिन्हें विशयों और ऋशियों के नाम के अनुसार दस मंडलों में बाँटा गया है। सबसे पुराना सूक्त दूसरे से नवें मण्डलों में हैं। पहला और दसवां मंडल बाद में जोड़ा गया। दूसरे व सातवें मंडल सर्वाधिक प्राचीन हैं। दसवें मंडल में पुरूश–सूक्त है। गायत्री मंत्र का उल्लेख ऋगवेद में मिलता है।

(ii) *सामवेद*– साम का अर्थ है गान। सामवेद संहिता में यज्ञों के अवसर पर गाए जाने वाले मंत्रों को संकलित किया गया है। इन मंत्रों को गाने वाला "उद्गाता" कहलाता था। इसमें 1549 ऋचायें हैं,

जिसमें से सिर्फ 75 नई हैं, भोश ऋगवेद से ली गई हैं। सामवेद से आर्यों के संगीत प्रेमी होने का पता चलता है।

(iii) *यजुर्वेद–* 'यजुश' का अर्थ है यज्ञ। इस वेद में यज्ञ संबंधी विधि–विधानों का वर्णन है। वर्तमान में यजुर्वेद की मात्र 5 ही भााखाएं भोश हैं। इनमें से चार कृश्ण यजुर्वेद की और 1 भाुक्ल यजुर्वेद की हैं। इसका उच्चारण करने वाला "अध्वर्यु" कहलाता है। इस वेद में मंत्रों के साथ उनकी गद्यात्मक व्याख्या भी है। यजुर्वेद की निम्न 5 भााखाएँ ही भोश हैं–

(i) काठक (ii) कपिश्ठल (iii) मैत्रायणी (iv) तैतरी (v) वाजसनेयी

(iv) *अथर्ववेद–* अथर्वा ऋशि द्वारा रचित इस वेद में 731 सूक्त और 20 अध्याय है। काफी समय तक इसे वेद नहीं माना जाता था। इसमें ब्रह्मज्ञान, औशधि प्रयोग, रोग निदान, जादू–टोना आदि के लिए मंत्र उल्लेखित हैं।

(v) *ब्राह्मण ग्रंथ–* यज्ञ से संबधित विशयों के प्रतिपादक ग्रंथ, ब्राह्मण ग्रंथ कहलाते हैं। वे यज्ञों का अर्थ बताते हुए अनुश्ठान की विधि बताते हैं। ऋशियों ने इनकी रचना गद्य भौली में की है और वे वेदों की व्याख्या करते हैं। प्रत्येक वेद के लिए ब्राह्मण ग्रंथ है। वे इस प्रकार हैं

ऋगवेद – ऐतरेय तथा कौि ातकी

सामवेद – ताण्ड्ल, सद्विं ा, जैमिनीय, पंचवि ा

यजुर्वेद – तैतरीय, भातपथ

अथर्ववेद – गोपथ

(vi) *आरण्यक–* ये वन पुस्तकें कहलाती हैं। ये ब्राह्मणों के अंतिम भाग हैं। इन्हें वनों में रहने वाले संयासियों के प्रयोग तथा मार्गदर्शन हेतु ब्राह्मणों से अलग कर दिया गया था। ये रहस्यवाद से संबंधित हैं । इनकी संख्या 7 है।

(vii) *उपनिशद्–* उपनिशद् का भााब्दिक अर्थ है ' निकट बैठना'। इसका अर्थ है विद्या प्राप्ति के लिए गुरु के समीप बैठना। इन्हे ब्रह्मविद्या भी कहते हैं। इसमें आत्मा, परमात्मा एवं संसार के संदर्भ में प्रचलित दार्शनिक विचारों का संग्रह मिलता है। उपनिषद्, वैदिक साहित्य के अंतिम भाग हैं इसलिए इन्हें वेदांत भी कहा जाता है।

800–500ई० पूर्व के मध्य विभिन्न ऋशियों ने 108 उपनिशदों की रचना की, किन्तु इनमें 12 प्रमाणिक माने जाते हैं। ये हैं–ई ा, केन, कठ, मुण्डक, माण्ड्क्य, प्र न, तैतरीय, ऐतरेय, छन्दोग्य, वृहदारण्यक् भवेता वतर तथा कौ ीतकी।

(viii) *वेदांग–* वेदों के अर्थ को सरलता ठीक से समझने के लिए वेदांग नामक साहित्य की रचना की गई। इनकी संख्या 6 हैं–

(i) ि ाक्षा (ii) ि ाल्प (iii) व्याकरण (iv) निरुक्त (v) छन्द (vi) ज्योतिश

वेदांगों के अतिरिक्त निम्नलिखित उपवेद भी है–

(i)	आयुर्वेद	–	चिकित्सा से संबंधित
(ii)	धनुर्वेद	–	युद्ध कौ ाल से संबंधित
(iii)	गंधर्व वेद	–	संगीत कला से संबंधित
(iv)	ि ाल्प वेद	–	निर्माण कला से संबंधित

(ix) *स्मृतियां–* इन्हें धर्म ाास्त्र भी कहते हैं। इनमें मानव के लिए उसके जीवन से संबंधित कार्य कलापों के बारे में असंख्य विधि–निशेधों की जानकारी मिलती है। मनुस्मृति व याज्ञवल्क्य स्मृति सबसे प्राचीन हैं। ये 200 ई० पूं० से 100 ई० तक रचे गए। मनुस्मृति से उस समय के भारत के

राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक जानकारी मिलती है। इसी तरह नारद् स्मृति से गुप्त काल की जानकारी मिलती है। वृहस्पति, विश्णु, परा ार, गौतम कात्यायन आदि अन्य स्मृतियां हैं।

(x) *पुराण–* पुराणों की संख्या 18 है। ये है–

(1) ब्रह्म पुराण (2) पद्म पुराण (3) विश्णु पुराण (4) मार्कण्डेय पुराण (5) अग्नि पुराण (6) वायु पुराण (7) भागवत पुराण (8) नारदीय पुराण (9) भविश्य पुराण (10) ब्रह्मवैवर्त पुराण (11) भौव पुराण (12) लैंग पुराण (13) वराह पुराण (14) स्कन्द पुराण (15) गरूड़ पुराण (16) वामन पुराण (17) मतस्य पुराण (18) कूर्म पुराण

(xi) *रामायण–* इसकी रचना 100 ई० से 200 ई० के मध्य महार्षि बाल्मीकि में संस्कृत मे की थी। इसमें 12,000 भलोक थे पर बाद में इनकी संख्या 24,000 हो गई। बाल्मीकि रामायण में 7 कांड हैं– बालकांड, अयोध्याकांड, अरण्य कांड, किश्किन्धाकांड, सुंदरकांड, युद्ध कांड एवं उत्तर कांड। रामायण उस काल के राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति का ज्ञान देता है। यह एक महाकाव्य है।

(xii) *महाभारत–* महर्शि वेद व्यास द्वारा रचित महाभारत एक महाकाव्य है। इसमें प्रारंभ में 24 हजार भलोक थे । उसे 'जय' कहते थे। उपाख्यानों के जोड़े जाने के बाद यह महाकाव्य महाभारत हो गया। वर्तमान में इसमें लगभग 1 लाख से करीब भलोक हैं। यह 18 वर्षों में विभाजित है।

(ख) ***बौद्ध साहित्य–*** महात्मा बुद्ध की मृत्यु के उपरांत अनेक (4) बौद्ध संगीतियों का आयोजन किया गया और इनमें तीन पिटकों की रचना हुई। ये पाली भाशा में हैं। पिटक का भााब्दिक अर्थ है 'टोकरी'। बौद्ध साहित्य की भाशा के आधार पर निम्नलिखित दो भागों में बाँटा जा सकता है–

(1) पाली साहित्य – सुत्तपिटक, विनय पिटक, अभिधम्म पिटक, मिलिन्द पनहों दीपवं ा और महावं ा।

(2) संस्कृत साहित्य – महावस्तु, ललित विस्तार, दिव्यावदान, बुद्धचरित, सारिपुत्र प्रकरण आदि।

बौद्ध साहित्य, प्राचीन भारतीय इतिहास पर पर्याप्त प्रका ा डालता है। इससे विम्बसार के सिंहासनावरोहण से पूर्व काल तक की जानकारी प्राप्त होती है।

(i) *सुत्तपिटक–* सुत्त का भााब्दिक अर्थ है "धर्मोपदे ा"। इसमें बुद्ध के उपदे ाों का सार है पिटकों में इसे सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। यह पाँच निकायों में आते हैं–

दीध निकाय– इसमें बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का समर्थन किया गया है। इसमें बुद्ध के जीवन के आखिरी क्षणों का वर्णन है।

मज्मिम निकाय– इसमें बौद्ध को कहीं साधारण मनुश्य तो कहीं आलौकिक भाक्ति वाले देव के रूप में बताया गया है।

संयुक्त निकाय– यह कई 'संयुक्तों' का संकलन है।

खुद्दक निकाय– यह अन्य निकायों से भिन्न भौली का है। यह निकाय अपने में संपूर्ण और पूर्ण है। जातक इसका ही ग्रंथ है। जातक में बुद्ध के पूर्व जन्मों का वर्णन कहानियों (500) के रूप में संकलित है।

अंगुत्तर निकाय– इसमें महात्मा बुद्ध द्वारा भिक्षुओं को उपदे ा में कहीं जाने वाली बातों का वर्णन है।

(ii) *विनय पिटक–* इसमें मठ निवासियों के अनु ाासन संबंधी नियम दिये गए हैं। यह तीन भागों में विभक्त हैं–

सुत्त विभंग– इसमें बौद्ध भिक्षुओं तथा बौद्ध भिक्षुणियों के जीवन संबंधी नियम हैं।

खन्धक – इसमें मठ या संघ के निवासियों कें जीवन के संदर्भ में विधि–निशेध दोनों की विस्तार से चर्चा है।

परिवार– यह प्र न–उत्तर के रुप में है।

(iii) *अभिधम्म पिटक*– इसमें बौद्ध मतों की दा निक व्याख्या की गयी है। इसका संकल्प अ ोक द्वारा आयोजित तृतीय बौद्ध संगीत में मोगलिपुत्त तिस्स ने किया था। इस पिटक में 7 ग्रंथ है।

(iv) *मिलन्द पन्हों*– इसकी रचना नागसेन ने की है और इसमें यूनानी भाासक मिनैण्डर और बौद्ध भिक्षु नागसेन का दा निक वार्त्तालाप है।

(v) *दीपवं ा*– यह सिंहलद्वीप के इतिहास पर प्रका ा डालता है।

(vi) *महावं ा*– इसकी रचना भदन्त महानामा ने की है और यह मगध के राजाओं की क्रमबद्ध सूची प्रदान करता है।

(vii) *महावस्तु और ललित विस्तार*– संस्कृत भाशा की इन पुस्तकों से महात्मा बुद्ध के जीवन के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है।

(viii) *दिव्यावदान*– इससे परवर्ती मौर्य भाासकों और भाुंग वं ा की व्यापक जानकारी मिलती है।

(ix) *बुद्धचरित, सौन्दरानंद और सारिपुत्र प्रकरण*– इन तीन ग्रंथों के रचयिता अ वघोश है जो कुशाण भाासक कनिश्क के दरबार में थे।

(ग) ***जैन साहित्य***– जैन साहित्य भी बौद्ध साहित्य की तरह ही इतिहास लेखन में सहायता करते हैं। जैन साहित्य को "आगम" कहते हैं। इनकी रचना महावीर की मृत्यु के प चात विभिन्न जैन संगीतियों में हुए थे। इनमें 12 अंग, 12 उपांग, 10 प्रकीर्ण, 6 छेद सुत्र, 4 मूलसूत्र, अनुयोग सूत्र व नन्दिसूत्र भाामिल है।

मूल सूत्र में जैनधर्म के उपदे ा, भिक्षुओं के कर्त्तव्य, बिहार जीवन, पथ नियम आदि का वर्णन है। नंदी सूत्र और अनुयोग द्वार जैनियों के स्वतंत्र ग्रंथ तथा वि वकाश हैं। भद्रबाहुचरित्र, त्रिलोक प्रजटित, परिि ाश्ट पर्व, कल्पसूत्र आदि प्रमुख जैन ग्रंथ हैं। इनकी रचना 'प्रकृित' में हुई है और ईसा की छठी सदी में गुजरात के वल्लभी में इन्हें संकलित किया गया था।

जैन साहित्य हमें 24 तीर्थंकरों के जीवन से परिचित कराने के अतिरिक्त उत्तर प्रदे ा एवं बिहार की ऐतिहासिक और राजनीतिक स्थिति के बारे में बहुमूल्य जानकारी प्रदान करते हैं।

(2) **ऐतिहासिक और सामाजिक साहित्य (धर्मोत्तर साहित्य)** – इन्हें लौकिक या धर्मेतर साहित्य भी कहते हैं। ये हम तत्कालीन भारतीय समाज और राजनीति के बारे में उपयोगी जानकारी प्रदान करते है। कुछ प्रमुख लौकिक साहित्य का उल्लेख नीचे जा रहा है–

(1) ***अर्थशास्त्र***–कौटिल्य द्वारा रचित यह ग्रंथ भारत का पहला राजनीतिक ग्रंथ माना जाता है। इसमें 6000 भलोक हैं। यह 15 खंडों में विभाजित है और इससे हमें मौर्यकाल के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक स्थिति की जानकारी मिलती है।

(2) ***अश्टाध्यायी***–यद्यपि ये व्याकरण ग्रंथ है किंतु इसमें कहीं–कहीं भाासकों का उल्लेख है। इसके रचयिता पणिनी हैं।

(3) ***महाभाश्य***–यह भी एक व्याकरण–संबंधी पुस्तक है किंतु तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक घटनाओं की जानकारी प्रदान करता है। इसके रचयिता पंतजलि है।

(4) ***मालविकाग्निमित्रम्***–कालिदास रचित इस ग्रंथ से पुश्यमित्र भाुंग और उसके पुत्र अग्निमित्र के समय के राजनीतिक घटनाक्रम की जानकारी मिलती है।

(5) ***हर्शचरित***–बाणभट्ट कृत इस रचना से हर्श के समय के इतिहास की प्रचुर जानकारी प्राप्त होती है।

(6) ***स्वपनवासदत्तम***–महाकवि भास रचित इस कृति में उदयन और चण्ड प्रद्योत के संबंधों का उल्लेख मिलता है।

(7) ***मृच्छकटिकम्***–भाूद्रक रचित इस नाटक से गुप्तकालीन सांस्कृतिक इतिहास की जानकारी प्राप्त होती है।

(8) ***नवसहसांकचरित***–इसके रचयिता पद्मगुप्त परिमल है और इससे परमार वं ा के बारे में जानकारी मिलती है।

(9) ***कुमारपालचरित***–हेमचंद्र कृत इस रचना से चालुक्यवं ीय भाासकों के बारे में विस्तृत जानकारी मिलती है।

(10) ***विक्रमांकदेव चरित***–वितरण की इस कृति से चालुक्यवं ीय भाासक विक्रमादित्य–VI के विशय में जानकारी मिलती है।

(11) ***राजतरंगिनी***–इसके रचयिता कल्हण है। इससे क मीर के इतिहास की अच्छी जानकारी मिलती है।

(12) ***पृथ्वीराज रासो***–चंद्र बरदाई की इस कृति से पृथ्वीराज चौहान के विशय में तथा गौरी से हुए युद्ध की विस्तृत जानकारी मिलती है। इसे बहुत प्रमाणिक नहीं माना जाता है।

(13) ***संगम साहित्य***–संगम साहित्य, जो तमिल भाशा में लिखे गए हैं, से हमें दक्षिण भारत के प्राचीन इतिहास की जानकारी मिलती है। "चोलचरित" चोल भाासकों के बारे में जानकारी प्रदान करता है।

(3) **विदेशियों का विवरण–** विदे ी यात्रियों और लेखकों ने भी भारत के इतिहास पर अपनी कृतियों के द्वारा प्रका ा डाला है। इन्हें तीन भागों में बाँटा जा सकता है–यूनानी, चीनी लेखक, अरबी लेखक।

(क) ***यूनानी लेखक***– भारत पर 326 ई० पू० आक्रमण करने वाले सिकंदर के समय यूनानी विवरणों से हमें भारत के उस काल की जानकारी मिलती। इन्हीं विवरणों से यह ज्ञात हुआ कि 'सैण्ड्रोकट्स', चंद्रगुप्त मौर्य को कहते थे। विलियम जोन्स ने सर्वप्रथम यह निश्कर्श निकाला था।

(i) *टेरियसः* टेरियस ईरानी राजवैद्य था जिसके लेखों से भारत के विशय में जानकारी मिलती है।

(ii) *हेरोडोट्सः* "इतिहास का पिता" कहलाने वाले इस यूनानी लेखक के "हिस्टोरिका" नामक पुस्तक से भारत–ईरान (फारस) के विशय में जानकारी प्राप्त होती है।

(iii) *नियार्कसः* यह सिकंदर का समकालीन था और उसके द्वारा दिए गए तत्कालिन विवरण प्रामाणिक माने जाते हैं।

(iv) *मेगास्थनीजः* सेल्यूकस का मौर्य दरबार में राजदूत। इसने करीब 14 वर्श मौर्य दरबार में व्यतीत किया। इसके विवरण इसकी पुस्तक "इंडिका" में मिलते हैं। इस ग्रंथ में मौर्यवं ा के समय के समाज और संस्कृति का विवरण है।

(v) *डायमेकसः* बिन्दुसार के दरबार में सीरिया के राजा का दूत।

(vi) *डायनीसियसः* अ ोक के दरबार मे सीरिया के राजा का दूत।

(vii) *प्लिनीः* लैटिन में लिखी गई प्लिनी की पुस्तक "नेचुरल हिस्टोरिका" में भारत के भौगोलिक स्थिति की जानकारी मिलती है।

(viii) '*पेरीप्लस ऑफ द इरिथ्रियन सी'ः* इस पुस्तक से भारत में बंदरगाहों और व्यापारिक वस्तुओं का विवरण मिलता है।

(ख) ***चीनी लेखकः*** सभी चीनी यात्री बौद्ध मतानुयायी थे और मुख्य रूप से भारत बौद्ध धर्म के बारे में और अधिक जानकारी हासिल करने के उद्दे य से आए थे। इन यात्रियों ने तत्कालीन भाासको और अन्य बातों की चर्चा अपने यात्रा वृतांतों में भी है। प्रमुख चीनी यात्रियों में फाह्यान, ह्वेन सांग, इत्सिंग और चाऊ–जू–कुआ उल्लेखनीय हैं।

(i) *फाह्यानः* यह बिक्रमादित्य II के भाासनकाल में भारत आया था। इसने तत्कालीन भारत की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक स्थिति पर प्रका ा डाला है।

(ii) *ह्वेनसांगः* कन्नौज के भाासक हर्शवर्धन के समय यह भारत आया। यहाँ उसने 10 वर्शों तक भ्रमण किया। इस दौरान उसने नालंदा वि विद्यालय में अध्ययन किया। उसकी भारत यात्रा का वृतांत "सी–यू–की" नामक ग्रंथ में मिलता है। इसने हमें हर्शकालीन भारत की जानकारी मिलती है।

(iii) *इत्सिंग* (613–715) ने अपने वृतांत में विक्रमि ाला वि वविद्यालय की चर्चा की है।

(iv) *चाऊ–जू–कुआः* चाऊ–जू–कुआ ने चोलकालीन इतिहास पर प्रका ा डाला है।

(ग) ***अरबी लेखकः*** पूर्व मध्याकालीन भारत के समाज और संस्कृति भी जानकरी हमें अरबी लेखकों और यात्रियों के विवरणों से मिलती है। इनमें अलबरूनी, अलमसूदी, सुलेमान आदि प्रमुख हैं।

(i) *अलबरूनीः* इसकी कृति "किताब–उल–हिंद", राजनपूतकालीन सामज, धर्म, रीति–रिवाज आदि पर प्रका ा डालती हे। वह अहमूद गजनी के साथ भारत आया था।

(ii) *सुलेमानः* वह 9 वीं के दौरान भारत की यात्रा करने के बाद अरब लौटा। उसके प्रतिहार और पाल भाासकों के विशय में जानकारी दी है।

(iii) *अलमसूदीः* बगदाद का निवासी, अलमसूदी, प्रतिहार और राश्ट्रकूटों के बारें में विवरण देता है। उसने 915–916 ई० में भारत की यात्रा की।

(4) **पुरातात्विक सामग्रियाँ–** पुरातत्व संबंधी सामग्री ने प्राचीन भारतीय इतिहास की श्रोत तथा अनेक टूटी हुई कड़ियों को जोड़ने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। भारतीय पुरातत्विक वस्तुओं के अध्ययन का कार्य विलियम जोन्स ने प्रारंभ कया। लॉर्ड कर्जन ने पुरातत्व विभाग की स्थापना की तथा जॉन मा ॅल इस विभाग के प्रथम निदे ाक नियुक्त किए गए। इन सामग्रियों को हम निम्नलिखित भागों में बाँट सकते हैं–

(क) अभिलेख

(ख) सिक्के और मुद्रायें

(ग) स्मारक व भग्नाव ोश

(घ) कला कृतियाँ

(क) **अभिलेखः** इतिहास निर्माण में सहायक सामग्रियों में अभिलेख वि ोश रूप से महत्वपूर्ण है। ये अभिलेख ि ालाखंडो, स्तंभों, मुद्राओं, ताम्रपत्रों, मूर्तियों गुफाओं में मिलते हैं। इनमें से अनेक राजाओं द्वारा लिखवाए गए है। इनमे उनके आदे ाों नीतियों, कीर्ति विवरण आदि है।

अभिलेख हमें सर्वप्रथम अ ाोक के भाासनकाल में मिलते हैं। सर्वाधिक प्राचीन अभिलेख मध्य ए ि ाया के "बोधजकोई" नामक स्थान पर पाए गए हैं। सम्राट अ ाोक के अभिलेख मुख्यतः स्तंम्भों और ि ालालेखों पर पाए गए है जो भारत के विभिन्न स्थानों पर पाये गये हैं। अ ाोक के अभिलेख मुख्यतः ब्रह्ममी लिपि में है। पि चमोत्तर क्षेत्रों में पाए गए अ ाोक के अभिलेख खरोश्ठी लिपि तथा पाकिस्तान व अफगानिस्तान में पाये अशोक के अभिलेखों में आरमेइक लिपि प्रयुक्त हुआ है। अशोक के ये अभिलेख हमें गये अ ाोक के भाासनकाल व उसकी नीतियों के बारे में जानकारी देते हैं। इनसे ज्ञात होता है कि उसे "प्रियद ार्ी" कहा जाता था। मास्की और गुर्जरा में "अ ाोक" नाम का उल्लेख मिलता है।

अ ाोक के अतिरिक्त अन्य अभिलेख भी पाए गए है जो संबंधित लोगों और तत्कालीन समाज आदि के विशय में जानकारी देते हैं। कुछ महत्वपूर्ण अभिलेख निम्नलिखित हैः

अभिलेख	**लेखक/सम्राट**
1. प्रयाग प्रशस्ति	हरिशेण (समुद्रगुप्त का दरबररी कवि)
2. हाथी गुम्फा	खारवेल
3. नासिक गुहालेख	नरे ा पुलमावी
4. जूनागढ़	रूद्रदामन
5. मंदसौर	य ाोधर्मन

6. ऐहोल पुलकेि ान–II
7. देवपाड़ा विजयसेन
8. ग्वालियर राजा भोज
9. गरूढ़ स्तंभलेख, विदि ाा हेलियोडोरस
10. एरण (वराह प्रतिमा) राजा तोरामण (हून भाासक)

(ख) **मुद्रा व सिक्केः** प्राचीन इतिहास की जानकारी हमें विभिन्न स्थानों से प्राप्त मुद्राओं और सिक्कों से भी मिला है। इनमें से अनेक सिक्के सम्राटों के है। परंतु कुछ ऐसे भी है जो व्यक्तियों अथवा व्यापारिक संघों द्वारा मुद्रित किए गए। हमें मुद्राओं से 200 ई० पू० से 300 ई० तक के भारतीय इतिहास की जानकारी मिलती है।

जिस सिक्को व मुद्राओं पर लेख नहीं थे, केवल चिन्ह मात्र होते थे उन्हें आहत सिक्के (Punch Marked Coin) कहते है। ये सिक्के भारत के प्राचीनतम सिक्के है इन सिक्कों को राजाओं के अतिरिक्त संभवत व्यपारियों, व्यापरिक श्रेणियों और नगर–निगमों ने प्रचलित किया था। ऐसे सर्वाधिक सिक्के मौर्यों से संबंधित है। भारत में तिथि तथा लेख उत्कीर्ण (सिक्कों पर), कराने का श्रेय इंडो–ग्रीक भाासकों को जाता है। कुशाणें ने सोने के सर्वाधिक सिक्के चलाए। गुप्तकाल के एक सिक्के पर समुद्रगुप्त को वीणा बजाते दिखाया गया है। जो इस बात की पुष्टि करता है कि समुन्द्रगुप्त संगीतप्रिय शासक था।

(ग) **स्मारक और भग्नावशेषः** विभिन्न स्थानों पर खुदाई किए जानें से जो विभिन्न अव ोश प्राप्त हुए हैं, उनसे प्रागैतिहासिक काल के बारे में भी ज्ञान प्राप्त हुआ है। इन्हीं अव ोशों से यह ज्ञात होता है कि भारत में मानव का अस्तित्व पूर्व–पाशाण काल में भी था। सिक्के समकालीन राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक इतिहासके पुर्नलेखन के महत्वपूर्ण स्रोत है उदाहरणस्वरूप गुप्तकाल के सिक्कोंसे हमें गुप्तकाल की बहुत सी प्रमुख घटनाओं की जानकारी होती है जैसे समुन्द्रगुप्त के कुछ सिक्कों पर यूप बना हुआ है और अश्वमेघ पराक्रमः लिखा है जो इस बात की पुष्टि करता है कि उसने अश्वमेघ यज्ञ किया इसी प्रकार जैसे खुदाई में मिले कुछ महत्वपूर्ण अव ोशों में हड़प्पा सभ्यता, के अवशेष पाटलिपुत्र की खुदाई में चंद्रगुप्त मौर्य के लकड़ी के 80 स्तंभोंवाले राजभवन, कौ ाम्बी की खुदाई से उद्वयन के राजप्रसाद, पंडिचेरी के अरिकामेंडु में खुदाई से रोमान सिक्के लिए जा सकते हैं।

स्मारकों में मंदिर, बौद्ध स्तूप और बिहार आदि तत्कालीन भारत के सांस्कृतिक विकास के स्तर की जानकारी प्रदान करते हैं। उस समय उत्तर भारत में कला की नागर भौली तथा दक्षिण भारत में द्रविड भौली प्रचलित थी। बेसर भौली के मंदिरों में दोनों का मिश्रण देखने को मिलता है। इस प्रकार ये स्मारक तथा भवन न केवल उनके धार्मिक विश्वासों अपितु वास्तुकला के विकास के अध्ययन के लिए भी महत्वपूर्ण सामग्री प्रदान करते हैं।

(घ) **कला–कृतियाँः** प्राचीन काल की जानकारियाँ हमें भित्ति चित्र, स्तंभ चित्र, मूर्तियों, खिलौनों, आभूशणों आदि से भी मिलती हैं। ये प्राचीन भारत के सांस्कृतिक और कला के विकास को रेखांकित करते हैं।

कुशाणों गुप्त भाासकों एवं उत्तरी गुप्तकालीन भाासकों के काल मे निर्मित मूर्तियों के विकास से हमें उस समय के लोगों की धार्मिक आस्थाओं तथा कला के विकास की जानकारी होती है। कला पर पड़े प्रभाव का ज्ञान भी हमें होता है। जैसे कुशाणकालीन मूर्तियों में हमें ग्रीक प्रभाव स्पश्ट देखने को मिलता है। गुप्तकालीन मूर्तियाँ काफी सजीव प्रतीत होता है उनमें मुखाकृति तथा अंतरात्मा का जो सामंजस्य है वह किसी अन्य काल की कला में नहीं मिलता। ये मूर्तियां जन साधारण के जीवन पर भी महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है।

सिंधु नदी की घाटी से प्राप्त हुए खिलौने और आभूशण, अ ाोक स्तंभ, बौद्ध प्रतिमाएँ, मंदिरों के अव ोशों, अजन्ता के चित्र, ऐलोरा के चित्र, बाघ गुफा के चित्र भी उस समय के जीवन के विशय में बताते है। अजंता के गुफा के चित्र मानवीय भावनाओं की सुंदर अभिव्यक्ति हैं।

तथ्य एक दृष्टि में –

	पुस्तकें	**रचयिता**
(1)	अर्थ ाास्त्र	कौटिल्य
(2)	अश्टाध्यायी	पाणिनी
(3)	महाभाश्य	पतंजलि
(4)	अभिज्ञान भााकुन्तलम्	कालिदास
(5)	कुमार संभवम्	कालिदास
(6)	मेघदूत	कालिदास
(7)	रघुवं ाम्	कालिदास
(8)	ऋतुसंहार	कालिदास
(9)	विक्रमोवं ीयम्	कालिदास
(10)	मालविकाग्निमित्र	कालिदास
(11)	किरातार्जुनीयम	भारवि
(12)	नौशधीयचरित	श्री हर्श
(13)	स्वप्नवासदत्तम्	भास
(14)	मालती माधव	भवभूति
(15)	उत्तररामचरित	भवभूति
(16)	कर्पूरमंजरी	राज ोखर
(17)	हर्शचरित	बाणभट्ट
(18)	कादम्बरी	बाणभट्ट
(19)	द ाकुमार चरित	दण्डी
(20)	मुद्राराक्षस	वि ाखदत्त
(21)	देवीचंद्रगुप्तम्	वि ाखदत्त
(22)	मृच्छकटिकम्	भाूद्रक
(23)	ि ा ुपाल वध	माघ
(24)	राजतरंगिनी	कल्हण
(25)	पंचतंत्र	विश्णु भार्मा
(26)	विक्रमांकदेव चरित	विल्हण
(27)	हितोपदेश	नारायणभट्ट
(28)	वृहतकथा मंजरी	क्षेमेंद्र
(29)	प्रबंध चिन्तामणि	मेरूतुंग
(30)	कुमारपाल चरित	हेमचंद्र
(31)	नव सहसांकचरित	पद्मगुप्त परिमल

(32)	कीर्ति कौमुदी	सोमे वर
(33)	मत्तविलास प्रहसन	महेंन्द्रवर्मन
(34)	पृथ्वीराज रसो	चंद्रवरदाई
(35)	पृथ्वीराज विजय	जयनक
(36)	भोज–प्रबंध	बल्लाल
(37)	रामचरित	संध्याकार नंदी
(38)	हम्मीर काव्य	जयचंद
(39)	कीर्ति कौमुदी	सोमे वर
(40)	नीतिसार	कामंदक
(41)	कामसूत्र	वात्स्यायन
(42)	हिस्टोरिका	हेरोडोटस
(43)	इंडिका	मेगास्थनीज
(44)	नेचुरल हिस्टोरिका	प्लिनी
(45)	तहकीक–ए–हिंद	अलबेरूनी
(46)	कंग्यर	तारानाथ
(47)	भााहनामा	फिरदौसी
(48)	चाचनामा	अली अहमद
(49)	तारीख–ए–फिरोज ााही	जियाउद्दीन वरनी
(50)	तबकात–ए–नासिरी	मिनहास–उस–सिराज

v/;k; 2

प्रागैतिहासिक काल, नवपाषाण काल व /kkrq ;qx

पृथ्वी पर मानव की उत्पत्ति एक अद्भुत घटना है। मानव के जन्म और पृथ्वी पर पदार्पण के बाद से उसने विकास की अनेक मंजिलों को पार किया और आज विकास की इस ऊँचाई पर पहुँच गया है। किंतु मानव सभ्यता का विकास एक धीमी और क्रमिक घटना थी। इस अध्याय में हम विकास के इन्हीं सोपानों का अध्ययन करेंगे। यह अध्याय निम्न भीर्शकों में विभक्त है–

- *पुरापाशाण काल*
- *मध्यपाषाण काल*
- *नवपाशण काल*

çkxSfrgkfld lekt

मानव–जाति का इतिहास वि व–सभ्यता के विकास का इतिहास है। प्राचीन मिस्र, यूनान, बेबीलोन, रोम, भारत, चीन आदि दे ों की नदी–धाटियों में मानव सभ्यता का जन्म और विकास हुआ। मानव–सभ्यता सिर्फ पाँच हजार वर्श पुराना है। यह मानव–सभ्यता का प्रारंभिक काल है। हाल तक लोगों का वि वास था कि मनुश्य एक ई वरीय सृजन है, संसार के विभिन्न धर्मग्रंथों से भी इसकी पुश्टि होती है। किन्तु चार्ल्स डारविन (1859 ई०) के विकासवाद के सिद्धान्त ने इस मत का खंडन किया। उसके अनुसार मानव–सभ्यता का विकास धीरे–धीरे हुआ है और यह विकास का प्रतिफल है। इसके अनुसार प्रारंभ में पृथ्वी का तापमान इतना अधिक था कि इस पर किसी जीवधारी का रहना संभव नहीं था। भानैः भानैः पृथ्वी का तापमान कम होने लगा और परिवर्तन होने लगा। हजारों वर्शो के इन परिवर्तनों के प चात् पृथ्वी की जलवायु जीवोत्पन्ति के लिए अनुकूल हो गई। किंतु कुछ समय तक जीव उत्पन्न नहीं हुए। यह युग 'जीव–विहीन' युग के नाम से प्रसिद्ध है।

जीव–विहीन युग के अन्त में पृथ्वी पर सर्वप्रथम पनीले (पानी में रहने वाले) जन्तुओं ने जन्म लिया। ये अस्थिविहीन थे। इन पनीले जन्तुओं की काया में समयानुकूल कई परिवर्तन हुए और हजारों वर्शो के बाद इसने मछली का रूप धारण किया। डारविन के अनुसार, यह जीवन के विकास की दूसरी अवस्था थी। तीसरी अवस्था में स्थल पर वृहद् ारीर वाले जानवर उत्पन्न हुए। पृथ्वी पर जंगल उत्पन्न हाने लगे। समुद्र और वि ाल झीलों तथा नदियों के तट पर इन जंगलों में वृहद् जीव पेट के बल रेंगते थे। इनकी उत्पत्ति और वृद्धि अंडों द्वारा होती थी। धीरे–धीरे उनका आकार छोटा होता गया, क्योंकि वृहद आकार के कारण उन्हें जीवन–निर्वाह में कठिनाई होती थी। इसी समय आका ा में उड़ने वाले वृहद आकार पक्षियों का भी विकास हुआ तथा कुछ जीवों की उत्पत्ति अंडों के स्थान पर माता के गर्भ से होने लगी। इस प्रकार जीव विकास की प्रक्रिया जारी रही। लाखों वर्श व्यतीत होने पर कई वृह्द आकार जन्तु या तो नश्ट हो गए या उनका भारीर छोटा हो गया।

इस काल में औंरग, औटरंग, ि म्पांजी आदि लंगूरों से मनुश्य की उत्पत्ति हुई। प्रागैतिहासिक युग के इस काल को 'हिम युग' भी कहते हैं।

प्रारंभ में मनुश्य और प ु में कोई अंतर नही था। प्रारंभ में मनुश्य को प्राकृतिक प ुओं तथा हिंसक प ुओं से संघर्श करना पड़ता था। इसके लिए उसने अनेक हथियारों और औजारों का अविष्कार किया। ये औजार पहले, पाशण

के फिर बाद में धातुओं के होने लगे। औजारों की बनावट, प्रकार तथा तकनीक के आधार पर पाषाण काल को तीन कालों अर्थात् **पुरापाषाण काल (Palaeolithic Period)**, **मध्यपाषाण काल (MesolithicPeriod)** तथा **नवपाषाण काल (Neolithic Period)** में बांटा गया।

i|jkik"kk.k&dky

(Palaeolithic Period)

साधारणतः 50000 ई॰ पूर्व से 8000 ई॰ पूर्व तक के काल को पुरापाषाण युग माना जाता है। इस काल को तीन वर्गों में अर्थात् **पूर्व–पुरापाषाण काल**, **मध्य–पुरापाषाण काल** तथा **उत्तर–पुरापाषाण काल** में विभाजित किया गया है।

पूर्व–पुरापाषाण काल–पुरापाषाणयुगीन साक्ष्यों का पता तो इस शताब्दी के आरम्भ से ही लग गया था। चूंकि उत्तर–पश्चिमी भारत के सोहन क्षेत्र में (सिंधु की सहायक नदी) पहली बार इस सांस्कृतिक क्रम का प्रमाण मिला है। इसलिए इस संस्कृति को 'सोहन संस्कृति' का नाम भी दिया गया। अब पूर्व पुरापाषाण अवशेष भारत के प्राय सभी भागों में मिलते हैं। जिनमें असम की घाटियाँ भी सम्मिलित है जैसे महाराष्ट्र की पुवरा नदी के साथ–साथ नेवासा में, आंध्रप्रदेश के गिद्दलूर में और करीमपुर्रा, मद्रास के अनको स्थल, कर्नाटक, नर्मदा जेसे नरसिंहपुर तथा भामबेटका की गुफाए साधारणतः गण्गसा या खंउक उपकरण है। इस काल के उपकरण इनकी लगभग सभी स्थलों पर बहुतायात है। इनके अतिरिक्त हन्तकुठा या विदरणी भी मिलती है।

मध्य–पुरापाषाण काल–अधिकांश भारतीय नदियों के दूसरे तलोच्चन निक्षेपों से इस संस्कृति के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इनकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि पूर्वपाषाणकाल जिसमें क्वार्टजाइट से औजार बनाए जाते थे अब अधिकतर क्षेत्रों में पूर्ण रूप से जैम्पर व चर्ट या फिर इसी प्रकार में चमकदार पत्थर के बनाए जाने लगे।

इस संस्कृति के प्रमुख उपकरण है (1) बेधक (2) बेधक खुरचनी (3) फलक जैसे स्थूल शल्क (4) बेधनियाँ।

इस संस्कृति के अवशेष क्षेत्र उड़ीसा, उत्तरी आंध्र, विंध्याचल शामिल है तथा जो गंगा घाटी तक फैला हुआ है। यहाँ के उपकरण बड़े–बड़े शल्कों के बने हैं। यहाँ हर किस्म की खुरचनियाँ मिली है। कुछ एक गंडासे तथा हस्तकला भी मिले हैं। दूसरी ओर पश्चिमी क्षेत्र में अर्थात् उत्तरी महाराष्ट्र, कर्नाटक, गुजरात में मध्यपुरापाषाण अधिक परिष्कृत है और उनमें कई बहुत सुन्दर नौके बनी है।

उत्तर–पुरापाषाण काल–कुछ समय पहले तक इस संस्कृति की कोई जानकारी नहीं थी अतः लम्बे काल तक पुरापाषाण काल में केवल दो संस्कृतियां ही गिनते रहे। जिन्हें आद्यप्रस्तर तथा मध्यप्रस्तर युग कहते थे। परन्तु हाल ही में अनेक ऐसे स्थल प्रकाश में आए हैं जहाँ शुद्ध फलक उद्योग नदी निक्षेपों में दबे हुए मिले हैं। इसका सर्वोत्तम उदाहरण इलहाबाद की बेलन घाटी से मिला है। इसी प्रकार आंध्र प्रदेश के रेंनीगुंटा में फलकों और तक्षणियों का विशाल संग्रह मिला है। इसी राज्य से एक अन्य स्थल बेटमचेर्ला में अनेक अस्थि औजार मिले हैं। इसी प्रकार कर्नाटक से भी उत्तरपाषाणकाल के कई दबे हुए स्थल मिले हैं। इस प्रकार फलक उपकरण, तक्षणिया तथा अस्थि उपकरण भारतीय उत्तरपाषाणकाल के आवश्यक प्रमाण माने जा सकते हैं। यूरोप और अफ्रीका के अनेक उत्तरपाषाण कालीन स्थलों से दोनों ओर से महीन की गई वेद्यनियाँ भारत के उत्तरपाषण काल से उपलब्ध नहीं है।

इन कालों में औजार बनाने की तकनीक तथा औजारों के प्रकारों और आकार के अन्तर के अतिरिक्त आर्थिक–सामाजिक जीवन में कोई विशेष परिवर्तन नही आया। उस समय का मानव बर्बर था और जंगली जानवरों को मारकर अपना पेट भरता था। आवास या जीविका का कोई ठोस आधार नहीं था। मानव–जीवन बड़ा संघर्शमय था। हिंसक जानवरों के कारण उसका जीवन सर्वदा खतरे में रहता था। आदिम मानव नंगा ही रहता था। बिजली की चमक या बादलों के गर्जन या वर्शा के बौछारों से बचने के लिए गुफाओं में वह भारण लेता था। कुछ समय के बाद में मनुश्य में लज्जा की भावना आई और वह तन ढकने लगा। बाद में वह जानवरों की खाल का प्रयोग होने लगा।

मानव ने आव यकतानुसार अनेक प्रकार के अस्त्र– ास्त्रों तथा हथियारों का अविश्कार किया। आदि मानव के प्रारंभिक अस्त्र– ास्त्र, हाथ–पाव, नाखून, दाँत आदि थे। लेकिन जंगली तथा हिंसक जानवरों के भय से उसने लकड़ी तथा बाद में पत्थरों के हथियार बनाए। पत्थर के टुकड़ों को धिस–पीटकर नुकीले और सीधे–चुभने

वाले, अस्त्र– ास्त्र बनाए गए। पत्थर के औजारा हथौड़ा, कुल्हाड़ी, मुसल, बरछै आदि बनाने लगे। आगे चलकर हड्डियों, और सींग के औजार भी बनाए जाने लगे। रस्सी बांटने और टोकरियों के काम भी होने लगे।

इस युग में कोई सामाजिक और आर्थिक संगठन नहीं था। व्यक्तिगत सम्पत्ति का विकास अभी नहीं हुआ था। जंगल और जानवरों पर किसी व्यक्ति या परिवार–वि ोश का अधिकार नहीं था। सामाजिक संबंध–ि ाथिल था। पुरूश और नारी के बीच मुक्त यौन संबंध था। पति–पत्नी की चेतना अभी जाग्रत नहीं हुई थी। नृ–विज्ञान–वेत्तओं का कथन है कि उस समय स्त्रियों का महत्व बहुत अधिक था। इस समय के समाज को नारी प्रधान समाज या मातृसत्तात्मक समाज भी कहते है।

इस युग के जन–जीवन का रोचक पहलु उसकी कला है। गुफाओं में चित्रकारी और नक्का ाी के नमूने मिलने हैं। अधिकां ा चित्र ऐसे गुफाओं में मिलने है जहाँ सूर्य का प्रका ा तक नही पहुंचता है। ये चित्र म ाल या आग की रो ानी में बनाये गये थे। हाथी दाँत, हड्डियों, पत्थरों और सीपियों से कर्णफूल, हार और अन्य आभूशण भी बनने लगे।

e/;&ik"kk.kdkyhu Hkkjr

(Mesolithic Period)

वातावरण और विन्यासः 8,000 ई० पू० के आस–पास अत्यंतनूतन युग का अंत हो जाने पर संपूर्ण विश्व में भारी जलवायु–परिवर्तन हुए। वातावरणगत परिवर्तनों के कारण मनुष्य के लिए सर्वथा नवीन अनुकूलन आवश्यक हो गया। भारत में अब हमें पूर्वी और पश्चिमी दोनों क्षेत्रों से यह साक्ष्य प्राप्त होता है कि कम–से–कम दो अत्यंत शुष्क और अवश्य आए थे जिनमें बहुत ही तेज हवाएँ चलती थीं। इनके परिणामस्वरूप बहुत सारे मौसमी जलस्रोत सूख गए होंगे और बहुत सारे जीव–जंतु दक्षिण या पूर्व की ओर प्रवास कर गए होंगे, जहाँ कम–से–कम मौसमी वर्षा के कारण उपर्युक्त घनी वनस्पति बनी रह सकती थी (हो सकता है, वह इन क्षेत्रों में आज के वनों से मिलती–जुलती हो)। जो बड़ी–बड़ी और गहरी झीलें भूमिगत जलस्रोतों के कारण मीठे पानी की पूर्ति कर सकती थीं वे उन छोटे–छोटे जीव–जंतुओं के लिए प्रायः आकर्षण–केन्द्र बन गई जो बाहर प्रवास नहीं कर सकते थे। पूर्व में स्थिति कुछ समय तक ऐसी नहीं रही होगी, परंतु शुष्कता की लहर शीघ्र ही पश्चिमी बंगाल में छोटा नागपुर के विस्तार तक व्याप्त हो गई। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि आज हमें एक सींग वाले राइनोसिरस असम के भीतरी भाग तक पहुँचे हुए मिलते हैं जब कि अत्यंतनूतन युग में वे पश्चिम में गुजरात तक पाए जाते थे। सच्ची बात यह है कि हमें इस क्षेत्र के खासे हिस्से में नूतनतम काल में भी इनकी उपस्थिति का साक्ष्य मिलता है।

निकट सीमा के भीतर छोटे–छोटे पशुओं के आखेट के लिए किसी विशेष सामूहिक गतिविधि की जरूरत नहीं थी, और अब तक आते–आते मनुष्य की जन–संख्या भी बढ़ चुकी थी, परिणामतः छोटी–छोटी टोलियाँ बन गई थीं। बढ़ी हुई जनसंख्या और भारी जलवायु–परिवर्तनों के प्राकृतिक दबाव के कारण इन टोलियों को अधिक गतिशील रहना पड़ता था। जलवायु में इन परिवर्तनों की श्रृंखला के साथ जो सबसे मौलिक परिवर्तन आया, वह था प्रक्षेपास्त्र–तकनीक के विकास का प्रयास। यह निश्चय ही एक महान् तकनीकी क्रांति थी। समायोजन की पहली आवश्यकता ऐसी उपकरण–तकनीक पर अधिकार करने की थी जहाँ कार्यकुशलता के हित में भार का त्याग कर दिया जाए। परिणामतः स्वरूप अब भारी तथा बड़े–बड़े औजारों के स्थान पर सूक्ष्म औजार बनाए जाने लगे जिन्हें लकड़ी के हत्थों में फंसाकर विभिन्न प्रकार के औजार बनाना प्रारम्भ कर दिया इसी समय तीर–कमान का विकास जो कि 15वीं शताब्दी या 16वीं शताब्दी तक मनुष्य के पास रहा। तीर की नोंक बनाने के लिए जो प्रस्तर उपकरण बनाए गए थे वे अन्य बहुत से घरेलू कार्यों के लिए भी उपयोगी सिद्ध हुए।

इस तकनीकतंत्र के अंतर्गत विशेष रूप से तैयार किए गए बेलनाकार क्रोडों पर दबाव डालकर पहले लघु शल्क उतारे जाते हैं और फिर (क़रीब 5 सेमी लंबे और 12 मिमी चौड़े) फलक बनाए जाते हैं। इस विशिष्ट तकनीक को **नाली अलंकरण तकनीक** (fluting technique) कहा जाता है। इस तकनीक से तैयार किए गए फलक उत्तर पुरापाषाणकालीन फलकों से भिन्न होते हैं, क्योंकि एक तो इनका आकार भिन्न होता है, दूसरे इनकी अनुप्रस्थ काट महीन होती है। नाली–अलंकरण तकनीक से बनाए गए फलक बाद में एक किनारे से इस तरह घिस दिए जाते हैं कि खुंडा किनारा हत्थे के अंदर घुसाया जा सके। एक श्रृंखला में ऐसे अनेक फलक लगा देने से निरंतर तीक्ष्ण धार बन सकती है। यह धार पुरापाषाणकालीन तीक्ष्ण धार की तुलना में निम्नलिखित तकनीकी गुणों से संपन्न थी।

(1) इसमें कच्चा माल कम लगता है।

(2) यदि फलक संचित करके रखे जा सकें तो थोड़े ही समय में उपकरण तैयार किए जा सकते हैं।

(3) हत्था लगा देने से उत्तोलक प्रणाली के कारण कार्यकुशलता बहुत बढ़ाई जा सकती है।

(4) एक श्रृंखला में एक साथ लगाए गए फलकों में एक के टूट जाने पर उसकी जगह तुरंत दूसरा लगा सकते हैं जिससे संपूर्ण उपकरण दुबारा काम करने लगता है। इस तरह 'अतिरिक्त पुर्जे' की संकल्पना से हानि कम हो जाती है और साथ ही कार्यकुशलता बढ़ जाती है।

कुछ मुख्य–मुख्य मध्यपाषाणकालीन उपकरण निम्नलिखित है।

(1) **इकधार फलक (Backed blade):** ये ऐसे फलक हैं जिनमें एक किनारे की ऊर्ध्वाधर छेदन के द्वारा खुंडा कर देते हैं। यह पृष्ठ कार्य इस ढंग से कर सकते हैं कि फलक का आयातकार रूप ज्यों–का–त्यों बना रहे या पृष्ठित किनारा तीक्ष्ण धार तक बढ़ा दिया जाए।

(2) **वेधनी:** कोई भी ऐसा फलक जिसे तिकोना तोड़ा गया हो और फिर एक या दोनों ढलवाँ किनारों के साथ–साथ नुकीले सिरे की ओर घिसकर पैना किया गया हो, वेधनी कहलाता है।

(3) **अर्धचंद्राकार (Lunate):** जब कोई आयताकार फलक लेकर उसके एक तीक्ष्ण किनारे को अर्धवृत्ताकार रूप में खुंडा कर देते हैं ताकि वह दोनों सिरों पर तीक्ष्ण किनारे से मिला रहे, तो उसे अर्धचन्द्राकार (लूनेट) कहते हैं।

(4) **समलंब (Trapeze):** यह ऐसा फलक है जिसे समलंब रूप में तोड़ा जाता है और फिर एक से अधिक किनारों पर खुंडा कर दिया जाता है।

संस्कृति और वितरण: 1970–74 के दौरान गंगा के मैदान में मध्यपाषाणकालीन संस्कृति की खोज से भारत के प्रागितिहास में एक सर्वथा नवीन और महत्वपूर्ण अध्याय जुड़ गया है। इस खोज से पहले प्रागितिहासकार नवपाषाणयुगीन तथा परवर्ती संस्कृतियों के सूक्ष्मपाषाणों से पृथक करने में काफी कठिनाई आती थी।

यद्यपि मध्यभारत में अठारहवीं शताब्दी तक के कबायली सूक्ष्मपाषाण तैयार करते रहे हैं। परन्तु वास्तविक मध्यपाषाण संस्कृति कृषि प्रारम्भ होने से पहले की संस्कृति है।

वास्तविक प्राचीन मध्यपाषाणकालीन संस्कृति में यद्यपि भारत में अनगिनत स्थल है परन्तु इनमें सबसे प्रमुख गंगा द्रोणी की प्रतिलिब्धियों के अतिरिक्त, पश्चिमी बंगाल में वरियानपुर गुजरात में लंधनाज और तमिलनाडू में टेरी समूह, मध्यप्रदेश में आदमगढ़ तथा राजस्थान में बागोर।

बागोर जहाँ शुद्ध मध्यपाषाणकाल की तिथि 5000 अद्यपूर्व में आसपास निर्धारित की जाति है जो 2800 B.C. तक चलती रही, स्थल से आवास निर्माण के अवशेष मिले हैं जहाँ फर्श बनाने के लिए पत्थर लाए गए थे और यहाँ घास फूस के वातरोधी पर्दे भी बनाए गए होंगे। उद्योगों में बहुत ही छोटे औजारों का निर्माण होता था। इस प्रावस्था में नर कंकाल भी मिले हैं जिन्हें सुनियोजित ढंग से दफन किया गया था।

गंगा द्रोणी की मध्यपाषाणकालीन प्रतिलब्धियाँ मुख्यतः इसलिए आकर्षण का केन्द्र बनी चूंकि यहाँ अब तक ढाई दर्जन ऐसे स्थलों का वर्णन मिलता है जहाँ ढेर सारे नर कंकाल अवशेष दफन पाए गए हैं। प्रतापगढ़ जिले में सराय नाहर राय तथा महादहा दो महत्वपूर्ण स्थल है जिनकी तिथि ईसापूर्व 8,395 मानी जाती है। ये पहले स्थल है जहाँ स्तम्भगर्त पाए गए हैं जिनसे स्पष्ट है कि आवास के लिए झोंपड़ियाँ बनाई गई होंगी। सराय नाहर से मानवीय आक्रमण या युद्ध का भी महत्वपूर्ण प्रमाण प्राप्त हुआ है जैसा कि एक श्वाधान में एक कंकाल की शिरा अस्थि में एक सूक्ष्मपाषाण जुड़ा हुआ है।

भारत की मध्यपाषाणकालीन संस्कृति के साथ गुफा चित्रकारी भी मिलती है। विन्ध्ययाचल के शैलाश्रयों तथा गुफाओं में अनेक एसे प्रागैतिहासिक चित्र मिले हैं जिनमें आखेट, नृत्य और युद्ध के हष्य है।

इस प्रकार मध्य–पाशाणकाल के अंतिम भाग में पत्थरों के छोटे–छोटे हथियार बनने लगे। इन्हें लधु–अस्त्र कहते है। इसका उपयोग तीर के अग्रभाग के रूप में होने लगा। बिना पहिए की गाडी जैसी चीज भी बनने लगी। जंगली

अनाज का उपयोग भारू हो गया और संभवतः इसी युग में कुत्ता पालतु जानवर बना लिया गया। जो आखेट (शिकार) में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ।

प्रागैतिहासिक काल में निम्नलिखित मानव जातियां विकसित हुई–

आस्ट्रेलोपिथिकस (Australopithecus)–इस जाति के मानव का निवास स्थान मध्य अफ्रीका था। वह सीधा चलने की कला जान गया था और होमिनिड मानव से मिलता जुलता था।

जिंजानथ्रोपस (Zinjanthropus)– यह आस्ट्रेलोपिथिकस की एक उपजाति था। यह स्तनपायी प ुओं की तरह नंग रहता था। इसका मुख्य काम औजारों का निर्माण करना था।

पिथिकाथ्रोपस इरेक्टस (Pithecanthropus-Erectus)–1891 ई० में जावा द्वीप में खोपड़ी के एक हिस्से, कुछ दाँत और बायें जांघ की हड्डी मिली है। मानव भाास्त्रवेत्ताओं ने इसे सर्वाधिक प्राचीन मानव बतलाया है। ये खड़े होकर चल सकते थे। इसलिए इन्हें सीधा खड़ा वानर–मानव (Pithecanthropus-Erectus) कहा गया है।

सिनांथ्रोपस (Sinanthropus)–पीकिंग के निकट एक गुफा में कुछ जीवा म (fossils) मिले हैं जिन्हें सिनांथ्रोपन कहा जाता है। यह जावा मनुश्य से कुछ अधिक विकसित था और संभवतः आग के प्रयोग से परिचित था।

निअंडरथल (Neanderthal)–जर्मनी में वानर–मानव के एक अन्य अव ोश का पता चला है, जिसे निअंडरथल मानव कहा जाता है। यह जावा मानव से अधिक उन्नत था। यह मानव जाति पि चम यूरोप, पि चम एि ाया, मध्य एि ाया तथा अफ्रीका महादे ा में फैली हुई थी। इसकी गर्दन छोटी थी चेहरा चौड़ा था, माथा चौड़ा और ढँलवा था, यह गर्दन घुमाकर सीधा चलता था तथा मस्ष्कि क्षमता आधुनिक मानव के समान थी।

क्रो–मेनन (Cro-Magnon)–इनके अस्थि–पंजर फ्रांस से प्राप्त हुए हैं। ये निअंडरथल से अधिक उन्नत थे। वे हार्पून या भालों से ि ाकार करते थे और मछली पकडते थे। यूरोप की कुछ गुफाओं में उनके बनाए चित्र बड़े कलात्मक है।

uoik"kk.k dky

(Neolithic Period)

इस काल 10,000 ई० पू० से 3,000 ई० पूर्व माना जाता है। नवपाशाण में बड़े–बड़े परिवर्तन हुए जिनके फलस्वरूप मानव सभ्यता की नींव पड़ी। नव–पाशाण युग, पूर्व–पाशाण युग से विकसित काल था। मानव–जीवन के विकास में इस युग को अत्यन्त ही क्रांतिकारी माना जाता है। इस युग में इतने क्रांतिकारी परिवर्तन हुए कि इस युग के विकास के क्रम को "नव पाशाण युगीन क्रांति" कहा जाता है। नव पाशाण युग में ही सर्वप्रथम मानव–सभ्यता की नींव पड़ी। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में क्रांतिकारी विकास हुआ। इस युग में ही सर्वप्रथम मानव जीवन में निम्नांकित परिर्वतन आए–

1. **कृषि का प्रारंभ–**कृशि का प्रारंभ, नवपाशण युगीन सबसे क्रांतिकारी परिवर्तन है। इतिहासकारों के अनुसार मानव–सभ्यता की सबसे महत्वपूर्ण क्रन्ति कृशि का अविश्कार था। यह कहना कठिन है कि कृशि का प्रारंभ कैसे हुआ। कृशि मानव–विकास का स्वाभाविक परिणाम थी। कृशि मानव जीविका का मुख्य साधन बन गया। कृशि–कार्य की प्रेरणा से मानव को अन्न, फल–फूल उपजाने की कला मालूम हुई। उसने अब स्वयं अन्न तथा फल–फूल उपजाना प्रारंभ किया। कृशि में मानव ने सबसे पहले गेहूँ तथा जौ उपजाये। धीरे–धीरे दूसरे किस्म के अनाज भी उपजाये जाने लगे। कृशि के प्रारंभ ने मनुश्य के खानाबदोस जीवन को स्थिर बना दिया और सभ्यता का आधार प्रदान किया।
2. **पशु–पालन–**कृशि के प्रांरभ ने प ु–पालन को आव यक बनाया। कृशि कार्यो में प ु की उपयोगिता मनुश्य के समझ में आने लगी। प ुओं से कृशि कार्य तो लिया जा ही सकता था साथ ही इनसे दूध तथा मांस की भी प्राप्ति होती थी। अतः कृशि के साथ, लोग प ुओं को पालने लगे। संभवतः कुत्ता सबसे पहला पालतु प ु था। बाद मे गाय, भेड़, बकरी, सुअर, बैल आदि प ु भी पाले जाने लगे। अब मानव की मुख्य आजीविका कृशि तथा प ुपालन हो गए।

3. **उद्योग–धंधे**–कृशि के आरंभ ने मानव जीवन को स्थिरता प्रदान की अब वे एक ही स्थान पर रह कर अपना भरन–पोशण कर सकता था। कृशि कार्य की आव यकता ने खुरफी, कुदाल तथा हंसिया का भी आविश्कार किया। इस युग की सबसे क्रांतिकारी खोज 'चाक' का आविश्कार थी। अब मिट्टी के अनेक बर्तन बनने लगे जो जीवन में अत्यंत उपयोगी साबित हुए। चाक ने पहिये की परिकल्पना की तथा मानव ने यातायात के नए साधन विकसित किये। उसने धोड़े अथवा बैल से चलने वाली गाड़िया बनाई। आगे चलकर जलमार्ग से यातायात के लिए नाव बनाई गई। परन्तु अधिकतर हस्तनिर्मित मृदभांड मिले हैं जिनमें तल पर चटाई के छाप है तथा बर्तनों की बारी पर चुटकी से दबाकर डिजाइन मिलते हैं। ये मृदभांड घूसट, रूक्ष तथा फीके लाल रंग के मिलते है तथा अधिकतर घड़े, तसल तथा कटोरे तीन प्रकार के पात्र मिलते है।

   इस काल में कपास की खेती भी होने लगी। कपास से सूत और भेड़ से ऊन मिलने लगा। इसने वस्त्र–उद्योग को विकसित किया। पत्थर से संबंधित उद्योगों का काफी विकास हुआ। कताई–बुनाई के लिए मानव ने करधे और चरखे बनाएं। नये–नये जालों का निर्माण हुआ जिनसे मछली पकड़ने का उद्योग भाुरू हुआ। बर्मा और छेनी की सहायता से सुंदर हथियार और औजार आदि बनने लगे।

4. **आवास–निर्माण**–इसी युग में गृह–निर्माण कार्य भी भाुरू हो गया। कृशि एवं प ाुपालन के कारण मानव–जीवन में स्थिरता आ गई थी। अतः स्थायी रूप से निवास के लिए उन्हें मकान की आव यकता महसूस हुई। प्रांरभ में धरातल में गोल अथवा अण्डाकार गढे खोदकर उन पर धास–फूस की छाजन बनाकर रहना शुरू किए जैसे उदाहरण के लिए बुर्जहोम से ऐसे 16 गढे प्राप्त हुए है तत्पश्चात धरातल पर धास–फूस और झाड़ियों की झोपड़ियां होती थी। फिर बाद में पत्थरों और ईंटों के घर बनने लगे। एक के बाद दूसरे और तीसरे मकान बने। इस प्रकार टोले, मुहल्ले और गाँव बसने लगे। इससे सामाजिक व्यवस्था पनपी। परिवार गोत्र और कबीले गठित होने लगे। व्यापार और उद्योग के विकास ने नगरों को पनपने का अवसर दिया। परिवार में मुखिया का आविर्भाव हुआ। परिवार, समाज, ग्राम, या नगर की सुरक्षा ने राज्य और राजा को बढावा दिया।

4. **श्रम का महत्त्व**–कृशि, प ाुपालन तथा विभिन्न उद्योगों के प्रारंभ एवं विकास के साथ आदि मानव के जीवन में श्रम का महत्त्व स्थापित हुआ। कार्यो की वृद्धि से श्रम–विभाजन भाुरू हो गया। आदि–मानव ने श्रम का महत्व समझा और श्रम द्वारा अपनी स्थिति में सुधार लाया।

इस युग ने मानव में चिन्तन, विवेक और परिपक्वता प्रदान की। विभिन्न अविश्कार इसी के परिणाम थे। किन्तु भावों की अभिव्यक्ति के लिए भाशा और लिपि का आविश्कार नहीं हुआ था। इस युग में मानव ने अपनी जीवनोपयोगी आव यकताओं–भोजन, वस्त्र और आवास की पूर्ति में सफलता प्राप्त की।

इस युग के लोगों का वि वास था कि मरने के बाद भी आव यक वस्तुओं की आव यकता मृत व्यक्तियों को होती है। अतः मृतक के साथ जीवनोपयोगी वस्तुएँ गाड़ दीं जाती थीं। लोग अभी तक प्राकृतिक प्रकोपो का कारण नहीं समझ सके थे। अतएव प्राकृतिक तत्त्वों के प्रति उनमें आदर और पूजा का भाव जागा। सूर्य, चंद्रमा, तारे, पहाड़ आदि उनके वि ोश आदर के पात्र थे। मातृदेवी की पूजा की जाती थी।

नव–पाशाण युग में कलाकृतियों का भी उतरोन्तर विकास हुआ। मिट्टी से मूर्तियां बनाई जाने लगी और उन्हे अलंकृत किया जाने लगा। मिट्टी के बर्तन आग में पकाए जाने लगे। चाक पर बने बर्तन बड़े ही सुडौल और गोल हैं।

मनोरंजन के साधन भी विकसित हुए। नृत्य तथा गान और वादन का विकास हुआ। संगीत में लय की प्रधानता नहीं थी। पहिए और गाड़ी के आविश्कार ने व्यापार–व्यवसाय को आगे बढ़ाया।

नवपाषाण युग में उपकरण दो प्रकार के मिलते हैं (1) टंकित, घर्षित और पलिरादार तथा (2) छोटे, अपखंडित। इनमें प्रथम प्रकार के उपकरण ही 'नवपाषाण' उपकरणों में कृषि तथा पशुपालन से जुड़े होने के कारण आते है। दसरे प्रकार के उपकरण पुराने मध्यपाषाण स्तर से चले आ रहे हैं जिन्हे सूक्ष्म पाषाण कहा जाता है। नवपाषाणकाल से पत्थर की कुल्हाड़ियां, फावड़ा, वसूले, खुरपा, गंडासा तथा कुदाल आदि कृषि कार्य में काम आने वाले नवपाषाण काल के सभी क्षेत्रों अर्थात् उत्तरी भारत, विन्धय क्षेत्र, दक्षिण भारत, मध्यम गंगा घाटी, मध्यपूर्व तथा पूर्वोत्तर भारत के विभिन्न स्थलों से प्राप्त हुए हैं।

वस्तुतः नव पाशाण युग प्रगति का काल था। इस सभ्यता का विकास सर्वप्रथम पि चम तथा दक्षिण–पूर्व एि ाया में हुआ था। धीरे–धीरे इसका क्षेत्र विस्तृत हुआ और वहाँ से उसका पूर्व और पि चम के दे ाों में प्रसार हुआ।

नव पाशाण युग प्रगति का प्रथम महान युग था। इस युग में हीं मेसोपोटांमिया, मिस्र, भारत तथा चीन की सभ्यता को जन्म दिया। इस युग में प्रगति के अनेक चिन्ह दिखाई देते है। कृशि, प ाुपालन, उद्योग–धंधे, औजार, भवन–निर्माण, श्रम का महत्व, सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक व्यवस्था, चित्रकला, संगीतकला आदि क्षेत्रों में क्रान्तिकारी विकास हुए। प्रकृति पर विजय पाने के लिए मानव ने भरपूर प्रयास किया। जीवनोपयोगी वस्तुओं के निर्माण में वह जुट गया। भोजन, वस्त्र एवं आवास की प्रारंभिक आव यकतायें पूरी की गई। प ाुओं को पालतू बनाए, पके मिट्टी के बर्तनों का निर्माण करना, पहिए और गाड़ी का प्रयोग करना, चिकने पत्थर के औजार बनाना, आदि कुछ ऐसे महत्वपूर्ण आविश्कार थे जिनके फलस्वरूप आधुनिक सभ्यता की नींव पड़ी।

1. **धातु युग–** नव पाशाण युग के अंत में धातु का विकास हुआ। इस युग में मनुश्य ने धातुओं की खोज की। इससे मानव–जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। मनुश्य को सबसे पहले सोना और चांदी का ज्ञान हुआ। ये धातु विकास में कोई योगदान नहीं दे सके इसका मुख्य कारण यह था कि एक तो ये बहुत कम मात्रा में उपलब्ध थे और दूसरा इनका प्रयोग केवल आभूशण आदि में ही हो सकता था बड़े औजारों के निर्माण में नही। लेकिन मानव ने भीध्र ही अन्य धातुओं की जानकारी प्राप्त कर ली। उसने तांबा, लोहा आदि खोज निकाला।

   (क) ***ताम्र–युगः*** धातु–युग का पहला चरण था, ताम्र युग। इसमें मनुश्य को तांबे के विशय में जानकारी मिली। ताँबा प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था और इससे मजबूत हथियार और औजारों का निर्माण हो सकता था।

   (ख) ***कांस्य युगः*** धातु–युग का दूसरा चरण था कांस्य युग। इसने मनुश्य ने तांबा और टिन को मिश्रित कर कांसा बनाने की जानकारी हासिल कर ली। कांसा का अविश्कार होते ही, औजार मिश्र धातु से बनने लगे। ये औजार पत्थर और तांबे के औजारों से अधिक मजबूत थे। इस काल मे जहाज निर्माण, औजारों का निर्माण तथा बढईगिरी आदि के मामलें में प्रगति हुई।

   (ग) ***लौह–युगः*** धातु युग का सबसे महत्वपूर्ण चरण लौह युग है। लोहे की खोज से औजारों के निर्माण तथा कृशि के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। 1000 ई० पू० से मनुश्य ने लोहे का प्रयोग भाुरू कर दिया था। लोहा अब तक खोजे गए सभी धातुओं से ज्यादा उपयोगी व सहायक था। अब मनुश्य लोहे से भारी अस्त्र– ास्त्र, कृशि के औजार तथा जीवनोपयोगी सामान बनाने लगा। लोहे की खोज ने म ाीनों के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और इससे विज्ञान को विकसित करने में काफी सहायता मिली।

धातु–युग में मनुश्य सभ्य बना और उसके सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक अवस्था में परिवर्तन हुआ और वे विकसित और सुदृढ़ हुए। राज्य, राजा, साम्राज्य आदि इसी काल में उदित हुए। लेखन कला भी मनुश्य ने इसी काल में सीखा।

v/;k; 3

fl/kq ?kkVh lH;rk

इस अध्याय में हम सिंधु घाटी सभ्यता, जिसे हड़प्पा सभ्यता भी कहते हैं के विशय में जानकारी प्राप्त करेंगे। सिंधु के तट पर बसी, सिंधु घाटी सभ्यता एक नगरीय सभ्यता थी जिसकी योजना उच्चकोटि की थी। आइये इस सभ्यता का विस्तार से अध्ययन करें।

- *प्रस्तर–धातुयुगीन सभ्यता–सैंधव सभ्यता*
- *आर्थिक जीवन*
- *सांस्कृतिक जीवन*
- *राजनीतिक जीवन*

उत्खन्न–अन्वेषण– 1921 में प्रसिद्ध पुरातत्वेता के मांटगोमरी जिले के हड़प्पस में एक बौद्ध–स्तूप के उत्खन्न के सिलसिले में यह निश्कर्श निकाला कि उसके समीप अति प्राचीन नगर के ध्वांसाव ेश दबे पड़े हैं। उन्हीं के प्रस्ताव पर भारतीय पुरातत्व विभाग ने उस क्षेत्र का उत्खनन किया। वहीं से लगभग 400 मील की दूरी पर सिंध में मोहनजोदड़ों नामक एक दूसरा नगर भी है। 1925 में जे० एच० मैके ने मोहनजोदड़ों से 80 मील दक्षिण–पि चम मे चन्दूड़ों नामक एक स्थान का उत्खनन कराया। इन उत्खनन–अन्वेशणों में सर जॉन मा ल, माधवस्वरूप वत्स, दयाराम साहनी, के० एन० दीक्षित, स्टअर्ह पिगट, सर मार्टिमर व्हीलर आदि ने भी अमूल्य योगदान दिया और सैंधन सभ्यता का पता लगाया।

सभ्यता का विस्तार– मा ल के मतानुसार सैंघव नर्मदा और ताप्ती की घाटियों तक हुआ था। पंजाब, सिन्ध, बलूचिस्तान, गुजरात, राजस्थान और पि चमी उत्तर में पंजाब के रोपड़ जिले से दक्षिण मे नर्मदा–घाटी तक तथा पि चम में बलूचिस्तान के मकरान तट से उत्तर–पि चम में मेरठ तक विस्तृत थी। इसका क्षेत्र त्रिभुजाकार था जो 1,295, 600 वर्ग कि० मी० में विस्तृत था। प्राचीन मिस्र और मेसोपाटामिया के क्षेत्र से यह अधिक विस्तृत था।

यद्यपि हड़प्पा स्थलों का पता लगाया जा चुका है, उनमें से केवल छः को नगर माना जा सकता है। इनमें दो महत्वपूर्ण नगर हड़प्पा और मोहनजोदड़ों थे जो अब पाकिस्तान में है। मोहनजोदड़ों को भााब्दिक अर्थ "मृतकों का टील" है। हड़प्पा पंजाब के मांटगोमरी जिले में है। 483 कि० मी० की दूरी पर स्थित ये दोनों नगर एक–दूसरे से सिंधु नदी से जुड़े हुए थे। तीसरा नगर चन्हूदड़ों, मोहनजोदड़ों से 130 कि० मी० दूर स्थित था। चौथा नगर लोथल गुजरात में कैम्बे की घाटी में स्थित था, पांचवा नगर कालीबंग उत्तरी राजस्थान में था। छठा नगर बनवाली हरियाणा में हिसार जिलें में था। इस प्रकार सैंधव सभ्यता एक व्यापक सभ्यता की श्रृंखला थी।

सभ्यता काल– सैंधव सभ्यता के काल–निर्धारण को लेकर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। मोहनजोदड़ों के सात स्तरीय भग्नाव ोषों के अध्ययन से इसका काल–प्रसार 3250 ई० पू० और 1750 ई० पू० के बीच माना जाता है, इन सात स्तरों में तीन युग पश्चातकालीन, तीन मध्यकालीन है और एक प्राचीन है। पुरातत्वेताओं का यह अनुमान है कि यह सभ्यता लगभग पाँच हजार वर्श पुरानी है। मा ल ने सैंधव सभ्यता को 3000 ई० पू० माना है। फेयर सर्विस मे अपनी पुस्तक दि रूट्स ऑफ इण्डियन कल्चर में सैंधव सभ्यता का काल 3500–3100 ई० पू० तक माना है। डा० राम ारण भार्मा ने सैंधव सभ्यता का काल 2500–1750 ई० पू० बताया है। उनके अनुसार सभ्यता का युवाकाल 2200 से 2000 ई० पू० था। सैंधव भौली में लगभग 30 मुहरें मेसोपोटमिया के प्रदे ों (उर, कि ा, उम्मा, लगा ा आदि) में प्राप्त हुई है। इनके आधार पर प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता मार्टिमर व्हीलर ने सैंधव–सभ्यता को 2500 से 1500 ई० पू० माना हैं। डा० सी० एल० फेब्री ने इसका काल 2800 से 2500 ई० पू० माना है। रेडियो कार्बन विधियों से ईसा पूर्व 2300–1750 तिथि

– कोष्ठम का संकेत मिलता है। प्राप्त प्रमाणों के आधार पर इस तिथि पर ही अभी तक विद्वानों की सहमति लगती है।

सभ्यता के निर्माता– सैंधव सभ्यता के निर्माताओं के संबंध में विद्वानों में बड़ा मतभेद हैं। कुछ विद्वान इसे भारत की अतिप्राचीन सभ्यता मानते है और कुछ लोगों का कहना है कि ईलम, मेसोपोटामिया तथा अन्य पि चमी एि ायाई सभ्यताओं से इस सभ्यता का विकास हुआ। गर्डन चाइल्ड का मत है कि सिंधु सभ्यता के निवासी सुमेरियन थे। डा० राखलदास बनर्जी ने सिंधु सभ्यता के निवासियों को द्रविड़ बतलाया है। उस समय द्रविड़ लोग, पंजाब, सिंध, बलूचिस्तान तथा भारत के अन्य भागों मे फैले हुए थे। उनके मृतपात्र, पाशाणपात्र तथा आभूशण, सिंध प्रदे ीय है तथा उनपर अंकित अनेक चिन्ह सिंधुलिपि की तरह है। किन्तु इस आधार पर उन्हें द्रविड़ मान लेना संदेहजनक है। उत्खनन से प्रात्त अस्थि–पंजरों, मूर्तियों तथा अन्य उपकरणों के आधार पर कुछ विद्वानों ने सैंधव सभ्यता के निर्माताओं को मिश्रित जाति का बतलाया हैं। संभवतः व्यापार, नौकारी, तथा अन्य प्रलोभनों से आकृश्ट होकर अनेक जातियों के लोग इन नगरों में आकर बस गये थे। फलतः विद्वानों की धारणा है कि सिंधु प्रदे ा में भूमध्य–सागरीय, प्रोटो–अस्ट्रेलियाड, मंगोलियन तथा अल्पाइन जाति के लोग निवास करते थे।

iLrj&/kkrq;qxhu lH;rk&l/ko lH;rk

यह सभ्यता प्रस्तर–धातुयुगीन थी। सैंधव सभ्यता के निवासी प्रस्तर और काँसे के उपकरणों का व्यवहार करते थे। उल्खनन में ऐसे अनेक उपकरण प्राप्त हुए है जिनसे यह प्रतीत होता है कि कृशिकर्म की प्रधानता इस क्षेत्र में थी। तथापि, सिंधु–सभ्यता व्यापार–प्रधान और भाहरी थी। यह एक भांतिमूलक सभ्यता थी, और सार्वजनिता तथा समश्टिवादिता इसके एकाकी रूप में नहीं हुआ था वरन् इसका तत्कालिन अन्य सभ्यताओं से अत्यंत घनिश्ठ संबंध था। संभवतः इस सभ्यता के उत्तरी क्षेत्र की राजधानी हड़प्पा और दक्षिणी क्षेत्र की राजधानी मोहनजोदड़ो थी। यहां के लोगों को लिपि का ज्ञान था। दुर्भाग्यव ा यहां की "बुस्ट्रोफेदन लिपि" अभी तक नहीं पढ़ी जा सकी है। यहां के लोग मातृपूजक थे।

नगर–योजना– हड़प्पा और मोहनजोदड़ों के ध्वांसव ोषों से यह स्पश्ट होता है कि नगरों का निर्माण एक नि चित योजना के अनुसार किया जाता था। मोहनजोदाड़ो और हड़प्पा में अद्भुत समनता है। नगरों की रक्षा की लिए चारों ओर से दीवारों का प्रबंध था। हड़प्पा में नगर रक्षा की प्रधान दीवारें कच्चे ईंटों की बनी थीं।

नगर–योजना में सड़कों का प्रमुख स्थान था। सड़के उत्तर से दक्षिण अथवा पूर्व से पि चम की ओर एक–दूसरे को समकोण पर काटती थी। इस प्रकार नगर वर्गाकर अथवा आयताकार क्षेत्रों में बँट जाते थे। सबसे बड़ी सड़क 33 फुट चौड़ी थी। संभवतः यह राजमार्ग था क्योंकि समस्त सड़के इससे मिलती थी। गलियां 3 फुट से 7 फुट तक चौड़ी होती थी। सभी सड़के और गलिया कच्ची थी।

नगरों की स्वच्छता पर वि ोश ध्यान रखा जाता था। सड़कों और गलियों के किनारे कूड़ा फेंकने के बहुत बड़े–बड़े बर्तन प्राप्त हुए हैं। संभवतः नगरों की सफाई के लिए वहां नगरपालिका जैसी कोई संस्था रही होगी। प्रसिद्ध इतिहासकार बी० गार्डन चाइलड के भाब्दों में, "गलियों की सुन्दर पंक्तियाँ तथा नलियों की उत्तम व्यवस्था एवं उनकी सतत् स्वच्छता से इस बात का संकेत मिलता है कि यहां कोई नियमित नगर– ाासन था जो अपना कार्य सावधानी से संपन्न करता था। इसका अधिकार इतना सुदृढ़ था कि बाढ़ों के कारण बार–बार निर्मित भवनों की तैयारी के समय निर्माण एवं सड़कों की सुनि चत पंक्तियों को बनाये रखने के नियमों का पालन होता था।"

भवन–निर्माण– सड़कों तथा गलियों के दोनों ओर भवनों का निर्माण किया जाता था। भवन–निर्माण के लिए पक्की ईंटों का प्रयोग किया जाता था। ईंटें विभिन्न आकार की होती थी और बड़ी मजबूत, पक्की तथा लाल रंग की होती थी। ईंटों को पकाने के लिए नगर के बाहर संभवतः भट्टे होते थे। ईंटों को जोड़ने के लिए मिट्टी गारे और कभी–कभी मिट्टी के साथ चूना का प्रयोग किया जाता था।

मकानों का आकार बड़ा तथा छोटा होता था। मकानों की माप प्रायः 30'x27' होती थीं तथा बड़े मकान इससे दुगुने आकार के होते थे। हड़प्पा के अधिकां ा मकान छोटे और मोहनजोदड़ों के अधिकां ा मकान बड़े थे। प्रायः मकान दो मंजिले होते थे। ऊपर की मंजिल पर जाने के लिए काश्ठ या प्रस्तर की सीढ़ियां बनी होती थीं। कक्ष के द्वार तथा

कपाट विभिन्न आकार के होते थे। बड़े भवनों के द्वार बड़े और छोटे भवनों के द्वार छोटे होते थे। कुछ द्वार तो इतने बड़े होते थे कि उनसे रथ तथा बैल गाड़ियाँ भी आ जा सकती थीं। कमरों में दीवारों के साथ अलमारियों के बनाने की भी प्रथा थी। हड्डी तथा भांख के बने अनेक ऐसे उपकरण उपलब्ध हुए हैं जिनसे प्रतीत होता है कि खूंटियों की भी व्यवस्था थी।

सैंधव सभ्यता के निवासी भवन–निर्माण कला में बड़े दक्ष थे। यहां के मकानों में जल, हवा, प्रका ा आदि की पूर्ण व्यवस्था थी। श्री दीक्षित के अनुसार "ऐसी उत्तम प्रणाली संसार के अन्य किसी प्राचीन दे ा में देखने को नहीं मिलती है। बड़े–बड़े मकानों में अतिथि–गृह और विश्रामागार का प्रबंध था। प्रत्येक मकान में रसोई, स्नानगृह आदि का भी प्रबंध था। नालियों का सुप्रबंध था। प्रत्येक सड़क तथा गली में नालियों बनी थी जो दो से अठारह इंच तक गहरी थीं। बीच–बीच में पानी रोकने के लिए छोटे–छोटे गढ्ढ़े भी थे। जिनमें गंदगी जमनें पर निकाल दी जाती थी। पानी निकलने का ऐसा प्रबंध भाायद और कहीं नहीं था। स्नानागारों, पाक ाालाओं तथा भौचालयों का जल इन्हीं नलियों–प्रनालियों द्वारा भाहर के बाहर निकल जाता था। ये नालियाँ पक्की ईंटों की बनी होती थी। इन ईंटों को जोड़ने के लिए चूने और गारे का उपयोग किया जाता था। नालियों को ढकने के लिए ईंटों का प्रयोग किया जाता था। अधिक चौड़ी नालियों को ढकने के लिए ि ालाखंडों का उपयोग किया जाता था। जल की प्राप्ति के लिए कूपों की समुचित व्यवस्था थी। कुँए दो से सात फीट तक चौड़े थे। कुओं में नीचे जाने के लिए सीढियाँ बनी थी जिनसे समय–समय पर इन कुओं की सफाई होती थी। कुँए प्रायः अंडाकार होते थे तथा इनके चारों ओर एक चबूतरा बना होता था। इनसे पानी रस्सी की सहायता से निकाला जाता था। इनमें घिरनी का प्रयोग किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि कुँए व्यक्तिगत और सार्वजनिक ढंग से व्यवस्थित थे।

हड़प्पा की अपेक्षा मोहनजोदड़ों के भवन अधिक वि ाल थे और वहां के ध्वांसाव ोश में भी अधिक सुरक्षित हैं। बाढ़ से रक्षा के लिए कभी–कभी मकान ऊँचे–ऊँचे चबूतरों पर बनाए जाते थे। दो मंजिले मकानों की नींव अधिक गहरी होती थी। दूसरी मंजिल पर कहीं–कहीं भौचगृह मिले हैं। मोहनजोदड़ों में आठ–आठ मकान समानान्तर पंक्तियों में मिले हैं। हड़प्पा में दुर्ग के उत्तर में नीचे की और मजदूरों की एक बस्ती थी। डा० व्हीलर का मत है कि संभवतः यह बस्ती मजदूरों की थी जो दास के रूप में काम करते थे। हालांकि आर॰एस॰ शर्मा इससे सहमत नही है। उनके अनुसार आज भी आम व्यक्ति दो, तीन कमरों के घर में ही रहता है। अतः इन्हे कुली क्वाटर कहना उचित नही होगा।

भव्य इमारतों का अभाव नहीं था। संभवतः इनका सार्वजनिक या राजकीय उपयोग रहा होगा। इस तरह की इमारतें हड़प्पा और मोहनजोदाड़ो में मिली है। मोहनजोदाड़ो का सबसे वि ाल भवन अन्नागर है जो 45.71 मी० लंबा और 15.23 मीटर चौड़ा था। हड़प्पा में ऐसे छह अन्नागर मिले हैं। प्रत्येक अन्नागर 15.23 x 6.09 मी० का था। ये अन्नागार सिंधु नदी के किनारे स्थित थे। इन अन्नागारों के समीप खलिहान थे जहां जौ और गेंहू की दौनी होती थी। यहां दो रूप के बने बैरक मिले है जिनमें संभवतः मजदूर रहते थे। कालीबंगा में भी अन्नागर मिले हैं। इससे प्रतीत होता है कि सैंधव संभ्यता के निवसी अन्नागार का महत्व समझते थे। मोहनजोदाड़ों में एक भव्य भवन होने का प्रमाण मिला है। संभवतः इसका सार्वजनिक उपयोग रहा होगा। इसके दक्षिण की ओर एक वि ाल खम्भेवाला वर्गाकार दालान है। कुछ पुरातत्त्ववेताओं के अनुसार यहां राजमहल के अव ोश मिले हैं। मैके महोदय इसे राज्यपाल का भवन मानते है। कुछ बहुत बड़े–बड़े हाल भी मिले हैं जो संभवतः सार्वजनिक भवन, पाठ ाला आदि के लिए प्रयुक्त होते थे।

उत्खनन में अब तक जितने भवनों के अव ोश प्राप्त हुए हैं, उनमें सर्वोत्तम मोहनजोदाड़ो का वि ाल स्नानागार है। यह 11.88 मीटर x 7.01 मीटर एवं 2.43 मीटर गहरा है। स्नानगार की फ र्ा पक्की ईंटों की बनी है। इस जला ाय के चारों ओर एक दालान बना हुआ है जिसकी चौड़ाई 15 फीट है। जला ाय के दक्षिण–पि चम की ओर आठ स्नानागार बने हुए हैं। इन स्नानागरों में सीढ़ियों के ध्वंसाव ोश प्राप्त हुए हैं जिनसे यह अनुमान लगाया गया है कि इनके ऊपर कमरे बने हुए थे जिनमें पुजारी रहते थे। मैके के अनुसार इस जलकुंड का धार्मिक महत्व रहा होगा। प्रो० श्रीराम भार्मा भी मैके के इस विचार से सहमत हैं। जला ाय के निकट एक कूप भी था। संभवतः इसी के जल से जला ाय को भरा जाता था। जला ाय को भरने तथा रिक्त करने के लिए नल बने थे। जला ाय में एक भवन था जिसका उपयोग कपड़ा बदलने के लिए किया जाता होगा। इस जला ाय पर टिप्पणी करते हुए कार्लटन महोदय ने कहा है, यह स्नानागार इतना विशाल था कि इसे समुद्र–तट "पर स्थित होटल की मान्यता प्रदान करनी चाहिए।"

उपर्युक्त विवरण से स्पशट है कि सैंधव सभ्यता के निवासी एक नि चित योजना के अनुसार नगर निर्माण तथा भवन निर्माण करते थे। उनकी वास्तुकला अत्यंत ही प्रौढ़ थी। इसमें उपयोगिता और स्थायित्व पर ध्यान दिया जाता था। उनके भवन, सड़के, नालियां, स्नानागार आदि इस बात के प्रमाण है कि उनकी सभ्यता नागरीय थी। यहां नागरीय सुख–सविधाओं का ख्याल रखा जाता था और सफाई पर पूरा ध्यान रखा जाता था।

सामाजिक गठन– सैंधव समाज संभवतः मातृप्रधान था जैसा कि मातृ देवी की मूर्तियों की बहुलता से स्पष्ट है यद्यपि प्रमाणों के अभाव में यह कहना कठिन है कि वहां पर जाति व्यवस्था प्रचलित थी या नही परन्तु यह निश्चित है कि कार्यों के आधार पर समाज किसी ना किसी रूप से वर्गीकृत अवश्य था। संभवतः समाज में चार वर्ग–बुद्धिजीवी, योद्धा, व्यवसायी तथा श्रमजीवी थे। बुद्धिजीवी वर्ग में पुजारी, वैद्य तथा ज्योतिशी थी। योद्धा वर्ग में संभवतः क्षत्रिय थे जो जनता की रक्षा करते थे। व्यवसायी वर्ग में भिन्न–भिन्न व्यवसायों में लोग लगे थे। कुंभकार, बढ़ई, बनकर, चर्मकार, टोकरी बनाने वाले, किसान, आदि इसी वर्ग में आते थे। घरेलू नौकर–चाकर, दास आदि श्रमजीवी थे। सैंधव समाज मे सम्पन्ता–निर्धनता के बीच वि ोश खाई नहीं थी। प्रायः सभी लोग सुखी–संपन्न थे और सर्वे भवन्तु सुखिनः समाज का आद ा था। वर्ग–संघर्श या सामाजिक कटुता का सर्वथा अभाव था।

भोजन– उत्खनन से प्राप्त जौ और गेंहू से प्रतीत होता है कि लोगों का मुख्य खाद्य पदार्थ जौ और गेंहू था। चावल, खजूर, मांस–मछली, दूध, सब्जी, फल आदि भी खाद्य पदार्थ थे। मोहनजोदाड़ो में गेंहू, जौ, राई और मटर की उपज होती थी। हड़प्पा के लोग खजूर, तिल और तरबूज से परिचित थे। मिठाई और रोटी बनाने के सांचे भी उत्खनन से प्राप्त हुए हैं। अनाज कूटने और पीसने के उपकरण भी मिले हैं। मोहनजोदाड़ो में ि ालाजीत मिला है जिससे पता चलता है कि ये लोग औशधि का भी व्यवहार करते थे।

वसन– उत्खनन से चर्खे तथा सूती कपड़े मिले हैं। इनके आधार पर यह नि चपूर्वक कहा जा सकता है कि लोग कताई, बुनाई और सिलाई की कला से परिचित थे। लोग सूती और ऊनी कपड़ों का व्यवहार करते थे। एक पुरूष की मूर्ति प्राप्त हुई है जिसमें वह एक भाल ओढ़े है। यह भाल बाँए कंधे के ऊपर से होकर दाहिने कांख के नीचे से जाता है। भारीर के निचले भाग को ढ़कने के लिए वस्त्र का प्रयोग किया जाता था। स्त्रियाँ की वस्त्र भिन्न थे। स्त्रियों सर पर एक वि ोश वस्त्र पहनती थीं जो पीछे की ओर पंख सा उठा रहता था। लोग रंगीन कपड़ों का भी व्यवहार करते थे। कलाई, बुनाई और सिलाई का प्रबंध था। निर्धनों के वस्त्र साधारण होते थे। इस सब की जारकारी हमें सिन्धु सभ्यता के विभिन्न स्थलों से प्राप्त मृण और पाषाण मूर्तियों से होती है।

आभूषण– लोग बड़े आभूशण प्रिय थे। धनी और निर्धन सभी, के सभी अपनी औकात के अनुसार आभूशण का व्यवहार करते थे। हार, भुजबंद, कंगन और मुद्रिका का उपयोग स्त्री–पुरुश समान रूप से करते थे। करधनी, नथुणी, बाली तथा पायल केवल स्त्रियों ही पहनती थी। स्वर्ण, रजत, मणियाँ एवं जवाहरातों के आभूशण बनते थे। धनिक लोग ही इनका व्यवहार कर पाते थे। निर्धनों का आभूशण सुलभ हड्डियों, ताँबे तथा पक्की हड्डियों के होते थे।

श्रृंगार–प्रसाधन– उत्खनन से श्रृंगार–प्रसाधन मिले हैं। स्त्रियों काफी श्रृंगार–प्रिय थी। वे के ा–विलास की कला मे काफी दक्ष थी। मुख और ओठ रंगने की प्रथा भी प्रचलित थी। काजल, फीता, अंजन, दर्पण, कंघी, सिन्दूर आदि श्रृंगार प्रसाधन थे। पुरुश भी श्रृंगार–प्रिय थें वे दाढ़ी, मूँछ काटने के लिए अस्तुरे का प्रयोग करते थे। पुरूश बाल रखते थे और इन बालों के गर्दन के निकट कटवा लेते थे। वे मूंछ और दाढ़ी भी रखते थे। स्त्रियों अपने बालों को बढ़ाने के लिए पिनों का प्रयोग करती थी। वे वेनिटी बॉक्स (Vanity Box) की तरह के संदूक का प्रयोग करती थी।

मनोरंजन के साधन– मनोरंजन के प्रमुख साधनों में आखेट, भातरंज, मुर्गाद्वन्द, नृत्य–गान आदि थे। लोग मांसाहारी थे, इसकी पुष्टि घर में मिले मछली की हड्डियों तथा खुदाई में प्राप्त मछली पकड़ने के कांटों से हो जाती है। मछली पकड़ने के व्यवसाय के अतिरिक्त वे प ाुओं का ि ाकार करते थे। कुछ ऐसी मुद्राएं प्राप्त हुई हैं जिन पर धनुश–बाण से जंगली तथा बकरों का आखेट करते हुए दिखाए गए हैं। जिन पर तुरही, वीणा आदि के चित्र उत्कीर्ण है। इससे यह पता चलता है कि लोग संगीत और नृत्य का आनंद भी उठाते थे। कांसे की एक नर्तकी की मूर्ति इसे प्रमाणित करती है। बच्चों के मनोंरंजन के लिए झुनझुने, सीटियाँ, गाडियाँ जिनमें बैल जुते रहते थे और मनुश्य तथा प ा–पक्षियों के आकार के खिलौने बनते थे। ये सारे खिलौने बहुधा मिट्टी के बनते थे। सिंधु सभ्यता के लोग गेंद, गोली, पासे आदि से अपना मनोंरंजन करत था। कभी–कभी लोग चिड़ियों को लड़ाकर अपना मन बहलाया करते थे।

सवारी– बैलगाड़ी प्रमुख सवारी थी। हड़प्पा में एक तांबे का वाहन मिला है जो इक्के के समान है।

शव विसर्जन– मोहनजोदाड़ो और हड़प्पा में तीन विधियां प्रचलित थीं जिनका प्रयोग अंतिम संस्कार के लिए किया जाता था। प्रथम, भाव को दफना दिया जाता था। द्वितीय, भाव को खुले स्थान में छोड़ दिया जाता था, ताकि वह प ु–पक्षियों का आहार बने और उसके बाद अस्थि–पंजर को दफना दिया जाता था। तृतीय, भाव को जला दिया जाता था और भस्म को कल ा में रखकर दफना दिया जाता था। मृतपात्रों और कल ों में इस प्रकार का भस्म तथा जली अस्थियां प्राप्त हुई है। हड़प्पा में एक कब्रगाह भी मिला है।

vkfFkd thou

कृषि– सैंधव सभ्यता के आर्थिक जीवन में कृशि मेरूदंड था। भूमि उर्वर थी और सिंचाई की समुचित व्यवस्था थी। अतः लोग कृशिकार्य में लगे हुए थे। वे विभिन्न प्रकार के खाद्यान्न, फल तथा साग–सब्जियों उपजा लेते थे। इस बात का प्रमाण है कि लोग कपास की भी खेती करते थे। गेहूँ, जौ, खजूर आदि की खेती होती थी। कृषि औजार के रूप में अभी पाषाण उपकरणों का ही उपयोग किया जाता था यद्यपि थोड़े बहुत तांबे व कांस्य के उपकरण भी प्रयोग में लाए जाते थे।

पशुपालन– कृशि के अतिरिक्त प ुपालन भी जीविका का एक प्रमुख साधन था। मुहरों पर उत्कीर्ण, गाय, बैल, भैंस आदि के चित्रों से यह प्रमाणित हो जाता है कि इनका उपयोग किया जाता था। गाय, बैल, भैंस, भेड़, बकरी, सूअर, कुत्ते आदि पालतू प ु थे। हड़प्पा के लोगों को कुब्बड़दार साँड़ बड़ा प्रिय था। गधे और ऊँटे का प्रयोग बोझ ढोने के लिए किया जाता था। हड़प्पा में अ व के प्रयोग का पता नहीं चलता है। गुजरात के पि चम–स्थित सुर्कोतदा के उत्खनन से 2000 ई० पू० के अ व का पता चला है। हड़प्पा के लोग हाथी और बारहसिंगा से परिचित थे।

आखेट– सैंधव सभ्यता के लोग उदर–पूर्ति के लिए आखेट का भी सहारा लेते थे। वे प ु–पक्षियों, मछलियों का ि ाकार करते थे। प ुओं का वध कर वे उनसे अपनी तथा अपने प ु–पक्षियों की रक्षा करते थे और उनके, बाल, खाल तथा अस्थितयों से विभन्न प्रकार की वस्तुएँ बनाते थे। तीर, धनुश, भाले, तलवार, आदि उत्खनन से प्राप्त हुए है जिनका आखेट के लिए प्रयोग होता होगा। कांटे द्वारा मछली मारी जाती थी। भौली में ये कांटे वि व–इतिहास में अद्वितीय है।

उद्योग–धंधे– विभिन्न प्रकार के उद्योग–धंधे प्रचलित थे। इनमें स्वर्णकारी, कुम्भकारी, बढ़ईगीरी, धातुकारी आदि प्रमुख थे। विभिन्न प्रकार के स्वर्णभूशणों के निर्माण में जौहरी बड़े निपुण थे। लोथल से प्राप्त एक कंठहार लगभग 5,00,000 लघु–मनकों से बनाया गया है। स्वर्ण की अतिरिक्त चाँदी, ताँबा, हाथीदाँत, अस्थि तथा मिट्टी के भी आभूशण बनाए जाते थे। लोग लाल अकीक के दाने बनाने में बड़े निपुण थे। कुंभकार चाक द्वारा रकाबियाँ, कटोरियाँ, प्यालियाँ, मटके, कुंडे, भाण्ड, आदि बनाते थे। मिट्टी के तरह–तरह के खिलौने बनाए जाते थे। मूर्तियां भी बनाई जाती थीं। मिट्टी के दीवट, चूहेदानी और पिंजड़े भी बनाए जाते थे। बढ़ई चाक, गाडियाँ, कुर्सियाँ, भवन–निर्माण संबंधी लकड़ी के समान आदि बनाने में व्यस्त रहते थे। धातुकार विभिन्न प्रकार के अस्त्र– ास्त्र आदि बनाते थे। इनमें प्रमुख थे–गदा, फरसा, खंजर, बर्छे, धनुश–बाण इत्यादि। इनके निर्माण में ताँबा और काँसा का उपयोग किया जाता था। धातुकार टिन और ताँबा मिलाकर काँसा तैयार कर लेते थे। हड़प्पा में कांसे के बहुत कम उपकरण मिले है। कारण यह है कि टिन और तांबा धातु वहां उपलब्ध नहीं थे। राजस्थान की खेतरी खदान से ताँबा प्राप्त किया जाता था। यह बलूचिस्तान से भी मंगाया जाता था। हड़प्पा में कांस्यकारें का बड़ा महत्व था। वे धतुओं के बर्तन, मूर्तियां आदि बनाते थे। पत्थर काटने की छेनियाँ भी मिली है, जिनसे यह प्रमाणित होता है कि पत्थर काटने या तरासने का ि ाल्प उन्नतावस्था में था। चर्खे से सूत की कताई का व्यवसाय बड़ा उन्नत था। बुनकर सूती और ऊनी कपड़े बनाते थे। ईंट बनाने का काम वृहत् पैमाने पर होता था। ईंट को पकाने को लिए भट्टियां होती थी। राजमिस्त्री भी थे जो भवन–निर्माण में लगे रहते थे। हड़प्पावासी नौका–निर्माण भी जानते थे। इस प्रकार, विभिन्न प्रकार के उद्योग–धंधे प्रचलित थे।

व्यापार– सैंधव सभ्यता के लोग वाणिज्य व्यापार में वि व के अन्य समकालीन सभ्यताओं से अधिक उन्नत ील थे। लेन–देन में वस्तु–विनिमय प्रणाली प्रचलित थी। निर्मित वस्तुओं विशेष रूप से ऐश्वर्य प्रसाधन की वस्तुएं जैसे हाथी दांत का बना जूड़ा पिन आदि का निर्यात तथा धातुओं का आयात होता था। वस्तुओं को ढोने में ऊँट, बैलगाड़ी और

नाव का उपयोग किया जाता था। अरब सागर द्वारा पि चमी दुनिया से व्यापार किया जाता था। हड़प्पावासी नाव और इक्का का उपयोग जानते थे। राजस्थान, अफगानिस्तान एवं ईरान से उनका व्यापारिक संबंध था। मेसोपोटामिया में हड़प्पा की अनेक मुद्राएं मिली है जिनसे प्रतीत होता है कि यहां के लोगों का वहां से व्यापारिक संबंध था। 2350 ई० पू० के मेसोपोटामिया के एक मिट्टी की तख्ती से पता चलता है कि उनका "मेलूहा" से व्यापारिक संबंध था। मेसोपोटामिया और मेलूहा के बीच दो व्यापारिक केन्द्र दिलमुन और माकन थे। दिलमून संभवतः फारस की खाड़ी में स्थित, बहरीन में स्थित था। उस बंदरगाह नगर में अनेक कब्रगाह उत्खन्न के लिए भोश पड़े है। सैंधव सभ्यता के व्यापार के विशय में इतिहासकार गार्डन चाइल्ड का कथन है, "सिंधु-घाटी के नगरों की निर्मित सामग्रियाँ दजला-फरात के बाजारों में बिकती थीं और उधर सुमेरियन कला की कुछ भौलियों, मेसोपोटामिया की श्रृंगार-सामग्रियों तथा एक बेलन के आकार की मुहर का अनुकरण सिंध-निवासियों ने कर लिया था। व्यापार कच्चे माल तथा विलास सामग्रियों तक ही सीमित न था। अरब सागर के तटों से लाई मछलियाँ मोहनजोदाड़ो की भोजन-सामग्री में सम्मिलित थीं।" सिंधु-घाटी में तांबा, चाँदी, सोना आदि धातुएँ उपलब्ध नहीं थी। चाँदी, टिन, सीसा तथा सोना संभवतः ईरान और अफगानिस्तान से मंगाए जाते थे। अनेक प्रकार के बहुमूल्य पत्थर संभवतः बदख्शां से मंगाये जाते थे। सीपी, भांख, कौड़ी आदि संभवतः काठियावाड़ के समुद्रतट से मंगाई जाती थी। देवदार की लकड़ी हिमालय के पर्वतीय प्रदे ा से मंगाई जाती थीं। इस प्रकार, अन्तर्दे ीय और अन्तर्राश्ट्रीय व्यापार उन्नतावस्था में था। वस्तुतः सैंधव सभ्यता एक व्यापार प्रधान सभ्यता थी।

माप-तौल- हड़प्पा तथा मोहनजोदाड़ो में समान माननीकरण के माप-तौल के अनेक उपकरण प्राप्त हुए हैं। कुछ बाट तो काफी भारी हैं और कुछ अत्यंत हल्के। हल्के बाटों का प्रायोग जौहरी करते थे। अधिकां ा बाट धनाकार होते थे। तौल की इकाई 16 थी। दिलचस्प बात तो यह है कि 16 इकाई का उपयोग आधुनिक भारत तक होता आया है क्योंकि अभी हाल तक 16 आने का एक रूपया होता था। मापने के लिए कांसे की सलाका व्यवहार में लाई जाती थी। क्योंकि मोहनजोदाड़ो भग्नाव ोशों में सीपी का बना हुआ एक फुट का एक खंड मिला है। सीपी के खंडों को जोड़ने के लिए धातु का प्रयोग किया जाता था। तौलने के लिए तराजू का प्रयोग किया जाता था। क्योंकि ध्वंसाव ोशों में तराजू भी मिले हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पश्ट है कि सैंधव सभ्यता के आर्थिक जीवन में कृशि, प ु-पालन, आखेट, उद्योग-धंधे, व्यापार-व्यवसाय आदि प्रमुख थे। सभ्यता प्रधानता व्यापारिक थी लोग अपने-अपने उद्योग-धंधों में व्यस्त रहते थे। श्रमजीवियों, ि ाल्पियों एवं किसानों की स्थिति भी संतोशजनक थी। संभवतः श्रम को मर्यादा प्राप्त थी। सभ्यता का विकास भाांतिकाल में हुआ था। अतः व्यापार-व्यवसाय का चरम विकास हुआ।

धार्मिक जीवन- सिंधु-घाटी सभ्यता के निवासियों के धार्मिक वि वास के संबंध में नि चत रूप से कुछ कहना मु कल है, क्योंकि भग्नाव ोशों में मंदिरों के अव ोश नहीं मिले हैं। साथ ही लिखित सामग्री के अभाव में उनके द ान के बारे में हम कोई अवधारणा नि चत नहीं कर सकते। उल्खनन में मुहरें, ताम्रपत्र, मूर्तियों प्रस्तर-मूर्तियां, धातु-मूर्तियां आदि प्राप्त हुई हैं। इनके आधार पर हम सैंधव सभ्यता के धार्मिक जीवन के बारे में परिकल्पना कर सकते हैं।

द्विदेववादी विद्वानों का अनुमान है कि सिंधुघाटी के निवासी द्विदेववादी थे। वे दो भाक्तियों परम पुरूश और परम नारी पर वि वास करते थे।

(i) **देवी-देवताओं की उपासना-** स्त्रियों की मिट्टी से निर्मित अनेक मूर्तियां मिली है। इससे यह पता चलता है कि उस समय मातृपूजा का प्रचार था। इससे आगे चलकर भाक्ति-पूजा, देवी-पूजा आदि का प्रचलन इस दे ा में हुआ। पुरूश-देवता के भी चित्र मिले हैं। जिसे योगिराज प ुपति महादेव का चित्र कहा जा सकता है। इससे यह स्पश्ट है कि उस समय ि ावपूजा की प्रथा थी। ि ाव से संबंधित लिंग-पूजा का भी प्रमाण मिलता है।

(ii) **प्राकृतिक शक्तियों की उपसना-** उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह स्पश्ट होता है कि उस समय लोग प्राकृतिक भाक्तियों-अग्नि, जल, वायु की भी उपासना करते थे। सूर्य-पूजा तथा वृक्ष पूजा की भी प्रथा थी। मंदिरों का अभाव था, अतः लोग घरों में ही पूजा करते थे। उत्खनन से प्राप्त एक स्त्री के पेट से एक पौध निकलता दिखलाया गया है जिससे यह ज्ञात होता है कि इसका संबंध पृथ्वी देवी, पौधों की उत्पत्ति और उनके विकस से

था। प्रकृति देवी का चित्रण हड़प्पा से प्राप्त एक मुद्रा पर स्पश्ट है। एक अन्य चित्र में एक स्त्री पालती मारकार बैठी हुई है, और इसके दोनों ओर पुजारी है। प्रकृति ही मनुश्य का पालन–पोशण करती है, इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि वे लोग धरती और प्रकृति को मातृदेवी मानकर पूजा करते हों।

(iii) **शिव की उपासना–** मोहनजोदाड़ो की एक मुहर में त्रिमुखदेव की मूर्ति अंकित है। सिंहासन पर स्थित यह मूर्ति योगमुद्रा में है। यह देव चार प ाुओं, अर्थात् हस्ति, व्याघ्र, बारहसिंगा तथा भैंसा के साथ प्रदर्ि ात किए गए हैं। सर जॉन मा ाल ने इसे प ाुपति या ि ाव की मूर्ति माना है। इससे हम यह परिकल्पना कर सकते है कि सिंधु–घाटी के निवासी भौव थे या ि ाव की उपासना करते थे। इस मत की पुष्टि में एक दूसरातर्क यह है कि लिंगपूजा की प्रथा प्रचलित थी। हड़प्पा के उत्खनन में ऐसे अनेक प्रस्तर उपलब्ध हुए हैं जो योनि अथवा ि ाविलिंग के प्रतीक हैं। यही कारण है कि आजकल भी हिन्दू धर्म में ि ाविलिंग की पूजा को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

(iv) **मातृदेवी–** मोहनजोदाड़ो में एक अर्द्धलग्न नारी की मूर्ति मिली है जिसे "महादेवी" की संज्ञा दी गई हैं। देवी माला धारण किये हुए है और इसके सिर पर एक वि ोश प्राकार का परिधान है। ऐसा प्रतीत होता है वह देवी भाक्ति का प्रतीक है। मा ाल महोदय ने उसे "महादेवी" माना है।

(v) **वृक्ष–पूजा–** सिंधु–घाटी के लोग कुछ वृक्षों को पवित्र मानकर उनकी पूजा करते थे। मोहनजोदाड़ो में प्राप्त एक मुहर पर देवता का चित्र उत्कीर्ण है जिसके दोनों ओर पीपल की भााखाएं है। हिन्दू–धर्म में पीपल–पूजा को पवित्र माना गया है और आजकल भी हिन्दू इसकी पूजा करते हैं। पीपल को बौद्ध धर्म में भी पवित्र माना गया है।

(vi) **पशु–पूजा–** सिंधु–सभ्यता के लोग प ाु–पूजा भी करते थे। मुहरों तथा प्रस्तर–पत्रों पर चित्रित या उत्कीर्ण मूर्तियाँ इसके प्रमाण है। कुछ प ाु आधे मनुश्य और आधे प ाु की आकृति में उत्कीर्ण है। एक मुहर में एक प ाु का चित्र है जिसके भारीर का कुछ भाग बैल का है तथा कुछ बकरी का और जिसका मुख मनुश्य का है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण कूबड़दार साँड है जो ि ाव का वाहन माना गया है।

(vii) **सर्प–पूजा–** सर्प या नागों का भी धार्मिक महत्व था। पत्थर के एक टुकड़े पर बैठे हुए मनुश्य के दोनों ओर फन ताने हुए साँप हैं। एक ताबीज पर एक नाग चबूतरे पर लेटा है। संभवतः उस समय लोग नाग–पूजा करते थे। नाग–पूजा हिन्दू–धर्म में आज भी प्रचलित है।

(viii) **धार्मिक–अनुष्ठान**– कुछ विद्वानों का विचार है कि सिंधु–घाटी के प्राचीन निवासियों का धर्म कर्मकांडमूलक भी था। इस मत की पुश्टि उत्खनन में प्राप्त वृत्ताकार पाशाण खंड से होती है। संभवतः ये वेदी–स्तम्भ अथवा यज्ञ स्तम्भ थे। वि ावास जलकुंड का भी धार्मिक महत्व रहा होगा। धार्मिक उत्सवों पर नृत्य–गान का भी प्रचलन था।

(ix) **अंधविश्वास–** सिंधु–घाटी के निवासी अंधवि ावासी और रूढ़िग्रस्त भी थी। जादू–टोने, तंत्र–मंत्र आदि पर उनका वि ावास था। मृतकों के साथ उनके जेवरात और श्रृंगार–सामग्रियाँ रखा दी जाती थी। भूत–प्रेत से बचने के लिए लोग जादू–टोने का व्यवहार करते थे।

(x) **देवताओं का मानवीकरण–** सिंधु–घाटी के लोगों ने देवताओं का मानवीकरण किया था और वे उन्हे मनुश्य के रूप में देखते थे। यही कारण है कि मुहरों पर देवताओं को मानवीय रूप में प्रदर्ि ात किया गया है। इससे देवताओं के प्रति सहज श्रद्धा–भावना उत्पन्न हुई। संभवतः अवतारवाद की परिकल्पना हो चुकी थी जो हिन्दू धर्म का अभिन्न अंग है।

मृतक संस्कार– सिंधु –घाटी के लोग अपने–अपने मृतकों का संस्कार उचित ढंग से किया करते थे। वे मुर्दों को या तो भूमि में दबा देते थे। अथवा उन्हें दिया करते थे।

सिंधु–घाटी–सभ्यता के निवासियों के धार्मिक वि ावासों और रीति–रिवाजों के कुछ पहलू हमारे समाज में बाद में बने रहे। ि ाव और मातृदेवी की पूजा और धार्मिक स्थान आदि सिंधु–घाटी–सभ्यता (हड़प्पा संस्कृति) की परंपराओं के ही प्रमाण है। सैंधव सभ्यता के विवरण से स्पश्ट है कि हिन्दू–धर्म की नींव पड़ चुकी थी। मातृदेवी के रूप में भाक्ति की

पूजा, ि ावपूजा, नाग–पूजा, वृक्षपूजा आदि आज भी हिन्दू–धर्म में प्रचलित है। स्टुअर्ट पिगट महोदय ने भी हिन्दू धर्म का स्रोत सिंधु–घाटी को ही माना है। धार्मिक कर्मकांडों या अनुश्ठानों की परम्परा भी पुरानी है। देवताओं का मानवीकरण या अवतारवाद की कल्पना भी हो चुकी थी। देवताओं को तुश्ट करने के लिए बलि–प्रथा भी प्रचलित थी। धार्मिक उत्सवों पर नाच–गान का प्रचलन था। अंधवि वास और जादू टोने भी प्रचलित थे।

IkLÑfrd thou

कलाः सैधव निवासी कला के विभिन्न अंगों से परिचित थे। उनकी वास्तुकला काफी प्रौढ़ थी। उनकी कला उपयोगितापरक थी। अतएव इसमें कलात्मकता का अभाव है।

भवन–निर्माण कलाः सिंधु–घाटी सभ्यता के निवासी भवन–निर्माण कला में बड़े ही निपुण थे। वे सीढ़ियों से युक्त पक्के का दो मंजिला मकान बना लेते थे। उनके भवन वि ाल, सुडौल तथा सादे थे। उनकी वास्तुकला के अनुपम उदाहरण वि ाल स्नानागार, अनाज के भंडार, वि ाल हाल आदि है।

मूर्तिकला एवं चित्रकलाः उनकी मूर्तिकला पूर्ण विकसित थी। कलाकार मुखमंडल की भावाभिव्यक्ति पर वि ोश जोर देते थे। इसके ज्वलंत उदाहरण कांस्य की एक नर्तकी की मूर्ति है जो त्रिभंगी मुद्रा में खड़ी है। लोग विभिन्न प्रकार के पत्थरों, हाथीदांत, धातुओं तथा मिट्टी के महरें बनाने मे बड़े दक्ष थे। अधिकां ा मुहरें गोलाकार हैं। कुछ मुहरों पर प ु–पक्षियों की आकृतियाँ चित्रित है। कुंभकार पात्रों के निर्माण तथा सजावट अपनी कला का प्रद ान करते थे। हड़प्पा में मिले मिट्टी के बरतनों से कुम्हारों की उच्चकोटि की कलात्मक उपलब्धियां प्रकट होती है। रूप और आकार की दृश्टि से इन बरतनों की विविधता आ चर्यजनक है। मूर्तिकला तथा चित्रकला के कई प्रकार के नमूने मिले हैं, जिनमें मनुश्य प ु–पक्षी तथा प्रकृति की आकृतियां महत्वपूर्ण है। नर्तकियों की मूर्तियों से स्पश्ट है कि वहां की मूर्तिकला काफी उन्नत थी। यहाँ तक की वहां का कलाकार सिरे परड्य (Cire-Perdue) जैसी विकसित तकनीक से भी परिचित था।

नृत्यकला एवं संगीत कला– मोहनजोदाड़ो में नर्तकी की काँसे की बनी कुछ मूर्तियां मिली है, जो त्रिभणी मुद्रा में खड़ी नाचने के लिए पद–प्रक्षेप करना चाहती है। इससे यह स्पश्ट होता है कि वहां नृत्यकला का विकास हो चुका था। कई तरह के वाद्य–यंत्र भी मिले है।

खिलौना– मिट्टी के अनेक प्रकार के खिलौने मिले हैं। बहुत–सी चिड़ियाँ है जिनकी टांगे डंडे जैसी लंबी है। कुछ मनुश्य की मूर्तियां ऐसी बनी हैं जिनकी भुजाओं को घुमाया जा सकता है। मिट्टी के बने कुछ ऐसे साँड की मूर्तियां मिली है, जो सिर हिला सकती है। अनगिनत गाडियाँ मिली है जिनमें पहिए लगे हैं। इन सबसे स्पश्ट है कि उस समय के लोग कच्चों के लिए खिलौने बनाने मे दक्ष थे।

बौद्धिक प्रगति–

(क) **लेखनकला–** सिंधु–घाटी के लोगों में लेखनकला का आविश्कार किया था जिससे उन्हें ज्ञान–विज्ञान के विकास में प्रगति मिली। लोग लेखन–कला से परिचित थे। वे पढ़ना– लिखाना भी जानते थे। इस तथ्य की पुश्टि उनकी मुहरों पर उत्कीर्ण लेखों से होती है। लगभग 500 मुहरें मिली हैं, जिनपर कुछ लिखा है। इनकी लिपी चित्रात्मक प्रतीत होती है और भाब्द बोध के लिए चिन्ह बने हुए है। लोग दाहिने से बांये की ओर लिखते थे। परंतु कुछ मुहरों में कुछ पंक्तियां बांये से दाये की ओर उत्कीर्ण है। उनकी लिपियां काफी जटिल है और दुर्भाग्यव ा अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी हैं। कुछ ऐसी लिखावट मिली है जिसमें पहली पंक्ति तो दाहिने से बायें की ओर है और दूसरी बायें से दायें की ओर है। इस प्रकार की लिखावट को 'बूस्ट्रोफेदन' कहते हैं।

(ख) **विज्ञान–** सिंधु–घाटी के लोग धातु की तकनीक में बड़े निपुण थे। वे धातु को गलाना जानते थे तथा चादरों का भी निर्माण कर लेते थे। मोहनजोदाड़ों में गले हुए तांबे का पिंड मिला है। टिन और तांबा मिलाकर कांसा तैयार किया जाता था। चाँदी, तांबा, काँसे की बहुत–सी चीजें बनाई जाती थी। उन्हें चिकित्सा विद्या का भी ज्ञान था। वे तरह–तरह की औशधियां भी बना लेते थे। आबनूस की तरह एक काला पदार्थ मिला है, जिसे पानी में घोल देने से पानी का रंग बादामी हो जाता था। पुरातत्ववेत्ताओं के अनुसार यह ि ालाजीत है। ि ालाजीत अजीर्ण,

मधुमेह, गठिया रोगों की औशधि है। लोग तरह–तरह के रंगों का भी निर्माण कर लेते थे। सिंधु–घाटी के लोग ज्योतिश विद्या से परिचित थे। ऋतुओं के गहन अध्ययन और ग्रह नक्षत्रों के वैज्ञानिक वि लेशण के आधार पर वे बाढ़ आने की पूर्वसूचना प्राप्त कर लेते थे। वे मूल्यवान् प्रस्तरों को तरा ा कर आभूशण बताते थे। माप–तौल की प्रमाणिकाता को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वहां अंकगणित, द ामलव प्रणाली और रेखागणित के सिद्धान्तों से लोग अव य परिचित रहें होंगे।

(ग) **दर्शन–** सैंधव सभ्यता के निवासियों के धर्म से उनके द र्शन का पता चलता है। उनकी मातृपूजा से प्रतीत होता है कि वे भाक्ति का स्त्रोत प्रकृति को मानते थे। उनका यह प्रकृतिवाद, द र्निमूलक नहीं था। उनकी भवन तथा उपकरण निर्माण कला में उपयोगितावाद की स्पश्ट छाप है। इससे प्रतीत होता है कि कला के प्रति उनका दृश्टिकोण या द र्न उपयोगितावादी था। मोहनजोदड़ों में भक्तिमार्ग तथा पुनर्जन्मवाद जैसे दा र्निक सिद्धान्तों के कुछ चिन्ह भी मिलते हैं। मातृपूजा, ि ाव–पूजा, वृक्ष–पूजा का आज भी हिंदू धर्म में प्रचलन में हैं इससे यह स्पश्ट होता है कि उस समय हिंदू धर्म की नींव पड़ चुकी थी।

इस प्रकार यह स्पश्ट है कि सिंधु–घाटी सभ्यता एक विकसित सभ्यता थी। भारतीय सभ्यता का सर्वप्रथम विकास यहीं हुआ था। इसलिए, इसे 'भारतीय सभ्यता का उशा–काल' भी कहते हैं।

jktuhfrd thou

सैधंव–सभ्यता का राजनीतिक इतिहास अभी भी अंधाकारमय है। उनके राजनीतिक या भाासन–व्यवस्था के बारे में नि चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वानों के अनुसार पुजारी वर्ग शासन व्यवस्था को देखते थे, कुछ अन्य के अनुसार वहां कोई लोकतांत्रिक व्यवस्था रही होगी जो नगर–निर्माण, भवन–निर्माण या स्वास्थ्य सफाई पर ध्यान देती थी। व्हीलर और हंटर ने सैंधव–सभ्यता की भाासन–व्यवस्था को जनतंत्रात्मक माना है। नगर योजना को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वहां नगरपालिका की सुव्यवस्था थी। यही कारण है कि नियमित ढंग से सड़कों की रक्षा, नालियों का सुप्रबंध आदि का काम होता था। उत्तर में हड़प्पा और दक्षिण में मोहनजोदाड़ों राजधानी थे। दोनों नगरों में दुर्गो के भग्नाव ोश मिले हैं तथा अन्य प्रकार के सार्वजनिक भवन भी मिले हैं। सिंधु–धाटी के भाान्तिमय जीवन के प्रमाणों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वहां उत्तम भाासन–व्यवस्था थी और विप्लव तथा अ ाांति से वह प्रदे ा मुक्त था।

विदेशों से संबंध– सैंधव सभ्यता का विदे ाों से घनिश्ठ संबंध था। सुमेर और मिस्र में उत्खलन में अनेक मुहरें प्राप्त हुई हैः जिनमें सैंधव सभ्यता की अमिट छाप है। मेसोपोटामिया और सुमेर की भांति सैंधव सभ्यता नगरीय सभ्यता थी। सैंधव सभ्यता की मुहरें इलम और मेसापोटामिया में मिली है। इसी तरह सुमेर के उत्कीर्ण अभिलेख मोहनजोदाड़ों में मिले हैं। इनसे यह पता चलता है कि इन दो सभ्यताओं के बीच पारस्परिक सम्पर्क रहा होगा। यही कारण है कि प्रारम्भ में सैंधव सभ्यता को इण्डो–सुमेरियन माना जाता था। किन्तु, इन समानताओं के बावजूद भी सैंधव सभ्यता की अपनी वि ोशताएँ थी। यह सभ्यता धातु–प्रस्तरयुगीन एवं नागरीय थी। फिर भी यह कहा जा सकता है कि इसका सुमेर के साथ व्यापारिक संबंध था। यह व्यापार समुद्र के रास्ते और बलूचिस्तान के स्थलमार्ग से होता था। यूनानी और बेबीलोनियन में कपास को "सिंधम" कहते थे। इससे उनके सैंधव सभ्यता के सम्पर्क का पता चलता है। पि चमी संसार ने सैंधव निवासियों से ही कपड़े की बुनाई कला सीखी है। मेसापोटामिया के दोने की सामग्रियां भारतीय हीं हैं। सैंधव सभ्यता का मिस्र के साथ भी संबंध था। ऐसा प्रतीत होता है कि सैंधव सभ्यता की भौतिक सामग्रियाँ इलम और सुमेर होकर मिस्र पहुँचती थी। इतिहासकार चाइल्ड ने सैंधव–सभ्यता को बेबीलोन की सभ्यता से आगे माना है। एथेंस वि विद्यालय के प्रो० स्प्रीडाल मेरिटोज ने सैंधव यूनानी सभ्यताओं में समानता बतलाया है। सैंधव–सभ्यता की मातृदेवी और यूनान की मातृदेवी में काफी समानता थी। उनके धार्मिक उत्सवों में भी समानता है जैसे दोनों ही वृशभ का पूजनीय मानते थे। ये सब प्रमाण सैंधव सभ्यता के समकालीन अन्य सभ्यताओं से व्यापारिक सम्बन्धों के प्रतीक है।

सैंधव सभ्यता का अंत– विद्वानों का विचार है कि 1500 ई० पू० में सैंधव सभ्यता का अंत हो गया। इसके अनेक कारण थे–

(i) **बाढ़–**सैंधव सभ्यता के विना ा का प्रमुख कारण सिंधु नदी की बाढ़ बतलाया जाता है। कहा जाता है कि जल–प्लावन के कारण सिंधु–प्रदे ा के प्रमुख नगर जल–मग्न हो गये। उनपर बालू और मिट्टी की परत पड़ गई। उत्खनन के फलस्वरूप ऐसी सात परतें मिली है।

(ii) **अनावृष्टि–** यह भी कहा जाता है कि अनावृवित्त के कारण लोग दुर्भिक्ष के ि ाकार हो गए। जो बच गए, वे सिंधु प्रदे ा छोड़कर अन्यत्र चल पड़े।

(iii) **बाह्यक्रमण–** कुछ विद्वानों का विचार है कि सैंधव सभ्यता का पतन बाह्ययाक्रमण के कारण हुआ। उत्खनन में अनेक अस्थिपंजर मिले हैं। कुछ स्थानों में 'बहुसंख्यक भाव समाधिस्थ प्राप्त हुए है। इन तथ्यों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि संभवतः सामूहिक वध अथवा अग्नि दाह के कारण ही ऐसा हुआ थ। संभवतः आर्यों के आक्रमण्ण के कारण ही ऐसा हुआ था। शायद आर्यों के आक्रमण के फलस्वरूप सैंधव सभ्यता का अंत हो गया।

(iv) **भूकम्प–** कुछ विद्वानों का मत है कि संभवतः भूकम्प के कारण सैंधव–सभ्यता का अंत हो गया।

(v) **राजनीतिक एवं आर्थिक विघटन–** कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि सिंधु–सभ्यता का विना ा सिंधु प्रदे ा के राजनीतिक तथा आर्थिक विघटन के फलस्वरूप हुआ।

उपर्युक्त विवरण से स्पश्ट है कि सैंधव–सभ्यता की श्रृंखला थी। इसके अव ेश पंजाब के रोपड़ और गुजरात के लोथल तक मिले हैं। हड़प्पा और मोहनजोदड़ों इस सभ्यता के प्रमुख केन्द्र थे जो संभवतः राजधानी थे। सैंधव सभ्यता कांस्यप्रस्तरयुगीन और नागरीय सभ्यता थी। इसे "औद्योगिक–व्यावसायिक" सभ्यता भी कहा गया है। उत्खनन में प्राप्त वि ाल सभा–भवनों से यह निश्कर्श निकाला जाता है कि संभवतः यहां लोकतंत्रीय भाासन–व्यवस्था थी। वास्तुकला, नगर–योजना, नगरों की स्वास्थ्य सफाई को देखकर यह अनुमान लगाया जाता है कि वहां नगरपालिका की तरह कोई स्थानीय संस्था रही होगी। सैंधव सभ्यता प्रधानतः भाान्तिमूलक सभ्यता थी। सभ्यता काफी दिनों तक विद्रोह विप्लव से मुक्त रही। सामाजिक और आर्थिक विशमता नहीं थी। जीवन की सामूदायिकता और समश्टिवादिता सामाजिक जीवनन के आधार थे। इस सभ्यता का सृजन तथा संवर्धन एकाकी रूप में नहीं हुआ, वरन् तत्कालीन सुमेरिया, मिस्र, यूनान आदि अन्य सभ्यताओं से इसका अत्यन्त घनिश्ठ संबंध था। पं० जवाहलाल नेहरू के भाब्दों में "भारत की इन उशा–काल की कहानी के आरम्भ में यह बड़ी रोचक एवं विचारणीय बात है कि यह इसका भौ ावकाल न था, वरन् यह अनेक प्रकार से अत्यंत विकसित थी।" संभवतः बाढ़ या बाह्यआक्रमण से सैंधव सभ्यता का अंत हो गया।

(I) rF; **एक दृष्टि में–**

	स्थल	**वर्ष**	**खोजकर्ता**
1.	हड़प्पा	1921	दयाराम साहनी
2.	मोहनजोदड़ों	1922	राखलदास बनर्जी
3.	रोपड़	1953	याज्ञदत्त भार्मा
4.	लोथल	1954	रंगनाथ राव
5.	कालीबंगा	1961	बी०बी० लाल
6.	रंगपुर	1931–53	एम०एस० वत्स और रंगनाथ राव
7.	आलमगीरपुर	1958	याज्ञदत्त भार्मा
8.	बनवाली	1973	आर०एस० विश्ट
9.	चन्हूदड़ों	1931	गोपाल मजूमदार
10.	सुत्कांगेडोर	1927	ऑरेल स्यइन

(II) LFky vkj unh rV

स्थल	**नदी**

1. मोहनजोदड़ों	सिंधु
2. हड़प्पा	रावी
3. रोपड़	सतलज
4. कालीबंगा	धग्धर
5. लोथल	भोगवा
6. आलमगीरपुर	हिंडन
7. रंगपुर	मादी
8. सुत्कांगेडोर	दा क

(III) frfFk lc/kh fofHkUu er

विद्वान	काल
1. मा र्लि	3250–2750 ई० पू०
2. एम०एस० वत्स	3500–2700 ई० पू०
3. व्हीलर	2500–1500 ई० पू०
4. कार्बन डेटिंग (Dating)	2300–1750 ई० पू०

(IV) fl/k ?kkVh lH;rk dk O;kikj

सामग्री	प्राप्ति स्थल
1. टिन	अफगानिस्तान
2. तांबा	खेतड़ी
3. सोना	कोलार, फारस
4. नील रत्न	बदख्शां
5. चांदी	अफगानिस्तान

(V) iru d dkj.k

विद्वान	पतन का कारण
1. मा र्लि	प्र ासनिक ि ाथिलता
2. स्टाइन	जलवायु परिवर्तन
3. को ाम्बी	आग
4. व्हीलर	विदे ी आक्रमण

gMlik ;xkUrj rFkk Hkhrjh Hkkjr dh vU; lLÑfr;k

हड़प्पा सभ्यता के वितरण क्षेत्र में इस सभ्यता का अंत हो जाने पर अनेक क्षेत्रिय संस्कृतियों का बोल बाला रहा। सिन्ध में झुकार संस्कृति, पश्चिमी पंजाब और बहावलपुर में कब्रिस्तान एच० संस्कृति (सबसे पहले इसे हड़प्पा स्थल के कब्रिस्तान में एक विशिष्ट मृद्भांड–प्ररूप के आधार पर पहचाना गया जिसे पुरातत्त्वीय साहित्य में कब्रिस्तान एच० की संज्ञा दी गई है), राजस्थान, पूर्वी पंजाब, हरियाण और पश्चिमी उत्तरप्रदेश में पांडुर मृद्भांड तथा अन्य प्रकार के मृद्भांड और गुजरात में चमकीले लाल भांड तथा उनसे मिलते–जुलते मृद्भांड। इन क्षेत्रीय संस्कृतियों को बहुधा मृद्भांड प्ररूपों से पहचाना जाता है। सिंधु सभ्यता के साथ इनका क्या संबंध था–इसकी पूरी–पूरी जानकारी अभी हमारे पास नहीं है, परन्तु इनके बीच समय का कोई व्यवधान नहीं रहा। देश के शेष भाग में हमारा सामना अनेक विकसित कृषि संस्कृतियों से होता है। इनमें जो संस्कृतियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं वे निम्नलिखित है।

दक्षिण–पूर्व राजस्थानः बनास, बेराच और उनकी सहायक नदियों ने इस क्षेत्र का पानी खींच लिया है। राजस्थान के उदयपुर, चित्तौड़गढ़, भीलवाड़ा, अजमेर, जयपुर और टोंक जिलों में तथा मध्यप्रदेश के मंदसोर में अनेक ताम्रपाषाणयुगीन स्थल मिले हैं। केवल दो स्थलों का उत्खनन किया गया हैः अहाड़ (आधुनिक उदयपुर के निकट) और गिलुंद। इस ताम्रपाषाण संस्कृति को 'अहाड़ संस्कृति' कहा जाता है (बनास नदी घाटी के नाम से इसे 'बनास संस्कृति' भी कहा जाता है)। अहाड़ और बनास दोनों बहुत बड़ी बस्तियाँ मालूम होती है। अहाड़ का टीला 1500×800 फुट तथा गिलुंद का टीला 500×250 गज का है। निर्माण कार्य का अधिकांश साक्ष्य अहाड़ से मिलता है जिसके 15 संरचनात्मक चरण देखे गए हैं। साधारण घर गारे और पत्थर के बने थे। नींवों में पत्थर का प्रयोग होता था। दीवारों को बाँस के पर्दे या पत्थर की पिंडिकाओं से सुदृढ़ बनाया जाता था और संभवतः ढलवाँ छतें बनाई जाती थी। फ़र्श काली मिट्टी और पीली गाद मिलाकर बनाए जाते थे, और कभी–कभी उस पर नदी के पाट की बजरी बिछा दी जाती थी। कोई पूरी गृह–योजना उपलब्ध नहीं है, परंतु अहाड़ में एक मकान 33 फुट 10 इंच लंबा था और एक कच्ची दीवार से उसके दो हिस्से बना दिए गए थे। मकानों में जो तंदूर मिले हैं उनके कई मुँह थे और वे एक ऐसा नमूना पेश करते हैं जो इस क्षेत्र में आज भी प्रचलित है। गिलुंद में भंडार–गर्त्त मिले हैं। गिलुंद में पक्की ईंटों के प्रयोग का साक्ष्य भी मिला है। मुख्य–मुख्य मृद्भांड काले और लाल रंगों में मिले हैं जिनमें तरह–तरह के रैखिक और बिंदीदार सफ़ेद डिज़ाइन बने हैं, परंतु अन्य प्रकार के मृद्भांड भी मिले हैं। सूक्ष्मपाषाण उपकरण संभवतः सीमित मात्रा में प्रयुक्त होते थे। ताँबे का प्रयोग व्यापक रूप से प्रचलित था। इस संस्कृति के लोग इस क्षेत्र की ताँबा खानों से कच्चा ताँबा इकट्ठा करके उसे घर पर पिघलाते और साफ करते थे। यह भी संभव है कि वे तैयार ताम्र उपकरणों को मध्य प्रदेश तथा दक्कन की समकालीन ताम्रपाषाण संस्कृतियों के पास (तथा अन्यत्र भी) भेज देते थे। ताँबे की वस्तुओं में अँगूठियाँ, चूड़ियाँ, 'सुरमे की सलाइयाँ, चाकू के फल और कुल्हाड़ियाँ मिली हैं। ताँबे को घर पर पिघलाने की पुष्टि ताँबे के पत्तर और धातुमल से होती है। पशुओं की मृण्मूर्तियाँ, मनके, मुहरों इत्यादि भी मिली हैं। हलके रत्नों के मनके भी मिले हैं। अहाड़ में चावल की खेती की जाती थी। संभवतः बाजरा भी मौजूद था। पशु–अस्थियाँ, मछली, कछुए, मुर्गे, गाय, भैंस, बकरी, भेड़, हिरण और सुअर की हैं। पालतू बनाए गए मवेशियों की अस्थियाँ सबसे बढ़कर बताई जाती है। रेडियो–कार्बन तिथि–निर्धारण के आधार पर इस संस्कृति का आरंभ ईसा पूर्व 2000 के आस–पास मान सकते हैं।

प्रस्तुत संदर्भ में यह बात ध्यान देने की है कि ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी में और उसके बाद राजस्थान ताम्र धातु–कर्म का सबसे महत्वपूर्ण केंद्र था। इसका साक्ष्य मुख्यतः आधुनिक खेती खान–क्षेत्र से मिलता है। इसके निकटवर्ती गणेश्वर नामक स्थल पर ढेर सारे ताम्र उपकरण प्राप्त हुए हैं।

मालवा (मध्य प्रदेश में): मध्य प्रदेश में मालवा का पठार बहुत उर्वर है, और अनेक नदियाँ–नर्मदा, चम्बल, सिप्रा, बेतवा, केन, काली सिंध, इत्यादि इसके पानी को बहा ले जाती हैं। यह आद्य ऐतिहासिककाल में खूब बसा हुआ क्षेत्र था। इस इलाक़े में अनेक स्थलों (कायथ, एरान, नारदी, नवदातोली, इत्यादि) का उत्खनन हुआ है, और वहाँ ताम्रपाषाण जीवनयापन के चिह्न मिले हैं। कायथ और नवदातोली शायद दो सबसे महत्त्वपूर्ण उत्खनित स्थल हैं क्योंकि इनसे प्राप्त सामग्री पूरी–की–पूरी प्रकाशित हो चुकी है। कायथ के पहले कालखंड को 'कायथ संस्कृति' कहा गया है। इस कालखंड में चाक–निर्मित मृद्भांड के तीन मुख्य नमूने, ताँबे की अनेक कुल्हाड़ियाँ और चूड़ियाँ, सूक्ष्मपाषाण उद्योग, बिल्लौर गोमेद और सेलखड़ी के मनके प्राप्त हुए हैं। इस कालखंड की तिथि ईसा पूर्व 2200 और 2000 के बीच निर्धारित की गई है। इस स्थल के दूसरे कालखंड में '–अहाड़–संस्कृति' का साक्ष्य मिला है जो दक्षिण पूर्व राजस्थान में पाई गई है। कायथ का तीसरा काल–खंड उस संस्कृति से संबंध रखता है जिसे 'मालवा ताम्रपाषाण संस्कृति' की संज्ञा दी गई है, और इसका सबसे उपर्युक्त साक्ष्य नवदातोली स्थल पर पाया गया है। यह स्थल मोटे तौर पर 2 फ़र्लांग×2 फ़र्लांग क्षेत्र में फैला है। मिट्टी और बाँस और फूस से बने हुए घर दो प्रकार के हैंः चौकोर और वृत्ताकार। वृत्ताकार घरों का व्यास 3 फुट से 15 फुट तक हैं छोटे–छोटे वृत्ताकार घर संभवतः अन्न रखने की खत्तियाँ थीं। चौकोर घर साधारणतः 15 से 22 फुट तक लंबे थे। फ़र्श और दीवारों पर चूने का लेप लगाया जाता था। साक्ष्य से पता चलता है कि घर पास–पास बने होते थे और दो घरों के बीच में रास्ता रखा जाता था। यह अनुमान लगाया गया है कि एक गाँव की जनसंख्यां 200 हो सकती थी। मूल मृद्भांड लाल–काले रंग के हैं। ये साधारण प्याले से लेकर अलंकृत चषक तक के आकार में मिलते हैं। चित्रित डिज़ाइन बहुधा ज्यामितीय होते थे। अन्य प्रकार के मृद्भांड भी

प्रचलित थे, और इनमें से कुछ तो अंतःसांस्कृतिक संपर्क का संकेत देते हैं। ताँबा परिचित धातु था हालाँकी इसका प्रयोग प्रकटतः सीमित था। ताँबे की वस्तुओं में चपटी कुल्हाड़ियाँ, अंगूठियाँ, चूड़ियाँ, मछली–काँटे, छेनियाँ, सुए, इत्यादि सम्मिलित थे। मनके पकी मिट्टी और गोमेद, अकीक (agate) , इत्यादि विभिन्न हल्के रत्नों के बने होते थे। नवदातोली में अनेक फ़सलें भी मिली हैंः दो क़िस्म का गेहूँ, अलसी, मसूर, काला चना, हरा चना, हरी मटर और खेसरी। चावल मिला है, परंतु केवल इस स्थल के दूसरे कालखंड में और उसके बाद, और वह भी सीमित मात्रा में। इस स्थल की तिथि ईसा पूर्व 1600 और 1300 के बीच निर्धारित की गई है। नवदातोली का उत्खनन दक्कन कॉलेज, पूना के प्रोफ़ेसर एच० डी० साँकलिया ने किया है और यह स्थल इस महाद्वीप का सबसे विस्तृत उत्खनित ताम्रपाषाण युगीन ग्राम स्थल है।

महाराष्ट्रः महाराष्ट्र के अनेक स्थलों से ताम्रपाषाण युगीन जीवनयापन का साक्ष्य प्राप्त हुआ है। उत्खनित स्थलों में कुछ महत्त्वपूर्ण स्थल हैंः नासिक, जोरवे, नेवासा, दायमाबाद, चंदोली, सोनेगाँव और इनामगाँव। दायमाबाद इस दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि महाराष्ट्र के आद्य ऐतिहासिक जीवनयापन का आधारभूत अनुक्रम यहीं प्राप्त हुआ है। सबसे आरंभिक काल ऐसे सांस्कृतिक स्तर का प्रतिनिधित्व करता है जिस पर कुछ विद्वानों के अनुसार सिंधु सभ्यता का कुछ प्रभाव लक्षित होता है, विशेषतः उसके परवर्ती चरण का जो पश्चिमी भारत में पाया गया है। दूसरे कालखंड का संबंध दक्षिण–पूर्व राजस्थान की अहाड़ संस्कृति से है जबकि तीसरा कालखंड मध्य भारत की मालवा संस्कृति का संकेत देता है। ताम्रपाषाण संस्कृति चौथे कालखंड में पाई गई है जिसे 'जोरवे संस्कृति' कहा जाता है और जो ठेठ महाराष्ट्र की संस्कृति है। साधारणतः इस संस्कृति की तिथि ईसा पूर्व 1400 और 1000 के बीच निर्धारित की जाती है, परंतु इनामगाँव जैसे स्थलों पर वह संभवतः ईसा पूर्व 700 तक विद्यमान रही। घर वर्गाकार, आयताकार या वृत्ताकार होते थे। दीवारें मिट्टी और गारा मिलाकर बनाई जाती थीं और उनमें लकड़ी के डंडों की टेक दी जाती थी। छत की सामग्री संभवतः फूस की होती थी। जिसे गारे से ढक दिया जाता था। नेवासा में घर का सामान्य आकार 3×7 फुट था। सबसे बड़े घर की माप 45×20 फुट थी। नैदानिक मृद्भांड लाल तल पर काले डिज़ाइन वाले चाक–निर्मित बर्तन हैं, और इनका एक विशिष्ट नमूना टोंटीदार तथा नौतली बर्तन है। मृद्भांड के डिज़ाइन बहुधा ज्यामितीय हैं जिनमें तिरछी समानांतर रेखाओं का प्रयोग किया गया है। छोटे प्रस्तर उपकरणों का समृद्ध उद्योग विद्यमान था। ताँबे की वस्तुओं में चूड़ियाँ, मनके, फलक, छैनियाँ, सलाइयाँ, कुल्हाड़ियाँ, छुरे और छोटे–छोटे बर्तन इत्यादि शामिल थे। दायमाबाद में ताँबे की चार वस्तुएं मिली हैं जिनमें प्रत्येक ठोस धातु की है और उसका वज़न कई किलोग्राम हैः रथ चलाते हुए मनुष्य, साँड, गेंडे और हाथी की आकृतियाँ। दुर्भाग्य से इनमें से कोई भी वस्तु उत्खनित, स्तरीकृति संदर्भ में प्राप्त नहीं हुई है। इससे इन वस्तुओं के तिथि–निर्धारण के प्रश्न पर विद्वानों में तीव्र विवाद पैदा हो गया है, जो बहुत दिलचस्प और बेजोड़ है! कुछ विद्वानों के अनुसार इनका संबंध आद्य ऐतिहासिक काल से या शायद स्वयं जोरवे संस्कृति से है। जो प्रमुख अनाज पहचाने जा सके हैं, वे हैं–जौ, गेहूँ, मसूर, कुलिथ, मटर और कहीं–कहीं चावल भी। बेर की झुलसी हुई गुठलियाँ भी पाई गई हैं। नेवासा में पटसन का साक्ष्य मिला है। पालतू बनाए गए पशुओं में गाय–बैल, भैंस, बकरी, भेड़, सुअर और घोड़ा शामिल थे। हल्के रत्नों के ढेर सारे मनके मिले हैं। मृणमूर्तियों में मातृ देवी के अनेक रूप मिलते हैं। मातृ देवी की एक आकृति साँड की आकृति के साथ जुड़ी हुई मिली है (दोनों आकृतियाँ कच्ची मिट्टी की हैं)। एक प्रमुख विशेषता यह है कि बहुत सारे शवाधान कलश में किए गए हैं। ये कलश घरों के फ़र्श के नीचे रखे हैं।

दक्षिण भारतः इस क्षेत्र में स्थिर ग्राम्य जीवन की आधार–रेखा नवपाषाण संस्कृति से प्राप्त होती है जिसके परवर्ती चरणों में कुछ ताम्रपाषाण तत्त्वों का संकेत मिलता है। मोटे तौर पर इस क्षेत्र में आधुनिक कर्नाटक, आंध्र तथा तमिलनाडु के कुछ हिस्से आते हैं। कृष्णा और तुगंभद्रा नदियों के बीच रायचूर दोआब महत्त्वपूर्ण इलाक़ा प्रतीत होता है। यहाँ अनेक स्थलों का उत्खनन हुआ हैः ब्रह्मगिरि, मास्की, पिकलीहल, उटनूर, संगानाकल्लू, पायमपल्ली, हेम्मिगे, नागार्जुनकोंडा, कोडेकल, इत्यादि। इस सांस्कृतिक चरण से अनेक रेडियो–कार्बन तिथियाँ प्राप्त की गई है। मोटे तौर पर ये ईसा पूर्व 2300 और 900 के बीच पड़ती है। कुछ विद्वानों ने सांस्कृतिक विकास के तीन चरण माने हैं। पहले चरण में घर्षित प्रस्तर कुल्हाड़ियाँ, अविकसित शलक–फलक परंपरा तथा मुख्यतः हस्तनिर्मित बर्तनों का सीधा–सादा संग्रह देखने को मिलता है; बर्तनों में धातु का प्रयोग बिलकुल नहीं हुआ है। परवर्ती चरणों की मुख्य विशेषताएँ

Formatted

Formatted

हैं—चाक–निर्मित चित्रित मृद्भांडों की बढ़ती हुई संख्या और धातु का प्रयोग। इससे इस संस्कृति पर उत्तर ताम्रपाषाणयुगीन प्रभाव लक्षित होता है। उत्खनित मकान गोल या चौकोर थे। दीवारें बाँस के पर्दों की थीं जिनपर मिट्टी बिछा दी गई थी और जिन्हें लकड़ी के डंडों की टेक दी गई थी। फ़र्श आम तौर पर चूने से लिपे थे। गोल घरों की छतें संभवतः शंक्वाकार थीं, जो घास या फूस से बनी थीं। मृद्भांड और पालिशदार पत्थर के उद्योग में पर्याप्त विविधता देखने को मिलती है। ताँबा कभी प्रचुर मात्रा में नहीं था। अन्य वस्तुओं में गोमेद तथा अन्य हल्के रत्नों के मनके, लंबे सींग वाले मवेशियों की मृण्मूर्तियाँ, पकी मिट्टी के तकिए और (टेक्कलाकोटा स्थल से प्राप्त) सोने की एक लटकन शामिल हैं। यह संभव है कि दक्षिण भारत के स्वर्ण–क्षेत्र का उपयोग इसी काल से होने लग गया हो। खेती की फ़सलों में बाजरा और चना मिला है। मवेशियों, भेड़–बकरियों के विस्तृत अवशेष तथा अन्य पशुओं की अस्थियाँ मिली हैं, जिनसे अर्थव्यवस्था में पालतू पशुओं के महत्त्व का संकेत मिलता है। यह तर्क दिया गया है कि इस संस्कृति के सबसे आरंभिक चरण के लोग किसान कम, चरवाहे अधिक थे। वे अपने मवेशियों को संभवतः प्रत्येक वर्ष की किसी कालावधि में अपने घरों के बाहर बाँध देते थे। जिस इलाक़े में मवेशी रखे जाते थे, उसमें लकड़ी के डंडों की बाड़ लगा दी जाती थी। बाड़ के भीतर जो गोबर इकट्ठा होता था उसे प्रतिवर्ष बाड़ के डंडों के साथ ही जला दिया जाता था। इस जलाने का कार्य संभवतः आधुनिक पोंगल समारोह के आसपास किया जाता था जो मकर संक्रांति को पड़ता है। प्रतिवर्ष इस प्रक्रिया की लगातार पुनरावृत्ति का परिणाम यह हुआ है कि जिस जगह वह होली जलाई जाती थी, वहाँ राख का एक टील बन गया है। दक्षिण भारतीय पुरातत्त्व में इन टीलों को 'भस्म टीले' कहा जाता है। भिन्न–भिन्न विद्वानों ने इन टीलों की भिन्न–भिन्न व्याख्या देने का प्रयत्न किया है। यहाँ जो कुछ लिया गया है, वह इसी प्रकार की एक व्याख्या है।

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि आंध्र में अनेक स्थलों से ताम्रपाषाणयुगीन जीवनयापन के संकेत मिले हैं, परंतु पूरी स्थिति बहुत स्पष्ट नहीं है।

पूर्वी भारत—उड़ीसा के अनेक इलाकों से नवपाषाण उपकरण मिले हैं, परंतु वहाँ न तो नवपाषाण स्तर की कोई तिथि निर्धारित की गई है, न ही ढंग से उत्खनन हुआ है। कुचाई स्थल का उत्खनन अवश्य हुआ है जो कि स्पष्टः नवपाषाणयुगीन स्थल है, परंतु उसका भी तिथि–निर्धारण नहीं हुआ है। फिर आद्य ऐतिहासिक ताम्र उपकरण तो मिले हैं परंतु किसी निश्चित ताम्रपाषाणयुगीन स्थल का न तो विवरण मिला है, न उत्खनन हुआ है। व्यवस्थित अनुसंधान के अभाव में उड़ीसा का आद्य ऐतिहासिक चित्र सर्वथा अनिश्चित है। आगे पूर्व की ओर, पश्चिमी बंगाल में ताम्रपाषाणयुगीन जीवनयापन का साक्ष्य इस राज्य के पश्चिमी ज़िलों, जैसे कि वीरभूम, बर्दवान, मिदनापुर और बाँकुरा से मिला है। कुछेक स्थलों, जैसे पाँडु, राजर ढीबी, महिषादल इत्यादि का उत्खनन हुआ है। संपूर्ण साक्ष्य से चावल पर आधारित एक विस्तृत (ताम्रपाषाणयुगीन) ग्राम संस्कृति का पता चला है जो लगभग ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी के मध्य जितना पुरानी है। यह संभावना नहीं है कि पूर्वी बंगाल का डेल्टा क्षेत्र या आधुनिक बाँगलादेश आरंभिक ऐतिहासिक काल से पहले बसा हुआ हो। इस क्षेत्र में मुख्य बस्ती संभवतः गुप्त युग में जाकर बसनी शुरू हुई। और भी पूर्व की ओर, असम में अनेक नवपाषाणयुगीन प्रस्तर उपकरण मिले हैं, परंतु वहाँ कोई ढंग का उत्खनित स्थल नहीं है, न वहाँ किसी स्थल की तिथि निर्धारित की गई है। असम में कोई नवपाषाणयुगीन साक्ष्य नहीं मिलता। बिहार में साक्ष्य स्पष्ट है, और वह चिरंद, सोनपुर जैसे उत्खनित स्थलों से मिला है। चिरंद में कोई ऐसा धातुरहित नवपाषाण स्तर दिखाई नहीं देता जो शायद ईसा पूर्व 2000 वर्ष जितना पुराना हो। अस्थि एवं प्रस्तर उपकरणों, गारे और सरकंडे के घरों के अवशेषों तथा चावल और मूँग सहित तरह–तरह की फ़सलों का समृद्ध संग्रह देखने को मिलता है। चिरंद का अगला स्तर ताम्रपाषाणयुगीन है जिसमें काले–लाल मृद्भांड मिलते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि पूर्वी भारत के कुछ हिस्से इस इलाक़े के ताम्रपाषाण युग में और उससे पहले के नवपाषाणयुग में खूब बसे हुए थे।

ऊपरी गंगा घाटी और गंगा–यमुना दोआबः पीछे हम देख चुके हैं कि हड़प्पा सभ्यता के लोगों ने सहारनपुर, मेरठ इत्यादि ज़िलों में कुछ बस्तियाँ बसाई थीं। धुर पूर्व का स्थल मेरठ जिले में आलमगीरपुर है। परंतु अभी तक इस बात की स्पष्ट जानकारी नहीं है कि हड़प्पा सभ्यता इस इलाक़े के परवर्ती सांस्कृतिक चरणों के साथ किस तरह संबंधित है। दोआब की सांस्कृतिक परंपरा संभवतः उस संस्कृति के साथ शुरू होती है जिसे अपने अत्यंत विशिष्ट मृद्भांड के नमूने के कारण गेरूवर्णी 'मृद्भांड संस्कृति' कहा गया है। इसका साक्ष्य अनेक स्थलों पर मिला है, विशेषतः हस्तिनापुर

और अतरंजीखेड़ा में। यह संस्कृति ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी के पूवार्द्ध में आती है। अतः यह आंशिक रूप से हड़प्पा सभ्यता की समकालीन थी। इस संस्कृति की कोई अपनी विशेषता नहीं है, केवल इसके मृद्भांड तथा अतरंजीखेड़ा में इस स्तर पर चावल का पाया जाना उल्लेखनीय है। प्रसंगवश, कुछ नवीन अन्वेषणों से पता चलता है कि राजस्थान में इस संस्कृति के कई और भी पुराने स्थल हैं, परंतु राजस्थान और दोआब में इसी प्रकार के मृद्भांड मिलने से दोनों में क्या संबंध रहा होगा–यह स्पष्ट नहीं है। गंगा घाटी में समय–समय पर कुल्हाड़ियाँ, मत्स्यभाले, भाले, शृंगिकायुक्त तलवारें, इत्यादि जैसे कुछेक ताम्र उपकरण मिले हैं जिनका किसी संस्कृति के साथ संबंध स्थापित नहीं हो पाया। इन्हें साधारणतः 'गंगा घाटी ताम्र निधि' कहा गया है और उपर्युक्त सांस्कृतिक चरण के साथ इनका संबंध जोड़ा गया है। साइपाइ नामक एक स्थान पर एक तलवार और एक मत्स्यभाले का सिरा मिला है जिनका गेरूवर्णी मृद्भांड से सीधा संबंध देखा गया है। इससे प्रस्तावित संबंध–निर्धारण की स्पष्ट पुष्टि होती है।

दोआब की सांस्कृतिक परंपरा की अगली अवस्था पर काले–लाल मृद्भांड चरण की छाप देखने को मिलती है। इसके बारे में अभी बहुत ही कम साक्ष्य उपलब्ध हुआ है। अतरंजीखेड़ा एक महत्त्वपूर्ण सलि है जहाँ दोआब के पुरातत्त्वीय अनुक्रम में इस मृद्भांड–प्ररूप की सामान्य स्थिति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

अगले चरण की विशेषता **चित्रित धूसर भांड संस्कृति है।** इसमें लोहे का संकेत मिलता है; अतः यह लौह युग संस्कृतियों की श्रेणी में आती है। परंतु हरियाणा और पंजाब में दधेरी, भगवानपुरा, इत्यादि जैसे कुछ स्थलों से सिंधु सभ्यता के तुरन्त बाद लोहरहित काल से इस मृद्भांड का सम्बन्ध लांक्षित हाता है।

यह बात सचमुच स्पष्ट है कि भारत के विभिन्न भागों में ताम्रपाषाणयुगीन जीवनयापन का अन्त होते होते प्राय सम्पूर्ण भारत में ग्राम्य संस्कृतियाँ आ गई थी।

v/;k; 4

ofnd dky

भारत में आर्यों के आगमन के साथ हीं वैदिक युग की भुरूआत होती है। वैदिक काल दो भागों में बँटा है। ऋग्वैदिक काल तथा उत्तर वैदिक काल इस अध्याय में इन दोनों कालों का अध्ययन करेंगे। अध्याय मुख्यत : दो भीशकों में बंटा है:

- *ऋग्वैदिक काल*
- *उत्तर वैदिक काल*

ofnd lH;rk

परिचय– "आर्य" संस्कृति का एक भाब्द है जिसका अर्थ "कुलीन या उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ" बताया जाता है। किंतु, व्यापक आर्य में यह एक प्रजाति का नाम है जो लंबी कद, स्वस्थ, गोरे रंग, लंबी नाक वाले, जाति है। किंतु उनके आदि स्थान के बारे में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। इतिहासकार स्मिथ के भाब्दों में आर्यों के मूल निवास–स्थान के संबंध में कोई विचार नि चत नहीं हो सका है। आर्यों के मूल स्थान के अन्वेशण में अध्येताओ ने भाशा विज्ञान, इतिहास, पुरातत्व एवं नृविज्ञान की सहायता ली है। इस संबंध में उन्होंने निम्ननिलिखित सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है:

(i) **यूरोपीय सिद्धांत–** सर्वप्रथम फ्लोरेस के एक व्यापारी फिलीप सैसेटी ने आर्यों का मूल निवास स्थान यूरोप बतलाया। वह पॉच वर्श तक गोवा में रह चुका था तथा उसे संस्कृत और अन्य यूरोपीय भाशाओं का ज्ञान था। उसने बतलाया कि भारत की संस्कृत भाशा तथा यूरोप की अन्य भाशाओं में कुछ समता है। जैसे संस्कृत का पितृ लेटिन के पेतर, ग्रीक में पतेर, जिंद में पैतर, केल्ट में आलेर, गैथिक में फदर, अंग्रेजी में फादर आदि ऐसे भाब्द हे जो एक दूसरे से मिलते–जुलते हैं। भाशा संबंधी इसी समता के आधार पर सैसेटी में आर्यों का मूल स्थान यूरोप माना हे। उसके इस सिंद्धात का अनुमोदन बंगाल के प्रधान न्यायाधी ा सर विलियम जोंस ने किया । 1786 ई० में उसने एि ायाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल के सामने एक निबंध पढा और यह बतलाया कि आर्यों के विभिन्न भााखाओं में बहुत से 'भाब्द समान है। उसने पितृ, मातृ, आदि भाब्दों के जैसे शब्दों को अन्य यूरोपीय भाशाओं में दिखलाया। जोंस के उपर्युक्त विचार को 19वी भाताब्दी में अतिरंजित करके दिखलाया गया और आर्यों के आदि स्थान के लिए इंडो–यूरोपीयन सिंद्धात को प्रधानता दी गई। डा० पी० गाइल्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "कैक्ब्रीज हिस्ट्री ऑफ इंडिया" में यह दिखलाने का प्रयास किया हंगरी का मैदान ही आर्यों का मूल स्थान था।

नेहरिंग नामक एक विद्धान ने दक्षिणी–रूस को आर्यों का आदि–दे ा बतलाया है। अपने मत की पुश्टि में उन्होंने यूक्रेन से प्राप्त 3000ई० पू० के पात्रों की आधार माना है। इसका समर्थन करते हुए एक अन्य विद्वान् पीकार्नी ने वेजर और वे चुल नदियों के मध्य स्थित मैदान की आर्यों का मूल निवास–स्थान माना है। पैंका महोदय ने स्कैण्डिनेविया को आर्यों का आदि दे ा नि चत किया है।

आर्यों के मूल निवास स्थान के संबंध में यूरोपीय सिद्धांत का जो प्रतिपादन किया गया है। वह मान्य नहीं है। इस संबंध में अनेक तर्क दिए जा सकते है। प्रथम, कतिपय भाब्दों की समानता के आधार पर आर्यों का आदि–दे ा निर्धारित करना भ्रान्तिमूलक है। द्वितीय, हंगरी का मैदान आर्यों का मूल निवास स्थान कभी नहीं हो सकता। प्राचीन वि व में उस मैदान से भी अधिक उपजाऊ सम ीतोश्ण तथा व्यापारिक महत्व के मैदान थे। तृतीय, यह नि चत ढंग से नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन काल में भी हंगरी की भौगोलिक तथा वानस्पतिक अवस्था

वैसी ही थी जैसी आज है। अतः आर्यों के मूल निवास से संबंधित यूरोपीयन सिद्धांत न केवल भ्रान्तिमूलक हे अपितु यूरोपीयन साम्राज्यवाद का पोशक भी है।

(ii) **मध्य एशिया का सिद्धान्त–** 1820 में ईरानी जनश्रुति के आधार पर जे0पी0 रोड ने मध्य एि ाया सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए आर्यों का मूल निवास स्थान बैक्ट्रिया बतलाया है। उसके अनुसार आर्य यहीं से दक्षिण, पूर्व तथा पि चम की ओर गए थे। 1859 में प्रसिद्ध जर्मन विद्वान मैक्समूलर ने भी इस मत का समर्थन किया । उसने अपने मत की पुश्टि के लिए आर्यों के ग्रन्थ वेद और ईरानियों के जेंद अवेस्ता की सहायता ली है। उनके अध्ययन से पता चलता है कि आर्य और ईरानी बहुत दिनों तक एक साथ मध्य एि ाया में रहते थे। यहीं से एक भााखा ईरान को, दूसरी भारत को और तीसरी यूरोप को गई होगी। 1814 में प्रो० सेयस ने आर्यों का आदि देश कैस्पियन सागर के निकट के प्रदे ाों को बताया। मध्य एि ाया के "बोगाजकोई" स्थान के अभिलेखों के आधार पर कुछ विद्वानों ने कैपडोि ाया को आर्यों का मूल स्थान माना है। यहॉ के एक अभिलेख में मित्र, वरूण, इन्द्र आदि वैदिक देवताओं के नाम मिलते है। इस आधार पर इस ही आर्यों का दे ा माना गया है। तेल अर्मना के उत्खनन में कुछ मृत्पात्र प्राप्त हुए हैं, जिनके आधार पर कुछ विद्वानों ने सीरिया को आर्यों का आदि दे ा माना है। एडवर्ड मेयर ने बोगाजकोई और तेल अर्मना के साक्ष्यों के आधार पर यह बतलाया है कि 1400 ई० पू० में आर्य लोग मे सोपोहामिया अथवा सीरिया में रहते थे। उसके अनुसार आर्यों का मूल दे ा पाक्षीर पठार था। ब्रैन्डेस्टीन ने कीरगीज को आर्यों का मूल स्थान माना है। इसके लिए उन्होंने भाशा विज्ञान का सहारा लिया है। डा० पी० गाइल्स तथा अन्य विज्ञानों ने मध्य एि ाया सिद्धान्त को कटु आलोचना की है। उनका तर्क है कि मध्य एि ाया जैसा उजाड़ प्रदे ा आर्यों का आदि दे ा कदापि नही हो सकता। यदि यह उनकी मातृभूमि थी तो फिर वे उसे छोड़कर अन्यत्र क्यों गए? वेदों मे तो इस बात का कही ंजिक्र नही है कि आर्य बाहर से भारत आए थे।

(iii) **आर्कटिक प्रदेश का सिंद्धात–** लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने आर्कटिक प्रदे ा सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उन्होंने वेदों का गहरा अध्ययन कर "दि आर्कटिक होम ऑफ दि वेदाज" की रचना की और आर्यों का मूल स्थान आर्कटिक प्रदेश को बतलाया। उनके अनुसार ऋगवेद में अनेक स्थानों पर छः मासों की रात्रि तथा छः मास दिन का वर्णन मिलता है। एक स्थल पर उशा की स्तुति की गई है जो भारत की छणिक उशा नहीं वरन् यह उत्तर ध्रुव प्रदे ा की दीर्घकालीन उशा है। अतः आर्यों का मूल स्थान आर्कटिक प्रदे ा बतलाया। लगभग 8000 ई०पू० तक आर्य उत्तर ध्रुव प्रदे ा में ही रहे। लगभग 6000 ई०पू० इनकी एक भााखा मध्य एि ाया में आकर बस गई।

किन्तु, तिलक के विचार मान्य नहीं है। उनके ऋवैदिक वर्णन काफी संदेहजनक है। यदि आर्य उत्तरी ध्रुव प्रदे ा को अपनी मातृभूमि मानते तो वे सप्त सैंधव की चर्चा कभी नहीं करते।

(iv) **भारतीय सिद्धान्त–** डा॰ अविना ाचंद्र दास ने भारतीय सिद्धान्त का प्रतिपादत करते हुए आर्यों का मूल स्थान भारत को बताया है। उन्होंने सप्त सैंधव को आर्यों का आदि प्रदे ा बतलाया है। पं० गंगानाथ झा ने भारत के ब्रह्मर्शि प्रदे ा को आर्यों का आदि प्रदे ा या मूल निवास स्थान माना है। श्री एल॰ डी॰ कल्ला ने क मीर तथा हिमालय पर्वत को आर्यों का मूल निवास स्थान बतलाया है। डी॰ एल॰ द्विवेदी ने मुल्तान के निकट देविकानन्द को आर्यों की जन्मभूमि बतलाया है।

विद्वानों ने भारत को आर्यों का मूल निवास स्थान मानते हुए उनके तर्क प्रस्तुत किए है। प्रथम, अभी तक इसका कोई प्रमाण नहीं किया जा सका है कि आर्य विदेशी थे। राधाकुमुद मुखर्जी के भाब्दों में "अब आर्य के आक्रमण और भारत के मूल–निवासियों के साथ उनके संघर्श की परिकल्पना को धीरे– धीरे त्याग दिया जा रहा है।"

द्वितीय, इस बात का पर्याप्त साहित्यिक प्रमाण मिलता है कि आर्य सप्तसैधव को अपना मूल स्थान तथा इसे देव निर्मित मानते थे।

तृतीय, वैदिक साहित्य आर्यों का आदि–साहित्य है। वैदिक साहित्य विदे ाों में कहीं उपलब्ध नहीं है। यह ठीक है कि अवेस्ता और ऋगवेद में समानता है, किंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं निकलता कि आर्य विदे ाी थे।

चतुर्थ, आर्य साहित्य में गेहूँ और जौ का वर्णन है जो आर्यों का प्रधान खाधान्न था। पंजाब में इनकी खेती होती थी। यह तथ्य इस मत का पुश्ट प्रमाण है कि पंजाब या सप्त–सैधव ही आर्यों का मूल निवास स्थान था।

इस मत के पक्षधर मानते है कि सप्त सैधव ही आर्यों का। वे इक्ष्वाकु, प्रां ु, सुद्युक्न और भार्याति जिन्हे जिन्हे मनु का पुत्र कहा गया है। इच्छावाकु और प्रां ु के राज्य सप्तसिंधु के पि चम तथा सुघुम्न और सर्याति के पूर्व में थे। सप्तसिंधु से ताप्पर्य उन सात नदियों वितस्ता (झेलम), असिकनी (चिनाब), परूश्णी (रावी), विपा ा (व्यास), भुातुद्री (सतलज) सरस्वती और दृ ाद्वती से है जिनमें पॅाच तो अभी भी विद्यमान हैं किंतु सरस्वती तथा दृ ाद्वती लुप्त हो गई हे। इन्ही नदी घाटियों में आर्य रहते थे। परन्तु अभी तक प्राप्त साहित्यिक एवं पुरातात्विक अवशेषों के आधार पर यह माना जाता है कि आर्यनस दक्षिण रूस अर्थात् यूराल पर्वत श्रेणी के दक्षिण में मध्य एशियाई इलाके के पास के 'स्टेप' मदानों से आए क्योंकि यूरोपिय वर्ग की अधिकांश भाषाओं में भेड़िया, भालू और घोड़े जैसे पशुओं और भाज वृक्षों के लिए समान शब्दावली है जो इसी इलाके की पहचान है। यहां से आर्यनस ने एशिया तथा यूरोप में विभिन्न इलाकों की ओर प्रस्थान किया।

आर्यों का विस्तार– लगभग 1500 ई॰पू॰ में सप्तसिंघु से आर्य लोग पूर्व की ओर बढे और कुरूक्षेत्र पहुॅचे। इस प्रदे ा को उन्होंनें ब्रह्मवर्त के नाम से पुकारा है। संभ्वतः वे कुल्हाड़ी, कॉसे की कटार एवं तलवार का व्यवहार जानते थे। ये हथियार पि चमोत्तर भारत में उत्खनन से प्राप्त हुए हैं। सम्भवतः आर्य राजस्थान की खेतरी खान से ताँबा प्राप्त करते थे। आर्यो को दास या दस्तु से संघर्श करना पडा। ऋगवेद में चर्चा है कि भरत कुल के देवदास ने सांबर को पराजित किया। संभवता ऋगवेद के दस्यु भारत के मूल निवासियों का प्रतिनिधित्व करते थे। एक आर्य सरदार ने उन्हें पराचित किया जिसका नाम त्रसादस्तु था। परन्तु यह समस्या का अति सरलीकरण है क्योंकि आर्यों के विभिन्न दलों के प्रतिनिधि भी हो सकते हैं जिन्हें कुछ मतभेदों के कारण दास करार दे दिया गया है क्योंकि जैसे यदु एवं तुर्वशु आर्यों की पंचमानुषों में गिनी जाती है किन्तु इन्हे भी एक जगह दास कहा गया है। परन्तु दस्युओं को ऋगवेद में आर्यों से भिन्न जाति एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का दिखाया है परन्तु दास आर्य एवं अनार्य दोनों जाति के हो सकते हैं।

दास या दस्यु किस तरह के हथियार का उपयोग करते थे, इसकी जानकारी बहुत कम है। यह कहा जाता है कि इन्द्र ने आर्य भात्रुओं को कई बार पराजित किया । वेद में इन्द्र को "पुरन्दर" कहा गया है। जिसका अर्थ होता है कि "इन्द्र" युर्गों को नश्ट करने वाले थे। लेकिन दासों या दस्युओं के किसी दुर्ग की हमें जानकारी नहीं है। सम्भवतः ये दुर्ग कुछ हडप्पा के रहे हो। आर्य अ वचालित रथ का उपयोग जानते थे। वे सैनिक वरमानी और तेज हथियार से सुसज्जित थे।

आर्यो को दो तरह के युद्धों में भाग लेना पड़ा पहले तो उन्होंने अनार्यो से युद्व किया। उसके बाद वे स्वयं आपस में लडने लगे। वे पाँच जातियों (पंचजन्य) में बंट गए और आपस में लडते रहे। वे कभी–कभी अनार्यों की भी सहायता लेते थे। भरत त्रिस्तु सत्राधारी आर्य कुल के थे जिनकी मदद पुरोहित वि ाश्ठ कर रहे थे। कालान्तर में भारत दे ा का नाम इसी "भरत" से पड़ा। ऋगवेद में पहले– पहल इसका उल्लेख मिलता है। सत्ताधारी भरत कुल का विरोध दस राजाओं ने किया जिसमें पाँच आर्य तथा पाँच अनार्य थे। भरत और दस राजाओं के बीच युद्व को "दस–नृप युद्व" कहते है। यह युद्व पुरूश्णी नदी के किनारे लड़ा गया जो आज रावी नदी के नाम से जानी जाती है। इसमें सुदास विजयी रहे। भीतर की सर्वोच्चता कायम हुई। पराचित जनजातियों में सर्वप्रमुख "पुरू" था। बाद में भरत और पुरू ने मिलकर एक नई सताधारी जनजाति "करू" का निर्माण किया तथा तुर्वशु एवं क्रिवि मिलकर पांचाल कहलाए। पुरू और पांचाल ने मिलकर ऊपरी गंगा–घाटी में अपना भाासन स्थापित किया। उत्तर वैदिक कालीन सभ्यता के निर्माण और विकास में इनका महत्वपूर्ण स्थान रहा।

ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि वैदिक आर्यो का विस्तार अफगानिस्तान से गंगा की मैदान तक था। काबुल, स्वात, कुर्रम, गोमती, सिंधु , झेलम, चिनाव, रावी, व्यास, सतलुज और सरस्वती के उल्लेख से पूर्व–वैदिक काल के आर्यों के प्रसार का पता चलता है। गंगा और यमुना का ऋग्वेद में बहुत कम उल्लेख आया है।

वैदिक सभ्यता को हम मुख्यत दो भागों में बांटकर अध्ययन करते है। पूर्व–वैदिक काल या ऋग्वेद कालीन और उत्तर–वैदिक कालीन। इसका विवरण निम्नलिखित हैः

ऋग्वैदिक काल (1500ई०पू०–1000ई०पू०)

वेदों (ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद) में ऋग्वेद सबसे अधिक प्राचीन है। इस संबंध में स्मिथ महोदय, का मत है ''किसी भी इंडो–यूरोपीय अथवा आर्य भाशाओं में कोई अन्य साहित्य इतना प्राचीन नहीं है जितनें ऋग्वेद के मंत्र हैं ये प्राचीनता के ि ाखर पर अकेले हैं। ऋग्वेद काल में आर्य सप्त सिंधु में रहते थे। अतएव ऋग्वेद की सभ्यता सप्त सिंधु की सभ्यता है। स्मिथ के भाब्दों में, ''इस समय तक आर्य एक नि ि चत स्थान पर बस गये थे। उनका समाज संगठित था और उनकी सभ्यता विकसित थी। ऋग्वेद कालीन या पूर्ववैदिककालीन सभ्यता संस्कृति के विभिन्न पहलू निम्नलिखित हैं:

राजनीतिक जीवन– युद्धों के सर्वव्यापी वातावरण में लोगों की अपेक्षाकृत अस्थाई जीवन होने के कारण पेचीदा राजनीतिक संगठन के विकास की कोई गुंजाईश नही थी। में पूर्व वैदिक कालीन राजनीतिक संगठन में कुल, ग्राम, वि ा, जन तथा राश्ट्र का वर्णन आया है। कुल में ग्रहपति प्रधान होता था। कई कुलों का समूह ग्राम था। ग्राम का अधिकारी ग्रामीण था। ऋग्वेद में कहीं–कहीं व्रजपति आया है जो सम्भवतः ग्रामीण का ही पर्यायवाची भाब्द है। ग्राम प्र ाासन में ग्रामीण का पद बड़ा गौरवपूर्ण था। वि ा सम्भवतः कोई स्थानीय तहसील या परगना था। इसका प्रधान वि ापति कहलाता था। ऋग्वेद में प्रसिद्ध पंचजन (पुरू, तुर्क्स, युद्वा अनुस तथा द्रहयु) का उल्लेख है। दे ा के लिए राश्ट्र का प्रयोग किया गया है। राश्ट्र का प्रधान राजन् होता था। कई जन के संगठन का भी उल्लेख है जिससे संधात्मक राज्य होने की कल्पना की जा सकती है। गण का भी उल्लेख मिलता है जिसका प्रधान गणपति होता है। पाँच गणों के संघ ने राजा सुदास पर आक्रमण किया था। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि इस काल में संघात्मक संगठन भी रहा होगा। प्रारंभ में ऋगवैदिक समाज एक समतावादी, वर्ण विहिन कबीलाई समाज था। कबीले के मुखिया को जनस्थ, गोप, गुणस्य राजा, गणना, गणपति आदि उपाधियां से ओहदे की विभिन्नता आचलित होती है। ऋगवैदिक काल का राजा एक कबिलाई मुखिया से अधिक कुछ नही था।

ऋग्वेद काल में राजनीतिक व्यवस्था राजतंत्रात्मक थी। ऋग्वेद में अनेक राजाओं के नाम मिलते है। चित्र नामक एक राजा सरस्वती नदी के किनारे पर रहता था। सुदास के विरूद्व ऐतिहासिक युद्व में दस राजाओं ने भाग लिया था। राजा कासू ने एक त्रिशि को दसराजा दान में दिए थे। अन्य बहुत से राजाओं के नाम मिलते है जो वि ाल राजप्रासादों में रहते थे और सहस्त्रों गायों, छोड़ों तथा सुवर्ण का दान दिया करते थे। प्रजा की रक्षा करना, भात्रुओं से युद्व करना तथा भाांति काल में यज्ञ का अनुश्ठान करना राजा के मुख्य कर्तव्य थे। वह अपनी प्रजा के भौतिक और आध्यात्मिक सुख की कामना करता था। वह अपनी प्रजा के आचरण के निरीक्षण के लिए गुप्तचर रखता था। आचरण–भ्रश्ट प्रजा दंडित की जाती थी। राजा ही प्रधान न्यायाधीश था और सभी तरह के मामलों की सुनवाई करता था। राजा का पद अत्यंत ही गौरव ाली समझा जाता था। सुन्दर वस्त्र धारण करता था तथा रत्नजड़ित मुकुट धारण करता था। राजदरवार में उसकी सेवा के लिए पदाधिकारी भृत्य गायक तथा पंडित उपस्थित रहते थे। गायक और पंडित राजा का य ोगान करतें थे।

राजा की सहायता के लिए अनेक पदाधिकारी थे इनमें पुरोहित सेनानी तथा ग्रामीण प्रमुख थे। ऋग्वेद में अग्नि को बड़ा पुरोहित तथा यज्ञ में सहायक कहा गया है। उसका कार्यालय पुरोहिती या पुरोध कहलाता था। वह राजा का मित्र, पथ–प्रद र्िक, दा र्ानिक याज्ञिक तथा सहायक था। ऋग्वेद में व ि ाष्ठ, वि वामित्र आदि पुरोहितों का उल्लेख किया गया है। पुरोहित काफी सम्मानित थे। ऐसा प्रतीत होता है कि कालांतर में पुरोहित से राजमंत्री पद का विकास हुआ। पुराहित राजा को राजनीतिक विशयों पर पराम र्ा देते थे तथा उसकी विशय, कु ालता तथा दीर्घायु होने के लिए भी प्रार्थना करते थे। सामूहिक कल्याण के लिए यज्ञ का आयोजन होता था। उसमें भी पुरोहित भाामिल होते थे। डा0 कीथ के भाब्दों में ''पुरोहित राजा के साथ रणक्षेत्र में जाता था और अपनी प्रार्थनाओं एवं मंत्रों द्वारा उसकी विजय की कामना करता था। इस सेवा के लिए उसे बड़े–बड़े पुरस्कार प्राप्त होते थे।'' सेनानी सेना का संचालनकर्ता होता था। उसकी नियुक्ति राजन् करता था। ग्रामीण ग्राम भाासन का प्रधान था।

पुरोहित, सेनापति तथा ग्रामीण के अतिरिक्त सूत, रथकार तथा कर्म्मार नामक अन्य पदाधिकारियों का भी उल्लेख मिलता है। इन्हें 'रतिन' कहा गया है। ये राज्याभिशेक के समय उपस्थित रहते थे। अभिशेक के पूर्व राजा ग्रामीण, सूत, रथकार और कर्म्मार की पूजा करते थे। इससे यह सिद्व होता है कि इस युग में व्यावसायिक तथा औद्योगिक कार्यो में

संलग्न लोग समाज में सम्मानित थे। यही कारण था कि इनके प्रतिनिधि सूत, रथकार तथा कर्म्मार राज्याभिशेक के अवसर पर आमंत्रित किये जाते थे।

कुछ अन्य पदाधिकारियों में पुरप, स्प ा तथा दूत के नाम भी उल्लेखनीय हैं। पुरप, दुर्गपति अथवा दुर्गों के स्वामी होते थे। स्प ा गुप्तचरों का काम करते थे। इनका मुख्य काम जनता की गतिविधियों पर निगरानी रखना था और महत्वपूर्ण घटनाओं को राजा तक पहुँचाना होता था। दूत सूचनाएं तथा संधि–विग्रह के प्रस्ताव राजा तक पहुँचाते थे।

युद्व प्रणाली– युद्व में सभी लोगों को भाग लेना पड़ता था। साधारण लोग पैदल युद्व करते थे। सारथी और योद्वा की योग्यता ही युद्व का निर्णय करती थी। युद्व हथियारों में भालों, फरसों, तलवारों, तीरों आदि के प्रयोग का उल्लेख है। कवच, ि ारस्त्राण तथा वाहुरक्षक आत्मरक्षा के लिए उपयुक्त होते थे। दो प्रकार के वाणों का उल्लेख है। एक प्रकार का वाण विशधर होता था जिसके सर पर सींग लगी होती थी। दूसरे प्रकार का वाण अयोमुख् कहलाता था अर्थात जिसका मुख ताम्र अथवा लोहे का हो। रणभूमि के ध्वजा पताका तथा दुन्दुभी आदि वाद्यों का भी प्रयोग किया जाता था। सेना में पैदल तथा रथ का अधिक महत्व था। रथों में दो तीन या चार साहसी घोड़े लगाये जाते थे। ऐसा माना जाता है कि सेना भाारधा, व्रात तथ गण में विभक्त रहती थी। प्रायः नदियों के तट पर युद्व हुआ करते थे। पुरूश्णी तथा रावी के तट पर दस राजाओं का युद्व लड़ा गया ।

लोकतांत्रिक संस्थाओं– राजा की निरंकु ाता पर अंकु ा डालने के लिए विदथ सभा समिति आदि लोकतांत्रिक संस्थाएँ थीं। विदथ, सभा एवं समिति के गठन एवं कार्य–प्रणाली के विशय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर सभा का उल्लेख किया गया है। इसके कार्यो का उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। लुडविग के अनुसार, समिति तथा सभा दो प्रकार की संस्थाएँ थीं। एक संपूर्ण जनता की संस्था थी और दूसरी वयोवृद्ध लोगों की जिसमें केवल संभ्रान्त कुल के लोग भाग लेते थे। अथर्ववेद की इस पंक्ति से इस तथ्य की पुश्टि हो जाती है। ''सभा च मा समिति चवतां प्रजापते दुहितरौ संविदाने'' अर्थात् सभा तथा समिति प्रजापति की दो पुत्रियाँ हैं। जिमर्न के विचार में समिति सारी जाति की लोकसभा थी। डा० कीथ ने समिति को जनसभा बताया है और सभा का अर्थ अधिवे ान स्थल माना है। सभा श्रेश्ठजनों की सभा थी। इसे सामाजिक संगठनों का केन्द्र माना जाता था। स्त्रियों को सभा में सम्मिलित नहीं होने दिया जाता था। अति प्राचीन काल में जो संस्था वैदिक आर्यों की थी उस "विद ा" कहा जाता था। इसे जनसभा कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभ मे सब राजाओं के जमाव का नाम विदथ था तथा उसी विदथ से समिति और सभा निकली। डा0 राम भारण भार्मा के भाब्दों में ''ऋग्वेद में सभा, समिति, विदथ एवं गण का उल्लेख आया है। ये संस्थाओं विचार विम ा सैनिक एवं धार्मिक कार्यो का संपादन करती थीं। सभा और समिति राजनीतिक दृश्टिकोण से अति महत्वपूर्ण थे। अतः राजा उनका समर्थन प्राप्त करने के लिए लालयित रहता था।'' वस्तुतः सभा और समिति के वास्तविका अर्थ पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। डा0 का ीप्रसाद जायसवाल का कहना है कि समिति प्रभुता सम्पन्न थी। इसका अध्यक्ष "हे ाान" कहलाता था। हर समिति का एक अध्यक्ष होता था।

न्याय व्यवस्था– ऋग्वेद में न्याय व्यवस्था के बारे में बहुत कम जानकारी मिलती है। कतिपय विद्वानों के विचार में राजन् ही प्रधान न्यायाधी ा था। ऋग्वेद में चोरी, डकैती, सेंधमारी, प ु–चोरी आदि का उल्लेख है। राजा, दीवानी और फौजदारी सभी तरह के मामले की अंतिम अपील सुनता था। अपराधी का दोश साबित करने के लिए जल या अग्नि परिक्षाएँ होती थी। ऋण न चुका पाने पर भी दंड का प्रावधान था। अनुमानतः न्याय का मापदण्ड आँख के बदले आँख दाँत के बदले दाँत था। क्षतिपूर्ति भी दी जाती थी। एक मनुश्य का मूल्य 100 गायें थीं। अतः मनुश्य को "भातदाय" कहा जात था। किसी मनुश्य की हत्या करने पर अपराधी को उसके संबंधी (मरने वाले के) को 100 गायें देनी पड़ती थी। "मध्यम ाी" भाब्द के व्यवहार से प्रतीत होता है कि कुछ मामलों का निबटारा पंच कर देते थे। निश्कर्शतः यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेदकालीन न्याय प्रणाली उन्नतावस्था में थी।

राज्याभिषेक– राज्याभिशेक एक महत्वपूर्ण समारोह था जिसका बड़ा संवैधानिक महत्व था। इसके द्वारा प्रजा और उसकी समिति राजा को राज्य की थाती सौंपती थी। सेनापति, पुरोहित, ग्रामीण तथा त्रिरत्नि, सूत, रथकार तथा कर्म्मार भी इस समारोह में सम्मिलित होते थे। राज्याभिशेक के समय राजा यह प्रतिज्ञा करता था ''यदि में प्रजा का द्रोह करू तो जीवन, सुकृत, संतान सबसे वंचित किया जाऊँ।'' वह प्रजा के कल्याण की भापथ लेता था। इस तरह

राजा की निरकु ाता पर अंकु ा लग जाता था। उनमें उत्तरदायित्व को निभाने के लिए प्रजा उसे "बलि (tribute)" देती थी।

राज्यों का स्वरूप– ऋग्वेद काल में संगठित राज्यों के अतिरिक्त भी कुछ राज्यों के नाम मिलते हैं। अराजक राज्य उन राज्यों को कहा जाता था जिनमें राजा नहीं होते थे। अराजक राज्यों में "दीतिहोत्र" का उल्लेख मिलता है। पूर्व वैदिक कालीन राजा निंरकु ा या स्वेच्छाचारी नहीं था उस पर विदथ सभा समिति आदि लोकतंत्रीय संस्थाओं का नियंत्रण था।

वर्ण व्यवस्था– ऋग्वेद के द ाम मंडल (पुरूशसूक्त) में विराट् पुरूश की कल्पना की गई है जिससे चार वर्णो की उत्पति हुई। पुरूशसूक्त में कहा गया है। '' जब उन्होंने आदि–पुरुश को विभाजित किया तब ब्रांह्मण उसका मुख था, राजन्य (क्षत्रिय) उसकी भुजा थी वै य उसकी जांघ थी और पैरो से भाूद्र निकले। यह वर्ण–व्यवस्था कर्ममूलक थी। ब्राह्मण का कार्य पूजा पाठ क्षत्रिय का कार्य युद्व करना, वै य का कार्य वाणिज्य–व्यापार करना तथा शूद्र का कार्य उपर्युक्त जातियों की सेवा करना था। किन्तु जाति–बंधन कठोर नहीं था। ऋग्वेद काल में अन्तर्जातीय विवाह मान्य था। व्यवसाय परिवर्तन तथा सहभोज पर किसी जाति के लिए कोई बंधन नहीं था। एक ही परिवार के लोग भिन्न–भिन्न व्यवसाय करने के लिए स्वतंत्र थे। एक सूक्ति का रचयिता कहता है, ''मैं एक कवि हूँ, मेरा पिता वैद्य है और मेरी माता अनाज पीसने वाली है।" जिन राज्यों में दीतिहोत्र का उल्लेख मिलता है। राजा प्रजा कल्याण करने की भी भापथ लेता था।

गृहपति– ऋग्वेदकालीन परिवार पितृसत्रात्मक था। पिता या पितामह परिवार का प्रधान होता था जिसे "गृहपति" कहते थे। परिवार के सभी सदस्य उसकी प्रधानता मानते थे तथा उसकी आज्ञाओं का पालन करते थे। उसे असीम अधिकार प्राप्त थे। ऋग्वेद में उल्लेख है कि एक गृहपति ने अपने द्यूत–प्रेमी पुत्र को अंधा बना दिया था। पिता का पुत्र के विवाह में भी हाथ रहता था। गृहपति को गोद लेने का भी अधिकार था। पिता की मृत्यु के प चात् ज्येश्ठपुत्र गृहपति बन जाता था। पिता की संपत्ति उसके विभिन्न पुत्रों में बांट दी जाती थी। पुत्र न होने पर दत्तक पुत्र या पुत्री को संपत्ति दे दी जाती थी।

संयुक्त परिवार– संयुक्त परिवार की नींव पड़ चुकी थी। पति और पत्नी के अतिरिक्त परिवार में माता–पिता, भ्राता–भगिनी, पुत्र–पुत्री आदि भी रहते थे। पारस्परिक स्नेह का अभाव नहीं था। किन्तु कभी–कभी पारस्परिक स्वार्थो का टकराना अस्वाभाविक नहीं था। पारिवारिक कलह ईर्श्या और द्वेश के कारण कई परिवार टूट कर विखर जाते थे।

विवाह– विवाह एक महत्वपूर्ण संस्कार था। पहले–पहल विवाह के नियम "दीर्धतमा ऋशि" ने ही स्थिर किये। भवेतकेतू औछालक ने विवाह को एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्कार बनाया किंतु विवाह स्त्री पुरूश को बांध नहीं सकता था। ऋग्वेद काल में भी बहुपत्नीत्व और बहुपतिक प्रथाएँ प्रचलित थी। इसीलिए उसे 'देधकाया' कहा गया है। प्रेम विवाह, विधवा–विवाह आदि होते थे। विधवाएँ प्रायः अपने देवर से विवाह किया करती थीं। अन्तर्जातीय विवाह भी हुआ करते थे। ऋग्वेद में अनुलोभ तथा प्रतिलोम विवाहों के भी उदारण मिलते हैं। ब्राह्मण विवद का विवाह राजकन्या कमयु के साथ अनुलोम विवाह का उदाहरण है वहीं दूसरी और महर्शि भाुक्राचार्य की पुत्री देवयानी का विवाह, ययाति के साथ प्रतिलोम विवाह का उदाहरण है। बाल विवाह प्रचलित नहीं थी। दहेज–प्रथा प्रचलित थी।

स्त्रियों की दशा– परिवार में पत्नी का अत्यधिक महत्व था। ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में कहा गया है। पत्नी ही घर है, पत्नी ही गृहस्थी है, पत्नी आनंद है। पुत्र की कामना बहुत अधिक थी। अनेक मंत्रों में इसके उदाहरण मिलते है जैसे हमारे घर संतान से भरे–पूरे हों, हमें वीरपुत्रों की कमी न हो उदाहरण आदि अनेक मंत्रों में मिलते है। पुत्रों की उत्पति न केवल वं ा–वृक्षावली को बनाये रखने, वरन् परिवार की आर्थिक समृद्धि, सैनिक बल, और पित्तरों की आध्यात्मिक तृप्ति के लिए भी आव यक थी। पुत्र के उत्पन्न होने पर घर में आनंद मनाया जाता था। किंतु पुत्री की उत्पति पर घर में मातम छा जाता था। इसके बावजूद ऋग्वेद काल में स्त्रियों की स्थिति सामान्यतः संतोशजनक थी। उन्हें काफी स्वच्छंदता प्राप्त थी। उनकी ि ाक्षा–दीक्षा पर भी समुचित ध्यान दिया जाता था। वि वावरा, घोशा, अपाला, लोपामुद्रा आदि तत्कालीन विदुषी नारियाँ थीं, जिन्होंने वेदमंत्रों की रचनायें की यज्ञ पूजा–पाठ आदि में पुरूशों के साथ भाग लिया। ऋशियों ने तो यहाँ तक कहा है "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'' अर्थात् जहॉ स्त्रियों की पूजा होती है वहॉ देवता निवास करते है।

वेश–भूषा– ऋग्वेद कालीन सभ्यता में वे ाभूशा पर वि ोश ध्यान दिया जात था। वैदिक पो ाक के तीन भाग थे अन्दर के वस्त्र को “नीवी” कहते थे, दूसरे वस्त्र को “वास” और आच्छादन के लिए जो वस्त्र होता था उसे “अधिवास” “अत्क” या “द्रापि” कहते थे। लोग रंगीन वस्त्र भी पहनते थे। ऊनी और सूती वस्त्रों का प्रयोग किया जाता था। साधु संन्यासी मृग–चर्म का व्यवहार करते थे।

स्त्री–पुरूश दोनों आभूशण प्रिय थे। कंगन, नुपूर, कान की वाली आदि स्त्री तथा पुरूश दोनों हीं पहनते थे। भुजबन्द, पाजेब, कंठे, गजरे आदि आभूशण पहनती थीं। स्वर्ण–रजत, हीरे–मोती आदि के आभूषण बनते थे। स्त्रियाँ के ा–विन्यास की कला में काफी निपुण थीं वे श्रृंगार–प्रिय थी तथा काफी सज–थज कर रहती थी। सुगंधित तेल तथा श्रृंगार प्रसाधनों का प्रयोग किया जाता था। कुछ पुरूश दाढी भी रखते थे। उत्सव के समय पुश्पहार पहना जाता था।

मनोरंजन– मनोरंजन के अनेक साधन थे। इनमें रथ धावन प्रमुख था। जुआ खेलना या द्यूत क्रीड़ा भी मनोरंजन का प्रमुख साधन था। ऋग्वेद में एक छूतकार के विलाप करने का वर्णन है जिसने संभवतः अपना सब कुछ द्यूत में खो दिया था। नृत्य–गान भी मनोरंजन के साधन था। सामान्यतः स्त्री पुरूश दोनों ही नृत्य में भाग लेते थे। विभिन्न वाद्य–यत्रों का अविश्कार हो चुका था। झांझ को को आघाट कहा जाता था जिसका प्रयोग नृत्य के अवसर पर किया जाता था। मृदंग, दुंदुभि, आठम्बर आदि चर्मवाद्य थे। लोग वं ी को तूणव या नाड़ी कहते थे। आखेटभी मनोरंजन का एक मुख्य साधन था। लोग सिंह, हाथी, सूअर, भैसे तथा मृग का ि ाकार करते थे। मनोरंजन के विभिन्न साधनों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि आर्यों का जीवन बड़ा आनंदमय था।

भोजन– आर्यों के भोजन मे दूध का महत्वपूर्ण स्थान था । वे दही तथा धृत का भी प्रयोग करते थे। वे खीर (क्षीर पकम् ओदकम्) अधिक पसंद करते थे। रोटी–चावल, भााक–सब्जी आदि उनके मुख्य खाद्यान्न थे। आर्य मांसाहरी भी थे और संभवतः बलि में मारे गये प ाुओं, भेड़–बकरी का मांस खाते थे। गाय को उन्होंने “अघन्या” घोशित कर दिया था । गाय की उपयोगिता के कारण उसे अबध्य माना जाता था और उसका आदर किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि केवल यज्ञ में गाय की बलि दी जाती थी और उसे खाया जाता था। केवल बन्ध्या गायों की हीं बलि दी जाती थी। साधारण तौर पर बैलों, भेडों तथा अजा का मांस भक्षण किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि अ वमेघ यज्ञ में बलि किये हुए अ व का मांस भक्षण किया जाता था। आर्यों के मुख्य दो पेय थे–सोम और सुरा। सोम का प्रयोग केवल यज्ञों के अवसर पर किया जाता था। सोमरस का गुणगान, उसके प्राप्ति स्थान, रासायनिक उत्पादन आदि का विस्तृत वर्णन हमें ऋग्वेद के नवें मंडल में मिलता है। सुरा एक मादक पदार्थ था जो अन्न से बनाया जाता था। ब्राह्मण सुरापान नहीं करते थे। आर्य नदियों तथा स्रोतों के जल के अतिरिक्त कृत्रिम कूपों के जल का भी प्रयोग करते थे।

गृह निर्माण– ऋग्वैदिक काल के आर्य लकड़ी, बांस, घास, फूल के घर बनाते थे। मिटटी और कच्चे ईटों का प्रयोग किया जाता था। घर छोटे बड़े होते थे। बड़े–बड़े घरों में अनेक भायन कक्ष होते थे। प्रत्येक घर में अग्नि ाला होती थी जहाँ सदैव अग्नि जलती रहती थी। अग्नि ाला का प्रयोग पूजा–पाठ तथा घरेलू कामों में किया जाता था।

शिक्षा– ऋग्वेद काल में ि ाक्षा का बड़ा महत्व था। इस युग में उच्च विचार ज्ञान की त्यागमय जीवन, आध्यात्मिक चिंतन, और भौतिक आकर्शण के प्रति विरक्ति मनुश्य के जीवन के मूल्य थे। गुरूकुल अथवा गुरू के सान्निध्य में ि ाश्य विद्या ग्रहण करते थे। साधारणतः विद्यार्थी के लिए संध्या–वंदन, पूजा–पाठ, स्नान, सच्चारित्रता आदि धर्म के अन्तर्गत गृहीत किये गये थे। प्रायः पॉच वर्श की अवस्था में विद्या का आंरभ माना जाता था। प्रारम्भिक काल में मौखिक ि ाक्षा दी जाती थी। प्रायः छात्र उपनयन संस्कार के प चात् गृहत्याग कर गुरूकुल में आकर ि ाक्षा ग्रहण करता था। गुरू का स्थान अत्यंत आदरणीय था। गुरू गरिमामय एवं प्रतिश्ठित थे। ऋग्वेद में इन्द्र और अग्नि जैसे देवताओं को गुरू अथवा आचार्य के रूप में बताया गया है। वस्तुतः ऋग्वैदिक आचार्य दिव्य ज्ञान के प्रतीक थे वेद की भाखाओं को कंठस्थ कर छात्रों को दीक्षा देने वाले अध्यापक श्रोत्रिय कहलाते थे। गुरू त्याग तपस्या संयम आदि गुणों से युक्त होते थे। गुरू ि ाश्य में मधुर संबंध था। ि ाश्यों के लिए गुरू देव–तुल्य थे। गुरू भी निःस्वार्थ भाव से ि ाश्य को ि ाक्षा देते थे।

चिकित्सा– ऋग्वेद काल में औशधि तथा चिकित्सा का प्रबंध था अि वनी चिकित्सा भाास्त्र के देवता माने जाते थे। उनमें रोग दूर करने की विलक्षण भाक्ति थी। रोगों में यक्षमा का प्रायः उल्लेख मिलता है। विभिन्न जड़ी बूटियों से औशधियां बनती थी। संभवतः भाल्य चिकित्सा भी होती थी। दीर्घायु होने के लिए योगासन, स्तुति आदि का सहारा लिया जाता था।

वर्णाश्रम– वर्ण व्यवस्था के साथ–साथ वर्णाश्रम धर्म का भी विकास हुआ। यह एक प्रकार का आद र्ा था जिसके कठोर नियमों का पालन तीन उच्च जातियों के लोगों को करना आव यक था। वर्णाश्रम में ब्रह्मचार्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास की प्रथा थी। प्राचीन भारतीय मनीशियों का मत था कि प्रत्येक मनुश्य पर चार प्रकार का ऋण होता है–मनुश्य ऋण, देव ऋण, ऋशि ऋण एवं पितृ ऋण। मनुश्य ऋण अपने पड़ोसियों की सेवा तथा अतिथ्य से चुक जाता है, देवताओं का ऋण यज्ञों द्वारा उतारा जाता है; पित्तरों का ऋण संतानोत्पत्ति से तथा ऋशियों का ऋण अध्ययन अध्यापन से चुकता है। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह अपना ऋण उतारे। इसलिए आश्रमों का प्रबंध किया गया है। ब्रह्मचर्य आश्रम में मनुश्य अपना पूर्ण विकास करता था ग्रार्हस्थ्य में पितरों और मनुश्यों का ऋण उतारता था, वानप्रस्थ और सन्यास में वह देवताओं तथा ऋशियों के ऋण से मुक्त होता था।

/kkfeZd thou

देवता– ऋग्वैदिक आर्य प्रकृति से काफी प्रभावित थे और वे प्राकृतिक भाक्तियों की पूजा करते थे। ऋग्वेद में कुल 33 देवता माने जाते हैं। इनमें सर्वश्रेश्ठ इन्द्र, अग्नि तथा सोम हैं। इन्द्र के 250, अग्नि के लिए 200 तथा सोम के लिए 100 से अधिक मंत्र रच गये है। पृथ्वी को जगतमाता कहा जाता है। परलोक के देवतायान का भी उल्लेख किया गया है। सूर्य की पूजा काफी भक्ति भाव से की जाती थी। रूद्र उग्र देवता थे। उग्र रूप में रूद्र थे तथा योगी रूप में ि ाव। उन्हें प ाुपति भी कहा गया है। मरूत रूद्र का पुत्र था इसलिए वह अपने पिता की तरह ही कहा गया है। मरूत रूद्र का पुत्र था इसलिए वह अपने पिता की तरह ही भयंकर था। वह झंझावत का देवता था। वायु कल्याणकारी देवता था। पर्जन्य जल, वर्शा एवं नदियों का देवता माना गया है। विवस्वान् देवता का संबंध मनु से था। विवस्वान् का भााब्दिक अर्थ है प्रभासित होनेवाला । ऋग्वेद के अनुसार वह देवताओं का जनक था। चंद्रमा का सूर्य को साथ संबंध ऋग्वैदिककालीन है।

वैदिक धर्म में देवताओं के अतिरिक्त देवीओं की भी कल्पना की गई थी। छौः की पुत्री तथा प्रभात की पुनीत देवी उशा की उपासना की जाती थी। आदिती आर्यों की सार्वभौम भावना की देवी थी। वह संपूर्ण सृश्टि में व्याप्त थी तथा उसका प्रभात सर्वत्र था। आख्यानी वन देवी थी।

स्वरूप– वैदिक देवताओं का विकास प्रकृति के धरातल पर वाह्य और अन्तस् दो स्वरूपों में हुआ। फलतः छौः, पृथ्वी, इन्द्र, उशा, सूर्य, वरूण आदि भााक्तियाँ देव–तुल्य हो गई। आर्यों ने उन्हें मानवीय आधार पर सहज मानवोचित गुणों के अंतर्गत गृहीत कर प्रसन्नता–अप्रसन्नता को मंडित किया। उनके कोप से बचने और उनका आ ाीवाद पाने के लिए उनकी उपासना की जाने लगी। प्राकृतिक वाह्य भााक्तिों के साथ–साथ अंतस् भाक्तियां भी मनुश्य को प्रभावित करती थी। वृद्धि ऐसी ही अंतस् भाक्ति थी, जो मनुश्य को उचित–अनुचित, गुण–अवगुण का ज्ञान कराती तथा उसे सत्यपथ का दिग्द र्ान कराती थी; इसीलिए वह सरस्वती के रूप में पूजित और प्रतिश्ठित हुई। श्रद्धा भी अन्तस् की ऐसी ही भाक्ति थी जिसके कारण मनुश्य दूसरे के प्रति नत तथा देवताओं और गुरूजनों के प्रति विनम्र होता था।

मानवीकरण– आर्यों ने देवताओं को मानवीय आधार पर कल्पित किया। उन्होंने देवताओं के उन सभी गुणों और आचारों का दिग्द र्ान किया जो मनुश्य में दृश्टिगत होते है। वे गुण, आद र्ा और सदाचार संपन्न थे। वे अपनी उदात्त, उदार और स्नेह ाक्ति की प्रेरणा से मानव को बल प्रदान करते थे। कृत (नैतिक व्यवस्था) उनका नियामक था, जिसके कारण वे दु चरित्र और दुराचारी को वरदान नहीं दे सकते थे।

एकेश्वरवाद– देवताओं की संख्या कम की। पृथ्वी और आका ा को धावा–पृथ्वी के अंर्तगत एक ही कोटि में रखा गया। इसी प्रकार मित्र, वरूण और उशा रात्रि को एक ही समझा गया । कालान्तर में परमतत्व पर विचार किया गया। यह कहा गया कि सत् एक है जिसे विद्वान अग्नि, यम और मातरिश्वा आदि विभिन्न नामों से संबोधित करते है। हिरण्यगर्भ सूक्त में स्पश्ट रूप से एके वेरवाद की अभिव्यक्ति की गई।

जीवन दर्शन– आर्यों का जीवन के प्रति निश्ठा, आस्था और अनुराग था। न तो उनमें मोक्ष प्राप्ति की आतुरता थी और न उनमें विरक्ति की भावना थी। वस्तुतः वे प्रवृत्तिगामी थी, निवृत्तिगामी नहीं। ऋग्वेद से विदित होता है कि विवाह के समय आर्य जीवनपर्यन्त पत्नी, पुत्र, पौत्र तथा समृद्धता से संपन्न रहने की कामना करता था। उनमें लौकिक जीवन अथवा भौतिक सुखों के प्रति आकर्शण था। पवित्रता कर्मठता, निश्ठा, और संतुलन का जीवन सभी व्यतीत करना चाहते थे तथा ऋत् और सत्य को प्राप्त करना चाहते थे।

पूजन का आधार– मंदिर, मूर्तिपूजा, अंधवि वास आदि का सर्वथा अभाव था। बुद्धिवाद और तर्क के आधार पर वे अंतस् में देवताओं का स्मरण करते थे तथा आध्यात्मिक उपासना करते थे। वेदों की ऋचाएँ और सूक्त प्रायः स्तुतियां ही है जिनमें देवताओं को प्रसन्न करने के लिए प्रार्थनायें की गई है।

यज्ञ– यज्ञ की सर्वाधिक महत्ता थी जो व्यक्ति को पावन और कर्मठ बनाता था। यज्ञ की संपन्नता अग्नि से होती थी। अग्नि के दो प्रकार थेः (क) स्मार्ताग्नि, जिससे प्रत्येक गृहस्थ अथवा विवाहित व्यक्ति गृहयानि में क्रियमाण यज्ञ (अथवा पाक यज्ञ) संपन्न करता था। (ख) श्रौताग्नि, जिसमें श्रौत यज्ञों की संयोजना की गई थी। यंत्रों की सहायता से याज्ञिक कार्य किया जाता था। धी, दूध, धान्य अथवा मांस की आहुति दी जाती थी। प्रायः ब्राह्मण पुरोहित ही यज्ञ संपन्न कराते थे। ऋग्वेद का सोमयज्ञ अत्यन्त विस्तृत और व्यापक यज्ञ था।

कर्म–तत्व– आर्यों का जीवन–द ान कर्मठता और क्रिया ालता पर आधारित था। उनका वि वास था कि सत्कर्मो से सुख तथा दुश्कर्मों से दुःख होता है। अतः वे सत्कर्म पर जोर देते थे। पाप–पुण्य के साथ वे पुर्नजन्म को भी मानने लग गए थे। उनका वि वास था कि पूर्व–जन्मों के कर्मों का फल भोगने के लिए ही जीव इस संसार में बार–बार आया करता हैं। अतः जीवन में कर्म–तत्व का प्रधान स्थान था। देवताओं के लिए ऐसे वि ोशणों का प्रयोग किया जाता है जो कर्म के सिद्धांत को व्यंजित करते हैं। भाुभस्यतिः (सुकर्म का रक्षक), वि वचर्शणिः (ाुभ और अ ाुभ कर्मों के द्रश्टा), वि वास कर्मणों धर्ता (सभी कर्मों के आधार) आदि विभिन्न भाब्द देवताओं के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

आर्थिक–तत्व– ऋग्वैदिक आर्यों की आर्थिक द ाा अविकसित थी। प्रारम्भिक आर्यों की अर्थव्यवस्था मुख्यतः पशुचारण अर्थव्यवस्था थी जैसा कि आम बोल–चाल की भाषा में विभिन्न रिश्तों, व्यक्तियों के सम्बोधन पशुधन से जुड़े हुए थे जैसे पुत्री को दोहित्री (दूध दोहनेवाली), युद्ध को गावेष्टि कहा जाता था। ऋग्वेद में अधिकतर स्तुतियां भी पशुधन की वृद्धि, उन्हे स्वस्थ रखने के लिए की गई है। किसी व्यक्ति की सम्पन्नता भी उसके 'पशुधन' से आंकी जाती थी। उनके आर्थिक जीवन के मुख्य पहलू निम्नलिखित है–

पशुपालन– प्रारंभिक काल में आर्य अपने प ाुओं को लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान का भ्रमण करने थे। बाद में जब वे स्थायी जीवन जीने लगे, तब भी प ाुओं का महत्व बना रहा। बैल, गाय, घोड़ा, भेड़, बकरी, गदहा आदि पालतू प ाु थे। सुरक्षा के लिए कुत्तों का उपयोग किया जाता था। गाय, अ व और सुपुत्र धन–संपत्ति के रूप में मान्य थे। गाय क्रय–विक्रय के रूप में प्रयुक्त होती थी। दक्षिणा में पुरोहितों को प्रायः गाय ही दी जाती थी। गाय–बैल के चर्म से आच्छादन, थैले आदि बनाए जाते थे। अ व का प्रयोग रथ, गाड़ी और हल में किया जाता था।

आखेट– आखेट भी जीविका का एक साधन था। लोग धनुश–वाण तथा पा ा द्वारा प ाुओं का ि ाकार करते थे। लोग सिंह तक को अपने फंदे में फंसा लेते थे। सुअर का ि ाकार कुत्तों द्वारा लिया जाता था। मृगों को गढ़े में फांस लिया जाता था। प ाु–पक्षियों को फँसाने के लिए जाल–फन्दों का प्रयोग किया जाता था। पालतु हाथियों की सहायता से अन्य हाथियों को भी फँसा लिया जाता था। आखेट न सिर्फ जीविका का साधन था अपितु मनोरंजन का भी
साधन था।

कृषि– पूर्व–वैदिक कालीन आर्य कृशि–कार्य भी करते थे। भूमि को जोतने के लिए हल थे जिन्हें बैल या अ व खींचते थे। हल को छह, आठ या बारह बैल मिलकर खींचते थे। हल से जोती हुई भूमि "उर्वरा" या "क्षेत्र" कहलाती थी। फसल काटने के लिए हँसिया (दात्र, सृणि) होती थी। कटी हुई फसल खलिहान (खल) में इकट्ठी की जाती थी जहाँ उसे मंडित किया जाता था। अनाज को चलनी (तिउत) और सूप (ाूर्प) से ओसाया जाता था। अनाज ओंसाने वाला धान्यकृत कहा जाता था। अनाज की माप करने वाला बर्तन "उर्स्दर" कहलाता था।

आर्य सिंचाई के लिए कुओं और नहरों का उपयोग करते थे। चक्र द्वारा कुएँ से पानी निकाला जाता था। कुएँ का पानी चौड़ी नाली (सुशिरा भूमि) के माध्यम से खेतों तक पहुँचाया जाता था। कुएँ के अतिरिक्त तालाब (हलद) और कुल्या (नहर) भी सिंचाई के साधन थे। कृ ाकों को कभी–कभी अतिवृश्टि और अनावृश्टि का सामना करना पड़ता था। वे अपनी फसलों को विभिन्न प्रकार के कीटों, टि्ड्डियों और चिड़ियों से भी बचाने की कोि ा ा करते थे। वे वर्शो के लिए इंद्र की स्तुति करते थे। अधिक उपज के लिए वे करिश (खाद) का प्रयोग करते थे।

यव (जौ) और धान्य (धान) मुख्य फसले थीं। कृशियोग्य भूमि भिन्न–भिन्न व्यक्तियों तथा कुलों की अलग–अलग होती थी, परन्तु खिल्य (चारागाह) सबका एकसाथ होता था। कृशि कार्य में ब्राह्मण और क्षत्रियों का कोई हाथ नहीं था। वै य लोग ही कृशि कार्य करते थे। भाूद्रों से खेतों में काम लिया जाता था। अि वन ने सर्वप्रथम कृशि के निमित्त श्रमयुक्त जोत कार्य किया था। ऋग्वेद के अंतिम चरण तक कृषि महत्वपूर्ण अर्थव्यवस्था का आधार बन गया।

उद्योग–धंधे– पूर्व वैदिक युग में आर्यो ने अपनी–अपनी रूचि के अनुसार उद्योग–धंधों को अपनाया। तक्षा, कर्म्मार, रथकार, हिरण्यकार, चर्मकार आदि विभिन्न दस्तकार थे। तक्षा (बढ़ई) हल, नाव, प्रोश्ठ (पलंग), रथ आदि बनाता था। कर्म्मार, धातु का कार्य करता था। लोग कर्शणायस (लोहा या ताँबा), हिरण्य (सुवर्ण), रजत (चाँदी), त्रपु (टिन) आदि से परिचित थे। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि असुर आयोजालाह (लोहा) के विभिन्न कार्यो में दक्ष थे। कर्म्मार कृशि के लिए हल–फाल बनाता था। वह असि, पर ु, वाण, भाला, खडग, आदि अस्त्र– ास्त्र भी बनाता था। तक्षा और रथकार दो भिन्न वर्गो के रूप में वर्णित किए गए हैं। अ वमेघ यज्ञ के अवसर पर तक्षा को लकड़ी के आधार, पोत, गाड़ी, आसन आदि निर्मित करने को कहा जाता था और रथकार को केवल रथ। हिरण्यकार सोने का आभूशण बनाता था। निश्क (हार), कुटीर (माँग टीका), कुम्ब (सिर का आभूशण), कर्ण भाोभन आदि आभूशण बनते थे। चर्मकार चमड़े की अनेक वस्तुए बनाते थे। चमड़े के विभिन्न प्रकार के जुते बनते थे। चमड़े के बने पात्रों में घी, भाहद, तेल, अन्न, आदि रखे जाते थे। "वासोवाय" वस्त्र बुननेवाला होता था। वह करधे (वेम) पर वस्त्र बुनता था। बुनकर को "वय" कहा जाता था। बुनाई के लिए पाठ ाालाएँ थी। उस समय ऊन के वस्त्र अधिक बुने जाते थे। कुलाल (कुम्हार) मिट्टी के विभिन्न प्रकार के बर्तन बनाते थे।

व्यापार– ऋग्वेद में व्यापारी को वणिक कहा गया है। विभिन्न उद्योग–धंधो द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बिक्री पुर या ग्राम में होती थी। यह अन्तर्दे ाीय व्यापार बैल–गाड़ियों द्वारा होता था। रथ का भी उपयोग किया जाता था। अधिकां ा अन्तर्दे ाीय व्यापार वस्तु–विनिमय द्वारा होता था। ऋग्वेद में इन्द्र की एक मूर्ति का मूल्य 10 गाय बतलाया गया है। कहीं–कहीं निश्क (स्वर्ण–सिक्के) का भी वर्णन है। किन्तु अभी तक वैदिक काल में कोई सिक्के प्राप्त नही हुए हैं अतः यह संदिग्ध है। ऋग्वेद में कहीं–कहीं सामुद्रिक व्यापार का भी उल्लेख मिलता है। इसके मंत्रों में सौ पतवारों (oars) की नाव पर चढ़कर समुद्र की यात्रा करने वाले व्यापारियों का उल्लेख मिलता है। एक जगह भुज्यु की कथा है जो सुदूर असहाय, परे ाान पड़ा हैं क्योकि उसका जलयान टूट गया है। ऋग्वेद में यह उल्लेख है कि पणि (व्यापारी) लोग अधिक धन–अर्जन के निमित सामान से लदे अपने जहाजों को दूर–दूर तक ले जाते थे। संभवतः वे बेबीलोन से व्यापार करते थे। बाजार में मोल–तोल (higgling-bargaining) के आधार पर सौदा तय किया जाता था। मूल्य कम हो या अधिक, एक बार बिक जाने पर उस मूल्य को दक्ष विक्रेता और दक्ष क्रेता दोनों स्वीकार करते थे। ऋग्वेद के एक मंत्र से विदित होता है कि एक व्यक्ति ने कम मूल्य (कनीय वसन) पर अधिक मूल्य की वस्तु बेच दी। ऋग्वेद में ऋण के लेन–देन और ब्याज लेने का भी उल्लेख है। परन्तु समुन्द्री व्यापार के कोई प्रमाण प्राप्त नहीं हुए हैं अभी वस्तु विनिमय के आधार पर एक कबीले का दूसरे से लेन–देन ही चलता होगा।

mÙkj oSfnd dky ¼1000 bZ-iw-&600 bZ-iw- ½

उत्तर वैदिक काल में सामवेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद की रचना हुई। साम का अर्थ "गान" होता है और सामवेद गान–प्रधान है। प्राचीन काल में जो वि ोशज्ञ सामवेद गाते थे, उन्हें "उद्‌गाता" कहा जाता था। यजुर्वेद में यज्ञ–विधियों का प्रतिपादन किया गया है। अथर्ववेद में मोहन–मारण, उच्चाटन, विघटन, विवाह, श्राद्ध आदि क्रियाओं का उल्लेख है। सामवेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद संहिताओं की रचना के बाद ब्राह्मण साहित्य की रचना की गई। पद्य में

रचित ये सारे ग्रन्थ वेद की टीका करते है। इनमें मुख्यतः यज्ञों तथा उनकी विधियों का सविस्तार वर्णन किया गया है। इनमें यदा–कदा सामाजिक, राजनीतिक आदि व्यवस्थाओं का भी उल्लेख मिलता है।

1000–600 ई०पू० के बीच ऊपरी गंगा–धाटी में उपयुक्त वैदिक ग्रन्थों की रचना की गई। इसी अवधि में इसी क्षेत्र में उत्खनन से लगभग तीन सौ स्थल प्राप्त हुए है जहाँ लोग रहते थे। इन्हें चित्रित धूसर मृत्पात्र–स्थल (Painted Grey Ware Sites)कहते है। ऐसा इसलिए कि इन क्षेत्रों के निवासी मिट्टी के चित्रित कटोरे और त तरियों का व्यवहार करने थे जो धूसर मिट्टी के बने होते थे। वे लौह हथियारों का भी उपयोग करते थे। उत्तर वैदिक–कालीन ग्रन्थों और चित्रित धूसर मृत्पात्र पुरातत्व से हम आर्यो के जीवन के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जो 1000 ई०पू० में सरस्वती और दृ ाद्वती नदियों के बीच रहते थे। भीध्र ही कुरूओं ने दिल्ली और दोआब के ऊपरी भाग पर अधिकार कर लिया था। कालान्तर में वे पांचालों से मिल गए जिन्होंने दोआब के मध्यवर्ती भाग पर अधिकार कर लिया था। कुरू–पांचालों की सत्ता दिल्ली, ऊपरी और मध्य दोआब के भागों में स्थापित हो गई। उनकी राजधानी मेरठ जिले के हस्तिनापुर में थी। कुरू जाति का इतिहास महत्वपूर्ण है क्योंकि भारत–युद्ध ही सुप्रसिद्ध महाकाव्य महाभारत की कथावस्तु है। यह युद्ध संभवतः 950 ई० पू० कौरवों और पांडवों के बीच लड़ा गया था यद्यपि दोनों कुरु वं ा के ही थे। युद्ध के परिणामस्वरूप कौरवों का पूरी तरह से पतन हो गया।

हस्तिनापुर के उत्खनन से पता चलता है कि 900 से 500 ई०पू० में भाहरी जीवन का उदय हो चुका हो चुका था। किन्तु, ये महाभारत में वर्णित हस्तिनापुर पर कोई प्रका ा नहीं डालते, क्योंकि बहुत बाद में चौथी भाताब्दी ई० में महाभारत का अन्तिम संस्करण निकला। उत्तर वैदिक काल में लोग पक्की ईंटों का व्यवहार नहीं जानते थे। हस्तिनापुर के उत्खनन से मिट्टी के घर मिले है। अनुश्रुतियों से पता चलता है कि बाढ़ के कारण हस्तिनापुर विनश्ट हो गया तथा कुछ वं ा के भोश लोग इलाहाबाद के निकट कौ ाम्बी की ओर चल पड़े।

पांचाल राज्य में आधुनिक बरेली, बदायूँ और फरीदाबाद जिले थे। यह अपने दा ानिक राजाओं और ब्राह्मण धर्म ाास्त्रियों के लिए प्रसिद्ध था।

उत्तर–वैदिक काल के अंतिम भाग में लगभग 600 ई० पू० में आर्य दोआब से और दूर जाकर बसने लगे। वे उत्तर प्रदे ा के को ाल और उत्तर बिहार के विदेह तक चले गए। यद्यपि रामचन्द्र की कथा से को ाल का संबंध है, तथापि वैदिक साहित्य में उसकी कोई चर्चा नहीं है। उत्तर प्रदे ा और बिहार में आर्यों को उन लोगों से संघर्श करना पड़ा जो ताम्र औजारों तथा काले–लाल मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग करते थे। पि चमी उत्तर प्रदे ा में उन्हें उन लोगों का सामना करना पड़ा जो लाल रंग के बर्तनों और ताम्र औजारों का प्रयोग करते थे तथा वे वहाँ 1800 ई० पू० से रहते आए थे। आर्य सरदारों ने उन्हें पराजित किया। उन की विजय के प्रमुख कारणों में उनके द्वारा व्यवहृत लौह हथियार और अ व–चालित रथ थे। आर्य अब तक यमुना, ऊपरी गंगा और सदानीरा (गंडक) के सिंचित उर्वर मैदानों को जोतकर अपने अधीन कर चुके थे। दक्षिण में विदर्भ तक उनका विस्तार हो चुका था। सरस्वती से गंगा–यमुना के दोआब तक विस्तृत मध्यप्रदे ा अब आर्य संस्कृति का प्रमुख केन्द्र था। इस समय के प्रमुख राज्यों का वर्णन निम्नलिखित है–

कुरू– यह थाने वर, दिल्ली और गंगा–यमुना के दोआब के उत्तर भाग में था। इसे कुरूक्षेत्र भी कहते थे। इसकी राजधानी आसन्दीवन थी जो बाद में हस्तिनापुर के नाम से विख्यात हुई। परीक्षित नामक राजा वहाँ राज करता था। उसके राज्यकाल में प्रजा सुखी–सम्पन्न थी। उसका पुत्र जनमेजय भी प्रतापी और महत्वाकांक्षी सम्राट था। उसने अ वमेध यज्ञ किया और अपने राज्य को एक वि ााल साम्राज्य का रूप दिया।

पांचाल– पांचाल अत्यन्त भााक्ति ााली राज्य समझा जाता था। इसके भाासकों ने आदिवासियों को पराजित करने के लिए कई युद्ध किए। अंत मे गंगा–यमुना के बीच के उर्वर मैदान में वे स्थिर हो गए और पांचाल राज्य की स्थापना की। उसके भाासक प्रवाहण और जावालि प्रकांड विद्वान् थे।

विदेह– वहाँ के राजा जनक थे। उन्होंने विद्वानों की बैठक बुलाई थी जिसमें बड़े–बड़े ऋशि–मुनियों ने भाग लिया था। वेद में राजा जनक को सम्राट की उपाधि से विभूशित किया गया है और उन्हें विदेह राज्य का स्वामी बतलाया गया है।

कोशल– यह अवध के निकट स्थित था। इसकी राजधानी अयोध्या थी।

काशी– यह वाराणसी के आसपास था। उस समय भी का ी एक प्रसिद्ध तीर्थ–स्थान था।

को ाल, का ी और विदेह वैदिक संस्कृति के केन्द्र थे। कुछ अवसरों पर इन तीनों ने एक राज्य–संध का निर्माण कर आदिवासियों से संघर्श किया।

वैदिक ग्रन्थों में कुछ अन्य राजाओं के भी वर्णन है–गांधार, सिंधु–तट पर स्थित था और इसके दो नगर तक्षि ाला और पुश्कलावती का उल्लेख मिला है। कौरव राजा दुर्योधन की माता और धृतराश्ट्र की पत्नी गांधारी यहाँ के राजा की कन्या थी। इसके अतिरिक्त वेदों में मद्र, अंग आदि का भी वर्णन आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मगध और अंग उस समय महत्वपूर्ण नहीं थे।

उत्तर वैदिककालीन आर्यों के जीवन के विभिन्न पहलू निम्नलिखित है–

राजनीतिक संगठन– उत्तर वैदिक कालीन साहित्य में राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है। अथर्ववेद में विराट् अर्थात राजा विहीन समाज का उल्लेख है–जिसमें जनता कश्ट–पीड़ित थी और इससे मुक्ति पाना चाहती थी। ऐतरेय ब्राह्मण में देवासुर संग्राम की चर्चा है। इसमें देवताओं के निरंतर पराजय का कारण देवताओं का राजविहीन होना बतलाया गया है।

अतः उन्होंने सोम को अपना राजा चुन लिया और उसके नेतृत्व मे संग्राम करने पर असुर पराजित हुए। तैत्तरीय ब्राह्मण में यह लिखा है कि देवताओं ने इंद्र को अपना राजा चुन लिया क्योंकि वह सबसे अधिक बुद्धिमान और बलवान था। भातपथ ब्राह्मण में राज्य की उत्पत्ति के भाक्ति–सिद्धान्त का संकेत मिलता है। मत्स्य–न्याय से मुक्ति पाने के लिए राजा का चयन किया गया था। निश्कर्शतः यह कहा जा सकता है रक्षा, असंगठन, पराजय और अ ान्ति को समाप्त करने के लिए ही राजा का निर्माण अथवा चयन किया गया था।

उत्तर वैदिक काल मे राज्य के पदाधिकारियों की संख्या तथा अधिकारों में वृद्धि हो गई। तैत्तरीय ब्राह्मण में राज्य के प्रधान पदाधिकारी को "रत्निन्" कहा गया है। इसके अन्तर्गत पुरोहित, राजन्य, महिशी (राजा की प्रथम रानी), सूत (सारथी), सेनानी, ग्रामणी, क्षत्री (राजभवन का प्रधान कर्मचारी), संग्रहीत्री (कोशाध्यक्ष), भागदूध (कर को एकत्रित करने वाला), तथा अक्षवाप (द्यूत–प्रबंधक) का उल्लेख मिलता है। मैत्रायणी संहिता में तक्षण (बढ़ई) और रथकार का भी उल्लेख है। ग्रामीण के अधिकार बढ़ गए। अब उसे सेना तथा भाासन दोनों प्रकार के काम करने पड़ते थे। राज्य करों को संभवतः वही वसूल करता था। स्थापित संभवतः राज्य के एक भाग का भाासक होता था जो न्याय तथा भाासन दोनों काम करता था। सूत्रों में नि ाद स्थापित का संकेत मिलता है जो संभवतः उन आदिम निवासियों पर भाासन करता था जिन पर आर्यों ने विजय प्राप्त कर ली थी। भातपति पदाधिकारी के नियंत्रण में संभवतः सौ गाँव थे। भाासन की सबसे छोटी इकाई गाँव थी जिसका अधिकारी अधिकृत होता था तथा स्वयं राज्य उसकी नियुक्ति करता था।

उत्तर वैदिक काल में वहीक, प्रतिपीय, परीक्षित और जन्मेंजय जैसे प्रतापी राजाओं का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में परीक्षित का वर्णन वि वजीत राजा के रूप में हुआ है। उनके राज्य में घी–दूघ की नदियाँ बहती थी। राजा अब अपने को वि वजनीन, सार्वभौम, सम्राट, चक्रवर्ती कहने लगे। 'एकराट्' भाब्द से अनुमानित है कि राजा अपने को सर्वोच्च भााक्ति समझने लगा था। प्राची दि ाा (मगध, विदेह, कलिंग आदि) में राजा का अभिशेक होता था और वह सम्राट कहलाता था। दक्षिण दि ाा में सत्वत् (यादव) थे। उनकी राज्य–संस्था भौज्य थी और वहाँ के प्रमुख भाासक भोज कहलाते थे। प्रतीची (पि चम) दि ाा में नौच्य और अपाच्य (सुराश्ट्र, कच्छ, सौवीर) लोगों में स्वराज्य–राज्य संस्था थी और वहाँ के राजा स्वराट् कहलाते थे।

उदीची (उत्तर) दि ाा में हिमालय से परे कुरू और मद्रों के जनपद थे जो विराट् (राजहीन) जनपद थे। कुरु–पंचाल वं ा और उ ीनर (पूर्वोन्तर पंजाब) में राजा राज्य करते थे। मध्यप्रदे ा और प्राची के सिवा सभी जगह राज्य की एक प्रणाली नही थी। पंजाब से वरार–महाराश्ट्र तक संघ राज्यों की एक मेखला थी।

राजनीतिक परम्परा में सार्वभौम, अधिराज्य आदि विविध सताओं का अभ्युदय हुआ। अब वीर–विजयी राजा राजसूय, बाजपेय अ वमेघ आदि यज्ञों का आयोजन करने लगे। राजसूय में प्रधान पदाधिकारियों को उपहार दिया जाता था। बाजपेय में रथों की दौड़ होती थी। जिसमें यज्ञ करने वाला विजयी बनाया जाता था। अ वमेध यज्ञ में एक धोड़ा

छोड़ दिया जाता था जिसकी रक्षा के लिए सुसज्जित वीर सैनिक उसके साथ रहते थे। वापस लौटने पर धोड़े की बलि दी जाती थी। ऐतरेय और भातपथ ब्राह्मणों में कुछ ऐसे राजाओं के नाम हैं जिन्होंने अ वमेध के अतिरिक्त ऐन्द्र महाभिशेक भी कराया था। भातपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने अ वमेध यज्ञ किया था। इस यज्ञ को पुरोहित इन्द्रोत दैवाप ने सम्पन्न कराया था। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार राजा को राजसूय, सम्राट को वाजपेय, स्वराट् को अ वमेध, विराट् को पुरूशमेध एवं सर्वराट् को यज्ञ कराना चाहिए।

राजा निरंकु ा या अनियंत्रित नहीं था। बहुत से ऐसे संस्कार थे जिसमें राजा को सिंहासन से उतरकर ब्राह्मण को प्रणाम करना पडता था। उसे यह भापथ लेनी पड़ती थी कि वह पुरोहित के साथ धोखा नहीं करेगा। राज्य के नियमों का पालन तथा ब्राह्मणों की रक्षा करना उसका मुख्य कर्त्तव्य था। राज्यभिशेक के समय पुरोहित कहता था, "नियमों का पालन करने वाला तथा विघ्नों का निवारण करने वाला व्यक्ति प्रजा में स्वैर्य प्राप्त करता है। राश्ट्र के बल, श्री और य ा के लिए इन्द्र की इन्द्रिय (ाान्ति) से मै तुम्हारा अभिशेक करता हूँ।" इसके उत्तर में राजा कहता था, "प्रजा का श्री मेरा सर है, उसका य ा मेरा मुख है, उसका तेज मेरे के ा और भामश्रु है। मेरी जिह्वा प्रजा के कल्याण की बात कहें। प्रजा का उल्लास मेरा मन है। जनता में राजा प्रतिश्ठित है।" राज्य करते हुए पुरोहित उसे प्रजा और राश्ट्र के कल्याण करने की बात कहता था। अत्याचारी राजाओं के निश्कासन का भी प्रमाण मिलता है।

राजा युद्ध में सेना का नेतृत्व करता था। यद्यपि सेना का साधारण संचालक सेनानी था। राजा के अन्य कार्यो में दुश्टों का दमन कर धर्म की रक्षा करना, राजदंड देना, कर वसूल करना आदि था। जनता को बलि, भाुल्क और भाग कर के रूप में देना पड़ता था। राजा न्याय का काम भी करता था। वह दे ा में भाान्ति–व्यवस्था बनाये रखता था। वह ि ाक्षा की भी व्यवस्था करता था। छान्दोग्य उपनिशद में कैकय नरे ा अ वपति ने कहा है, "मेरे राज्य मे न कोई चोर है, न कायर है, न अधम है, न कोई मूर्ख है और न कोई व्यभिचारी।" राजद्रोह को महान अपराध समझा जाता था जिसके लिए ब्राह्मण तक को प्राणदंड दिया जाता था।

उत्तर वैदिक काल में बालि के रूप में करों और उपहारों की वसूली आम हो गई। यह कर नियमित या ऐच्छिक था कह पाना कठिन है। यह एक अधिकारी संगृहित्र के पास जमा किया जाता था। राजा अपने कार्य संपादन में पुरोहित, सेनापति, महिशी (chief queen) एवं अन्य अधिकारियों का सहयोग लेता था। निम्न स्तर पर प्र ाासन ग्राम सभा द्वारा होता था। इन सभाओं में गाँव के प्रभाव ााली प्रजातियों के मुखिया होते थे। किन्तु उत्तर वैदिक काल में भी राजा के पास एक स्थायी सेना का अभाव था। युद्ध काल में प्रजातीय सेनाएँ जमा होती थी। एक रिवाज के अनुसार विजय मिलने पर राजा को अपने लोगों (वि ा) के साथ एक ही थाली में भोजन करना पड़ता था।

उत्तर वैदिक काल में सभा, समिति एवं विदथ का प्रभाव घट गया। विदथ तो बिल्कुल लुप्त हो गया। सभा और समिति का अस्तित्व बना रहा। लेकिन उनका स्वरूप बदल गया। वे राजकुमारों और कुलीनों के प्रभाव में आ गए। सभा में औरतों को बैठने नहीं दिया जाता था। सभा में कुलीनों और ब्राह्मणों का बोलबाला था। अथर्ववेद में समिति के महत्व पर प्रका ा डाला गया है। इसमें कहा गया है कि इसे व ा में करने के लिए राजा को जादू–होने का सहारा लेना पड़ता था। समिति संभवतः युद्ध–संधि, आय–व्यय आदि को देखती थी। छन्दोग्य उपनिशद में सभा के महत्व पर प्रका ा डाला गया है। इसमें कहा गया है कि प्रजापति (ई वर) स्वयं इसके बिना काम नहीं कर सकता था। सभा में वाद–विवाद के प चात् राज्य की समस्याओं को सुलझाया जाता था। सभा में सभापति होता था जो सभा की कार्यवाही का संचालन करता था। सभासद् सभा का कोई वि ोश पदाधिकारी था जो संभवतः न्याय–संबंधी मामलों पर निर्णय देता था। बहुमत द्वारा हीं सभा समितियों का काम होता था।

lkekftd thou

वर्ण–व्यवस्था– उत्तर वैदिक काल में आर्यो के सामाजिक संस्थान की नींव पड़ गई। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वै य तथा भाूद्र की वर्ण–व्यवस्था में कठोरता आ गई। आरम्भ में जाति भेद केवल आर्यो और दासों का ही था, परन्तु आर्यो की पवित्रता बनाए रखने के लिए नियम और बंधन बनाए जाने लगे। आर्य कन्या किसी दास से विवाह नहीं कर सकती थी। यहाँ तक कि दासों और भाूद्रों के बीच वैवाहिक संबंध भी घृणित समझा जाता था।

समाज में ब्राह्मण का उच्च स्थान था। वह अपनी विद्वता और ज्ञान के लिए विख्यात था। धार्मिक अनुश्ठानों और यज्ञों को संपन्न करके वह समाज की मंगल कामना करता था। उसे अनेक वि ोशाधिकार भी प्राप्त थे। उसका वध नहीं किया जा सकता था और न ही उससे कर ही लिया जा सकता था। किन्तु स्वधर्म त्यागी ब्राह्मण निन्दनीय था। वेद–ज्ञान से भाून्य और भाास्त्र–ज्ञान से रहित ब्राह्मण को भाूद्र से भी निम्न मानकर निन्दा की गई है। इससे यह स्पश्ट है कि समाज में वर्ण–विरूद्ध कर्म को प्रश्रय नही दिया गया था और अपने कर्म को निश्ठापूर्वक करने का निर्दे ा दिया गया था। ब्राह्मणों के लिए वेदाध्ययन और तपस्या परम आव यक थे। वह क्षत्रियों की तुलना में निस्सन्देह उत्कृश्ट था। वह अपने ज्ञान, धामिक कृत्यों एवं मंत्रों के कारण प्रबल था।

क्षत्रिय राजकुल से सम्बद्ध था। वह युद्ध–कौ ाल और प्र ाासनिक योग्यता में अग्रणी था। पौरोहित्य, याज्ञिक क्रियाएँ, आदि में पारंगत होकर कुछ क्षत्रिय भाासकों ने ब्राह्मणों के आचार्यत्व के एकाधिकार को चुनौती दी और अनेक ब्राह्मणों को दीक्षा प्रदान की। ब्राह्मण वेतकेतू के पिता उद्यालक पंचाग्नि के प्रवर्तक पांचाल नरे ा क्षत्रिय प्रवाहण जाबालि के पास ज्ञान प्राप्ति के उद्दे य से गए। कैकय–नरे ा क्षत्रिय अ वपति के यहाँ कुछ विद्वानों के साथ ब्राह्मण उद्दालक वै वानर विद्या के अध्ययन के लिए गए थे। विदेह भाासक क्षत्रिय जनक से याज्ञवल्क्य ने स्वयं ज्ञान प्राप्त किया था।

इस युग में कुछ क्षत्रिय–कन्याओं से ब्राह्मणों के विवाह करने के भी उदाहरण मिलते है। किन्तु किसी ब्राह्मण–कन्या के साथ किसी क्षत्रिय के विवाह करने का दृश्टान्त नहीं मिलता। वै य और भाूद्र से भी विवाह–संबंध नहीं हो पाता था।

समाज मे वै य का स्थान ब्राह्मण और क्षत्रियों की अपेक्षा निम्न था। तैत्तरीय संहिता में इसे प ाुपालन और अन्नोत्पादक कहा गया है। वह गाँव का मुखिया (ग्रामणी) बनने की आकांक्षा रखता था। यज्ञिक क्रियाओं में वै व–समुदाय का सहयोग आव यक था। यह स्पश्ट उल्लेख है कि वै य स्त्री के पुत्र का राजा के रूप में कभी अभिशेक नही होता था।

समाज में भाूद्र का स्थान सबसे निम्न था। अपने से ऊँचे वर्ण वालों की सेवा करना और पारिचारिक वृत्ति करना उसका प्रधान कर्म था। यज्ञ–स्थल पर उसकी उपस्थिति वर्जित थी। किन्तु तैत्तरीय संहिता में भाूद्र को समाज का एक आव यक अंग बताया गया है। अथर्ववेद में प्रार्थना की गई है, "मुझे ब्राह्मण और क्षत्रिय, आर्य और भाूद्र दोनों का प्रिय बनाओं।" कुछ ऐसे ऋशियों के नाम मिलते है जो भाूद्रा से उत्पन्न हुए थे। उदाहरण के लिए परा ार खयाक नारी से, व्यास धीवर कन्या से, वशिश्ठ गणिका से एवं मदनपाल नाविक स्त्री से जन्में थे। इसके अतिरिक्त ऐसे उदाहरण भी है कि भाूद्र ऋशियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करते थे। छांदोग्य उपनिशद् से विदित होता है कि भाूद्र जानश्रुति ने महार्श रैक्व से प्राण और वायु का ज्ञान प्राप्त किया था।

ऐतरेय ब्राह्मण में उपयुक्त वर्ण–व्यवस्था की रूपरेखा दी गई है। इसमें कहा गया है कि ब्राह्मण दान लेने वाले (आदायी), सोम पीने वाले (आयायी) सदा धूमने वाले (अवसायी) है। वै य दूसरों को कर देने वाला (अन्यस्य बलिकृत), दूसरों से भोग किया जाने वाला (अन्यसाद्य) एवं इच्छानुसार रखा जाने वाला (यथा कामज्येय) कहा गया है। इसी प्रकार भाूद्रों को दूसरों का नौकर (अन्यस्य प्रेस्य), जब चाहे हटा दिया जाने वाला (कामोस्थाप्य), जब चाहे मार दिया जाने वाला (यथाकामवध्य) कहा गया है।

उपयुक्त चार वर्णो के अतिरिक्त चांडाल, पौल्कस, निशाद, उग्र आयोगव, मागध, वैदेहक आदि जातियों का भी उल्लेख मिलता है। अन्ध्र, पुण्ड, भाबर, पुलिन्द आदि अनार्य जातियों का उल्लेख भी मिलता है। नात्यों और निशादों का भी उल्लेख है। प्रसिद्ध आचार्य सायण ने पंचजनाः का अर्थ इस प्रकार किया है–चत्वारों वर्णाः निशदपं चमाः। व्यापारी, रथ–निर्माता, लोहा, बढई, कर्मकार, चमार, मल्लाह आदि उपजातियों का उल्लेख है। 'श्रेश्ठि' भाब्द से हमें गण का संकेत मिलता है। श्रम–विभाजन की प्रथा भी चल पड़ी थी।

अब ि ाल्पों और व्यवसायों के समूह या गण भी पृथक् अं ाों के रूप में प्रकट होने लगे। भाास्त्रकारों ने पहली बार चारों वर्णो के कर्तव्यों का स्पश्ट रूप से उल्लेख किया और उनके पृथक्–पृथ्क् नियम बनाए। श्रम–विभाजन से पे ोवर दल निर्मित हो गए। इससे वर्ग–संघर्श भी उत्पन्न हो गया। एक ओर तो ब्राह्मण और क्षत्रिय अपने–अपने वि ोशाधिकार की रक्षा के लिए संघर्श ाील थे तो दूसरी ओर वै य और भाूद्र उनके वि ोशाधिकारों से धृणा करते

थे, क्योंकि उनके वि ोशाधिकारों का सारा बोझ इन्हें ही वहन करना पड़ता था। समाज स्पश्टतः भोशक और भोशित वर्ग में विभाजित हो गया था।

आश्रम–व्यवस्था– जावालोपनिशद् में आश्रम–व्यवस्था का उल्लेख है। आर्यों ने ज्ञान, कर्तव्य, त्याग और अध्यात्म के आधार पर मानव जीवन को ब्रहम्चर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास नामक चार आश्रमों में विभाजित किया। ब्रहम्चर्य अवस्था में मनुश्य अपने जीवन के पच्चीस वर्श किसी गुरूकुल में रहकर विद्याघ्ययन में व्यतीत करता था। इसके बाद वह गृहस्थ आश्रम में प्रवे ा करता था जो पच्चीस वर्श का होता था। त्रिवर्ग, धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति इसी आश्रम में मनुश्य घरद्वार छोड़कर एकान्त जीवन व्यतीत करता था तथा भगवानु की आराधना करता था। ब्रह्मचारियों को विद्यादान देता था। सन्यास आश्रम पूर्णरूपेण त्याग और संयम का जीवन था जिसका उद्दे य परम ब्रह्मजीवन अथवा मोक्ष की प्राप्ति था। इस प्रकार प्राचीन भारतीय मनीषियों ने मानव–जीवन के चार महान् पुरूशार्थों–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति के लिए आश्रम–व्यवस्था को आधार बनाया। प्रसिद्ध समाज ाास्त्री डा० कपाडिया ने यह स्वीकार किया है कि पुरूशार्थ के सिद्धान्त की वास्तविक अभिव्यक्ति आश्रमों की हिन्दू–योजना में निहित है।

नारियों की दशा–उत्तर वैदिक काल में नारियों की द ाा बिगड़ने लगी। यद्यपि उनके सामाजिक और धार्मिक अधिकार बनें रहे। उनके वैयक्ति गुणों के प्रति संदेह व्यक्त किया जाने लगा। भातपथ ब्राह्मण में उन्हें असत्य–भाशी और अनृत कहा गया है। बाल–विवाह के प्रचलन के फलस्वरूप स्त्रियों की ि ाक्षा का मार्ग अवरूद्ध हो गया। अि ाक्षित होने के कारण वे वेदमंत्रों का उच्चारण करने में असमर्थ हो गयी। इसलिए यज्ञों में भाग लेने से उन्हें वंचित कर दिया गया। राजवं ाों में बहुविवाह प्रचलित थी। अतः रानियों का वैवाहिक जीवन सुखी नहीं था। उच्चवर्ग की स्त्रियों का जीवन भी कलहपूर्ण था। कन्या का उत्पन्न होना दुःख का कारण माना जाता था। ऐतरेय ब्राह्मण में पुत्र को स्वर्ग तुल्य तथा कन्या को कृपणम् अर्थात् विपत्ति कहा गया है। मैत्रयणी संहिता में तो नारी को पासा तथा सुरा के साथ–साथ तीन बुराईयों में गिना गया है।

नारियों की स्थिति का एक दूसरा पहलू भी है। अनेक स्थलों में उन्हें अर्धांगिनी कहा गया है। उन्हें नृत्य और संगीत की ि ाक्षा मिलती थी। गार्गी और मैत्रेयी विदुशी नारियों का भी उल्लेख मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण में गंधर्वगृहीता का उल्लेख हैं जो परम विदुशी और मुखर थी। राजा जनक की राजसभा में ब्रहम्वादिनी (अविवाहित) विदुशियों का एक दल था जिसमें गार्गी का मुख्य स्थान था। नारियां बाजपेय तथा राजसूय यज्ञों में भी भाग लेती थी। कुछ स्त्रियां अध्यापन कार्य भी करती थी। कुछ वीरांगनाओं के उदाहरण मिलते है जो पतियों के साथ सामजिक कार्यो में हाथ बंटाती थी। अतः स्त्रियों की द ाा निम्न थी।

विवाह–प्रथा– विवाह एक अनिवार्य संस्कार था, जिसके माध्यम से मनुश्य अपने समस्त अपेक्षित कर्तव्यों और उत्तरादायित्वों का निर्वहन करता था। धर्म–पालन, पुत्र–प्राप्ति एवं रति–सुख विवाह के प्रमुख उद्दे य थे। तैतरेय ब्राह्मण के उल्लेखित है कि पत्नीरहित व्यक्ति यह सम्पनन कराने का अधिकारी है। पिता के लिए पुत्र आलोक है तथा संसार सागर पार करवाने के लिए अतितारिणी (नौका) है। विवाह का एक अन्य प्रयोजन रति–सुख या यौन–इच्छाओं की संतुश्टि भी थी। वृह्द उपनिशद् में संभोग को आन्नद की पराकाश्ठा माना गया है। तैतरीय संहिता के अनुसार धर्म के अनुपालन, याज्ञिक कर्म, सन्तानोत्पत्ति, वं ाोत्थान, गर्हस्थ्य तथा पितरों के लिए पिंडदान आदि के निमित विवाह को आव यक माना गया है।

उत्तर वैदिक युग में बहुविवाह, विधवा विवाह आदि प्रचलित थे। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि एक पुरूश की कई भार्यायें हो सकती है किंतु एक स्त्री के कई पति नही हो सकते। अनेक पतियों वाली स्त्री समाज में आदर नहीं पाती थी। अथर्ववेद में भी उल्लेखित है कि स्त्री पुनर्विवाह करती थी। विधवाएं प्रायः अपने देवर से विवाह कर लेती थी।

वैदिक युग में वर और वधु का विवाह युवा होने पर ही किया जाता था। बाल–विवाह प्रचलित नही था। प्रायः ब्रहम्चर्य आश्रम प्रारंभ हो जाता था। लगभग 8 वर्श की उम्र में उपन्यन संपन्न होता था तत्प चात् ब्रहम्चर्य आश्रम भुरू हो जाता था। जो कम से कम बारह वर्श का होता था। अतः वर की आयु विवाह के समय कम से कम 20 वर्श की होती थी। दाम्पत्य जीवन अत्यंत प्रगाढ और सम्मान युक्त था। त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति) पति–पत्नि दोनों पर अवंलबित थी। यद्यपि पति और पत्नि को एक दूसरे के विरूद्ध अभियोग लगाने का अधिकार नहीं था, तथापि नश्ट, क्लीव (नपुंसक), पतित, राजकिल्वर्शा (राजदंड से पीड़ित), लोकान्तर्गत (दूर दे ावासी) पति त्याज्य था।

वैदिक युग में विवाह के लिए संभवतः वर्ण–परक प्रतिबंध समाज में नहीं था, बल्कि उस युग में अस्वर्ण विवाह होते रहते थे। ऐसे विवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं। ब्राह्मण ऋशि च्यवन ने क्षत्रिय राजकुमारी सुकन्या से विवाह किया था, भयावश्रय नामक ब्राह्मण मनीशि ने क्षत्रीय भाासक रधवीति दार्म्य कन्या से परिणय किया था। अन्तर्जातीय विवाह या अनुलोम–प्रतिलोम विवाह होते थे। अनुलोम विवाह में उच्च वर्ण का पुरूश और निम्नवर्ण की स्त्री होती थी। प्रतिलोम में निम्न वर्ण पुरूश और उच्च वर्ण की स्त्री होती थी। इससे उत्पन्न संतान को वर्ण संकर, निकृ ट और अ पृ य कहा जाता था।

उत्तर वैदिक काल में संयुक्त परिवार की प्रथा थी। आद ि परिवार में पिता सहित उसके सभी पुत्र–पौत्र रहते थे, किन्तु उसकी वृद्धवस्था में सम्पत्ति के बंटवारे की मांग बढ़ती जा रही थी। कभी–कभी भाई स्वयं अपने में सम्पत्ति का विभाजन कर लेते थे। अतः पितृसत्तात्मक परिवार के आधार पर पिता का एकक्षत्र भाासन परिवार और उसकी संम्पत्ति से घटने लगा। कभी–कभी परिवार की कुछ स्त्रियों के भेदभाव के कारण भी परिवार टूट जाता था।

दहेज प्रथा भी प्रचलित थी। जब कन्या का विवाह किया जाता था, तब उसे कई प्रकार के वस्त्राभूशण दिए जाते थे। ब्राह्मण विवाह के अंतर्गत बहू को अनेक अलंकारों के साथ पति के घर भेजा जाता था। राजपरिवार की बहुएँ अपने साथ दहेज की सौ गायें लेकर, वर के धर जाती थी। अनेक प्रकार के इत्र, आभूशण, वस्त्र, धोड़े, हाथी आदि दहेज में दिए जाते थे।

वस्त्राभूषण– उत्तर वैदिक युग में अनेक प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग होने लगा। ऊनी वस्त्रों के लिए 'ऊर्णा' भाब्द का व्यवहार मिलता है। ' ाण' (सन) के उल्लेख से यह प्रमाणित होता है कि उस युग में आच्छादन के लिए बोरे बनते थे। सूत कातने का काम प्रायः स्त्रियाँ हीं करती थी। कर्घा के लिए 'वेमन' भाब्द का उल्लेख मिलता है। 'वयत्री' भाब्द से प्रमाणित होता है। स्त्री भी वस्त्र बुनने का कार्य करती थी। स्त्रियां कढाई भी करती थी जिन्हें 'पं ास्कारी' कहा जाता था। विभिन्न रंगों के वस्त्र तैयार किए जाते थे। वस्त्र रंगने को काम करने वाली स्त्रियों को 'रजयित्री' कहा जाता था। अनेक प्रकार के वस्त्रों का उपयोग होने लगा था, जिन्हें स्त्री–पुरूश दोनों धारण करते थे। रे ाम निर्मित व स्त्रों का 'कौ ोय', 'उमा' (अलसी) से बने वस्त्रों को 'औम तथा ऊन से बने हुए वस्त्र को 'और्ण' (और्णक) कहा जाता था। कपास से बने सूती वस्त्र भी उपयोग में लाए जाते थे। उत्तरीय और अन्तरीय क्रम ाः उपरना और धोती के लिए प्रयुक्त होते थे। कमर में नीवी (फेता) भी बांधी जाती थी। उपसंख्यान का प्रयोग अन्तरीय भााटक अथवा धोती के लिए किया जाता था। 'आप्रपंदीन' भाब्द पैरों के अग्र भाग तक नीचे लटकती हुई धोती के लिए लिए प्रयुक्त होता था। पण्य–कंबल के अतिरिक्त अच्छे किस्म का प्रवार नामक कंबल भी बनता था। पैर में जूते (उपानह) भी पहने लाते थे।

लोग के ा–विन्यास कला से परिचित थे। प्रसाधित के ा को 'के ावेश' कहा जाता था। स्त्रियाँ अपने के ाों कों अधिक सुंदर ढंग से सवारती थी। के ाों के विभिन्न आकार के जूडे (के ा–ग्रन्थि) और वेणियां बनाई जाती थी। जिन्हें पुश्पों और स्वर्ण–रजत युक्त रत्नों से प्रसाधित किया जाता था।

स्त्री–पुरूश अपने भारीर को सुन्दर और आकर्शक बनाने के लिए विभिन्न प्रकार के आभूशणों का प्रयोग करते थे। आभूशणों में प्रायः स्वर्ण (हिरण्य) और रजत का उपयोग किया जाता था। आभूशणों में 'कृभन' (मोती) का भी व्यवहार किया जाता था। भ्रुज, केयुर, नूपूर, भूजबन्ध, कंकण, मैद्रिका आदि आभूशण स्त्रियां पहनती थी। स्त्री–पुरूश सभी अपने कक्षों को 'रूक्म' नामक आभूशण से सु ाोभित करते थे।

मनोरंजन– आखेट, धुड़दौड़ तथा रथवाहन उत्तर वैदिक युग में मनोरंजन के मुख्य साधन थे। अथर्ववेद से पता चलता है कि धुड़दौर के विजेता को समारोह–पुरस्कार प्रदान किया जाता था। रथधावन बाजपेय यज्ञ का एक आव यक अंग था। धरेलू खेलों में पासे अथवा चौपड़ बड़ा लोकप्रिय था। बाद में इसने द्यूत का रूप धारण कर लिया। विभिन्न आयोजनों में नृत्य–संगीत, वाहन आदि का कार्यक्रम रखा जाता था जिनमें स्त्री–पुरुश समान रूप से सम्मिलित होते थे।

धार्मिक–जीवन– उत्तर वैदिक युग में नैतिकता, आस्तिकता, सदाचारिता, और बौद्धिकता धर्म के अंग बन गए। साथ ही दा ानिक चिन्ता को भी स्वीकार किया गया तथा उसे सृश्टि का नियन्ता माना गया। एके वरवादी प्रवृत्ति बढ़ गई। प्रजापति की महिमा बढ़ गई और उसने इन्द्र का स्थान ले लिया। रूद्र की महिमा बढ़ गई और उसने इन्द्र का स्थान

ले लिया। रूद्र की महिमा बढ़ गई और अब उसे ि ाव कहा जाने लगा, जो मंगलकारी देव थे। विश्णु भी एक स्वतंत्र महत्वपूर्ण देवता बन गया। स्तुति, सूक्ति, आदि से देवताओं को प्रसन्न किया जाता था तथा लौकिक सुखों की कामना की जाती थी। प्रत्येक देवता के लिए स्तुति परक विभिन्न ऋचाएँ थी जो उन्हें प्रसन्न करने के लिए स्तवन के साथ उच्चरित की जाती थी। केवल इन्द्र की स्तुति में ही 250 ऋचाएँ ऋग्वेद में हैं।

यज्ञ का बड़ा महत्व था जो व्यक्ति को पावन और कर्मठ बनाता था। मंत्रों की सहायता से याज्ञिक कर्म किया जाता था। धी, दूध, धान्य अथवा मांस की आहुति दी जाती थी। प्रायः ब्राह्मण पुरोहित ही यज्ञ सम्पन्न कराता था। उत्तर वैदिक युग तक कृशि और व्यापार के साथ–साथ विविध ि ाल्पों का भी विकास हुआ। ऐसे यज्ञों में वै यों का भी सहयोग प्राप्त किया जाता था। सोमयज्ञ, पुरुषमेघ यज्ञ, पंचमहायज्ञ आदि का आयोजन किया जाता था। सोमयज्ञ में सोमरस देवताओं को अर्पित किया जाता था। पुरूशमेध के अंदर मनुश्य की बलि दी जाती थी। यह यज्ञ पाँच दिनों तक चलता रहता था। पंचमहायज्ञ, प्रत्येक गृहस्थ के लिए आवश्यक था। इसके अंतर्गत भूतयज्ञ, मनुष्य यज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ सम्मिलित थे। भूतयज्ञ के माध्यम से विभिन्न प्राणियों कों संतुश्ट किया जाता था। मनुश्य यज्ञ में ब्राह्मणों, अतिथियों और भिक्षुओं को भोजन कराया जाता था। पितृयज्ञ के अंतर्गत परलोकवासी पितरों कों प्रसन्न करके सुख और समृद्धि की वृद्धि की जाती थी। देवयज्ञ में गृहस्थ सुबह और भााम भोजन तैयार हो जाने पर देवों को हवि प्रदान करता था। ब्रह्मयज्ञ वेदाध्ययन और स्वाध्याय से संबंधित था। राजसूय यज्ञ अभिशिक्त राजा द्वारा सम्पन्न किया जाता था। सार्वभौम भाासक अ वमेघ यज्ञ आयोजित करता था। यज्ञ अनुष्ठान के लिए 17 पुरोहित होने लगे जिनमें होतृ, उद्‌गातृ, अध्वर्यु और ऋत्विज प्रधान थे। कहा जाता है कि अ वमेध यज्ञ के आयोजन में पुरोहित को दो लाख चालीस हजार गायें दक्षिणास्वरूप दी गई थीं। पुरोहितों को दान में गाय के अतिरिक्त वस्त्र, स्वर्ण, अ व आदि भी दिए जाते थे। किन्तु उन्हें भूमि नहीं दी जाती थी।

धीरे–धीरे यज्ञों के प्रति उदासीनता उत्पन्न होने लगी और याज्ञिक कर्मकांडों का विरोध किया जाने लगा। यह स्वीकार किया गया कि ज्ञान के आभाव में परलोक की प्राप्ति न तो यज्ञ से सम्भव है और न तप से, बल्कि यज्ञ में निहित धार्मिक भावना से ही वह संभव है। अतः आत्मज्ञान और ब्रहम्ज्ञान पर बल दिया गया। इन दा ानिक विचारों की अभिव्यक्ति अरण्यकों और उपनिश्दों में की गई। मुण्डकोपनिशद् में यज्ञ की तुलना फूटी नाव से की गई। अब मुक्ति, कर्मवाद और पुनर्जन्म पर वि ोश जोर दिया जाने लगा।

वैदिक धर्म के प्रधान प्रेरक, धार्मिक क्रियाओं के नियामक और निर्दे ाक ब्राह्मण ही थे। अतः आर्यों का ऋग्वेदोन्तर धर्म ब्राह्मण धर्म भी कहा गया है। ऐतरेय और भातपथ जैसे ब्राह्मण ग्रंथों में इसके दा ानिक पक्ष पर विस्तार से विचार किया गया है। वस्तुतः ब्राह्मण धर्म का मुख्य आधार, वर्ण व्यवस्था, कार्य–विभाजन और विधि–निर्धारण की परिचायक थी। समाज के प्रत्येक वर्ग के उत्तरदायित्वों तथा कर्मो कर आकलन और निर्धारण वर्ण–व्यवस्था के अंतर्गत होता था तथा जीवन को चार आश्रमों में विभाजित कर व्यक्तित्व का निर्माण किया जाता था। जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुश्य के अनेक धार्मिक संस्कार किए जाते थे जो धर्मगत जीवन जीने के लिए उसका पथ–प्रद ान करते थे। इन समस्त व्यव्स्थाओं में ब्राह्मणों की प्रधानता और मान्यता थी, इसलिए समाज में उनका वि ाष्ट स्थान था।

उत्तर वैदिक काल में देवों के अतिरिक्त पितरों का तर्पण श्राद्ध भी प्रारंभ हो गया। श्राद्ध की प्रथा पहले–पहल दत्तात्रेय ऋशि के आत्मज निमि ने भारू की। ाड्द ानों (सांख्य, योग, न्याय, वै ोशिक, पूर्व मिमांसा तथा उत्तर मिमांसा) का बीजारोपण भी इसी काल में हुआ। अंधवि वास की प्रवृत्ति बढ़ने लगी तथा भूत–प्रेत, जादू–टोने में भी वि वास किया जाने लगा। अवतारवाद का भी बीजारोपण हुआ। इस युग में एक ओर ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित एवं पोषित पक्ष, अनुष्ठान एवं कर्मकाण्डीय व्यवस्था थी तो दूसरी ओर इसके विरुद्ध उठाई गई उपनिषदों की आवाज।

vkfFkd thou

1000 ई० पू० के लगभग गांधार में लोहे का उपयोग किया जाने लगा। लोहे के औजार उत्खनन से प्राप्त हुए है। बलूचिस्तान में भी लोहे के उपकरण मिले है, इसी समय पंजाब, पूर्वी उत्तर प्रदे ा एवं राजस्थान में लोहे का उपयोग किया जाने लगा था। 400 ई० पू० से लोहे के हथियार जैसे तीर बरछे आदि का उपयोग पि चमी उत्तर में आमतौर से होने लगा था। ऐसा प्रतीत होता है कि लोहे के अस्त्र– ास्त्र उपयोग करने वाले उत्तर वैदिक काल के लोगों ने

ताम्र व्यवहत्न करने वाले दु मनों को पराजित किया होगा। यह भी संभव है कि ऊपरी गंगा के प्रदे ों के जंगलों की सफाई में लोहें का उपयोग किया गया होगा। वैदिक सभ्यता के अंत तक लोहे का उपयोग पूर्वी उत्तर प्रदे ा और विदेह में होने लगा था। इस क्षेत्र के उत्खनन से 700 ई० पू० के लौह उपकरण प्राप्त हुए हैं। उत्तर वैदिक काल में लौह धातु को भयाम या कृ ण अयस कहा जाता था।

उत्तर वैदिक काल में कृशि मुख्य पे ा थी। वैदिक ग्रंथों में वर्णन है कि छः आठ, बारह एवं यहाँ तक कि 24 बैल भी हल जोतनें के लिए लगाए जाते थे। संभवतः यह कथन अतिरंजित है। हल से खेती होती थी। ऊपरी गंगा–धाटी के ऊपजाऊ भूमि में काफी पैदावाद होती थी। भातपथ ब्राह्मण में हल जोतनें के रीति–रिवाज पर काफी प्रका ा डाला गया है। पौराणिक आख्यान के अनुसार विदेह के राजा जनक भी हल जोतते थे। उन दिनों राजा तथा राजकुमार भी भाारीरिक श्रम करने से नहीं हिचकते थे। कृ ण के भाई बलराम को हलधर कहा जाता है, क्योंकि वह भी हल जोतते थे। कालांतर में समाज के उच्चवर्गीय लोगों को हल जोतनें से मना कर दिया गया।

वैदिक लोग जौ उपजाते रहे। इस युग में चावल और गेहूँ मुख्य फसलें हो गयी। बाद में गेहूँ मुख्य खाद्य पदार्थ बन गया। पंजाब तथा उत्तर प्रदे ा में इसका काफी उपयोग किया जाने लगा। सर्वप्रथम दो आब में वैदिक लोग चावल से परिचित हुए। वैदिक ग्रंथों में इसके लिए वृहि भाब्द का उल्लख मिलता है। इसके अव ोश जो हस्तिनापुर के उत्खन्न से मिले है, 800 ई० पू० के है। यज्ञों या धार्मिक कर्मकाण्डों में चावल या अक्षत का उपयोग किया जाता था। इसके लिए गेहुँ का प्रयोग कभी नहीं किया गया। उत्तर वैदिक काल के लोग विभिन्न तरह की मूँग उपजाते थे।

उत्तर वैदिक काल में तरह–तरह के ि ाल्पों का उदय हुआ। लोहार और प्रगालक 1000 ई० पू० से ही लौह धातु को पीटने और गालाने का काम करने लग गए थे। वे इससे विभिन्न प्रकार के युद्ध हथियार, कृशि–उपकरण आदि का निर्माण करने लगे थे।

1000 ई० पू० के पहले उत्तर प्रदे ा तथा बिहार में ताँबा के औजार व्यवह्रत होते थे। उत्खनन में ये काफी संख्या में प्राप्त हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य और अनार्थ दोनों ताँबे का उपयोग जानते थे। राजस्थान की खेतरी खदान में ताँबा मिलता था जिसका उत्तर वैदिक काल के लोगों ने उपयोग किया था। हर हालत में वैदिक लोगों ने ताँबे के उपकरणों का व्यवहार किया। ताँबे के उपकरण चित्रित धँसर मृत्मात्र स्थलों में पाये गये हैं। इनका मुख्य उपयोग युद्व तथा आखेट के लिए होता था। इनसे आभूशण भी बनते थे।

बुनाई का काम औरतें करती थीं। उत्तर वैदिक काल में वृहत पैमाने पर बुनाई का काम होने लगा। मिट्टी के बर्तन एवं बढ़ईगीरी के काम तेजी से होने लगे। उत्तर वैदिक काल के लोग चार तरह के मृत्पात्र बनाते थे। भयाम और लाल मृत्पात्र, भयाम चिकने मृत्पात्र, चित्रित धूसर मृत्पात्र एवं लाल मृत्पात्र। लाल मृत्पात्र काफी संख्या में बनते थे। यह पूरी पि चमी उत्तर प्रदे ा मे पाया गया है। किंतु इस युग का सर्वोच्कृश्ट मृत्पात्र चित्रित घूसर मृत्पात्र है। इसके उदाहरण कटोरा और त तरियां हैं। जिनका उपयोग यज्ञों और भोजन आदि करने में होता था। ग्लास और चूड़ियों भी इससे बनाये जाते थे। जिनका उपयोग उच्च वर्ग के लोग करते थे। वैदिक ग्रंथों और उत्खनन से यह स्पश्ट है कि वि ाश्ट ि ाल्पीयों के पे ो उन्नत थे। सोनार भी अपने काम में माहिर थे। वे धनिक लोगों के आभूशण आव यता की पूर्ति करते थे।

कृशि और अन्य तरह के ि ाल्पों के फलवरूप वैदिक लोग एक स्थायी जीवन व्यतीत करने लगे। उत्खनन और खोज से हमें यह पता चलता है कि उत्तर वैदिक काल के लोगों का जीवन कैसा था। चित्रित घूसर मृत्पात्र पि चमी उत्तर प्रदे ा और दिल्ली (कुरू पांचाल क्षेत्र) पंजाब और हरियाणा (मद्र क्षेत्र) एवं राजस्थान (मत्स्य) से प्राप्त हुए हैं। लगभग 315 स्थल है जो मुख्यतः ऊपरी गंगा के मैदान में थे। केवल कुछ ही स्थल जैसे हस्तिनापुर, अत्रांजीखेर एवं नोह का उत्खनन किया जा सका है। इनसे प्रतीत होता है कि ये बस्तियाँ एक से तीन भाताब्दियों तक ही रही होंगी। इनमे से अंधिका ात नयी बस्तियाँ थी। लोग मिटटी या ईंट के घरों में रहते थे। कुछ लोग–घास फूस के घरों में रहते थे। चूल्हे, अनाज, चावल आदि जो मिले है उनसे ज्ञात होता है कि चित्रित घूसर मृत्पात्र के लोग कृशि प्रधान थे ओर स्थायी किसान जो हलों से खेती करते थे, इतना अनाज पैदा नहीं कर सकते थे जिनका उपयोग दूसरे पे ों में लगे लोग कर सकें। अतः भाहरों के उदय में किसानों ने कोई भूमिका नहीं निभाई।

यद्यपि वैदिक अर्थव्यवस्था आत्मनिभ्रर ग्राम अर्थव्यवस्था थी परन्तु ग्रंथों में "नगर" भाब्द का व्यवहार आया है तथापि उत्तर वैदिक काल से अंत में छोटे छोटे भाहर बनने लग गए थे। ऐसे भाहरों में हस्तिनापुर और कौ ाम्बी (इलाहाबाद के निकट) प्राचीनतम भाहर हैं। इनका उदय उत्तर वैदिक कालीन सभ्यता के अन्त में हुआ था। उन्हें आदि भाहरी स्थल कहा जा सकता है। वैदिक ग्रन्थों में समुद्र और सामुद्रिक यात्राओं का भी उल्लेख है। उस समय में व्यवसाय का काम भी होता था।

निश्कर्शतः यह कहा जा सकता है कि उत्तर वैदिक काल में लोगों की बड़ी भौतिक उन्नति हुई। चरवाहे और धुमक्कड़ों की जिन्दगी समाप्त हो गयी। कृशि आजीविका का मुख्य साधन हो गयी। जीवन स्थायी ओर स्थानबद्ध हो गया। विभिन्न कला कौ ाल का विकास होने से वैदिक लोग ऊपरी गंगा के मैदान में स्थायी ढंग से रहने लगे। मैदानी भाग में रहने वाले किसान काफी अनाज उपजाने लगे। वे अपने अनाज का कुछ भाग राजकुमारों तथा पुरोहितों को भेंट स्वरूप देने लगे।

IkLdfrd thou

शिक्षा– ि ाक्षा का स्वरूप अत्यंत ज्ञान–परक सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित था जिसमें व्यक्ति के लौकिक तथा पारलौकिक जीवन के उत्थान के लिए विभिन्न प्रकार की ि ाक्षा प्रदान की जाती थी। ऋग्वेद काल में भौतिक की अपेक्षा बौद्धिक ज्ञान का महत्व था। छान्दोग्य उपनिशद् में कहा गया है कि अक्षर को जानने और न जानने वाला दोनों कर्म करते है। किंतु विद्या तथा अविद्या दोनों भिन्न–भिन्न फल देने वाली हैं। जो कर्म विद्या श्रद्धा तथा योग से युक्त होकर किया जाता है, वही प्रबलतर होता है। ऋग्वेद में विद्या को मनुश्य की श्रेश्ठता का आधार माना गया है।बालक की सुव्यवस्थित और नियोजित ि ाक्षा का प्रारंभ ब्रहम्चर्य आश्रय में उपनयन संस्कार के प चात् होता था। भाूद्रों के अतिरिक्त अन्य तीनों वर्णो के लिए उपनयन संस्कार अनिवार्य था। प्रायः छात्र उपनयन संस्कार के प चात् गृह त्याग कर गुरूकुल में ि ाक्षा ग्रहण करता था। वहॉ सदाचार और सदवृति की ि ाक्षा दी जाती थी उपनिशदों में गुरूकुल के स्थान पर आचार्य कुल का प्रयोग किया गया है। वैदिक युग में आचार्य अपने ि ाश्यों को स्नेह करता था तथा ि ाश्य भी उसे देव–तुल्य समझते थे। उपनिशद्कालीन विद्वान आचार्य निस्पृह, तप ाील और भौतिक सुख से अलग थे। पिप्पलाद और आचार्य कणाद इसके उदाहरण है। पिप्पलाद स्वयं पीपल वृक्ष के फल खाकर तथा कणाद कण खाकर अपना जीवन यापन करते थे। आचार्य के यहॉ ि ाश्य कभी–कभी जीवन पर्यन्त रहकर ज्ञानार्जन में लगा रहता था।

वैदिक युग में ि ाक्षा प्राप्ति के लिए कोई वि ोश भेदभाव नहीं था। उपनिशद् काल में ि ाक्षा प्रदान करने और ि ाक्षा प्राप्त करने में व्यक्ति में ऊॅच–नीच का विचार नहीं किया जाता था। ि ाश्य की योग्यता, विनम्रता और ग्राह्यता का ध्यान में रखकर उसका चुनाव किया जाता था।

छात्रों को वेदों की ि ाक्षा दी जाती थी। मंत्रों तथा सूक्तों को कंठस्थ किया जाता था। उत्तर वैदिक काल में तीन वेदों सहित उपनिशद् साहित्य का विकास हुआ। वेदांगों (ि ाक्षा,कल्प,निरूक्त, छन्द, व्याकरण और ज्योतिश) का भी महत्व बढ़ा। पारायण (पाठ) पर प्रायः अधिक बल दिया जाता था। वेदों का उच्चारण उदान्त रूप में किया जात था। अनुदान उच्चारण करने पर गालों पर थप्पड़ लगती थी। देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूत–विद्या, देवजन–विद्या, कल्प द ान आदि प्रमुख पाठय विशय थे। वृहदारण्यक उपनिशद से इतिहास, उपनिशद, व्याख्यान आदि ि ाक्षा का बोध होता है। ि ाक्षा समाप्ति पर गुरू ि ाश्य को उपदे ा देते थे "सदा सत्य बोलना अपने कर्तव्य का पालन करना, वेद पढते रहना, ग्रहस्थ बनना।"

कला– वैदिक साहित्य से आर्यो के ग्राम और नगर के ऐतिहासिक विकास का ज्ञान प्राप्त होता है। पूर्व वैदिक युग में उनका कोई नगर विकसित नहीं हो सका था और उन्होंने अपने को ग्रामों से ही संबद्ध रखा था। अपने प्रारंभिक प्रसार में उन्होंने पि चमी प्रदे ा में अनेक ग्राम बसाए। उत्तर वैदिक काल के अंत में नगरों का निर्माण प्रारंभ हो गया था और लोग अपने को "नगारिन्" भी कहते थे। नगर निर्माण में एक वि ोश तकनीक अपनायी जाती थी जिसके अनुसार नगर की नींव पड़ती थी तथा सड़के, भवन, उद्यान, नदी, तडाग् आदि का होना आव यक था। पुराणों में नारी राजप्रासादों और भवनों की भव्यता का चित्रण किया गया है। वि वकर्मा को वास्तुकला का वि ोशज्ञ माना गया था। श्रीपुर नामक नगर का निर्माण वि वकर्मा और मय जैसे ि ाल्प–भास्त्रियों ने किया था।

संभवतः लेखन कला का जन्म हो चुका था। व्याकरण और छंद ाास्त्र जैसे ग्रंथों के प्रवचन से अनुमान लगया जाता है कि लोग लेखन कला से अवगत थे। भोजपत्र, कमलपत्र आदि पर मयूरपंख से लिखा जाता था।

io oSfndky rFkk mÙkj oSfnd dky e fofHkUurk

पूर्व वैदिक युग में ऋग्वेद की रचना हुई। इसलिए इस युग को ऋग्वैदिक युग भी कहा जाता है किन्तु उत्तरवैदिक युग में तीन वेद, छह द ािन एवं सूत्रग्रन्थों की रचनाएं हुई। वैदिक साहित्य की वि ोश प्रगति हुई। ऋग्वेद के बाद के वेदों में जो कुछ मिलते हैं वे उत्तर वैदिक युग में लिपिबद्ध किये गये। लेखन कला का विकास इसी युग में हुआ।

ऋग्वेद काल में कबीलाई संगठन थे। कबीले का मुखिया अर्थात् राजन प्रारम्भ में कबीले के नाम से ही जाना जाता था परनतु उत्तर वैदिक काल में राज्य इसके वास्तविक अर्थ में उभर कर आ गया था तथा राजतन्त्र व गणतन्त्र राज्यों का उदय हो चुका था। ऋग्वैदिक युग के अंत में छोटे–छोटे राज्यों की स्थापना हो रही थी तथा राजा के अधिकारों पर पुरोहित मंत्री, सभा, समिति एवं सामाजिक–नियम नियंत्रण के रूप में थे। किन्तु उत्तर वैदिक युग में छोटे–छोटे राज्य साम्राज्य में परिणत हो रहे थे और राजा के अधिकारों में वि ोश प्रगति हुई।

ऋग्वैदिक काल में घुमन्त कबीलाई जीवन होने के कारण अभी राज्य का पूर्ण निर्माण नही हो पाया था। इस काल की राज्यव्यवस्था को आधराज्य (Proto State) कहा जा सकता है।

ऋग्वैदिक युग में आर्य केवल उत्तर भारत में अफगनिस्तान से लेकर गंगा घाटी तक फैले हुए थे। किंतु उत्तरकालीन युग में हिमालय में विंध्याचल पर्वत के दक्षिण तक फैल गए थे। उत्तर वैदिक युग में राजाओं के अधिकारों से प्रतिबंध खत्म हो गए।

ऋग्वैदिक युग में आर्यों का समाज ग्रामीण था और तीन–तीन पीढियों के लोग एक साथ परिवार में रहते थे। समाज आर्य और अनार्य दो भागों में विभक्त था और सबको इच्छानुसार कार्य करने की छूट थी। स्त्रियों का समाज में आदर होता था। पुरूश तथा स्त्री आभूशण प्रिय थे। मांस और सोमरस का प्रयोग होता था। परन्तु उत्तर वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था, वर्णाश्रम धर्म, जीवन द ािन एवं स्त्रियों की द ाा में आमूल परिवर्तन आए। समाज में ब्राह्मण, श्रत्रिय, वै य तथा भाूद्र का जन्म कर्ममूलक माना गया । इन सभी वर्ग के लोगों का पारस्परिक संबंध जटिल हो गया। धार्मिक वि वासों में आडम्बर आ गया। यज्ञ और बलि की प्रथा उग्र रूप में आ गयी। समाज और राजनीति में ब्राह्मणों का बोलबाला हो गया। सबसे निम्न स्थान भाूद्रों का था। वे देय दृश्टि से देखे जाने लगे। इसी तरह आश्रम व्यवस्था का भी सूत्रपात हुआ। इसके अंतर्गत लोगों को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास धर्म का पालन करना पड़ता था। ये चारों आश्रम पच्चीस–पच्चीस वर्श के होते थे। इस प्रकार आर्य सौ वर्श के आयु की कामना करते थें। कालांतर में स्त्रियों की द ाा खराब हो गयी तथा उन्हें भोग की वस्तु समझा जाने लगा। उन्हें राजनीति तथा ि ाक्षा से दूर रखा जाने लगा।

ऋग्वैदिक काल में पशुचारण कबीलाई अर्थव्यवस्था प्रमुख थी परनतु कृषि कार्य भी अर्थव्यवस्था का आधार था। धीरे–धीरे वे लोहार, सोनार कुम्हार, बढई, चर्मकार आदि का काम करने लगे। उत्तर वैदिक युग में कृशि प्रधान आत्मनिर्भर ग्राम अर्थव्यवस्था थी। इस काल में कृषि में महत्वपूर्ण उन्नति हुई तरह–तरह के अन्न उपजाए जाने लगे। खाद का प्रयोग भाुरू किया गया। अधिकाधिक भूमि कृशि योग्य बनाई गई। आर्यों ने तरह–तरह के उद्योग घंधों का विकास किया और समाज में लोग कई तरह के व्यवसाय करने लगे। लोग ि ाकार, रथ–धावन, घुड़दौड़, नृत्य एवं संगीत के भौकीन थे। वे जुआ खेलते तथा मदिरापान करते थे। किंतु उत्तर वैदिक युग में आर्यों में नाटक खेलना भाुरू किया और तरह–तरह के वाद्य यंत्रों का आविश्कार किया। ऋग्वैदिक आर्यों की तरह इनकी वे ा–भूशा साधारण नहीं रही। अब वे रे ामी तथा रंगीन वस्त्र, विभिन्न प्रकार के आभूशण, ऊनी वस्त्र तथा सौदर्य प्रसाधनों का उपयोग करने लगे थे।

उत्तर वैदिक काल में भारतीय विचारों की ठोस बुनियाद पड़ी। इसी काल में समाज संस्थान की नींव पड़ी। जाति भेद प्रारंभ हुआ और आर्यों की पवित्रता अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए नियम और बंधन बनाए जाने लगे। इस काल में दास कन्या कभी भी आर्य की पत्नी नहीं हो सकती थी। भूद्र के साथ विवाह संबंध घृणित माना जाता था। आर्यों में भी विभिन्न श्रेणियों थी रथेष्ट या रथी साधारण पद्धति से हैसियत में ऊँचे थे तथा राजकीय पदों पर उन्हीं की नियुक्ति अधिकतर होती थी। राजन्यों का दर्जा उनसे भी ऊँचा था। राजन्यों ओर खेश्टों को मिलाक श्रत्रियों की श्रेणी बनती थी। जाति परिवर्तन कठिन था। उच्चवर्ग के लोग नीची जाति में विवाह कर सकते थे किंतु नीची जाति वाले लोग उच्च वर्ग में विवाह नहीं कर सकते थे। इस काल में ही वर्णाश्रम वर्ण–व्यवस्था परिपक्व हुई। वर्णों का आधार कर्म न होकर जन्म हो गया। ब्राह्मण, राजन्य, वै य तथा भूद्र के अलावा पौलकस, चांडाल, निशाद, उग्र, मागध आदि जातियों के भी उल्लेख मिलता है।

पूर्व वैदिक काल में आर्यों का धर्म–कर्म बहुत ही सरल था। देव–पूजा और पितृ–पूजा ही वैदिक धर्म के मुख्य अंग थे। मूर्तियों के होने का कोई ठोस प्रमाण नहीं है। धर्म आस्था प्रधान एवं सरल था। वर्शा, विधुत, धूप, सूर्य आदि पूज्य थे। नैतिक आद र्श और मानव चरित्र पर वि ोश जोर दिया जाता था। हिरणगर्भ सूक्त में एके वरवाद का प्रतिपादन किया गया है। ऋग्वेद में बहुदेववाद, एकात्मवाद एवं एके वरवाद के प्रमाण मिलते है। आर्य लोग गृह–त्याग और संन्यास के पक्षधर नहीं थे। वे न तो पलायनवादी थे और न उनमें मोक्ष प्राप्ति की आतुरता की। यज्ञ की प्रधानता थी। यज्ञ हिंसात्मक तथा अहिंसात्म दोनों होता था। उत्तर वैदिक युग में धर्म में काफी अंतर आ गया। याज्ञिक कर्मकांड की जटिलता बढ गई। आडम्बर बढने लगा । राजसूय, बाजपेय एवं अ वमेघ यज्ञ प्रधान हो गए। यज्ञों में प ुबलि की प्रथा बढ़ गई। राजा वसु के समय में इस पर बड़ा विवाद हुआ। ऋशि अन्न की आहुति देना चाहते थे और देवता बकरे माँगते थे। अब मुक्ति कर्मवाद एवं पुनर्जन्म पर वि ोश जोर दिया जाने लगा। मन्त्रों का महत्व बढने लगा। पुरोहितों के मान और प्रतिशठा में वृद्धि हुई। यज्ञों की विधि भी जटिल हो गई। इन्द्र, वरूण और पृथ्वी का स्थान प्रजापति, विश्णु एवं ि ाव ने ले लिया। रूद्र की महिमा भी बढ़ गई। आडम्बर बहुत बढ़ जाने के कारण यज्ञ करना धनाढ्यों का काम हो गया। ये यज्ञ पुरोहितों द्वारा होते थे। इसके फलस्वरूप पुरोहितों की एक श्रेणी बनती गई। श्राद्ध की प्रथा पहले–पहल दत्तात्रेय ऋशि के पुत्र निमि ने भुारू की थी। अंधवि वास की प्रवृन्ति बढने लगी। जादू–टोने ओर भूत–प्रेत में लोगों का वि वास होने लगी। ि ाव को अब महादेव कहा जाने लगा। कर्मकांड के विकास के तथा पुरोहितों की संख्या बढ़ गई। बौद्दिक चिंतन आगे बढ़ा। ाडद र्नों (सांख्य, योग, न्याय, वै ोशिक, पूर्व एवं उत्तर मिमांसा) का बीजारोपण भी इसी काल में हुआ। भागवत सम्प्रदाय के मूल में जो सिंद्धात प्रतिपादित है उनका भी बीजारोपण इसी काल में हुआ।

rF; ,d nf"V e¢ ¼_Xofnd dky½

(i) çkphu ufn;k¡

प्राचीन नाम	आधुनिक नाम
1. पुरूश्णी	रावी
2. विपा ाा	व्यास
3. वितस्ता	झेलम
4. अस्किनी	चेनाब
5. शतुद्री	सतलज
6. सदानीरा	गंडक
7. दूशद्ती	धग्धर
8. सुवास्तु	स्वात

(ii) vk;ksa dk ewy fuokl&

विद्वान **मत**

1.	मैक्स मूलर	मध्य एि ाया
2.	तिलक	उत्तरी घ्रुव
3.	गाइल्स	डेन्यूब नदी घाटी, हंगेरी
4.	पेन्का	जर्मनी
5.	दयानंद सरस्वती	तिब्बत
6.	एल.डी. कल्ला	क मीर
7.	राजबली पांडेय	मध्य दे ा

(iii) ऋग्वैदिक शब्द vFk

1.	उर्वरा	जुते हुए खेत
2.	लांगल	हल
3.	बृक	बैल
4.	कीनां ा	गोबर की खाद
5.	पर्जन्य	बादल
6.	अवत	कुँआ
7.	ब्रीही	चावल (धान)
8.	गव्य	गाय का चारागाह
9.	भुान्ध्यव	ऊन
10.	गोहन	अतिथि
11.	दुहित्री	पुत्री
12.	अघन्य	गाय
13.	गविश्ठी	युद्ब
14.	अजा	बकरी

तथ्य एक दृष्टि में (उत्तर वैदिक dky½

(I) दर्शन व रचचिता

	दर्शन	रचयिता
1.	सांख्य	कपिल
2.	योग	पतंजलि
3.	न्याय	गौतम
4.	पूर्व मीमांसा	जैमिनी
5.	उत्तर मीमांसा	बदरायण
6.	वै ोशिक	कणाद
7.	चर्वाक द र्िन	चर्वाक

(II) आर्यों के 5 महायज्ञः—

1. ब्रहम्यज्ञ : ऋशियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए

2. देवयज्ञ : देवताओं के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए
3. पितृयज्ञ : पूर्वजो के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए
4. मनुश्ययज्ञ : अतिथि सरकार से संबंधित
5. भूत यज्ञ : समस्त जीवों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए

(iv) षोडश संस्कार :

1. गर्भाधान	2. पुसवन
3. सीमन्तोत्रयन	4. जातकर्म
5. नामाकरण	6. निश्क्रमण
7. अत्रप्रा ान	8. चूड़ाकरण
9. कर्णभेदन	10. विधारम्भ
11. उपनयन	12. वेदारंभ
13. के ाोन्त	14. समावर्तन
15. विवाह	16. अन्तयेश्टि

(IV) चार पुरूषार्थ–

1. धर्म
2. अर्थ
3. काम
4. मोक्ष

(V) आठ विवाह–

1. ब्राह्म विवाह – वेदज्ञ और भीलवान वर का कन्या के पिता द्वारा चयन और उससें विवाह।
2. दैव विवाह – यज्ञ कराने वाले पुरोहित से कन्या का विवाह।
3. आर्श विवाह – कन्या का पिता एक जोड़ी गाय और बैल के बदले कन्या का दान।
4. प्राजापत्य विवाह – कन्या का पिता कन्या देते समय यह आदे ा देता है कि दोनों साथ– साथ मिलकर सामाजिक व धार्मिक कर्तव्यों का निर्वाह करें।
5. आसुर विवाह – कन्या का पिता, धन लेकर कन्या का विवाह करता है।
6. गन्धर्व विवाह – प्रेम विवाह
7. राक्षस विवाह – बलपूर्वक कन्या का अपहरण कर उससे विवाह।
8. पै ााच विवाह – वर द्वारा छल–बल से कन्या के भारीर पर अधिकार।

v/;k; 5

lkekftd fodkl

ऋग्वैदिक और उत्तर वैदिक काल में समाज में अनेक परिवर्तन हुए। उसके बाद के काल में हुए सामाजिक परिवर्तनों का अध्ययन हम निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत करेंगे।

- *वर्ण व्यवस्था*
- *जाति व्यवस्था*
- *विवाह*
- *संपत्ति संबंधी अधिकार*

o.kZ&0;oLFkk

व्यवसाय और समान हितों के आधार पर समाज का वर्गों में विभाजन प्रायः सभी देशों में काफी पुराने समय से पाया जाता है। ये वर्ग अपने ही वर्ग के अतंर्गत वैवाहिक संबंध स्थापित करते थे और उन्हीं की साथ खानपान का संबंध रखते थे।

इस प्रकार का वर्गीकरण भारत के बाहर अन्य अनेक प्राचीन देशों में भी पाया जाता है।

ऋग्वेद में समाज के दो मुख्य वर्गों का उल्लेख मिलता हैः आर्य वर्ण और दास वर्ण। इन दोनों वर्णों में शारीरिक और सांस्कृतिक, दोनों प्रकार के भेद थे। आर्यों ने अनार्यों के लिए निम्नलिखित विशेषण प्रयुक्त किए हैंः कृष्णत्वक्, कृष्णगर्भ, अनास। इन विशेषणों से स्पष्ट है कि ये अनार्य काले रंग के थे।

दोनों के सांस्कृतिक अंतर को प्रकट करने वाले निम्नलिखित शब्द ऋग्वेद में मिलते हैंः मृध्रवाच्, अकर्मन्, अदेवयु, अब्रह्मन्, अव्रत, अन्यव्रत, देवपीयु और शिश्नदेव।

वर्ण का शाब्दिक अर्थ रंग है। कालांतर में वर्ण का अर्थ चरित्र, स्वभाव और गुण भी हो गया। 'आर्य वर्ण' से सच्चरित्र, अच्छे स्वभाव और अच्छे गुणों वाले व्यक्ति का बोध होने लगा। 'दास वर्ण' से दुश्चरित्र, बुरे स्वभाव और दुर्गुणों वाले लोगों का।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में लिखा है कि देवताओं ने आदि पुरुष के चार भाग किएः ब्राह्मण उसका मुख था और राजन्य बाहु थे। उसकी जंघा वैश्य थे तथा शूद्र उसके पैरों से उत्पन्न हुए थे। इसका लाक्षणिक अर्थ यह लगाया गया है कि आदि पुरुष ने मनुष्य मात्र को शिक्षा देने के लिए ब्राह्मणों की सृष्टि की, शक्ति से मनुष्य मात्र की रक्षा करने के लिए क्षत्रियों की सृष्टि हुई। मनुष्यों को भोजन देने के लिए वैश्यों की उत्पत्ति हुई तथा तीन वर्णों की सेवा करने के लिए शूद्रों की। किंतु ऋग्वेद में ब्रह्म, क्षत्र और विश् तीन वर्णों का भी उल्लेख है।

ऋग्वेद के अंतिम मंडल में समाज के ब्राह्मण, राजन्य, विश् और शूद्र चारों वर्णों का उल्लेख है। जन–जातियों के नेता 'राजन्य' कहलाया। शेष व्यक्ति जिन्हें राजन्य वर्ग के संरक्षण की आवश्यकता थी 'विश्' कहलाए। अनार्य लोग आर्यों की सेवा करते **'शूद्र'** या **'दास'** कहा जाता था।

ऋग्वेद के नवें मंडल की एक ऋचा से यह स्पष्ट है कि इस समय तक व्यवसाय चुनने में किसी प्रकार का प्रतिबंध न था। इस ऋचा में एक व्यक्ति कहता है, 'मैं कवि हूं। मेरे पिता एक वैद्य थें मेरी माता आटा पीसती थी। हम सभी धन और पशु की कामना करते थे। ब्राह्मणों और क्षत्रियों का विश् लोगों की अपेक्षा समाज में अधिक आदर था किंतु उनके भी व्यवसाय पैतृक न थे। कोई भी मनुष्य किसी भी व्यवसाय को कर सकता था।

किन्तु उत्तर वैदिक काल में यज्ञों की क्रिया बहुत जटिल हो गई इसलिए ब्राह्मणों का महत्व बहुत बढ़ गया। इस काल में ब्राह्मणों का संघटन ज्ञान पर आधारित था, जन्म पर नहीं। **'शतपथ ब्राह्मण'** में स्पष्ट लिखा है कि कोई व्यक्ति ज्ञान से ब्राह्मण बनता है, जन्म से नहीं। इसी प्रकार **'शतपथ ब्राह्मण'** में लिखा हैः 'जो कोई यज्ञ करता है वह मानो प्रथम ब्राह्मण बनकर ऐसा करता है। इसका यह अर्थ है कि वैश्य भी यज्ञ के द्वारा ब्राह्मण बन सकता था। उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उत्तर वैदिक काल में भी ब्राह्मणों का संगठन अभी तक कठोर नहीं था। पुरोहित जनता के सभी वर्गों से विवाह करते थे यहां तक कि वे शूद्रों से भी पत्नियां ग्रहण करते थे।

क्षत्रियों का भी अपना अलग वर्ग था। वैश्य उस विशाल जनसमुदाय का प्रतिनिधित्व करते थे जिसमें से ब्राह्मणों और क्षत्रियों का चयन होना था। शूद्र शब्द के सीमित अर्थ में वे सभी व्यक्ति थे जो आर्यों से भिन्न थे। लेकिन उन्हें भी इस काल में वैदिक साहित्य पढ़ने और पवित्र अग्नि के पास जाने का अधिकार था। वे भी अपने शवों का दाह संस्कार करते थे।

इस काल में ब्राह्मणों का अभिमान चरम सीमा पर पहुंच गया था। उनका वर्ग विशेषाधिकार प्राप्त था। इस काल के अंत तक ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों ने जन्म के आधार पर अपना वर्गीकरण कर लिया था। शूद्रों में अधिकतर दास य दस्यु थे। उनकी स्थिति समाज में अन्य तीनों वर्णों से नीची थी। उत्तर वैदिक काल के अंत तक जन्म के आधार पर समाज चार वर्णों में स्पष्ट रूप से बंट गया था और उनके विशेषाधिकारों और उनकी निर्योग्यताओं का स्पष्ट रूप से उल्लेख कर दिया गया था।

लगभग 600 ई० पू० से 300 ई० पू०

धर्मसूत्रों में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बालकों के उपनयन संस्कार के लिए अलग–अलग ऋतुएं और अवस्थाएं निर्धारित की गई हैं जैसे कि ब्राह्मण के लिए वसंत ऋतु और 8 वर्ष, क्षत्रिय के लिए ग्रीष्म ऋतु और 11 वर्ष तथा वैश्य के लिद शरद ऋतु और 12 वर्ष। इसका यह अर्थ है कि इस काल में जन्म के आधार पर बालकों के वर्ण मान लिए गए।

इस काल में ब्राह्मणों और शूद्रों के भेद पर क्रमशः अधिक बल दिया गया। इस काल से पूर्व भी ब्राह्मणों का शूद्रों के साथ विवाह करना तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था। गौतम एक प्रसंग में कहते हैं कि मृत ब्राह्मण की संपत्ति में से शूद्र पत्नी से उत्पन्न पुत्र को वृत्ति–मात्र मिलनी चाहिए। दूसरे प्रसंग में उनका मत है कि जिस ब्राह्मण की पत्नी केवल एक शूद्र हो तो द्विजों को उसका भोजन नहीं करना चाहिए। इसका यह अर्थ है कि इस काल में भी कुछ ब्राह्मण शूद्र स्त्रियों से विवाह करते थे।

प्रारम्भ में वर्णों का आधार जन्म न था, किंतु धीरे–धीरे जन्म वर्णों का आधार बन गया और वर्ण 'जाति' में बदलने लगे।

300 ई० पू० से 300 ई० तक

महाभारत में स्पष्ट लिखा है कि ब्रह्म ने प्रारंभ में केवल ब्राह्मणों की रचना की थी। अपने कर्मों के अनुसार मनुष्य विभिन्न वर्णों में बंट गए हैं। किंतु महाभारत में ही एक अन्य प्रसंग में जाति के सिद्धान्त का प्रारंभ दिखलाई देता है। भीष्म कहते हैं कि यज्ञ के लिए प्रजापति ने चार वर्णों की सृष्टि की और उनके अलग–अलग कर्तव्य निश्चित किए किंतु सभी वर्णों के मनुष्यों को अपने वर्णन की या अपने से एक वर्ण नीचे की स्त्री से विवाह करने की अनुमति दी गई थी। उनकी संतान का वर्ण पिता का वर्ण होता था। ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण ही होता है चाहे उसकी माता ब्राह्मणी हो या क्षत्रिया। किंतु यदि माता का वर्णन पिता के वर्ण से अधिक नीचा हो तो संतान का वर्ण माता का वर्ण होता था। उदाहरण के लिए एक ब्राह्मण किसी ब्राह्मणी या क्षत्रिय कन्या से विवाह करे तो उसकी संतान ब्राह्मण कहलाती थी किंतु यदि वह वैश्या कन्या या शूद्रा कन्या से विवाह करे तो उसकी संतान क्रमशः वैश्य या शूद्र होती है।

उपर्युक्त चारों वर्णों से भिन्न वर्णों की उत्पत्ति भीष्म ने प्रतिलोम विवाह चार वर्णों की सृष्टि की और उनके अलग–अलग कर्तव्य निश्चित किए। उनके अनुसार ईश्वर ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों के अतिरिक्त किसी पांचवें वर्ण की सृष्टि ही नहीं की।

मनु के अनुसार स्रष्टा ने समस्त विश्व की रक्षा के लिए चार वर्णों की सृष्टि की और उनके अलग–अलग कर्तव्य निश्चित किए। उनके अनुसार ईश्वर ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों के अतिरिक्त किसी पांचवें वर्ण की सृष्टि ही नहीं की।

मनु ने 'वर्ण' और 'जाति' दोनों में अंतर किया है। मनु ने जाति शब्द का प्रयोग प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न संतान के लिए किया है। इस प्रकार उसने वर्णसंकर से 57 जातियों की उत्पत्ति बतलाई है। अनुलोम विवाहों की संतान का वर्ण मनु के अनुसार भी पिता का ही वर्ण होता है किंतु मातृदोष के कारण वह दोषी कहा जाता था।

वर्ण का आधार केवल व्यक्ति विशेष के गुण और कर्म नहीं रहे। महाभारत के अनुसार अध्यापन, संयम और तप ब्राह्मणों के; स्वाध्याय, लोक रक्ष, यज्ञ करना, दान देना क्षत्रियों के; स्वाध्याय, दान देना, यज्ञ करना और ईमानदारी से धन कमाना वैश्यों के ओर अन्य वर्णों की सेवा शुश्रूषा और धन का संचय न करना शूद्रों के विशिष्ट कर्त्तव्य हैं। शूद्रों का पालन–पोषण तीन अन्य वर्णों का उत्तरदायितव था। शूद्रों को भी बिना वैदिक मंत्रों के पाठ के यज्ञ करने का अधिकार था।

परंतु मनू ने स्पष्ट लिखा है कि किसी भी वर्ण के व्यक्ति को आजीविका कमाने के लिए अपने वर्ण से उच्च वर्ण का कार्य नहीं करना चाहिए। मनु ने आपत्ति के समय दस ऐसे व्यवसाय बतलाए हैं जिनको चारों वर्णों के व्यक्ति कर सकते हैं। ये दस व्यवसाय अध्ययन, शिल्पकार्य, मजदूरी, सेवा, पशुपालन, व्यापार, कृषि, संतोष, भिक्षा और ब्याज लेना है।

महाभारत में कहा गया है कि ब्राह्मणों को उनके आचरण के आधार पर ही ब्राह्मण कहा जा सकता है और यदि शूद्र सदाचारी हो तो उसे भी ब्राह्मणत्व प्राप्त हो जाता है। वही ब्राह्मण है जिसमें सत्य, दया, क्षमा, सदाचार, करुणा और त्याग के गुण विद्यमान हों। जिस शूद्र में ये गुण हों वह शूद्र नहीं हैं और जिस ब्राह्मण में ये गुण न हों वह ब्राह्मण नहीं है। इसका यह अर्थ है कि इस काल में कुछ व्यक्ति जाति के सिद्धांत को महत्त्व देने लगे थे किंतु अधिकतर व्यक्ति अब भी वर्ण के सिद्धांत को जिनमें गुण और कर्म का महत्त्व है अधिक मान्य समझते थे। जैसे परशुराम का जन्म ब्राह्मण काल में हुआ था किंतु व्यवसाय के कारण वे क्षत्रिय कहलाए।

इस काल में वर्ण का आधार व्यक्ति के गुण और उसके कर्म ही थे, जाति का विशेष महत्व न था। कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** से ज्ञात होता है कि इस काल में कुछ व्यक्ति जाति के सिद्धांत को अधिक महत्व देने लगे थे। कौटिल्य ने ब्राह्मण पिता और क्षत्रिया माता का पुत्र ब्राह्मण और क्षत्रिय पिता और वैश्या माता के पुत्र को क्षत्रिय कहा है। किन्तु वैश्या पिता और शूद्रा माता के पुत्र को शुद्र कहा है। उसने रथकार को वैश्य कहा है और उनको अपनी जाति में ही विवाह करने की अनुमति दी है। उसका भी यही मत था कि जो व्यक्ति अपने वर्ण के अनुरूप कार्य न करें उन्हें राजा को दंड देना चाहिए।

300 ई० से 700 ई०

गुप्त काल में ब्राह्मणों का प्रभुत्व अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया। समाज को चार वर्गों में बांटने का प्रयत्न किया। याज्ञवल्क्य वर्णों का जातियों में परिवर्तित करने का प्रयत्न करता है। उसके अनुसार निर्दोष विवाह के लिए माता–पिता का एक ही जाति का होना पहली शर्त है। विष्णु ने भी लिखा है कि समान वण्र वाले माता–पिता के पुत्र उसी वर्ण के होते हैं।

स्मृतिकारों ने वर्णों को जातियों में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया। इसका एक कारण यह था कि वेदों में केवल चार वर्णों का उल्लेख है और तत्कालीन समाज में अनेक जातियां थीं। यदि वे अनेक जातियों के अस्तित्व को स्वीकार करते तो वेदों को अपौरुषेय कैसे मानते। इस प्रकार उन्होंने वर्णों का निर्धारण जन्म के आधार पर किया और जाति और वर्ण में कोई अंतर नहीं रहा। इसके अतिरिक्त स्मृतिकार जन–जातियों के कबीलों और विदेशियों को भारतीय समाज का अभिन्न अंग बनाया। अतः उस वर्णों को जातियों का रूप दे दिया गया।

वराह मिहिर ने **बृहत्संहिता** में एक नगर में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के मकानों के अलग–अलग दिशाओं में बनवाने की व्यवस्था की है।

यवन, पहल्व, शक, कुषाण आदि जातियां विदेशी थीं। उन्होंने अधिकतर प्रशासन में भाग लिया अतः गुप्त काल से पूर्व ही उन्हें क्षत्रिय वर्ण में स्थान दे दिया गया। इसका यह अर्थ है कि इस काल में भी गुण और कर्म के आधार पर वर्ण निर्धारण की परंपरा कुछ अंश में विद्यमान रही।

जाति प्रथा का प्रभाव व्यवसाय के चुनाव में इतना बाधक सिद्ध न हुआ। अनेक शासक क्षत्रियेतर अर्थात ब्राह्मण और वैश्य जाति के थे। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि अनेक ब्राह्मण व्यापारी, वास्तुकार और राजकीय कर्मचारी थे। किसान, व्यापारी, पशुपालक, लुहार, बढ़ई, तेली और जुलाहे सबकी अलग जातियां बन गई थीं। उनका पैतृक व्यवसाय था। 'कायस्थ' तो इस काल तक एक जाति के रूप में परिवर्तित नहीं हुए थे। नहीं तो समकालीन स्मृतियों में उनका अन्य जातियों के साथ उल्लेख अवश्य होता। शूद्रों में भी अनेक व्यापारी, किसान और शिल्पी थे।

गुप्तोत्तर कालः कुमारिल भट्ट (लगभग 700 ई०) ने कर्म के आधार पर वर्ण के सिद्धांत की तीव्र आलोचना की। उसके अनुसार यदि वर्ण का आधार कर्म हो तो तब कोई व्यक्ति अच्छा कार्य करे तो वह ब्राह्मण हो जाएगा और जब बुरा कार्य करे तो शूद्र हो जाएगा। प्रारम्भ में वर्ण गुण और कर्म पर आधारित था परन्तु भारतीय समाज व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों के कारण कुमारिल के समय तक वर्ण जाति का पर्यायवाची शब्द हो गया था।

700 ई० के लगभग 'वर्ण' जाति का पयार्यवाची शब्द बन गया था किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि गणु और कर्म के आधार पर वर्ण निर्धारण की प्रक्रिया पूर्ण रूप से समाप्त हो गई। निःसन्देह जन्म के आधार पर वर्ण मानना प्रारम्भ कर दिया। किंतु समाज में गुण और कर्म पर आधारित वर्ण सिद्धांत का पूर्णतया त्याग नहीं किया।

इस काल में संभवतः अनेक ब्राह्मणों की वेदाध्ययन और यज्ञ कराने में अभिरुचि न थी। कुछ को शास्त्र चलाना रुचिकर प्रतीत हुआ इसलिए वे योद्धा बन गए। कुछ को कृषि कार्य या व्यापार करना अच्छा लगता था उन्हों वैश्यवृत्ति अपना ली। इसका यह अर्थ है कि कुछ ब्राह्मणों में भी जाति के अनुरूप कार्य करने का सिद्धान्त पूर्णतया सफल नहीं हुआ। गुण और कर्म पर आधारित वर्ण का सिद्धांत अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ।

राजस्थान के वैश्यों में अग्रवाल, माहेश्वरी, जायसवाल, खंडेलवाल और ओसवाल सभी अपनी उत्पत्ति क्षत्रियों से बतलाते हैं। इन पर जैन सम्प्रदाय की शिक्षाओं का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने क्षात्र धर्म छोड़कर वैश्यवृत्ति अपना ली। इस प्रकार वैश्यों पर भी इस काल में वर्ण सिद्धांत का बहुत प्रभाव पड़ा।

शूद्रों का तो अपना कोई संगठन था ही नहीं। उनमें तो अधिकतर पैतृक व्यवसाय करते ही थे। इसलिए उनके वर्गीकरण में तो वर्ण सिद्धांत का प्रभाव पूर्ण रूप से पड़ा। शिल्पियों और द्विजों की संस्कृति से हीन सांस्कृतिक स्तर वाले सभी व्यक्तियों को, जिनकी अपनी अलग श्रेणियां थीं, शूद्र कहा गया।

वर्ण व्यवस्था में आनुवंशिकता और जन्म को अधिक महत्व नहीं दिया जाता है। इसका यह परिणाम होता है कि व्यक्ति विशेष अपने विशेषाधिकारों को प्राप्त करने के लिए अत्यधिक प्रयत्नशील रहता है और अपने कर्तव्यों को पूरा करने के लिए प्रयत्न नहीं करता। जाति शब्द का प्रयोग सबसे पहले मिलता है। स्मृतियों में बहुधा वर्ण और जाति अपने मौलिक अर्थों में प्रयुक्त नहीं किए हैं।

सभी स्मृतिकारों ने इस बात पर जोर दिया है कि राजा को सब व्यक्तियों को उनके वर्ण के लिए उपयुक्त कर्तव्यों को करने के लिए बाध्य करना चाहिए और जो व्यक्ति ऐसा न करे उन्हें दण्ड देना चाहिए। वर्णसंकर को रोकना भी राजा का कर्तव्य लिखा है। वैदिक काल में ही कुछ व्यक्तियों में दूसरों से अलग रहने ओर उनसे अपने को श्रेष्ठ समझने की भावना का उदय हो गया था। इन्हीं दो भावनाओं से कालांतर में अनेक जातियां और उपजातियां बनती चली गई। भौगोलिक कारणों से भी अनेक उप–जातियां बनीं।

सामाजिक कार्यों को करने के लिए भिन्न–भिन्न प्रकार के गुण, योग्यता और प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। उदाहरण के रूप में ब्राह्मण का प्रमुख कर्तव्य समाज की बौद्धिक और आध्यात्मिक संस्कृति को सभी दोषों से मुक्त रखना और इस बौद्धिक और आध्यात्मिक संस्कृति को आगे आने वाली पीढ़ियों को सौंपना था। इसी आधार पर ब्राह्मणों के कुछ विशेषाधिकार थे जैसे कि समाज में उनकी प्रतिष्ठा या राजा तक आसानी से पहुंच। उससे स्वार्थ–त्याग और समाज–सेवा की भावना की सबसे अधिक आशा की जाती थी। इसी प्रकार सब वर्णों के कर्तव्य थे और उन कर्तव्यों की पूर्ति पर ही उनके अनुरूप उन्हें कुछ विशेषाधिकार प्राप्त होते थे। वर्ण व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति को वे कर्तव्य सौंपना था जो उसके गुणों के अनुरूप हों। वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मण को धन–संचय करने की अनुमति न थी। क्षत्रिय भी उतने धन संचय कर सकता था जितना कि देश और समाज की रक्षा के लिए आवश्यक था। वैश्य धन–संचय करता था किन्तु केवल अपने लिए नहीं बल्कि समाज की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए। वर्ण–व्यवस्था में

एक वर्ण को दूसरे से श्रेष्ठ समझने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि यह कहा गया है कि जन्म के समय प्रत्येक व्यक्ति शूद्र होता है। उसकी प्रतिष्ठा इस बात पर निर्भर थी कि वह किस सीमा तक समाज की उन्नति में अपना योगदान करता है।

जाति–व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें जन्म के सिद्धांत को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया जाता है। वर्ण–व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के कर्तव्य उसकी सहज मनोवृत्ति और उसके गुणों पर आधारित थे। इसलिए वर्तमान काल में भी वर्ण का आधार किसी व्यक्ति का कार्य या उसकी कार्यक्षमता होनी चाहिए न कि उसका जन्म।

tkfr iFkk% mRifÙk vkj fodkl

जाति का आधार जन्म है अर्थात बालक की वही जाती होगी जो उसके माता–पिता की। 'जाति' की परिभाषा कठिन है, क्योंकि इसका स्वरूप बराबर बदलता रहा है किंतु जाति की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं।

1. व्यक्ति की जाति उसके जन्म से निर्धारित होती है।
2. एक जाति के व्यक्ति अपनी ही जाति में विवाह करते हैं
3. प्रत्येक जाति के लोग समाज के कुछ सीमित क्षेत्र में ही खाद्य और पेय का संबंध रखते हैं।
4. प्रत्येक जाति के लोग कुछ परंपरागत व्यवसायों को ही करते हैं।
5. समाज के अंदर ऊँच–नीच के क्रम से प्रत्येक जाति पूर्वनिश्चित है।
6. प्रत्येक जाति के अपने नियम हैं। जिनका पालन न करने वाले व्यक्तियों को जाति की पंचायत या सरपंच दंड देता है।

ये सभी विशेषताएं सब जातियों में समान रूप से नहीं मिलतीं। जैसे कि अधिकतर ब्राह्मण और क्षत्रिय जातियों में पंचायत और मुखिया नहीं पाए जाते।

tkfr iFkk dh mRifÙk vkj fodkl

ऋग्वेद में आर्यों के समाज के चार वर्णों में विभक्त होने के प्रमाण मिलते हैं किंतु इस काल में किसी भी वर्ण का व्यक्ति कोई भी व्यवसाय कर सकता था। **ऋग्वेद** में खान पान के विषय में भी वर्ग के आधार पर कोई प्रतिबंध नहीं था। विवाह भी सभी वर्णों के व्यक्ति एक दूसरे के साथ करते थे। समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सभी वर्णों की स्थिति समान थी। इसका यह अर्थ है कि ऋग्वेदिक काल में समाज में चार वर्ग थे, जो व्यक्तिगत विशेषताओं पर आधारित थे। उनमें जन्म का कोई महत्व न था अर्थात जाति की उत्पत्ति अभी नहीं हुई थी।

उत्तर वैदिक काल में बड़े राज्यों के उदय से क्षत्रियों का महत्व बढ़ा। धार्मिक कृत्य जटिल हो गए, इसलिए ब्राह्मणों की समाज में प्रतिष्ठा बढ़ी। अनेक व्यवसाय पैतृक हो गए जिससे श्रेणियों का उदय हुआ। इस वर्ग के संगठित होने से इसकी शक्ति बढ़ी। पारिवारिक परंपराओं के कारण गोत्रों का महत्व बढ़ा। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही श्रेष्ठ होने का दावा करते थे। चारों वर्णों की स्थित समान न रही। किन्तु शूद्र का कार्य सेवा करना था। किंतु वह यदाकदा यज्ञ संबंधी क्रियाओं में भी भाग ले सकता था। वर्णों के कल्याण के लिए प्रार्थना की गई है। उच्च तीन वर्णों में वैवाहिक संबंध होते थे किंतु साधारणतया अनुलोम विवाह जिसमें पुरुष का वर्ण स्त्री के वर्ण से ऊंचा होता था, अच्छा समझा जाता था। वैश्य दासों से अधिक संपर्क रखते थे अतः वे अपनी पवित्रता न रख सके। समाज में ब्राह्मणों और क्षत्रियों की अपेक्षा वैश्यों की स्थिति कुछ हीन हो गई। आर्य शूद्र स्त्री से विवाह कर सकता था किंतु शूद्र पुरुष आर्य स्त्री से विवाह नहीं कर कसता था। उच्च वर्ण के व्यक्तियों का शूद्र कन्या से विवाह करना भी निंदनीय समझा जाने लगा।

'बृहदारण्यक उपनिषद' में वर्णों की उत्पत्ति का कारण समाज का कल्याण बताया गया है। **'छांदोग्य उपनिषद'** में लिखा है कि यदि कोई व्यक्ति पूर्व जन्म में अच्छे कार्य करता है तो उसका जन्म तीन उच्च वर्णों में होता है और जो व्यक्ति दुराचारी होते हैं वे कुत्ता, सूअर या जाति बहिष्कृत व्यक्ति के रूप में जन्म लेते हैं।

वैदिक साहित्य में जाति शब्द नहीं मिलता है किंतु ऐसे वर्गों के नाम मिलते हैं जो परवर्ती काल में जातियां बन गई जैसे कि उग्र, क्षत्तृ, सूत, पौल्कस, चांडाल, आयोगव, पांचाल और वैदेह आदि। उग्र शब्द **ऋग्वेद** में शक्तिशाली पुरुष

के अर्थ में, **बृहदारण्यक उपनिषद** में प्रशासनिक अधिकारी के अर्थ में और वेदोत्तर काल के साहित्य में एक जाति में अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। **बृहदारण्यक उपनिषद** में पौल्कस का उल्लेख चांडाल के साथ हुआ है। चांडाल को **छांदोगय उपनिषद** में कुत्ते और सूअर के समकक्ष बतलाया गया है। पौल्कस और चांडाल दोनों अनार्य जातियां थीं। किंतु इस काल में जाति की तीन प्रमुख विशेषताएं अर्थात जन्म से जाति का निर्धारण, अंतरजातीय विवाहों पर और खान पान के विषय में प्रतिबंध विद्यमान न थे।

वैदिककाल की समाप्ति से पूर्व ही चांडाल जैसी नीच जातियों का विकास हो चुका था। इस काल की समाप्ति से पूर्व ही शिल्पों और कलाओं के आधार पर अनेक उपजातियां बन चुकी थीं।

लगभग 600 ई० पू० से 300 ई० पू०

धर्मसूत्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस काल में वर्ण जातियों परिवर्तित होने लगे थे। व्यक्ति का वर्ण साधारणतया उसके जन्म के आधार पर निर्धारित किया जाता था। पुरोहितों की शक्ति बहुत बढ़ गई। धर्मसूत्रों में ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ वर्ण माना गया है और उसके विशेषाधिकारों का वर्णन किया गया है, जैसे कि उनको अनेक करों से मुक्त कर दिया गया। राजाओं पर पुरोहितों का बहुत प्रभाव था इसलिए ब्राह्मणों का प्रभाव बहुत बढ़ गया। आपस्तंब ने यह भी लिखा कि राजा को उन सब व्यक्तियों को दंड देना चाहिए जो वर्ण–धर्म का उल्लंघन करें। ब्राह्मणों को तीन अन्य वर्णों क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों से श्रेष्ठ कहा गया है। धर्मसूत्रों में तीन अन्य वर्णों क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों से श्रेष्ठ कहा गया है। धर्मसूत्रों में तीन उच्च वर्णों की स्थिति शूद्रों की स्थिति से निश्चय ही अच्छी है किंतु यह अंतर जन्म के आधार पर न होकर सांस्कृतिक अधिक था। धर्मसूत्रों ने तीन उच्च वर्णों को द्वि–जाति कहा है क्योंकि उनका उपनयन संस्कार होता था किंतु शूद्रों को एक–जाति कहा है इसलिए उनका यह संस्कार नहीं होता था। इन तीनों वर्णों के विशेष कर्म इस प्रकार हैंः ब्राह्मण के–अध्यापन, यज्ञ कराना और दान स्वीकार करना, क्षत्रिय के–सब प्राणियों की रक्षा, न्याय के अनुसार दंड देना, विद्वान ब्राह्मणों और आपत्ति में फंसे अन्य व्यक्तियों का पालन, भिक्षुओं का भरण पोषण और युद्ध के लिए तैयार रहना, राज्य की रक्षा के लिए कर इकट्ठा कराना और युद्ध में मृत्यु पर्यन्त डटे रहना, वैश्य के–कृषि, वाणिज्य, पशुपालन और ब्याज पर रुपया उधार देना। गौतम ने क्षुधा–पीड़ित ब्राह्मयण को शूद्र कर्म करने की भी अनुमति दी है। इस काल के ब्राह्मण सभी वर्णों के कार्य करते थे। 'दश ब्राह्मण जातक' से हमें ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों में कुछ वैद्य, कुछ गाड़ी चलाने वाले, कुछ कर वसूल करने वाले, कुछ भूमि खोदने वाले, कुछ व्यापारी, कुछ किसान, कुछ शकुनों का अर्थ बताने वाले, कुछ दंडपाशक, कुछ शिकारी और कुछ निम्न स्तर के राजकीय कर्मचारी थे। ये ब्राह्मणों के कर्तव्य न थे। इसका यह अर्थ है कि इस काल में व्यवसायों के चुनाव पर प्रतिबंध न था।

सूत्र–काल में उत्तर भारत में ब्राह्मणों के रीति रिवाजों दक्षिण भारत के ब्राह्मणों के रीति रिवाजों से भिन्न थे। क्षत्रियों की स्थिति लगभग ब्राह्मणों के समकक्ष थी किंतु वे अब पुरोहित नहीं हो सकते थे। बौद्ध ग्रंथों में क्षत्रिय को सर्वश्रेष्ठ जाति कहा है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि बौद्ध तथा जैन दोनों धर्मों के प्रवर्तकों, गौतम बुद्ध तथा महावीर, का जन्म क्षत्रिय जाति में हुआ था, उच्च बौद्धिक स्तर ओर राजनीतिक शक्ति के कारण समाज में क्षत्रियों की बहुत प्रतिष्ठा थी। परंतु जातक कथाओं से ज्ञात होता है कि क्षत्रियों में भी कुछ अन्य व्यवसायों में लगे थे। उनमें से कुछ कुम्हार, माली, रसोइये आदि का काम करते थे। जैन ग्रंथों में भी ब्राह्मणों के प्रति असम्मान प्रदर्शित किया गया है। इसका अर्थ है कि समाज में चार वर्ण चार जातियों में बदल गए थे।

इस काल में वैश्यों की स्थिति गिर रही थी क्योंकि उनके शूद्रों के साथ घनिष्ठ संबंध थे किंतु ब्राह्मणों और क्षत्रियों की स्थिति से उनकी स्थिति में अधिक अंतर न था। बौद्ध ग्रंथों में वैश्यों के लिए अधिकतर 'गृहपति' शब्द का प्रयोग किया गया है। समस्त उद्योगों और व्यापार पर उनका पूर्ण प्रभुत्व था। धनी गृहपति सेट्ठि कहलाते थे किंतु निर्धन होने पर वे भी कुम्हार और दर्जी का व्यवसाय करके अपना निर्वाह करते थे। जो गृहपति निर्धन हो जाते थे वे अन्य अन्य व्यक्तियों की नौकरी करके या शाक–फल बेचकर अपना निर्वाह करते थे किंतु वे अपनी जाति से निकाले नहीं जाते थे।

गृहसूत्रों में तीन उच्च जातियों के बालकों के चूड़ाकर्म (मुंडन) और उपनयन आदि के संस्कारों के लिए अलग अलग अवस्थाएं निर्धारित की गई हैं। उपनयन संस्कार के समय तीनों वर्णों के बालकों की पोशाक, कौंधनी और दंड भी अलग अलग पदार्थों के बनाए जाते थे। अब तीनों वर्णों में पहले की अपेक्षा पर्याप्त अंतर हो गया था।

जाति के अंतर का प्रभाव कानून पर भी पड़ा। एक ही अपराध के लिए ब्राह्मण को सबसे कम दंड, क्षत्रिय को उससे अधिक, वैश्य को क्षत्रिय से अधिक और शूद्र को वैश्य से अधिक दंड दिया जाता था। जैसे कि गौतम (400 ई० पू०) के अनुसार चोरी करने पर शूद्र को वैश्य से दूनी सजा मिलनी चाहिए। शूद्रों से आशा की जाती थी कि वे पवित्रता, सत्यता, नम्रता से अपना जीवन व्यतीत करें। उनके कर्तव्यों में तीन उच्च जातियों की सेवा, संयम से जीवन बिताना, प्रतिदिन स्नान करना, अपने आश्रित व्यक्तियों का भरण–पोषण और श्राद्ध करने का उल्लेख है। वे नाई, धोबी, चित्रकार, बढ़ई और लुहार आदि का व्यवसाय करते थे। यदि अस्वस्थता आदि के कारण कोई शूद्र अपना कार्य न सका तो उसका स्वामी उसका भरण–पोषण करता था। शूद्र भी मुसीबत के समय अपने स्वामी की तन, मन, धन से सेवा करता था।

धर्मसूत्राों से विदित होता है कि आर्य शूद्रों का बनाया हुआ भोजन करते थे किंतु ब्राह्मण नहीं। इसका यह अर्थ है कि क्षत्रिय और वैश्य शूद्रों के वैवाहिक संबंध होते थे किंतु इस काल के अंत में यह अत्यंत निंदनीय कार्य समझा जाने लगा। इस समय शूद्र दो वर्गों में बंट गएः एक वे जिन्हें पाणिनि ने अनिरवसित अर्थात अबहिष्कृत कहा है। उच्च जाति के लोग जब इन्हें अपने बर्तनों में भोजन कराते थे तो उनके बर्तन अपवित्र नहीं होते थे। दूसरे निरवसित जिनको भोजन कराने से द्विजों के पात्र अपवित्र हो जाते थे। बहिष्कृत शूद्रों में अनेक अनार्य जातियों जैसे यवन और कांबोजों का भी समावेश कर दिया गया।

इन चार वर्णों या जातियों के अतिरिक्त कुछ व्यक्ति ऐसे थे जिन्हें आर्यों के समाज का भाग नहीं समझा जाता था। बौद्ध ग्रंथों में उन्हें हीन–जाति कहा गया है। इनमें पांच प्रमुख थींः चांडाल, वेण, निषाद, रथकार और पुक्कुस। चांडालों की उपस्थिति में वेद पाठ करना मना था किंतु वे अन्त्येष्टि संस्कार में आहुतियां दे सकते थे। वे शहर के बाहर रहते थे, उनसे स्पर्श करना या उनकी ओर देखना पाप समझा जाता था।

हीन–जातियों में कुछ तो अनार्य जातियां थीं जो सांस्कृतिक दृष्टिकोण से आर्यों से हीन थीं। कुछ ऐसे व्यवसाय करती थी जिनमें अधिक शारीरिक श्रम की आवश्यकता थी। किंतु इस काल में भी जातिप्रथा में इतनी संकीर्णता नहीं आई थी जितनी कि बाद में आई। तीन उच्च वर्णों के व्यक्ति अंतरजातीय विवाह करते थे और खानपान में उनमें किसी प्रकार का प्रतिबंध न था। जिन व्यक्तियों को जाति के नियमों का पालन न करने के कारण जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था, वे भी प्रायश्चित के रूप में निर्धारित धार्मिक कृत्यों को करने पर पुनः अपनी जाति में सम्मिलित हो सकते थे।

लगभग 300 ई० पू० से 200 ई०

कौटिल्य और मनु ने चारों वर्णों के प्रायः वे ही सब कर्तव्य बतलाए हैं जिनका उल्लेख धर्मसूत्रों में है। कौटिल्य ने तीन उच्च जातियों के तीन समाज कर्तव्यः वेदों का अध्ययन, अध्यापन और यज्ञ करना बतलाए हैं। ब्राह्मणों को यज्ञ कराना, दान देना और दान ग्रहण करना; क्षत्रियों को जीवन निर्वाह के लिए शस्त्रों का प्रयोग और प्राणियों की रक्षा; और वैश्यों के कृषि, पशुपालन और व्यापार विशिष्ट कर्त्तव्य बतलाए हैं। शूद्र के चार कर्तव्यः द्विजों की सेवा, धन कमाना, कला और शिल्प बतलाए हैं। **महाभारत** और **गीता** में भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए गए हैं। ब्राह्मण का समाज में इतना आदर उसके आचरण समााज में क्षत्रियों का पर्याप्त आदर था। इस काल की दूसरी प्रमुख घटना यवन, पहल्व, शक और कुषाण जैसी अनार्य जातियों का भारतीय समाज में सम्मिश्रण है। इसके कारण और आर्यों में उनके प्रभाव से बचाने की इच्छा से कुछ संकीर्णता आने लगी।

मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारतीय अपनी जाति में ही विवाह करते हैं किंतु मनु ने अनुलोम विवाह (जिनमें वर कन्या से ऊँचे वर्ण का होता है) की अनुमति दी है। प्रतिलोम विवाह तो पहले से ही अवांछनीय समझे जाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में अनुलोम विवाहों को भी बुरा समझा जाने लगा था।

इस काल में वैश्यों और शूद्रों की स्थिति में विशेष अंत न रहा। शूद्रों को इस काल में वैदिक ग्रंथों के सुनने और संस्कार कराने का अधिकार न रहा किंतु वे तीन उच्च वर्णों के व्यक्तियों का भोजन बनाते थे और विवाह संस्कार और श्राद्ध करा सकते थे। मनु ने शूद्रों और दासों में कोई भेद नहीं किया है और उनको अत्यंत कठोर दंड देने की

व्यवस्था की है। मनु के अनुसार यदि कोई ब्राह्मण किसी शूद्र की हत्या कर दे तो उसे वही प्रायश्चित करना चाहिए जो वह बिल्ली, मेंढक, कुत्ते या कौए को मारने पर करता है।

इस काल में सबसे प्रमुख घटना चार वर्णों के अतिरिक्त अनेक अन्य जातियों की उत्पत्ति है। मनु ब्राह्मण पिता और क्षत्रिय माता की संतान को ब्राह्मण कहता है किंतु प्रतिलोम विवाह की संतान को वह व्रात्य कहता है जिन्हें प्रायश्चित करने पर ही उनकी जाति में प्रविष्ट किया जाता था। मनु ने अंबष्ठ निषाद, सूत, उग्र, विदेह, मागध, आदि 57 जातियों का उल्लेख किया है। मनु के अनुसार इन सभी जातियों की उत्पत्ति अंतरजातीय विवाहों के फलस्वरूप हुई, जैसे कि ब्राह्मण माता और वैश्य पिता की संतान 'अबष्ठ', ब्राह्मण पिता और शूद्रा माता की 'निषाद', क्षत्रिय पिता और शूद्र माता की 'उग्र' क्षत्रिय पिता और शूद्र माता की 'सूत', वैश्य माता और ब्राह्मणी पिता की 'विदेह' और वैश्य पिता और क्षेत्रिय माता की 'मागध' कहलाई।

किंतु अंतरजातीय विवाहों से जातियों की उत्पत्ति का सिद्धांत धर्मशास्त्रकारों की कल्पनामात्र थी। इसका यह प्रमाण है कि एक ही जाति की उत्पत्ति के विषय में सब धर्मशास्त्र एक मत नहीं है जैसे कि अबंष्ठ जाति की उत्पत्ति बौधायन, वसिष्ठ और मनु ब्राह्मण पिता और क्षत्रिय माता से या क्षत्रिय पिता और शूद्र माता से बतलाते हैं जबकि गौतम ने क्षत्रिय पिता और वैश्य माता या क्षत्रिय पिता और शूद्र माता से बतलाई है। इसी प्रकार वैश्य पिता और शूद्र माता की संतान को बौधायन 'रथकार' तथा गौतम और याज्ञवल्क्य 'करण' कहते हैं। कौटिल्य वैश्य पिता और शूद्र माता की संतान को 'शूद्र' कहते हैं।

x|lr dky

इस काल में ब्राह्मणों की बहुत प्रशंसा की गई और उन्हें पृथ्वी पर देवता मान लिया गया। कात्यायन के अनुसार ब्राह्मण कभी किसी का दास नहीं हो सकता। इस काल में विवाह साधारणतया अपनी ही जाति में होते थे किंतु अनुलोम विवाहों के अनेक उदाहरण मिलते हैं जैसे कि वाकाटक राजकुमार रुद्रसेन द्वितीय का विवाह प्रभावती गुप्ता से हुआ था। **याज्ञवल्क्य स्मृति** से ज्ञात होता है कि इस काल में प्रतिलोम विवाह भी होते थे। इस काल में विदेशी जातियों से भी वैवाहिक संबंध हुए। इक्ष्वाकु वंश के राजा ब्राह्मण थे और उन्होंने एक शक राजकुमारी को पुत्रवधू के रूप में स्वीकार किया है।

इस काल में ऊंची जातियों में आपस में भोजन संबंधी कोई प्रतिबंध न थे। केवल शूद्रों के भोजन से वे परहेज करते थे किंतु शूद्रों में भी अपने किसान, नाई, ग्वाले और परिवार के मित्र का भोजन ग्राह्य था। व्यवसायों पर भी कोई विशेष प्रतिबंध न था। चारुदत्त ब्राह्मण था किंतु वह वैश्यों का व्यवसाय करके आजीविका अर्जित करता था। अनेक क्षत्रिय भी व्यापार और उद्योगों में लगे थे। गुप्त सम्राट संभवतः वैश्य थे किंतु क्षत्रियों के रूप में शासन कर रहे थे। याज्ञवल्क्य ने शूद्रों को कृषि और व्यापार करके अपना निर्वाह करने की अनुमति दी है। इसका अर्थ है कि वैश्यों और शूद्रों की स्थिति में विशेष अंतर न रहा। अंततः एक स्थिति ऐसी भी आ गई जब वैश्यों की हालत शूद्रों के बराबर हो गई और वैश्यों के हाथ का भोजन करना भी छोड़ दिया गया। इस काल में अनेक व्यवसाय करने वालों की अपनी–अपनी अलग–अलग जातियां बन गई थीं जैसे कि किसान, व्यापारी, पशुपालक, लुहार, बढ़ई, तेली, जुलाहे और माली। ये आपस में ही विवाह संबंध करते थे। उन्हें इस बात की अनुभूति भी न थीं कि वे सब वैश्य थे। गुप्तकाल में कायस्थ लिपिक के रूप में कार्य करते थे किंतु उनकी अलग जाति नहीं बनी थी। शूद्र अब पूर्णतया अस्पृश्य समझे जाने लगे। वे गांव या शहर के बाहर रहते थे और उच्च जाति के लोग उनसे किसी प्रकार का संबंध नहीं रखते थे।

याज्ञावल्क्य ने कुछ नई संकर जातियों का उल्लेख किया है जैसे कि ब्राह्मण पिता और क्षत्रिय माता की संतान 'मूर्धाभिषिक्त', ब्राह्मण पिता और वैश्य माता की 'अंवष्ठ', ब्राह्मण पिता और शूद्र माता की 'निषाद' या 'पारशव', क्षत्रिय पिता और वैश्य माता की 'माहिष्य', क्षत्रिय पिता और शूद्र माता की 'उग्र', वैश्य पिता और शूद्र माता की 'करण'। ये सब अनुलोम विवाहों के उदाहरण हैं। याज्ञवलक्य ने क्षत्रिय पिता और ब्राह्मणी माता की संतान को 'सूत', वैश्य पिता और ब्राह्मणी माता की संतान को 'वैदेहक', वैश्य पिता और क्षत्रिय या माता की संतान को 'पुक्कस', शूद्र पिता और वैश्य माता की संतान को 'आयोगव' और शूद्र पिता और ब्राह्मणी माता की संतान को 'चंडाल' कहा है।

x|IrkÙkj dky

इस काल में ब्राह्मणों में पूर्णतया जन्म के आधार पर उनकी जाति मानी जाने लगी। 'श्रीमाल' ब्राह्मणों की तत्कालीन समाज में बहुत प्रतिष्ठा थी। लक्ष्मीधर ने अपने ग्रंथ **'विरुद्ध–विधि विध्वंस'** में 'सागर' ब्राह्मणों का उल्लेख किया है और **स्कंद पुराण** में 'पंचगौड़' और 'पंचद्रविड़'। इसी प्रकार बंगाल में ब्राह्मणों में राढीय, वारेंद्र, कुलजी आदि उपजातियां थीं। कुलजियों में भी व्योस, पराशर, कौंडिन्य और सप्तशती नाम की शाखाएं थीं। बिहार में ब्राह्मणों की मैथिल, शकद्वीपी (गयाववाल या मग), उत्तर प्रदेश में कन्नौजिया और सरयूपारी, कश्मीर में सिंहपुर मठ में द्राविड़ आदि उपजातियां बन गई थी।

जैन विद्वानों ने ब्राह्मणों के कर्मकांड और मिथ्या विश्वासों से **'घर्ताख्यान'** जैसे ग्रंथों में हंसी उड़ाई हैं किंतु धर्मशास्त्रकारों का मत था कि बड़ा से बड़ा अपराध करने पर भी ब्राह्मण को देश निर्वासन का दंड दिया जाना चाहिए। जिन ब्राह्मणों ने हर्ष की हत्या करने का षडयंत्र रचा था उन्हें भी उसने देश निर्वासन का ही दंड दिया था। इस काल में भी समाज में ब्राह्मणों का बहुत आदर किया जाता था। क्षत्रिय राजा भी उन्हें पूज्य समझते थे।

जन्म के सिद्धान्त पर अत्यधिक बल देने के कारण इस काल में ब्राह्मणों का दृष्टिकोण बहुत संकीर्ण हो गया था किंतु उनके ज्ञान और विद्वत्ता के कारण उनका समाज में बहुत आदर था।

क्षत्रिय और राजपूतः जैन लेखक सोमदेवसूरि (दसवीं शती ई० का उत्तरार्ध) ने क्षत्रिय के विशिष्ट कर्तव्य प्राणियों की रक्षा, शस्त्र द्वारा जीविकोपार्जन, सत्पुरुषों का आदर, दीन–दुखियों का उद्धार और युद्धभूमि से न भागना बतलाए हैं। इस काल में राजपूतों की क्षत्रियों में गणना कर ली गई। उन सबकी उत्पत्ति क्षत्रियों से नहीं हुई थी। हम ऊपर कह आए हैं कि मंडोर का प्रतिहार हरिचंद ब्राह्मण था। उसकी दो पत्नियां थीं, एक ब्राह्मण और दूसरी क्षत्रिय, बाह्मण पत्नी की संतान ब्राह्मण कहलाई और क्षत्रिय पत्नी की संतान क्षत्रिय कहलाई। जालोर और कन्नौज के प्रतिहारों के मूल के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। चाहमानों का मूल ब्राह्मणों से होना लगभग निश्चित है।

इन राजपूतों में हूण आदि कुछ विदेशी जातियां भी मिल गई थीं किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि सभी राजपूत विदेशी थे। सभी राजपूत सूर्यवंशी या चंद्रवंशी क्षत्रियों की संतान भी नहीं थे। समाज ने उन सभी व्यक्तियों को क्षत्रिय स्वीकार कर लिया जिन्होंने देश की रक्षा में योद्धा के रूप में भाग लिया और भारतीय संस्कृति की प्रगति में योगदान किया। इस काल में कुछ क्षत्रियों ने जो शस्त्रों द्वारा जीविकोपार्जन न कर सके वैश्यों के व्यवसाय जैसे कि व्यापार और खेती करना प्रारंभ कर दिया किंतु वे ब्राह्मणों के कार्य जैसे कि वेद पढ़ाने का कार्य नहीं करते थे। अलबेरूनी ने लिखा है कि क्षत्रिय वेद पढ़ते थे परंतु पढ़ाते नहीं थे। वे देश का शासन करते थे और उसकी रक्षा करते थे। वे यज्ञोपवीत धारण करते थे और यज्ञ करते थे। इस काल में कुछ शासक क्षत्रियेतर जातियों के भी थे जैसे कि युवान–च्वांग के समय में कामरूप और उज्जयिनी के शासक ब्राह्मण, पारियात्र और कन्नौज के वैश्य तथा मतिपुर और सिंध के शूद्र थे। संभवतः इस स्थिति को देखकर ही मेधातिथि ने यह व्यवस्था दी कि कोई भी व्यक्ति जिसमें राजा के गुण हों और शासन करने की योग्यता हो राजा हो सकता है।

वैश्यः इस काल में स्मृतिकारों ने वैश्यों के कर्तव्यः कृषि, पशुपालन, व्यापार और वाणिज्य और साहूकार लिखे हैं। माघ ने लिखा है कि राजा की सेना के साथ साथ वैश्य आवश्यक वस्तुओं की बिक्री करने के लिए यात्रा करते थे। कृषि कार्य अधिकतर शूद्रों के हाथ में चला गया क्योंकि इस काल में वैश्यों में अधिकतर जैन थे और वे कृषि कार्य करने जीव हिंसा नहीं करना चाहते थे। अलबेरूनी ने लिखा है कि समाज में वैश्यों और शूद्रों की स्थिति प्रायः एक जैसी थी। वैश्यों को भी वेद सुनने का अधिकार न था। परंतु इस काल के स्मृतिकारों से उक्त कथन की पुष्टि नहीं होती।

वैश्यों पर वर्ण–सिद्धांत का प्रभाव अधिक पड़ा। राजस्थान के वैश्यों में अग्रवाल, माहेश्वरी, जायसवाल, खंडेलवाल और ओसवाल सभी अपनी उत्पत्ति क्ष्त्रियों से बतलाते हैं। इसका यह अर्थ है कि उनकी वैश्यों में गणना होने का आधार वर्ण था। क्योंकि यह परिवर्तन उनके चरित्र, व्यवसाय, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के आधार पर हुआ। इसका मुख्य कारण यह था कि वे अहिंसा के सिद्धांत के अनुयायी और शाकाहारी हो गए थे।

इस काल में भी कुछ अंतरजातीय विवाह होते थे। जैसे कि हर्ष स्वयं वैश्य था किंतु उसकी पुत्री का विवाह बलभी के क्षत्रिय शासक ध्रुवभट से हुआ था।

शूद्रः शूद्रों में भी वर्ण–सिद्धांत का अधिक प्रभाव पड़ा। शूद्रो में अनेक संकर जातियों, किसानों, शिल्पयों की गणना की गई है। इस काल के अभिलेखकों में कुम्हारों, मालियों, तमोलियों, संगतराशों, शराब बनाने वालों और तेलियों को शूद्र कहा गया है। इस काल के साहित्य में सुनारों, बढ़ईयों, केसरों, नाइयों, गड़रियों, दर्जियों, कहारों और अहीरों को भी शूद्र कहा गया है।

शूद्रों को वेद पढ़ाने का अधिकार न था। ब्राह्मण अपने घनिष्ठ मित्र शूद्रों के यहां भी भोजन नहीं करते थे। शूद्रों को कुछ संस्कार बिना वेद मंत्रों के पाठ कराने का अधिकार था परंतु उन्हें जप और होम कराने का अधिकार न था। उच्च जाति के व्यक्ति यदि शूद्र की परछाईं पड़ जाए तो अपने को अपवित्र हुआ मानते थे। किंतु इस काल में शूद्रों की आर्थिक स्थिति में बहुत सुधार हुआ क्योंकि अधिकतर किसान शूद्र थे। वे ही पशुपालन करते थे। कुछ सार्थवाह भी शूद्र थे। अधिकतर शिल्पी तो शूद्र थे ही। आर्थिक स्थिति में सुधार होने से समाज में भी उनका दर्जा ऊंचा हो गया। मेधातिथि ने शूद्रों की निजी संपत्ति रखने का अधिकार दिया है। वे गांव की उन समितियों के भी सदस्य होते थे जो मंदिरों का और गांव की सुरक्षा का प्रबंध करती थी। शूद्रों का नैतिक स्तर अन्य वर्णों के नैतिक स्तर से बहुत निचा था। संभवतः शूद्रों में विधवा विवाह पर कोई प्रतिबंध न था। शैव, शाक्त और तांत्रिक–सम्प्रदायों के अनुयायी ब्राह्मणों की परम्परा–निष्ठा के विरोधी थे। इन सम्प्रदायों में शूद्रों की ब्राह्मणों और क्षत्रियों के समान ही प्रतिष्ठा थी।

अत्यंजः के स्मृतिकारों ने धोबियों, चमारों, नर्तकों, वरुडों, मछुओं, मेड़ों और भीलों की गणना अंत्यजों में की है। **कुवलयमाला** में चांडालों, भीलों, डोमों, सूअर पालने वालों पौर मछुओं की गणना अत्यंजों में की है। इस ग्रंथ में लेखक का मत है कि इन लोगों के जीवन में धर्म, अर्थ और काम का कोई महत्व नहीं है। इसका अर्थ है कि सांस्कृतिक दृष्टि से उनका स्तर बहुत नीचा था। **समराइच्च कहा** में धोबियों, चमारों और बहेलियों को भी अंत्यज कहा गया है।

आर्यों की बस्तियों के पास रहने वाली शबर, भील, किरात और पुलिंद आदि आदिम जातियों के व्यक्तियों की गणना अंत्यजों में की जाती थी क्योंकि उनका सांस्कृतिक स्तर भी आर्यों के सांस्कृतिक स्तर से बहुत निचा था।

म्लेच्छः म्लेच्छों में शक, यूनानी और हुण आदि उन विदेशियों की गणना की जाती थी जो हिंदू समाज का भाग नहीं बन सके थे। शबर, किरात, खस, ओड्र, गोंड, पुलिंद और भील आदि भारत की आदिम जातियां भी म्लेच्छ समझी जाती थीं क्योंकि उन्होंने आर्य संस्कृति को नहीं अपनाया था।

चांडालों के साथ–साथ इन म्लेच्छ जातियों को भी अस्पृश्य समझा जाता था। शबर मोर पंख धारण करते, कानों में गुंजाफल पहनते और शराब पीकर वे अपनी पत्नियों को भी भूल जाते थे। शिकार करना उनका व्यवसाय था।

कायस्थः चारों जातियों, अंत्यजों और म्लेच्छों के अतिरिक्त हिंदू समाज में इस काल में कुछ अन्य जातियां भी विद्यमान थीं। इनमें कायस्थ महत्वपूर्ण थे। गुप्तकाल तक कायस्थ लेखक थे किंतु उनकी अलग जाति नहीं थी। नवीं तथा दसवीं शती ईसवी के अभिलेखों में कायस्थों की वल्लभ गौड़, माथुर, सक्सेना, वास्तव्य आदि। वलभी कायस्थ अपनी उत्पत्ति क्षत्रियों से बतलाते हैं। कल्हण के समय में कुछ कायस्थ जाति के ब्राह्मण थे। हलायुध ने कायस्थों की उत्पत्ति शूद्रों से बतलाई है। दसवीं शती ईसवी तक कायस्थों की अलग जाति बनी नहीं थी किंतु बनती जा रही थी। कायस्थों में अनेक दुर्गपाल थे और कुछ ठक्कूर बन गए थे। किंतु सोड्ढल ने (ग्यारहवीं शती ईसवी) कायस्थों की उत्पत्ति क्षत्रियों से बतलाई है। चंदेलवंशीय राजाओं के खजराहो के राज्य में और मध्यदेश (उत्तर प्रदेश) में श्रीवास्तव कायस्थों की समाज में बहुत प्रतिष्ठता थी। इस काल के अभिलेखों में गौड़ और नैगम कायस्थों का भी उल्लेख है।

संकीर्ण जातियांः स्मृतिकारों का मत था कि सभी संकीर्ण जातियों की उत्पत्ति अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के फलस्वरूप हुई। परन्तु यह सिद्धांत ठीक प्रतीत नहीं होता। मनु ने 'आंध्रों' को संकीर्ण जाति कहा है किंतु हम भली भांति जानते हैं कि दक्षिणापथ के पूर्वी प्रदेश के निवासी आंध्र कहलाते थे। 'अंबष्ठ' क्षत्रियों की एक उपजाति थी। 'पुलिंद' एक अनार्य जाति थी। 'खस' एक पहाड़ी जाति थी। 'उग्र' भी एक बहुत प्राचीन जाति थी जिसका बृहदारण्यक उपनिषद में उल्लेख है। इन सभी जातियों को स्मृतिकारों ने संकीर्ण जाति कहा है। इसका मुख्य कारण यह था कि वैदिक साहित्य में केवल चार वर्णों का उल्लेख है और स्मृतिकार भी सभी जातियों की उत्पत्ति उन चार वर्णों से सिद्ध करना चाहते थे।

समृतिकारों ने जाति व्यवस्था की उत्पत्ति अंतर्जातीय विवाह से बतलाई। यह उनकी कल्पना की उपज थी। उनका यह सिद्धांत तर्कसंगत नहीं है। पांडुरंग वामन काणे अनुलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान की जाति के विषय में निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुंचेः पहली अवस्था वह थी जब उसे पिता की जाति का माना गया। दूसरी अवस्था वह थी जब उसे पिता से नीचा और माता से ऊंचा दर्जा दिया गया। तीसरी अवस्था वह थी जब उसे माता के समान दर्जा दिया गया।

जाति व्यवस्था का उद्देश्य मनुष्य की ऐहिक और पारलौकिक उन्नति करना था। इस व्यवस्था के द्वारा भारतीयों ने समाज के अनेक पहलुओं का हल ढूंढ़ निकाला। प्रत्येक जाति के व्यक्ति ने अपने कर्तव्यों की पूर्ति करके समाज की उत्पत्ति संबंधी मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक और आर्थिक समस्याओं को सरलता से हल करने में अपना योगदान किया।

भारतीयों का विश्वास है कि आत्मा बार बार शरीर धारण करके जन्म लेती है। इसलिए प्रत्येक जन जाति को भी पूर्ण स्वतंत्रता थी कि थोड़ा हेरफेर करके अपनी निजी संस्कृति का अनुसरण कर सके। भारतीयों का यह भी विश्वास था कि धीरे धीरे अधिक पवित्र जीवन व्यतीत करके निम्नतम जाति का व्यक्ति भी अगले जन्म में उच्च जाति में जन्म ले सकता है। जाति व्यवस्था के कारण प्रत्येक व्यक्ति को सांस्कृतिक स्वतंत्रता थी।

जाति प्रथा से समाज के अधिकतर व्यक्तियों के हितों की रक्षा हुई किंतु समाज के प्रभावशाली वर्ग जैसे कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने अधिक आथ्रिक और सांस्कृतिक लाभ उठाया और समाज के निम्नस्तरीय वर्ग को अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने का अवसर प्रदान न किया। इसलिए जाति प्रथा को अपने प्राचीन संकीर्ण रूप में रखना अब अभीष्ट नहीं है।

fookg

fookg dk mÌ';

ऋग्वेद के अनुसार विवाह का उद्देश्य गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होकर मनुष्य को देवताओं के लिए यज्ञ तथा सन्तानोत्पत्ति करने के योग्य बनाना था। **ऐतरेय ब्राह्मण** में स्पष्ट लिखा है कि पत्नी को जाया इसलिए कहा जाता है कि पति पत्नी के द्वारा पुत्र के रूप में जन्म लेता है। **शतपथ ब्राह्मण** के अनुसार बिना पत्नी के पति पुत्र को जन्म नहीं दे सकता अतः वह अपूर्ण है। **मनु स्मृति** के अनुसार विवाह के तीन उद्देश्य हैं धार्मिक कृत्य, संतानोत्पत्ति और कामेच्छा की पूर्ति। इस प्रकार विवाह को दैवी संस्था समझा जाता था। संतानोत्पत्ति द्वारा गृहस्थ पारिवारिक स्थिरता स्थापित कर और यज्ञादि धार्मिक कृत्य कर समाज के प्रति अपना कर्तव्य पालन करता था। विवाह संस्कार उसे इस बात का स्मरण कराता था कि उसे स्वार्थ की अपेक्षा परमार्थ के लिए इस संसार में रहना है। वह धन भी धर्मानुसार कमाता था। और उसका उपयोग भी धर्मानुसार ही करता था।

oj dk pquko

गृहसूत्रों के अनुसार किसी पुरुष को अपनी पुत्री का विवाह बुद्धिमान, अच्छे परिवार के सच्चरित्र, विद्वान, स्वस्थ और गुणवान युवक के साथ करना चाहिए। विवाह के समय युवक ब्रह्मचारी होना चाहिए। कात्यायन के अनुसार पिता को पागल, पापी, कोढ़ी, नपुंसक, अन्धे, बहरे, मिरगी रोग से पीड़ित और सगोत्र युवक से अपनी पुत्री का विवाह नहीं करना चाहिए।

o/kq dk pquko

वधू के चुनाव में भी अच्छे परिवार की और वंशानुगत रोगों से मुक्त होने के नियम दिए गए हैं। किन्तु कन्या की सुन्दरता और अच्छे लक्षण वाली होने पर सभी ग्रन्थों में बहुत बल दिया गया है। **भारद्वाज गृहसूत्र** में कन्या में चार गुणों का होना अभीष्ट कहा है धन, सौन्दर्य, बुद्धि और परिवार। इन चारों गुणों में क्रम से एक के बाद दूसरे का अधिक महत्व है।

अधिकतर धर्मशास्त्रकारों के अनुसार कन्या की आयु वर की आयु से कम होनी चाहिए। अनेक धर्मशास्त्रकारों के अनुसार उस कन्या से किसी को विवाह नहीं करना चाहिए जिसका कोई भाई न हो। इसका कारण यह था कि ऐसी कन्या पिता की उत्तराधिकारिणी हो सकती थी। सगोत्र, सप्रवर और सपिण्ड कन्या से विवाह न करने के नियम अनिवार्य थे। ऐसे विवाह वैध नहीं माने जाते थे।

fookg d: le; oj dh vk;|

वर के लिए विवाह की कोई निश्चित आयु न थी। जब भी वह वैदिक शिक्षा समाप्त कर लेता विवाह कर सकता था। साधारणतया विद्यार्थी प्राचीन भारत में उपनयन संस्कार के बाद 12 वर्ष शिक्षा प्राप्त करता था। ब्राह्मण का उपनयन संस्कार 8 वर्ष की अवस्था में होता था। मनु के अनुसार वर की आयु 30 वर्ष हो तो वह 12 वर्ष की कन्या से विवाह कर सकता है और 24 वर्ष का वर 8 वर्ष की कन्या से विवाह कर सकता है।

fookg d: le; dU;k dh vk;|

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में बाल–विवाह का कोई उल्लेख नहीं है। इसके विपरीत **ऋग्वेद** में स्पष्ट साक्ष्य मिलता है कि कन्याओं का विवाह बड़ी आयु में होता था। जब वे स्वयं अपने पति का चुनाव कर सकती थी। **गृह्यसूत्रों** में भी चतुर्थी–कर्म का उल्लेख है। इसका अर्थ है कि विवाह संस्कार के चौथे दिन पति पत्नी सहवास करते थे। यह तभी संभव है जबकि वर वधू दोनों ही युवा और युवती हों।

वात्सयायन ने **कामसूत्र** में लिखा है कि वधू वर से कम से कम तीन वर्ष छोटी होनी चाहिए इससे यही संकेत मिलता है कि उसके समय में भी कुछ कन्याओं का विवाह अल्पायु में नहीं होता था।

fg;n| fookg ,d l:Ldkj

विवाह संस्कार एक शाश्वत बंधन समझा जाता था जिसमें पति और पत्नि दोनों ही एक दूसरे की भूलों के लिए समान रूप से भागी समझे जाते थे। दोनों आध्यात्मिक अनुशासन में रहकर एक इकाई बन जाते थे। मनु ने इस तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है 'पति, पत्नी और सन्तान तीनों मिलकर एक पुरुष कहलाता है।

भारतीय ऋषियों की धारणा थी कि प्रत्येक व्यक्ति जो इस संसार में जन्म लेता है उसे इस संसार में तीन ऋण चुकाने होते हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम में वह वैदिक ग्रंथों का अध्ययन करके ऋषियों का ऋण चुकाता है। गृहस्थाश्रम में यज्ञ करके वह देवताओं का ऋण और संतानोत्पत्ति द्वारा पूर्वजों का ऋण चुकाता है। सुचारु रूप से यज्ञों का करना ओर संतानोत्पत्ति गृहस्थाश्रम में ही संभव था इसीलिए इस आश्रम का इतना महत्व था।

विवाह–संस्कार में पहला प्रमुख धार्मिक कृत्य पाणिग्रहण है। इसमें पति पत्नी के साथ संविदा करता है कि हम दोनों वृद्धावस्था तथा सुखी जीवन व्यतीत करें, और देवताओं को इसका साक्षी करता है। इस संस्कार में दूसरा महत्वपूर्ण धार्मिक कृत्य पवित्र अग्नि की परिक्रमा है जिसका कि प्रमाण वर्ण व्यवस्था **ऋग्वेद** से मिलता है। संभवतः इस धार्मिक कृत्य का यह अर्थ है कि विवाह से पूर्व कन्या देवताओं की सम्पत्ति होती है और देवता ही पति को कन्या की भेंट करते हैं।

अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि उत्तरवैदिक काल में भी पत्नी को घर की स्वामिनी समझा जाता था। वह घर के सभी कार्यों का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर लेती थी और पति के साथ सभी धार्मिक कृत्य करती थी। उसमें विवाह विच्छेद की अनुमति न थी। जिस पति पत्नी के संयोजन के देवता साक्षी होते थे उसका विच्छेद करना मनुष्य की शक्ति के अन्तर्गत नहीं समझा जाता था।

ऋग्वैदिक काल में विवाह संस्कार के समय धार्मिक कृत्य बहुत कम और सरल थे। उत्तर वैदिक काल में अशुभ समझे जाने वाले भूत प्रेतों के प्रभाव को दूर करने के लिए कुछ जादू टोने किए जाने लगे और सूत्रकाल में इन औपचारिक कृत्यों में बहुत वृद्धि हो गई। विवाह के समय वर कामना करता है कि वह जीवन पर्यंत पत्नी, पुत्र, पौत्र आदि से घिरा हुआ समृद्ध जीवन बिताए।

विवाह संस्कार में होम, पाणिग्रहण और सप्तपदी आदि धार्मिक कृत्य ब्राह्मण द्वारा अग्नि को साक्षी करके कराए जाते हैं। इनके बिना विवाह संस्कार पूरा नहीं होता। इन पवित्र कृत्यों के कारण ही विवाह एक संस्कार माना जाता है। चूंकि विवाह संस्कार पवित्र कार्य है यह अटल है। वर या वधू कोई भी अपनी इच्छा से इसका विच्छेत नहीं कर सकता।

विवाह संस्कार अविच्छेद होने पर भी कुछ धर्म संस्कारों ने ऐसी स्त्री को जिसका पति बहुत समय से बाहर गया हो दूसरा विवाह करने की अनुमति दी है।

xgLFk vkJe e ifr&iRuh d drO;

विवाह के बाद वर और वधु गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट करते हैं। देवऋण चुकाने के लिय यज्ञ करना और पितृऋण चुकाने के लिए सन्तानोत्पत्ति बिना पत्नी के संभव नहीं है। इसीलिए मनु ने कहा है कि धार्मिक कृत्य करना पति और पत्नी दोनों का संयुक्त कर्तव्य है। इसलिए यह आशा की जाती थी कि पत्नी और पति दोनों ही मृत्यु पर्यंत एक दूसरे के प्रति पूर्ण निष्ठा रखेंगे। मनु ने पति को पत्नी के अपराध करने पर दंड देने का भी अधिकार दिया है। किंतु बौधायन ने पति पत्नी में से कोई भी सहवास करना अस्वीकार करे तो उसे दंडित करने का विधान किया है।

आर्थिक दृष्टि से पति–पत्नी में से कोई भी किसी का ऋणी नहीं माना जाता था क्योंकि उन दोनों की संपत्ति विभाजित नहीं हो सकती। कौटिल्य के अनुसार यदि पत्नी ने कुछ धन अन्य व्यक्ति से ऋण लिया हो तो उसे चुकाने का उत्तरदायित्व पति पर होता है। पति की संपत्ति के विषय में याज्ञवल्क्य का मत है कि पत्नी इसके विभाजन की मांग नहीं कर सकती किंतु यदि संपत्ति का विभाजन किया जाए और उसके ससुर या पति ने कुछ धन स्त्री धन के रूप में न दिया हो तो उसे पुत्र के भाग के समान भाग मिलना चाहिए।

यदि पत्नी कोई अपराध करती थी तो पति उसे अपने अपराधों के प्रायश्चित करने के लिए कुछ समय देता था। मनु के अनुसार यदि पत्नी पति में निष्ठा रखती हो और रोगिणी हो जाए तो पति को उसकी सहमति से ही दूसरी स्त्री से विवाह करना चाहिए। याज्ञवल्क्य के अनुसार पति यदि दूसरी स्त्री से विवाह कर ले तो भी पहली पत्नी के भरण–पोषण के लिए वह उत्तरदायी माना जाना चाहिए। धर्मशास्त्रों ने इस विषय के विवेचन से स्पष्ट है कि विशेष परिस्थितियों में ही पति को दूसरी स्त्री से विवाह करने का अधिकार था।

धर्मशास्त्रकारों ने कुछ विशेष परिस्थितियों में स्त्री को भी दूसरा विवाह करने की अनुमति दी है परन्तु मनु किसी भी दशा में स्त्री के इस अधिकार को स्वीकार नहीं करते। हिंदू विवाह में विवाह–विच्छेद की अनुमति किसी भी दशा में न थी। यदि पत्नी व्यभिचार भी कर ले तो मनु के अनुसार भी पति को प्रायश्चित कर लेने पर उसे पत्नी के रूप में स्वीकार करने लेने चाहिए। याज्ञवल्क्य ऐसी पत्नी का परित्याग करने की अनुमति देते हैं किंतु वे भी उसके भरण–पोषण का उत्तरदायित्व पति पर छोडते हैं। विवाह का सम्बन्ध इस संसार से ही नहीं परलोक से भी समझा जाता था। इसीलिए किसी भी परिस्थिति में इस सम्बन्ध के टूटने का प्रश्न नहीं उठता।

fookg vkj LoPNn lHkkx

कुछ विद्वानों का मत है कि अत्यन्त प्राचीन काल में भारत में स्वैरिता (स्वच्छंद संभोग) विद्यमान थी। इसकी पुष्टि में वे प्रजापति की कथा में पिता का पुत्री के साथ मैथुन और यम का अपनी बहिन के साथ मैथुन के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं किंतु वी० एम० आप्टे के अनुसार इन दोनों उदाहरणों को पौराणिक कथा माना जा सकता है।

कुछ विद्वानों का अनुसार **अथर्ववेद** के एक प्रसंग से भी यह अनुमान होता है कि बहिन और भाई में विवाह हो सकता था। इन विद्वानों के अनुसार पिता और पुत्री के बीच अगम्यगमनात्मक सम्बन्ध के अनेक संदर्भ **ऋग्वेद, ऐतरेय ब्राह्मण** और **शतपथ ब्राह्मण** में मिलते हैं। किंतु **अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण** और **ऐतरेय ब्राह्मण** में ऐसे सम्बन्धों की घोर निन्दा की गई है।

बाद में हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने सगोत्र और सपिण्ड विवाहों पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया। इस बात से यह निष्कर्ष निकलता है कि धर्मशास्त्रकारों का उद्देश्य यौन सम्बन्धों को पूर्ण रूप से नियंत्रित करना था। इसीलिए उन्होंने हर प्रकार के संभव यौन सम्बन्धों का उल्लेख देवताओं या पौराणिक गाथाओं का आश्रय लेकर किया है।

fookgk d i:dkj

ऋग्वेद में विवाहों के प्रकारों का उल्लेख नहीं है किंतु जिन परिस्थितियों में ये विवाह होते थे उनसे निम्नलिखित प्रकार के विवाहों का अनुमान लगाया जा सकता है।

1. आसुर–कन्या के पिता को कुछ धन देकर वर कन्या से विवाह करता है।
2. प्राजापत्य–पति पत्नी का कभी भी विच्छेद न हो। दोनों संयुक्त रूप से परिवार के कर्तव्यों की पूर्ति करें।
3. स्वयंवर–कन्या स्वयं अपने पति को चुनती है।

4. राक्षस–विमद की कथा से इस प्रकार के विवाह का आभास मिलता है।
5. गांधर्व–वर और कन्या स्वयं अपनी इच्छा से विवाह करते हैं।
6. संविदात्मक–यदि संविदा की शर्तों की पूर्ति न हो तो विवाह विच्छेद संभव था।

L=h dk lEifÙk e: vf/kdkj

स्त्रियों की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखकर हिन्दू समाज में उनका सम्पत्ति–विषयक अधिकार स्वीकार किया गया है तथा उन विशेष परिस्थितियों का भी विश्लेषण किया गया है, जिनके कारण सम्पत्ति में वे अपना हिस्सा प्राप्त करती थीं। वैसे, वैदिक कालीन कुछ ऐसे विवरण हैं, जो उसके उत्तराधिकार पर आक्षेप करते हैं, किन्तु ये अपवाद ही हैं। सम्पत्ति में प्रायः उसका हिस्सा रहता रहा है। परिवार में वह पुत्र से किसी प्रकार कम नहीं समझी जाती रही। दत्तक पुत्र से श्रेष्ठ पुत्री समझी जाती थी। भ्राता के न रहने पर वह उत्तराधिकारी मानी जाती थी। अतः वैदिक युग में स्त्री सम्पत्ति में अधिकार स्वीकार किया जाता था। चौथी सदी ई० पू० तक यह व्यवस्था समााज में प्रचलित थी।

किन्तु दूसरी सदी ई० पू० में आकर सत्री–शिक्षा पर अनेक प्रतिबन्ध लग गए जिनके कारण स्त्री का सम्पत्ति विषयक अधिकार भी क्षतिग्रस्त हुआ। इस युग में भाई के न रहने पर भी स्त्री के उत्तराधिकार को नहीं स्वीकार किया। आपस्तम्ब ने यह व्यवस्था दी कि उत्तराधिकारी के अभाव में जब सपिण्ड, या गुरु या शिष्य कोई न हो तब पुत्री उत्तराधिकारी हो सकती है। वशिष्ट, गौतम और मनु ने भी उत्तराधिकारिणी के रूप में पुत्री का कहीं नाम नहीं लिया है। इन व्यवस्थाकारों ने सम्पत्ति में पुत्री के अधिकार और उसके उत्तराधिकारी के अधिकार को नहीं स्वीकार किया है। परन्तु इसके विपरीत दूसरे शास्त्रकारों ने अत्यन्त उदारतापूर्वक पुत्री के उत्तराधिकारी होने के मत को प्रतिपादन किया है। कौटिल्य ने भी पुत्री के प्रति सदाशयता दर्शित करते हुए अभ्रात् कन्या को उत्तराधिकारिणी घोषित किया, चाहे उसे कम ही हिस्सा क्यों न मिले। याज्ञवल्क्य ने दृढ़तापूर्वक पुत्री के हित में अपना विचार प्रकट किया है तथा यह निद्रेश दिया है कि पुत्र और विधवा के अभाव में पुत्री ही उत्तराधिकारिणी है। बृहस्पति और नारद ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि क्या पुत्री अपने पिता की पुत्र के समान सन्तान नहीं। फिर पुत्र के न होने पर उनके उत्तराधिकार को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है। इस आधार पर कात्यायन जैसे व्यवस्थाकरों ने अपने विचारों का विकास किया तथा पुत्र के अभा वमें पुत्री के उत्तराधिकारी होने का मत प्रतिपादित किया। अलबीरूनी ने भी पुत्र के अभाव में पुत्री के उत्तराधिकारी होने के नियम की पुष्टि की है। कन्या को पुत्र के हिस्से का चौथाई पाने की संस्तुति जीमूतवाहन और विज्ञानेश्वर दोनों शास्त्रकारों ने की है तथा यह स्पष्ट कर दिया है कि कन्या का परिवार में अधिकारी स्थान है।

निश्चय ही पुत्र के रहते हुए कन्या का सम्पत्ति में अधिकार वैदिक काल से रहा है। परवर्ती धर्मशास्त्रकारों ने भी इसे स्वीकार किया है। पिता के दिवंगत हो जाने पर कन्या का विवाह करना पुत्र का परम कर्त्तव्य था तथा अपने हिस्से का एक चौथाई विवाह–कार्य में व्यय कर सकता था। अगर बहन के विवाह में किसी प्रकार की कठिनाई थी तो यह भाई का कर्त्तव्य था कि वह अपने ही हिस्से जितना बहन के विवाह में व्यय करता अथवा अपनी सम्पत्ति में से विवाह का समस्त व्यय करता। इसके साथ ही यह भी निर्देश किया गया था कि अगर परिवार की सम्पत्ति अधिक है तथा विवाह में कम व्यय हुआ तो शेष सम्पत्ति को कन्या अपने साथ नहीं ले जा सकती थी।

विधवा का सम्पत्ति में अधिकार माना गया है, यद्यपि वैदिक साक्ष्य इसके विरुद्ध है। संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों में पति की मृत्यु पर विधवा के अधिकार को नहीं स्वीकार किया गया है। परवर्ती काल में विधवा के अधिकार को समाज में स्वीकृति मिली तथा पति की मृत्यु के बाद प्रायः विधवा ही उत्तराधिकारिणी होती थी। तीसरी सदी ई० पू० तक विधवा के सम्पत्ति विषयक अधिकार को मान्यता नहीं मिली थी। आपस्तम्ब ने विधवा के सम्पति संबंधी अधिकार को नहीं स्वीकार किया है तथा यह मत व्यक्त किया गया है कि व्यक्ति की मृत्यु के बाद पुत्र के अभाव में उसका उत्तराधिकारी सपिण्ड व्यक्ति होता था, इसके न रहने पर मृत व्यक्ति का आचार्य या उसके न रहने पर उसका अन्तेवासी संपत्ति का अधिकारी होता था। मनु के अनुसार पुत्र के अभाव में पुरुष के धन का भागी पिता या भाई था। अगर ऐसा कोई उत्तराधिकारी नहीं था तो सपिंडों में निकट सम्बन्धी मृत व्यक्ति कि धन का भागी था तथा इसके अभाव में क्रमशः समानोदक (सजातीय), आचार्य तथा शिष्य मृत व्यक्ति के धन का भागीदार था। पहली सदी ईसवी तक आकर व्यवस्थाकारों ने यह विमर्श किया कि अगर विधवा पुनर्विवाह नहीं करती हैं अथवा नियोग द्वारा पुत्र नहीं उत्पन्न करती

है तो उसके भरण–पोषण के लिए कुछ न कुछ प्रबन्ध अवश्य होना चाहिए। ऐसी स्थिति में विधवा को पति की सम्पत्ति में हिस्सा प्रदान किया गया। कौटिल्य ने सम्पत्ति में विधवा के भाग को स्वीकार किया है। गौतम ने सपिंडों, गोत्रियों और सम्बन्धियों के साथ विधवा के समान भाग को माना है। इन मतों के विपरीत कुछ ऐसे अनुदार धर्मशास्त्रकार हुए जिन्होंने मृत पति की सम्पत्ति में विधवा के भाग को नहीं स्वीकार किया। नारद, कात्यायन और भोज ऐसे ही धर्मशास्त्रकार हैं। किंतु दायभाग और मिताक्षरा के अनुसार मृत पति के सम्पूर्ण धन को पुत्र के अभाव में विधवा प्राप्त करती रही है। इस प्रकार ऐसे विचारकों का वर्ग विकसित हुआ जिसने नारी के अधिकार का प्रतिपादन तथा उसकी आर्थिक स्थिति का आकलन किया। नारी के समान अधिकार की संपुष्टि करनेवाले ऐसे शास्त्रकारों ने नारी के प्रति अत्यन्त उदार और संवेदनशील मत की अभिव्यंजना की। पूर्वमध्य युग में निश्चय ही स्त्री के प्रति सहानुभूति और स्नेह का वातावरण निर्मित दीखता है। विशेषकर उसके आर्थिक जीवन को अधिक सुगम और सुधर बनाने के विचार से शास्त्रकारों ने सम्पत्ति में उसके अधिकार को स्वीकार किया। स्त्रियों में विधवा का जीवन कठोरता और निर्ममता पर आधृत था, इसलिए उदार विचारकों ने उसके सम्पत्ति–विषयक भाग को स्वीकार किया और तत्संबंधी तर्क प्रस्तुत किया।

v/;k; 6

egktuinksa dk mn;

महात्मा बुद्ध के जन्म से पूर्व संपूर्ण उत्तर भारत 16 महाजनपदों में विभक्त था। इनमें सर्वोच्चता और वर्चस्व के लिए लगातार संघर्श होता था। इस संघर्श में मगध को अंतिम रूप से सफलता मिली। परिणामस्वरूप मगध सर्वाधिक विस्तृत और भाक्ति ााली साम्राज्य बन कर उभरा। यहां हम सभी जनपदों का विस्तार से अध्ययन करेंगे। इसमें हम पढ़ेगे–

- *महाजनपदों का उदय*
- *मगध साम्राज्य–हर्यक वंश, शिशुनाग वंश, नंद वंश*
- *मगध के उत्थान का कारण*

egktuinksa dk mn;

गौतम बुद्ध के जन्म से पूर्व लगभग छठी भाताब्दी ई० पू० में भारत कुल 16 महाजनपदों में बाँटा था। इनमें से अधिकां ा राजतंत्र था परंतु कंछ राज्य गणतंत्र भी थे। महाजनपदों का उल्लेख हमें बौद्ध ग्रंथ "अंगुतरनिकाय" में मिलता है। इनका वर्णन नीचे दिया जा रहा है–

(1) **अंग–** आधुनिक मुंगेर और भागलपुर (दोनों बिहार) इसके अंतर्गत था। इसकी राजधानी चंपा थी। इसकी गणना बुद्धकालीन छः बड़े नगरों में जाती थी। इस राज्य के पि चम में मगध राज्य ओर उत्तर में वाज्जि राज्य था। इसका भाासक ब्रह्मदत्त था लेकिन कालांतर में इसे मगध ाासक बिम्बसार ने अपने साम्राज्य का हिस्सा बना लिया। चंपा अपने समय में व्यापार, ि ाक्षा, कला, साहित्य आदि का उल्लेखनीय केन्द्र था।

(2) **काशी–** यह वरूण और असी नदियों के बीच का प्रदे ा था तथा आधुनिक वाराणसी तथा निकटवर्ती, इसके अंतर्गत थे। इसकी राजधानी वाराणसी थी, जो एक प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र और भौक्षिक केन्द्र थी। इसका अंग, को ाल, तथा मगध के राज्यों से युद्ध होता रहता था। इसी संघर्श के परिणामस्वरूप इसे कौ ाल ने हड़प लिया। अजात ात्रु ने इसे मगध में मिला लिया।

(3) **वज्जि–** यह मगध के उत्तर में स्थित वज्जि संघ आठ कुलों का एक संघ था। इसमें विदेह, लिच्छमी, कात्रिक और वज्जि महत्वपूर्ण थे। इस संघ की राजधानी वै ाली थी। वै ाली लिच्छवियों की राजधानी थी। इस संघ का दूसरा प्रमुख नगर मिथिला था। यह एक सांस्कृतिक केन्द्र था। महात्मा बुद्ध और भगवान महावीर ने वज्जि संघ की अनेक बार यात्राएं की थी। ये लोग स्वतन्त्रता प्रेमी थे और यहां यह उल्लेखनीय है कि वि व का प्रथम गणतंत्र होने का श्रेय लिच्छवियों को ही प्राप्त है।

(4) **मल्ल–** आधुनिक देवरिया और गोरखपुर क्षेत्र में की स्थित मल्ल दो भागों में बांटा था। जिसमें एक की राजधानी कु ीनगर और दूसरे कर राजधानी पावा थी। माहत्मा बुद्ध को कु ीनगर में महापरिनिर्वाण की प्राप्ति हुइ। महावीर को निर्वाण पावापुरी में प्राप्त हुआ। इस राज्य पर भी बुद्ध की मृत्यु के उपरांत मगध का भाासन स्थापित हो गया।

(5) **चेदि–** चेदिवं ा भारत के प्राचीन क्षत्रिय वंशों में से एक था। वह दो स्थलों पर बसा था–एक नेपाल की तराई के निकट और दूसरा बुदेल खंड में कौ ाम्बी के निकट। इसकी राजधानी भाक्तिमती थी। ि ा ुनाग यहां का प्रसिद्ध भाासक था। चेदिवं ा के एक भाखा ने कलिंग में अपना एक पृथक राज्य स्थापित किया।

(6) **कुरू–** इस राज्य में आधुनिक मेरठ, दिल्ली और थाने वर (कुरूक्षेत्र) सम्मिलित थे। इसकी राजधानी विराटनगर थी।

(7) **मतस्य–** वर्तमान जयपुर के समीपवर्ती क्षेत्र मतस्य महाजनपद के अंतर्गत आते थे।

(8) **शूरसेन–** इसका विस्तार आधुनिक मथुरा में था। इसकी राजधानी मथुरा थी। इसे भी मगध राज्य में सम्मिलिति कर लिया गया था।

(9) **अश्मक–** गोदावरी नदी के दक्षिणी तट पर स्थित इस राज्य की राजधानी पोतन थी। इस्वाक् वं ा के राजाओं का यहां शासन था। किन्तु अवंति के भाासक ने अ मक को अपने राज्य में मिला लिया।

(10) **गंधार–** यह क्षेत्र वर्तमान में पाकिस्तान के रावलपिंडी एवं पे ाावार में स्थित था। इसकी राजधानी तक्षि ाला थी। वह इस काल में ि ाक्षा और सांस्कृतिक गतिविधियों का भेद था। यहां दे ा विदे ा से विद्यार्थी ि ाक्षा ग्रहण करने आया करते थे। पुश्कर सरित यहां का भाासक था।

(11) **कम्बोज–** क मीर तथा गंधार का उत्तरी भाग तथा पामीर और बदख्शाां के प्रदे ाों से युक्त इस महाजनपद की राजधानी हाटक थी।

(12) **पांचाल–** वर्तमान रूहेलखंड़ के बरेली, बदायूँ एवं फर्रूखाबाद जिले से महाजनपद का हिस्सा थे। गंगा नदी इस महाजनपद को दो भागों में बाँटती थी। उत्तरी भाग की राजधानी अहिच्छत्र और दक्षिणी भाग की राजधानी कांपिल्य थी।

(13) **अविन्त–** अवन्ति राज्य में आधुनिक मालवा और उसके समीपवर्ती भाग सम्मिलित थे। उत्तरी भाग की राजधानी उज्जैनी और दक्षिणी भाग की राजधानी महिश्मती थी। यहां का भाासक चण्ड प्रद्योत महासेन था जो एक बहुत भाक्ति ााली भाासक था। वर्चस्व के लिए उसका पड़ोसी राज्यों, को ाल, वत्स और मगध से संघर्श होता रहता था। एक बार उसने को ाल नरे ा उदयन को बंदी बना लिया था और उसी के भय से मगध के भाक्ति ााली भाासक अजात ात्रु को अपनी राजधानी के लिए वि ोश सुरक्षा इंतजाम करने पड़े थे। कालांतर में अवंति का अंतिम भाासक, मगध भाासक भिा ाुनाग के हाथों पराजित हो गया और अवंति को मगध में सम्मिलित कर लिया गया।

(14) **वत्स–** वत्स यमुना नदी के तट पर बसा हुआ एक संपन्न राज्य था जो सूती वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध था। इसकी राजधानी कौ ाम्बी थी (आधुनिक इलाहाबाद के निकट)। यहां का प्रसिद्ध भाासक उदियन था जो महात्मा बुद्ध का समकालीन था। वह एक योग्य और भाक्ति ााली भाासक था और कहते हैं कि उसे हाथियों को पालतू बनाने में महारत हासिल थी। उदयन ने अवंति नरे ा प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता से विवाह किया था। उसका एक अन्य विवाह मगध के राजा द ाक की बहन पदमावती से हुआ था। उसकी मृत्यु भगवान बुद्ध के मृत्यु के उपरांत हुई। वत्सराज के इतिहास की आगे की जानकारी उपलब्ध नहीं है।

(15) **कोशल–** आधुनिक अवध प्रदे ा (उत्तर प्रदे ा) से में कौ ाल महाजनपद था जिसकी राजधानी श्रावस्ती थी। यह पि चम में पांचाल राज्य की सीमाओं से लेकर पूर्व में गंडक नदी तक उत्तर में नेपाल की सीमाओं से लेकर दक्षिण में साईं नदी तक फैला हुआ था। यह सहाजनपद सरयू नदी के कारण दो भागों विभक्त था। उत्तरी को ाल की राजधानी श्रावस्ती और दक्षिणी को ाल की राजधानी कु ावती थी। यहाँ का प्रसिद्ध भाासक प्रसेनजित था जो भगवान बुद्ध का समकालीन था। वह बुद्ध का भक्त था। प्रसेनजित ने अपनी कोसलदेवी का विवाह मगध के भाासक बिम्बसार से किया था और का ाी का कुछ प्रदे ा दहेज के रूप में दे दिया था। जब अजात ात्रु मगध की गद्दी पर बैठा तो प्रसेनजित ने दहेज में दिए गए प्रदे ा की वापस लेने का प्रयत्न किया। इस कारण अजात ात्रु और प्रसेनजित में युद्ध भी हुआ था। कहते हैं कि प्रसेनजित ने दहेज में दी गई भूमि इसलिए वापस लेने का प्रयत्न किया क्योंकि अजात ात्रु ने बिम्बसार की हत्या कर गद्दी प्राप्त की थी और पति के वियोग मे केसलदेवी वे प्राण त्याग दिया था। इस घटना से प्रसेनजित क्रोधित हो गया था। इस युद्ध मे प्रसेनजित को विजय मिली थी और आजात ात्रु को अपनी पुत्री वजिरा की भाादी प्रसेनजित से करनी पड़ी थी। इसके अतिरिक्त का ाी से प्राप्त आय भी प्रसेनजित को देना पड़ता था।

प्रसेनजित एक विद्वान राजा था। वह तक्षि ाला वि विद्यालय का छात्र रह चुका था और वैचारिक रूप से एक प्रगति ीील भाासक था। उदार चरित्र वाले इस भाासक ने ब्राह्मणों ओर बौद्ध भिश्रुओं को भूमिदान में दी। भगवान बुद्ध के करीबी ि ाश्यों में उसका नाम था।

प्रसेनजित के पुत्र विरूद्धक ने उसके विरूद्ध विद्रोह कर दिया। उसक काफी दरबारियों का समर्थन प्राप्त थी। अपनी कमजोर स्थिति देख प्रसेनजित अजात ात्रु से सहायता प्राप्त करेन के लिए राजगृह की ओर आया परंतु राजगृह में प्रवे ा करते ही उसकी मृत्यु हो गई। अजात ात्रु ने उसकी अंत्येश्टि कर दी। कोसाल का य ा प्रसेनजित की मृत्यु के साथ ही समाप्त हो गई।

प्रसेनजित का पुत्र विरूद्धक ने भाक्यों से कठोर बदला लिया। कहा जाता है कि उसने किसी भी भााक्य स्त्री, पुरूश और बच्चे को जीवित नहीं छोड़ा। इसके प चात् भााक्यों का भाक्ति समाप्त हो गई। विरूद्धक उत्तराधिकारियों के संबंध में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। कालांतर में मगध ने को ाल को जीत अपने साम्राज्य में मिला लिया।

(16) **मगध–** मगध महाजनपद की राजधानी राजगृह या गिरीव्रज में थी। ये समस्त महाजनपदों में सर्वाधिक भाक्ति ााली था। मगध के उत्थान के समय से भारत में बड़े सामग्राज्यों और बड़े सम्राटों का युग आरंभ होता है। हर्यकवं ा, नंद वं ा, मौर्य वं ा के सम्राटों के भाक्ति केन्द्र मगध में हीं था।

मगध में राज्य के प्रधान को सम्राट कहते थे और उनका अधिकार वं ाानुगत होता था। सम्राटों को यह अधिकार था कि वह जंगलों को साफ करके कृशि की व्यवस्था करे और उसे कृशि योग्य बनाये। कृशि उत्पादन में उसका हिस्सा नि ि चित होता था। इस कारण राजा वैभव ााली बने और सैन्य भाक्ति का विस्तार और तदुपरांत साम्राज्य विस्तार भी किया। इसी कारण मगध पहले एक भाक्ति ााली महाजनपद और फिर एक साम्राज्य में बदल गया। मगध के संबंध में डा० राय चौधरी ने कहा है–'प्राचीन भारत के इतिहास में मगध का वही स्थान है जो प्राचीन इंग्लौण्ड के इतिहास में वेसेक्स और आधुनिक जर्मनी के इतिहास में प्र ाा का है।"

ex/k dk mRFkku

¼1½ g;Zd oa'k ¼545 bZå iwå&412 bZå iwå½

(क) **बिम्बसार (544–493 ई० पू०)–** मगध का उत्थान उसके प्रथम भाक्ति ााली शासक बिम्बिसार से आरंभ होती हैं जो महात्मा बुद्ध का समकालीन था। उनके पिता का नाम महापद्म था और 15 वर्श की छोटी उम्र में वह मगध के सिंहासन पर बैठा और लगभग 49 वर्शों तक भाासन किया। प्रारंभ में इसकी राजधानी गिरिव्रज थी पर बाद में राजगृह को राजधानी बनाया। उस समय वज्जि, को ाल, अवन्ति आदि काफी भाक्ति ााली थे। अतः उसने राज्यविस्तार के लिए कूटनीति और युद्ध दोनों का सहारा लिया।

बिम्बसार ने अपनी भाक्ति और राज्य के विस्तार के लिए अनेक राज्यों से वैवाहिक संबंध स्थापित किए। उसकी अनेक पत्नियाँ थी। उसकी पटरानी प्रसेनजित (को ाल नरे ा) की बहन कोसलदेवी थी। इस भाादी से उसे का ाी दहेज के रूप में मिला था। उसकी दूसरी पत्नी वै ााली के लिच्छवी भाासक चेटक की पुत्री चेल्लना थी। उसकी तीसरी पत्नी विदेह राज के पुत्री वासपी थी और चौथी पत्नी क्षेमा थी जो मद्र नरे ा की पुत्री थी। इन महत्वपूर्ण विवाहों से न सिर्फ उसे राजकूलों में प्रतिश्ठा का स्थान प्राप्त हुआ वरन् मगध के प्रसार का मार्ग प्र ास्त हो गया।

बिम्बसार एक सफल कूटनीतिज्ञ था। उसके समय चण्ड प्रद्योत महासेन अत्यंत भाक्ति ााली था, अतः बिम्बसार ने उससे अच्छे संबंध स्थापित करने का प्रयास किया। प्रारंभ में तो दोनों में भीशण भात्रुता थी, किंतु दोनों दे ाों के मध्य मित्रता तब स्थापित हो गई जब पीलिया से पीड़ित प्रद्योत की चिकित्सा के लिए बिम्बसार ने अपने राज्य–वैद्य 'जीवक' को उज्जैन भेजा।

उसकी सबसे प्रमुख विजय अंग राज्य का विजय थी। अंग उस समय एक बड़ा और संपन्न राज्य था, जिसका भाासक ब्रह्मदत्त था। बिम्बसार ने अंग को जीत कर मगध में मिला लिया और अपने पुत्र अजात ात्रु को वहाँ का भाासक बनाया।

बिम्बसार मगध का पहला भाासक था जिसने मगध को व्यवस्थित भाासन प्रदान करने का प्रयत्न किया। उसके तीन प्रकार के अधिकारियों की नियुक्ति की जो क्रम ाः प्र ाासन, न्याय और सैन्य व्यवस्थाओं को देखते थे। लगान वसूल करने की नियमित व्यवस्था की। सड़कों, पुलों और नहरों का निर्माण कराया और कु ाल भाासन प्रदान करने की कोि ा ा की। उसके समय में न्याय व्यवस्था अत्यंत कठोर थी।

यद्यपि वह एक बौद्ध मतावलंबी था किंतु अन्य धर्मों के प्रति सहिश्णुता रखता था। बिम्बसार की हत्या कर उसका पुत्र अजात ात्रु गद्दी पर बैठा।

अजातशत्रु ¼403 bZå iwå&462 bZå iwå½

अपने पिता की हत्या के बाद अजात ात्रु सिंहासन पर बैठा। उसे कुणीक कभी कहते हैं। मगध के सिंहासन पर बैठने से पूर्व वह अंग के भाासक के रूप में राजकीय कार्य का चुका था। सिंहासन पर बैठते ही इसने साम्राज्यवादी नीति का सहारा लिया।

उसका पहला युद्ध को ाल नरे ा प्रसेनजित से हुआ। बिम्बसार की मृत्यु के भाोक के कारण कोसलदेवी ने प्राण–त्याग दिए। को ाल देवी, प्रसेनजित की बहन थी। प्रसेनजीत ने बिम्बसार को का ाी के हिस्से, दहेज में दिए थे। अपनी बहन भी मृत्यु का कारण प्रसेनजित अजात ात्रु को मानता था अतः उसने अजात ात्रु से का ाी लौटने को कहा। इसके परिणामस्वरूप प्रसेनजित और अजात ात्रु में युद्ध हुआ और अंततः प्रसेनजित ने अजात ात्रु को बंदी बना लिया। लेकिन उदारता का परिचय देते हुए उसने अजात ात्रु से संधि कर ली। इसके अनुसार अजात ात्रु को न केवल का ाी की आय प्रसेनजित को देनी पड़ी वरन अपनी पुत्री वजिरा का विवाह भी उससे करना पड़ा।

को ाल के बाद अजात ात्रु ने वै ाली के लिच्छवी भाासक से संघर्श किया। इस संघर्श के अनेक कारण थे–

(i) लिच्छवी एक सर्व ाक्ति संपन्न राज्य था और भाक्तिा ाली पड़ोसी को अजात ात्रु अपने लिए खतरनाक समझता था।

(ii) अजात ात्रु स्वयं एक साम्राज्यवादी था

(iii) लिच्छवी भाासक ने उसके दो भाइयों हल्ल और वेहल्ल का भारण रखी थी।

अतएव, लिच्छवी भाासक चेटक और अजात ात्रु में युद्ध हुआ। चेटक अति भाक्ति ााली राजा था और 36 गणराज्यों का नेता था। लिच्छवी गणराज्य पूर्वी भारत का सबसे भाक्ति ााली गणराज्य था। मगध और लिच्छवियों को यह युद्ध 16 वर्शों तक चला। इसमें अंततः अजात ात्रु की सफलता मिली। इस युद्ध में अजात ात्रु ने कूटनीति और सैन्य कु ालता दोनों का परिचय दिया। सर्वप्रथम उसने पाटलिपुत्र में एक किले का निर्माण कराया। फिर अपने मंत्री वस्तकार को लिच्छवियों के गणरज्य में फूट डालने के लिए वै ाली भेजा और सफल हुआ। इसके बाद युद्ध में उसने घातक भास्त्रों जैसे "महाि ालाकंटक" (जो बड़े–बड़े पत्थर फेंक सकता था) तथा तथा "रथमूसल" (तीक्ष्ण धार वाले डण्डों से लैसे रथ) का इस्तेमाल किया। यद्यपि इस पराजय के उपरांत लिच्छवी भाक्ति समाप्त नहीं हुई किंतु कमजोर अव य हो गई।

वै ाली को परास्त करने के उपरांत अजात ात्रु ने उत्तरी दि ाा की ओर कूच किया और काफी अंदर के पर्वतीय क्षेत्र जीत लिए। इतिहासकारों ने कहा है "ऐतिहासिक युग में मगध का यह पहला साम्राज्य था और अजात ात्रु प्रथम सम्राट"। इन विजयों से अजात ात्रु भाक्ति ााली हो गया था। इसे देख अवंति नरे ा प्रद्योत सावधान हो गया और मगध को कुचलने की राणनीति तय करने लगा; जिसके कारण अजात ात्रु ने अपनी राजधानी की किलाबंदी कर दी।

अजात ात्रु के भाासन के आठवें वर्श महात्मा बुद्ध को महानिर्वाण की प्राप्ति हुई। इसी के भाासन काल में राजगृह में प्रथम बौद्ध संगीत का आयोजन हुआ था। यूं तो अजाता ात्रु के धर्म के विशय में मतांतर है फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि वह पहले जैन था और बाद में बुद्ध के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर बौद्ध हो गया। महात्मा बुद्ध के अव ोशों पर एक स्तूप का निर्माण भी उसने कराया।

उदयन (462–444 ई० पू०)

(ग) पुराणों के अनुसार अजात ात्रु के बाद उसका पुत्र द क राजा बना। इसने अपन पुत्री पदमावती का विवाह कौ ाम्बी नरे ा उदयन (उदायिन) किया। किंतु जैन और बौद्ध ग्रंथ द क को अजात ात्रु का उत्तराधिकारी नहीं मानकर उदायिन को ही अजात ात्रु को उत्तराधिकारी मानते हैं। उसने गंगा और सोन नदियों के संगम पर "पाटलिपुत्र" की स्थापना की तथा उसे अपने राजधानी बनाया। उदायिन एक निर्माता था उसने विस्तार पर जोर नहीं दिया। उसके प्रयासों से राजगृह के व्यापारी आकर पाटलिपुत्र में बसने लगे और भाीघ्र ही यह व्यापारिक केन्द्र बन गया।

जैन साहित्य के अनुसार उदायिन के उपरांत अनिरूद्ध, मुण्ड एवं नागद ाक भाासक बने। संभवतः ि ा ाुनाग ने अंतिम हर्यक भाासक नागद ाक को पदच्यूत कर दिया।

¼II½ f'k'kqukx oa'k ¼412 bZå iwå&344 bZå iwå½

(क) **शिशुनागः (412 ई० पू०–394 ई० पू०)**

इस वं ा संस्थापक ि ा ाुनाग था। पुराण ि ा ाुनाग को बिम्बसार का वं ाज बताते हैं। सामान्य मान्यता के अनुसार ि ा ाुनाग का वं ा अलग था और वह मगध के हर्यक भाासकों का मंत्री था। दुर्बल हर्यकवं ीय भाासकों के काल में उसका सम्मान बढ़ गया और अंत में प्रजा ने उसे राजा स्वीकार कर लिया।

वह एक महान भाासक था। उसने अवन्ति, वत्स और को ाल राज्यों का पराजित किया और मगध में सम्मिलित कर लिया। इस प्रकार, बुद्ध के समय के उत्तरी भारत के सभी महत्वपूर्ण राज्यों का मगध में विलय हो गया।

ि ा ाुनाग ने वै ााली को अपनी राजधानी बनाया।

(ख) **कालाशोक–अथवा काकवर्ण (394 ई० पू०–366 ई० पू०):**

पुराण तथा दिव्यावादन में काला ाोक का नाम काकवर्ण मिलता है। उसने पुनः पाटलिपुत्र को अपनी राजधानी बनाया। इसी के काल में द्वितीय बौद्ध संगीत का आयोजन वै ााली में हुआ था। इसी संगीति में बौद्ध संघ स्थाविर और महासांघिक में बंट गया।

ि ा ाुनाग वं ा का अंतिम भाासक नंदिवर्द्धन था। काला ाोक के उत्तराधिकारियों ने 22 वर्शों तक भाासन किया।

¼III½ uan oa'k ¼344 bZå iwå&322 bZå iwå½

नंद वं ा के संस्थापक और उसके वं ा के बारे में विद्वानों में मतभेद है। पुराणों में उसका नाम महापदम् दिया गया। जैन ग्रंथ उसे एक नाई और वे या का पुत्र बताते हैं; यूनानी लेखक ने उसे एक नाई और ि ा ाुनाग वं ीय रानी का पुत्र और पुराण उसे नागवं ा के अंतिम राजा नंदिवर्द्धन और उसकी भाूद्र पत्नी का पुत्र बताते है। विद्वानों का मत है कि महापद्म नंद एक भाूद्र था।

पुराणों में इसे लिए "अनुल्लंघित भाासक" (एक छत्र पृथ्वी का भाासक) और सर्वक्षत्रांतक (क्षत्रियों का ना ा करने वाला) आदि उपधियाँ दी गई है। पुराणों के अनुसार महापद्मनंद ने इक्ष्वाकु, पंचाल, कलिंग, अस्मक, कुरू, भाूरसेन आदि सभी को पराजित कर मगध मे सम्मिलित कर लिया। उत्तरी भारत के अधिकां ा भाग तथा दक्षिणी भारत के कुछ भाग नंदवं ा के राजाओं के राज्य में सम्मिलित थे।

महापद्मनंद ने बिम्बसार द्वारा भुारू किए गए साम्राज्यविस्तार के कार्य को पूरा किया। मगध भारत का सबसे भाक्ति ाली और विस्तृत राज्य बन गया।

नंदवं ा के नौ राजाओं ने मगध पर भाासन किया। लेकिन किसी ने भी काफी लंबे समय तक भाासन नहीं किया। महापद्मनंद के बाद के भाासकों के बारे में वि ोश जानकारी नहीं है। केवल अंतिम भाासक धर्मनंद के बारे में जानकारी उपलब्ध है।

धननंद सिकंदर का समकालीन था और 325 ई० पू० उसी के काल में सिकंदर ने भारत पर आक्रमण किया था। धननंद के पास एक वि ाल साम्राज्य और सेना थी। किंतु वह लालची और आलोक प्रिय भाासक था। चंद्रगुप्त मौर्य ने मगध के सिंहासन से उसे हटा दिया और मौर्य वं ा की स्थापना की।

ex/k d: mRFkku dk dkj.k

(1) मगध के उत्थान में उसकी भौगौलिक स्थिति का महत्वपूर्ण योगदान था। पाटलिपुत्र नदियों (गंगा और सोन) के संगम पर बसा था अतः काफी सुरक्षित था। मगध की पूर्व राजधानी, राजगृह, भी सात पहाड़ियों से घिरा सुरक्षित प्रदे ा था।

(2) मगध को दक्षिणी बिहार से भारी मात्रा में लोहा प्राप्त होता था। जिससे वह अस्त्र– ास्त्र बनाता था। किसी अन्य महाजनपद को यह सुविध नहीं थी।

(3) युद्ध में प्रयुक्त हाथियों की भरमार दक्षिण बिहार के जंगलों में थी।

(4) बिम्बसार तत्कालीन भाासका को में संभवतः प्रथम राजा था जिसने एक स्थायी सेना का गठन किया।

(5) भूमिकर नियमित रूप से वसूल दिया जाता था और यह देना अनिवार्य था। राजाओं ने बलि के अतिरिक्त 'भाग' और "कला" नामक कर भी वसूल किया।

तथ्य एक दृष्टि में

16 महाजनपद और उनकी राजधानी

	राज्य	**राजधानी**
1.	अंग	चंपा
2.	मगध	राजगृह
3.	का ाी	वाराणसी
4.	को ाल	श्रावस्ती (अयोध्या)
5.	वज्जि	विदेह एवं मिथिला
6.	मल्ल	कु ाीनगर
7.	चेदी	भाक्तिमती
8.	वत्स	कौ ाम्बी
9.	कुरू	इंद्रप्रस्थ
10.	पांचाल (उत्तरी)	अहिच्छत्र
	(दक्षिणी)	उज्जैनी
11.	अवंति (उत्तरी)	उज्जैनी

(दक्षिणी)	महिश्मती
12. मत्स्य	विराट नगर
13. भूारसेन	मथुरा
14. अ मक	पोतन
15. गंधार	तक्षि ाला
16. कम्बोज	हाटक (राजपुर)

v/;k; 7

t u vk j ck) /ke

वैदिक सभ्यता के परिणामस्वरूप समाज में ब्राह्मणों की स्थिति काफी मजबूज हो गई थी। समाज में कर्मकांड की प्रधानता थी बलि द्वारा ई वर को प्रसन्न करने की चेश्टा की जाती थी, अनेक देवी देवताओं की स्तुति होती थी और वर्ण व्यवस्था अत्यंत कठोर थी। इन सबके प्रतिक्रिया स्वरूप दो धर्म जैन धर्म और बौद्ध धर्म का उदय हुआ, जिन्होंने एके वरवाद तथा अहिंसा पर बल दिया। इस अध्याय में हम इन्ही धर्मो के बारे में पढ़ेगे।

- *जैन धर्म*
- *बौद्ध धर्म*

छठी भाताब्दी ई० पू० का काल न सिर्फ भारतीय बल्कि वि व इतिहास का भी महत्वपूर्ण काल था। इस काल में भारत, चीन, ईरान आदि में धार्मिक क्रान्तियों या सुधार आन्दोलन हुए। भारत में इस सुधार आन्दोलन के नेता बुद्ध तथा महावीर थे। इस सुधार आन्दोलन को नेतृत्व चीन में कन्फ्युि ायस और लाओजे ने किया और इसी प्रकार ईरान में जरथ्रुटट ने। इन सभी नेताओं ने तत्कालीन धर्म में प्रविश्ट बुराइयों को दूर करने एवं मानव कल्याण के लिए प्रयत्न किये।

भारत में इस आंदोलन के होने के अनेक कारण थे। इसमें से प्रमुख हैं–

1. **ब्राह्मण धर्म में दोष**– ईसा पूर्व 7 वीं और 6 वी भाताब्दियों में ब्राह्मण धर्म में अनेक अवगुण आ गए थे। वैदिक युग में जिस धर्म की कल्पना की गई थी, वह अत्यन्त सरल, आडम्बररहित एवं जटिलता से दूर थी। उसका धार्मिक अनुष्ठान सरल और सुबोध था। आर्य प्रकृति के उपासक थे और धार्मिक यज्ञ तथा कर्म में बलि प्रथा का जन्म नहीं हुआ था। किन्तु धीरे–धीरे यह धर्म अन्यन्त जटिल और आडम्बरपूर्ण हो गया। यह अनेक धार्मिक कर्मकांडों का ि ाकार बन गया। यज्ञों में बलि दी जाने लगी तथा कई धार्मिक अनुश्ठान अनेक दिनों तक चलने लगे। इस तरह का धार्मिक अनुष्ठान ब्राह्मण ही कर सकते थे और अनके द्वारा किए गए यज्ञ से मनुश्य मोक्ष प्राप्त कर सकता था। एके वरवाद समझने की क्षमता साधारण व्यक्तियों की बुद्धि से परे थी और इसी कारण इसमें अनेक देवी देवताओं की पूजा आरंभ हो गई। ब्राह्मणों की सत्ता सर्वोपरि थी। वे वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे और अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए उनके आडम्बरों और जादू–टोने का सहारा लेने लगे। धीरे–धीरे इनसे लोगों का वि वास हटने लगा। ये वर्ण व्यवस्था का कठोर विरोध करने और ब्राह्मणों की धार्मिक ठेकेदारी दूर करने के लिए नए आद ों की ओर आकृश्ट होने लगे। धर्म प्रवर्तकों का कहना था कोई मनुश्य कर्म से बड़ा है जन्म से नहीं। अतः सुधारकों ने जाति–भेद और सामाजिक ऊँच–नीच के विरूद्ध आन्दोलन खड़ा किया।

2. **सामाजिक बुराइयाँ**– धार्मिक क्रान्ति के सामाजिक कारण थे। तत्कालीन समाज में अनेक बुराइयां प्रवे ा कर गयी थी। वि ोशकर वर्ण व्यवस्था अनुपयोगी और अव्यावहारिक समझी जाने लगी। यह वर्ण व्यवस्था विभिन्न कार्यो को सरलता से चलाने और आर्यो की जातीय भाुद्धता कायम रखने के लिए की गई थी। किन्तु घीरे–घीरे आर्यो में भी जाति–भेद का विकास हो गया। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों आर्य समाज में उच्च माने जाने लगे। उनमें भी जाति–भेद उत्पन्न होने लगा कि ब्राह्मण और क्षत्रिय में कौन सर्वोपरि है। ब्राह्मण अनुश्ठानों के वि ोशज्ञ होने के कारण अपने को सर्वोपरि समझने लगे थे। और समाज की विभिन्न जातियों तथा वर्गो के लिए अलग–अलग नियम बन चुके थे। ब्राह्मणों को कर नहीं देना पड़ता था तथा उन्हें प्राणदंड नहीं दिया जा सकता था। क्षत्रिय राजकुल के समझे जाने लगे ओर वै य व्यापार व्यव साय में लग गये। भाुद्रों का कार्य उपर्युक्त तीन वर्गो की सेवा करना था। अतः सामाजिक ऊँच–नीच के विरोध में सुधारकों ने आवाज उठायी। लोगों ने उनका समर्थन किया। स्त्रियों की द ाा अच्छी नहीं थी। ऋग्वैदिक काल में स्त्री तथा पुरूश दोनों को समान अधिकार थे, किन्तु

कालांतर में उनकी द ाा खराव हो गयी। ई० पू० छठी भाताब्दी में स्त्रियों को कोई अधिकार नहीं रह गया था। जाति–बन्धन बहुत ही कठोर हो गया और अन्तर्जातीय विवाह बंद हो गया विधवाओं का जीवन दयनींय हो गया। भाूद्रो के समान स्त्रियों को भी ि ाक्षा से वंचित रखा जाने लगा। यज्ञ और हवन में भी उनका स्थान ब्राह्मणों ने ले लिया।

3. **वर्ण व्यवस्था की जटिलता**– वर्ण व्यवस्था की जटिलता के कारण समाज के विभिन्न वर्गो के लोगों का व्यवसाय बंटा हुआ था और वे अपने नि चित कर्मों में संलग्न रहते थे। ब्राह्मण, धर्म का कार्य करते थे। वे समाज में सर्वोपरि थे तथा उन्हें सभी राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे। क्षत्रिय भाासन में उनसे पराम र्ा लिया करते थे। क्षत्रियों का कार्य राजकाज करना, युद्व करना, प्रजा की रक्षा करना तथा दे ा को समृद्ध बनाना था। क्षत्रिय और ब्राह्मणों का संबंध राजनीति के क्षेत्र में अटूट था। वर्ण व्यवस्था की जटिलता के कारण समाज में बड़ा असंतोश था। धर्म–प्रवर्तकों ने इस असन्तोश को उभाड़ा।

4. **स्वतन्त्रता का हनन**– प्रांरभ से ही आर्य स्वतन्त्रता प्रेमी थे। वैदिक काल में पूर्ण व्यक्तिगत स्वतन्त्रता संकुचित हो गई। इसका कारण ब्राह्मणों और क्षत्रियों की प्रभुसता थी जिसके चलते उनके बौद्धिक विकास में बाधा पहुँची। क्षत्रिय, वै य एवं भाूद्र बहुसंख्यक थे। किन्तु ब्राह्मणों ने अपने स्वार्थ के लिए उनके कार्यो की व्यवस्था अलग–अलग कर दी। परिणामस्वरूप उनका पारस्परिक संबंध विशमताओं से भर गया। आर्यो की राजनीतिक व्यवस्था इतनी अच्छी थी कि उनमें प्रजातान्त्रिक भावना बनी हुई थी। जनसाधारण में स्वतन्त्रता की प्रारित होने के कारण तर्कभीलता का आरम्भ हुआ। जब ब्राह्मणों ने उन्हें हीन समझा तब उन्होंने अंधवि वास पर आधारित धार्मिक व्यवस्था का विरोध किया। ईसा पूर्व छठी सदी में जब सुधार कों एवं धर्म प्रवर्तकों ने एक नया आद र्ा उनके सम्मुख रखा तब उनकी सोई स्वतंत्रता की भावना जाग उठी।

5. **धर्म सुधार आन्दोलन के प्रवर्तक**– छठी सदी ई० पू० के धार्मिक आन्दोलनों एकमात्र उद्दे य समाज के पददलित वर्गो को ऊँचा उठाना और उनके सम्मुख पवित्र जीवन व्यतीत करने का आद र्ा रखना था। महावीर तथा गौतम बुद्ध ने अपने अनुयायियों को छोटे–छोटे समुदायों में बाँटकर दे ा के विभिन्न भागों में धर्म प्रचार के लिए भेजा। भिक्षुओं का जीवन सरल और त्यागमय था। अतः उनके व्यक्तित्व का प्रभाव तत्कालीन समाज पर पड़ा। अतः ये धर्म भाीघ्र ही लोकप्रिय हो गये।

t u /ke

जैन धर्म का अभ्यूदय– जैन धर्म एक अति प्राचीन धर्म है जिसका जन्म वैदिक काल में ही हुआ था। इसके द र्ान एवं सिद्धांत हिंदू धर्म से पूर्णत अलग हैं। जैन धर्म के प्रवर्तक ऋशभदेव थे जो इस धर्म के प्रथम तीर्थकर थे। जो साधक अद्‌भुत सिद्धि प्राप्त करके कैवल्य (ज्ञान) प्राप्त कर लेता था वही तीर्थकर कहलाता था। जैन धर्म में कुल 24 तीर्थकर हुए।

ऋषभदेव– ऋग्वेद में ऋशभदेव का उल्लेख है। यजुर्वेद में कहा गया है कि ऋशभदेव धर्म प्रवर्तकों में श्रेश्ठ है। उन्होंने अपने ज्ञान से लोगों को आलोकित किया तथा सनमार्ग और सदाचरण का दिग्द र्ान कराया। उनका जन्म इच्छवाकु वं ा में हुआ था। दीर्घकाल तक भाासन करने के उपरांत उन्होंने अपने पुत्र भरत को राज्य सौपकर स्वयं सन्यास ग्रहण कर लिया। कैला ा पर्वत पर तपस्या करते समय उनकी मृत्यु हो गयी। उन्होंने सर्वप्रथम पावन आचरण, पावन चरित्र और पावन मन पर जोर दिया।

पार्श्वनाथ– जैनियों के तेईसवें तीर्थकर पा र्वनाथ थे। उनका जन्म वाराणसी में 850 ई० पू० में हुआ था। का ाी के इच्छवाकु वं ाीय भाासक अ वसेन उनके पिता थे तथा महारानी वाम उनकी माता थी। उनकी पत्नी का नाम प्रभावती था जो कु ास्थल दे ा की राजकुमारी थीं। तीस वर्श की अवस्था में उन्होंने घर छोड दिया। सम्मेय पर्वत पर समाधिस्थ होकर कठिन तपस्या करने के उपरांत उन्हें 84 वें दिन कैवल्य (ज्ञान) प्राप्त हुआ । इसके प चात् साकेत राजगृह, अहिच्छत्र, हस्तिनापुर, कौ ाम्बी श्रावस्ती आदि विभिन्न नगरों का भ्रमण कर उन्होंने अपना धर्म प्रचार किया। उनके अनुयायी निर्ग्रन्थ कहे जाते है। जैन ग्रंथो में पा र्वनाथ को "पुरिसादानीय" (महान पुरूश) धर्म तीर्थकर तथा "जिन" (विजेता) कहा गया है।

पा र्वनाथ ने काया क्ले ा और तपस्या से मोक्ष प्राप्ति का मार्ग द र्ान किया। उनके अनुयायी चार व्रतों (चतुर्याम धर्म) अहिंसा करना, सत्य बोलना, चोरी न करना और धन जमा न करना का पालन करते है। इस प्रकार, पा र्वनाथ ने सत्य, अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह का उपदे ा दिया। उनके अनुयायी उनके धर्म जिनकल्प को मानते थे और समधि लगाते थे। वे पॉच तत्वों (तपस, सत्य, सूत्र, एकत्व और बल) को मानते थे। भद्रबाहु के कल्पसूत्र से ज्ञात होता है कि पा र्वनाथ का निधन विहार स्थित पारसनाथ नामक पहाड़ी के सम्मेत ि ाखर पर हुआ था। यह आज भी जैनियों का एक पवित्र तीर्थस्थान है।

महावीर– वर्द्धमान महावीर का जन्म वै ााली के निकट वज्जि संघ के कुंड ग्रामवासी विख्यात ज्ञातृक क्षत्रिय सरदार सिद्धार्थ के यहॉ 540 ई० पू० में हुआ था। कुछ विद्वानों ने उनका जन्म 546 ई० पू० और 468 ई० पू० भी माना है। उनकी माता का नाम त्रि ाला था, जो लिच्छवी शासक चेटक की बहन थी। उनकी पत्नी का नाम यशोदा था। जो समरवीर नरे ा की पुत्री थी। उससे प्रियद र्ाना नामक एक पुत्री उत्पन्न हुई थी। जिसका विवाह जमालि नामक क्षत्रिय से हुआ। महावीर के माता पिता पा र्वनाथ के अनुयायी थे जिसका प्रभाव वर्द्धमान पर पड़ा। उन्होंने तीस वर्श की अवस्था में अपने पिता के निधनोपरान्त गृह–त्याग कर निवृति मार्ग ग्रहण किया।

महावीर सत्य ज्ञान की खोज में इधर–उधर भ्रमण करने लगे। तेरह महीने तक तो वे वस्त्र धारण किए हुए सर्वत्र धूमते रहे, किन्तु बाद में वे निर्वस्त्र होकर धूमने लगे। बारह वर्शो तक उन्होंने बड़ा कश्टमय जीवन बिताया। तेरहवें वर्श जम्भियग्राम के निकट ऋजुपालिका नदी के तट पर उन्हें "कैवल्य" (ज्ञान) प्राप्त हुआ। ज्ञान प्राप्ति के कारण उन्हें "केवलिन्", इन्द्रियों को जीत लेने के कारण "जिन", बंधनहीन होने के कारण "निर्ग्रन्थ" तथा योग्यतम या पूज्य होने के कारण "अर्हत्" कहा गया। उनका यह अद्‌भूत पराक्रम था, इसलिए वे महावीर के नाम से विख्यात हुए।

कैवल्य प्राप्त कर लेने के प चात् महावीर अपने उपदे ाों के प्रचार में लग गए। इस काम में उन्हें अनेक कश्ट उठाने पड़े। कुछ लोग उन्हें पागल समझकर ईट डंडे से मारते थे। कुछ लोग उनके पीछे कुत्ते दौड़ाते थे। लेकिन महावीर ने उन पर कोई ध्यान नहीं दिया ओर निर्भीक होकर अपने मत का प्रचार किया। उनका विचार था कि जीवन सभी रूपों में है तथा वनस्पति से मनुश्य तक सभी प्राणी जन्म–जरा–मरण के क्रम मे आबद्ध है।

महावीर अपने आकर्शक व्यक्तित्व और अद्‌भुत ज्ञान से लोगों के प्रभावित कर लेते थे। लिच्छवि भाासक चेतक, चम्पा का भाासक दधिवाहन, पाटलिपुत्र का राजा उदायिन आदि उनके भक्त थे। दधिवाहन की पुत्री चन्दना उनकी प्रथम भिक्षुणी बनी थी। का ाी और कौ ाल के अठारह गणराज्य उनके अनुगामी थे। राजपरिवारों के अतिरिक्त साधारण वर्ग के लोग भी उनकी ि ाक्षाओं और उपदे ाों से प्रभावित थे। उनके ग्यारह प्रधान ि ाश्य थे। जिन्हे "गणधर" (प्रधान अनुयायी) कहा जाता है। वे गणधर प्रारंभ में ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। ये महावीर की ि ाक्षा से प्रभावित होकर उनके अनुयायी बन गए। कालान्तर में ये गणधर द्वाद ा अंगों और चतुर्दि ा पर्वों में प्रवीण हो गए।

जैन धर्म के सिद्धांत– जैन धर्म का प्रमुख सिंद्धात निवृत्ति मार्ग है। इसके द्वारा व्यक्ति जगत की नाना प्रकार की व्याधियों और तृशणाओं से मुक्त हो जाता है। प्रवृति का त्याग करके निवृति का अनुपालन करना ही वास्तविक और स्थायी सुख का मूल है। परिव्राजक की स्थिति में ही भाांति प्राप्त होती है। जब मनुश्य समस्त तृशणाओं–लिप्साओं से अलग होकर निवृति की ओर बढ़ता है।

जैन ज्ञान तत्व के अन्तर्गत कर्म का सिंद्धात महत्वपूर्ण है। संसार में कर्म ही प्रधान है। मनुश्य के सुख–दुःख उसके कर्म पर ही निर्भर करते हैं। प्रायः आठ कर्मो के कारण जीव आबद्ध रहता है। ज्ञानावरण (आत्मा के ज्ञान को ढकलेने वाला) द र्ानावरण (आत्मा की द र्ान भाक्ति को आवृत्त करने वाला) वेदना (सुख दुःख के ज्ञान को अवरूद्ध करने वाला) मोह (जीव को मोह के आवरण मे ढकने वाला) आयु कर्म (मनुश्य की आयु को नि चय करने वाला कर्म) नाम कर्म (व्यक्ति की परिस्थिति, गति, भारीर, आदि को निर्धारित करने वाला कर्म) तथा अंतराय कर्म (सत्कर्मो में विध्न डालने वाला कमी)। अतः समस्त प्राणी अपने कर्मो के अनुरूप संसार में बार–बार जन्म लेते है और कर्मफल भोगते है। कर्मफल से मुक्त होना ही निर्वाण है। निर्वाण ही मोक्ष है, जो कर्मफल की समाप्ति से संभव है।

कर्मफल की समाप्ति के लिए जैन धर्म की आचार मीमांसा से त्रिरत्न की व्यवस्था है। ये त्रिरत्न सम्यक् श्रद्धा, सम्भक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र है। सत्य का ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। सच्चरित्रता का पालन सम्यक् चरित्र है। सम्यक् श्रद्धा

(द न) के आठ अंग हैः निर ांकित (संदेह से दूर), निश्कांक्षित (सांसारिक सुख की अभिलाशा को समाप्त करना), निर्विचिकित्सक (काया के मोह विराग से दूर रहना), अमूढ दृश्टि (भ्रामक मार्ग की ओर प्रवृत्त होना) उपगूहन (अधूरे वि वासों से विचालित न होना) स्थितिकरण (सही वि वासों पर टिके रहना) वात्सल्य (सबके लिए प्रेम–भाव रखना) एवं प्रभावना (जैन सिद्धांत की श्रेश्ठता प्रदर् ित करना)। इसके लिए तीन प्रकार की अज्ञानता–लोकमूढ (उदाहरण के लिए नदी में स्नान करने से पाप से मुक्ति का अंधवि वास) देवभूढ (जैसे देवताओं की पूजा करने से पुण्य प्राप्त करने का अंधवि वास) एवं पाशंडमूढ (उदाहणार्थ साधु–संतो के धोखे में आना) से दूर रहने को कहा गया है।

जैन सिद्धांत में सम्यक् ज्ञान के पाँच प्रकार बताए गए है।

1. मति (इन्द्रियों द्वारा अनुभूत ज्ञान)
2. अवधि (कही रखी हुई किसी वस्तु का दिव्य ज्ञान)
3. श्रुति (सुनकर प्राप्त ज्ञान)
4. मनः पर्याय दूसरे के हृद्वय और मास्तिक की बातों का बोध होने का ज्ञान)
5. कैवल्य (पूर्ण ज्ञान जो परिव्राज कों और निग्रन्थों प्राप्त होता है)।

जैन धर्म में सम्यक् चरित्र के अन्तर्गत पंच महाव्रत की व्यवस्था की गई है। ये पंच महाव्रत हैं अहिंसा, सत्य, अस्तेय् अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य। अहिंसा के पालन के अंतर्गत पाँच समितियों का निदे ा किया गया हैः–

ईर्या समिति (ऐसे मार्ग से चलना जहॉ छोटे कीडे मकोडे न कुचले जाएँ),

एशणा समिति, (भोजन में किसी प्रकार भी छोटे कीड़ो की हिंसा न हो सके।)

भाशा समिति (कटु भाशा बोलकर किसी को क्लेष न पहुँचाना)

व्युत्सर्ग समिति (मल–मूत्र ऐसे स्थान पर त्याग न करना जहाँ कीटाणुओं की हिंसा हो)

1. आदान अपेक्षा समिति (अपने सामानों का उपयोग करते समय भिक्षु द्वारा जीवाणुओं की हिंसा न होने देना)। सत्य–भाशण के अन्तर्गत सर्वदा सत्य बोलने का निर्दे ा किया गया है। "अस्तेय" का अर्थ है चोरी न करना। "अपरिग्रह" का अर्थ है–धन इकट्ठा न करना। "ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत भिक्षु के लिए कई निर्दे ा दिए गए हैं। जैसे वह किसी स्त्री से संभाशण न करने, किसी स्त्री को न देखे, नारी संपर्क की भावना मन में न लाये। भुाद्ध और सत्य आहार करें, अकेली रहने वाली स्त्री के घर न जाएँ। पंचमहाव्रत के अतिरिक्त चार अणुव्रत के परिपालन पर भी जोर दिया गया।

   मैत्री (सबके साथ मित्रता का भाव रखना)

   प्रमोद (दूसरों की प्रगति से प्रसन्न होना)

   कारूण्य (दुःखियों के प्रति दया रखना)

   माध्यस्थ (दुश्ट व्यक्तियों की बातों पर ध्यान न देना)

   आचरण के हिए सात भीलव्रत वांछनीय माने गये। ये है–

   1. दिग्व्रत (किन्हीं वि ोश दि ााओं में अपनी क्रिया सीमित रखना)।
   2. दे ाव्रत (किन्हीं वि ोश क्षेत्रों में अपना कार्य सीमित रखना)।
   3. अनर्थ दंडव्रत (अकारण अपराध न करना)।
   4. सामाजिक (समय के कुछ भाग को अपने ऊपर विचार के लिए रखना)।
   5. प्रोशधोपवास (महीने में चार दिन दोनों अश्टमी तथा दोनों चतुर्द ीं को व्रत रखना)।

6. उपभोग–प्रतिभोग– परिमाण (वस्तुओं और पदार्थो के दैनिक उपभोग को नियमित करना) तथा
7. अतिथि संविभाग (दूसरों, साधुओं और उपासकों को भोजन कराने के बाद भोजन करना)।

जैन धर्म में भारीर के कश्ट देकर साधना का मार्ग दर्िात किया गया है। मन और काया की भुद्धि पर वि ोश बल दिया गया है। सत्कर्म का पालन करने वाले व्यक्ति को उच्च माना गया है। सत्कर्म के लिए अठारह पापों से मुक्त होना आव यक है।–

(1) प्राणातिपात (हिंसा), (2) झूठ, (3) चोरी, (4) मैथुन, (5) द्रव्य–मूर्च्छा (परिग्रह), (6) क्रोध, (7) लोभ, (8) मान, (9) राग, (10) द्वेश, (11) कलह, (12) दोशारोपण, (13) चुगली, (14) असंयम में रति, (15) संयम में अरति, (16) पर परिवाद (निन्दा), (17) मायामूशा (कपटपूर्ण मिथ्या) तथा (18) मिध्याद र्न रूपी भाल्य। इन पापों से मुक्त होने पर निर्वाण प्राप्त होता है।

जैन धर्म के मूल सिंद्धात निम्नलिखित हैः–

1. **सृष्टि की नित्यता**– जैन धर्मानुसार सृश्टि नित्य है, अर्थात इसका आदि और अंत नहीं होता न तो इसको कोई बनाने वाला है न विगाड़ने वाला ही। यह सृश्टि यह अविना ी तत्वों जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आका । और काल के संयोग से बनी है। चूंकि ये तत्व भााश्वत और अविना ी है, सृश्टि भी भााश्वत नित्य तथा अविना ी है।
2. **अनीश्वरवाद**–जैन ई वर को नहीं मानते। वे केवल तीर्थकरों की पूजा करते हैं। ये तीर्थकर आत्मा के बंधन से मुक्त, पूर्ण–सर्वज्ञ, सर्व–भाक्तिमान तथा दुःख रहित है।
3. **आत्मवाद**– जैन आत्मा के अस्तित्व तथा अमरत्व में वि वास करते है। आत्मा सर्वद्रश्टा और सर्वज्ञानी है।
4. **कर्मवाद**– जैन कर्म की प्रधानता मानते है। सुख–दुःख मनुश्य के कर्म पर निर्भर करते है। जब आत्मा कर्मबंधन तोड़ देती है तब वह सुख–दुःख से मुक्त हो जाती है और मनुश्य को मोक्ष मिल जाता है।
5. **ज्ञानवाद**– जैन ज्ञानवाद पर जोर देते है। तीर्थकरों की आदे ों से सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है। इसके फलस्वरूप मनुश्य काम, क्रोध, मोह तथा लोभ को छोड़ देता है और उसे मोक्ष प्राप्त से जाता है।
6. **स्यादवाद**– ज्ञान सात प्रकार का हो सकता है।

   (1) है (2) नही है, (3) है और नहीं है, (4) कहा नहीं जा सकता, (5) है किन्तु कहा नहीं जा सकता, (6) नहीं है और कहा नहीं जा सकता, (7) है, नहीं है और कहा जा सकता है। इन्हें स्यादवाद के नाम से संबोधित किया गया है। इसका अर्थ है कि एक ही वस्तु को विभिन्न दृश्टि कोणों से देखने पर वह विभिन्न रूपों में दिखाई देती है।
7. **त्रिरत्न**– सम्यक् ज्ञान, सम्यक् द र्न तथा सम्यक् चरित्र को त्रिरत्न कहा गया है। सम्यक् ज्ञान का अर्थ है सच्चा और पूर्ण ज्ञान जो तीर्थकरों के उपदे । से प्राप्त होता है। सम्यक् द र्न का अर्थ है सभी व्यक्ति सभी प्राणियों को एकसमान समझें और तीर्थंकरों के अस्तित्व पर वि वास करें। सम्यक् चरित्र का अर्थ है कि मनुश्य अपने मन, वचन और कर्म पर नियंत्रण रखकर अपने चरित्र का गठन करे। इस त्रिरत्न की प्राप्ति के प चात् मनुश्य की आत्मा कर्म–बंधन से मुक्ति प्राप्त कर लेती है।
8. **पंचमहाव्रत**– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य को पंचमहाव्रत कहा गया हैं। हिंसा के लिए प्रोत्साहित नहीं करना चाहिए। सत्य को पूरा करने के लिए मनुश्य को क्रोध, लोभ और भय तीनों का परित्याग करना चाहिए। अस्तेय का अर्थ है बिना आज्ञा या अनुमति के किसी की वस्तु को नहीं लेना। अपरिग्रह का अर्थ है आव यकता से अधिक धन का संग्रह नहीं करना चाहिए। ब्रह्मचर्य का अर्थ है सभी विशय–वासनाओं का परित्याग। इसके द्वारा ही चरित्र निर्माण संभव है।
9. **तपस्या**– जैन धर्म में तपस्या पर अधिक बल दिया गया है। तपस्या द्वारा इन्द्रियों को व । में किया जात सकता है। अपने भारीर को कश्ट देना ही तपस्या है। पापों का प्रायि चत करने के लिए विनय, सेवा, ध्यान एवं स्वाध्याय है।

10. **निवृत्ति मार्ग**– जैन धर्म के सिद्धान्तों में निवृत्ति मार्ग का प्रधान स्थान है। जगत् के सभी सुखों का त्याग ही निवृत्ति मार्ग हैं। इस प्रकार जैन धर्म में निर्वाण या मोक्ष प्राप्ति के लिए उपर्युक्त सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है।

जैन संघ– महावीर के जीवन काल में ही जैन संघ की स्थापना हुई। इसके सदस्य चार भागों में विभक्त थे। भिक्षु, भिक्षुणी, श्रावक एवं श्रावकी। प्रथम दो वर्ग संसार त्यागने वाले परिव्राजकों के थे और अंतिम दो वर्ग गृहस्थों के । जैन संघ में रहने वाले श्रमणों के लिए पंच महाव्रत का पालन आव यक था। वे वर्शा ऋतु के अतिरिक्त सर्वदा भ्रमण किया करते थे और भिक्षाटन द्वारा जीवन निर्वाह करते थे। देवस्थान, सभामंडप, पारिवारिक–आवास, उद्यान गृहों में उनका ठहराना वर्जित था। भिक्षु प्रायः साधु व भुाद्ध प्रकृति के होते थे तथा अनु ाासन, त्याग और अनासक्त जीवन का पालन करते थे। आचारांग सूत्र में उनके लिए कठोर नियम बनाए गए थे। मन, वचन और कर्म से भुाद्ध रहना उनके लिए परम आव यक था।

जैन सम्प्रदाय– महावीर के मृत्यु के उपरान्त जैन धर्म प्रमुखतः दो सम्प्रदायों–भवेताम्बर और दिगम्बर में बंट गया। भवेताम्बर वे थे जो सफेद वस्त्र पहनते थे तथा दिगम्बर वे थे जो निर्वस्त्र (नंगे) रहते थे। गृह त्याग के तेरह महीने बाद महावीर ने यह अनुभव किया कि वस्त्रों का बंधन भी न रहे, और तब से वे निर्वस्त्र (नंगे) रहने लगे। अतः नग्न रहने का आचार जैन धर्म में आरंभ हुआ। भवेताम्बर वस्त्र पहनते है तथा इसे मोक्ष प्राप्ति में बाधा नहीं मानते किंतु दिगम्बर वस्त्र नहीं पहनते है तथा वस्त्र को मोक्ष प्राप्ति में बाधक मानते है।

कालान्तर में भवेताम्बर सम्प्रदाय के तीन उपसम्प्रदाय हो गए – (1) पुर्जराया (मूर्ति–पूजक या मंदिरमार्गी), (2) ढुढिया अथवा विस्तोला व (3) साधुमार्गी एवं तेरापंथी। पुजेरे मूर्तियों को वस्त्राभूशणों से सुसज्जित करके पूजा करते है। साधुमार्गी मूर्तिपूजा नहीं करते। 1760 ई0 में भिक्खन महाराज ने तेरापंथी सम्प्रदाय चलाया। इनके अनुदायी जैन सिद्धान्तों का अनुगमन करते है।

दिगम्बरों में भी तीन उप–सम्प्रदाय बन गए– (1) बीसपंथी, (2) तेरहपंथी एवं (3) तारण पंथी। बीसपंथी तीर्थकर क्षेत्रपाल, भैरव आदि की मूर्तियां पूजते हैं। तेरापंथी अपने मंदिरों में केवल तीर्थकरों की मूर्तियां रखते है। इसका एक उपसम्प्रदाय तारणपंथ था जिसे 15 वीं भाताब्दि से तरण–तारण स्वामी ने चलाया था। ये लोग मूर्तियों की पूजा नहीं करते थे। दिगंबरों में गुमानपंथी और तोतापंथी संप्रदाय भी है जिनका समाज पर बहुत कम प्रभाव है।

जैन साहित्य– महावीर के मूल उपदे ा 14 जिल्दों में संकलित थे जिन्हें पर्व कहा जाता था। ई० पू० चौथी भाताब्दी में जैन साधु जब दक्षिण भारत गए तो उन चौदह पर्वो का भोश जैन साधुओं ने एक नया संकलन तैयार किया जिसे बारह अंग कहा जाता है। ये है– (1) आचारागसूत्र (आचारांगसूत्र), (2) सूयगडंग (सूत्रकृतांग), (3) थाणंग (स्थानांग), (4) समवायांग, (5) भगवती सूत्र, (6) नायाधम्मकहाओं (ज्ञाताधर्मकथा), (7) अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरौपपादिकद ाां) (8) पण्हावागरणिआई (प्र नव्याकरणानि), (9) विवानासुचं (विभाकसुनम), (10) दिटिटवाय (दृश्टिवाद), (11) उवास–गदसाओं (उपासक दशा), (12) अंतगड़दसाओ (अन्तकृछश)

भवेताम्बर सम्प्रदाय के अनेक आचार्यो ने महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचनाएँ की । भद्रबाहु प्रथम (433–357 ई० पू०) ने "निर्युक्ति" और "भद्रबाहु संहिता" की रचना की। भद्रबाहु द्वितीय (प्रथम सदी) ने "न्याय ाास्त्र" लिखा। उमास्वाति ने (पहली सदी) "तत्वार्थाधिगम सूत्र" की रचना की। भद्रबाहु द्वितीय के ि ाश्य कुन्दकुन्दाचार्य (पहली सदी) ने "समयसार", "पंचास्तिकाय", "प्रवचनसार", "नियमसार" आदि ग्रन्थों की रचना की। सिद्धसेन दिवाकर ने "सम्मतितर्कसूत्र", "न्यायावतार" आदि लिखा। हरिभद्रसूरि (705–775) ने संस्कृत और प्राकृत में अनेक ग्रन्थ लिखे जिनमें न्यायावतारवृति, "न्यायप्रवे ा सूत्र" ाड्द ान समुच्चय आदि उल्लेखनीय है। हेमचन्द्र (12वीं सदी) लिखित "प्रमाण मीमांसा" और परि ाश्टपर्वन महत्वपूर्ण है। दिंगबर आचार्यों में विद्यानन्द, माणिक्यनन्दन (नवीं सदी), प्रभाचन्द, अमृतचन्द सूरि, देवसेन, भटटारक अनंतवीर्य (10वीं सदी), नेमीचन्द (11वीं सदी) ज्ञानचंद (14वी संदी) धर्मभूशण (16वी सदी) आदि प्रसिद्ध है।

जैन धर्म का प्रचार– महावीर ने सारा जीवन धर्म–प्रचार में लगाया। वै ााली का लिच्छवि भाासक चेतक महावीर स्वामी का भक्त था। उसकी आठ रानियां भी इस धर्म में श्रद्धा रखती थीं। उदयन भी जैन धर्म का अनुन्यायी बन

गया। अनके स्त्री पुरूश जैन धर्म के अनुयायी बन गए। निर्वाण के पहले महावीर ने अपने प्रधान ि ाश्य इन्द्रभूति को जैनियों का प्रधान वनाया। "इन्द्रभूति" ने इस धर्म का प्रचार किया। धर्म प्रचार के लिए महावीर ने एक संध गठित किया, जिसके सदस्यों की संख्या चौदह हजार थी।

एक परम्परा के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य (322–298 ई० पू०) ने कर्नाटक में जैन धर्म का प्रचार किया। वृद्धावस्था में चंन्द्रगुप्त अपना राज–पाट छोड़कर, जैन गुरू भद्रबाहु का ि ाश्य बन गया था। इसके बाद गुरू और ि ाश्य दोनों मिलकर दक्षिण में जाकर श्रवणबेलगोला नामक स्थान पर बस गए। चन्द्रगिरि नामक छोटी सी पहाड़ी पर चन्द्रगुप्त तपस्या किया करता था। वहीं उसकी मृत्यु हुई।

महावीर के निर्वाण के 200 वर्शो बाद मगध में भीशण अकाल पड़ा अनेक जैन धर्मावलबी भद्रबाहु के साथ दक्षिण की ओर चल पड़े। कुछ लोग स्थूलबाहु के नेतृत्व में मगध में ही रह गए। प्रवासी जैनियों ने भी धर्म का प्रचार किया। अकाल समाप्त होने पर दक्षिण भारत से प्रवासी जैन लौट आए उनका कहना था कि अकाल की स्थिति में भी उन्होंने बड़ी कठोरता से जैन धर्म के सिद्धान्तों का पालन किया है। लेकिन मगधवासी जैनियों ने ऐसा नहीं किया। अतः दोनों के विचारों में सामंजस्य उत्पन्न करने और भेदभाव दूर करने के लिए पाटलिपुत्र में जैन मुनियों की एक परिशद् बुलाई गई। इसका उद्दे य जैन धर्म के उपदे ों या सिद्धांतों का संकलन करना था। लेकिन दक्षिण के जैनियों ने परिशद् में सम्मिलित होने से इंकार कर दिया। इसी समय से दक्षिण के जैन दिगंबर तथा मगध के जैन भवेताम्बर कहलाने लगे।

चौथी सदी ई० पू० में कलिंग (उड़ीसा में) जैन धर्म का प्रचार हुआ। कालिंग नरे ा खारवेल ने इसे प्रश्रय दिया (खारवेल ने मगध और आंध्र के राजकुमारों को पराजित किया था। कालान्तर में मालवा गुजरात और राजस्थान में जैन धर्म का प्रचार हुआ। राश्ट्रकूट, गंग, कदम्ब और चालुक्य वं ा के जयसिंह सिद्धराज और कुमारपाल जैसे भाासकों ने इसका प्रचार किया। यद्यपि बौद्ध धर्म की तरह जैन धर्म को राजकीय संरक्षण प्राप्त नहीं हुआ तथापि जहाँ भी इसका प्रचार हुआ, वहाँ आज भी इसके अनुयायी है।

जैन सभा– जैन धर्म की प्रथम सभा चन्द्रगुप्त मौर्य के समय हुयी थी। इसे स्थूल भद्र ने आहूत की थी। उसी समय जैन सिद्धांतों का 12 अंगों में संकलन किया गया। दूसरी जैन सभा 512 ई0 में वल्ल्भी के जैन साधु देवधिंगणि की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। इस सभा में अंगों की रचनाओं के संकलन के साथ 84 आगमों की भी संख्या नि ि चत हुई तथा 12 उपांग भी संकलित किए गए।

जैन धर्म की देन– जैन धर्म ने वर्ण–व्यवस्था की कठोरता दूर करने का प्रयास किया। जैनियों ने संस्कृत भाशा त्याग दी तथा प्राकृत भाशा अपनायीं। प्राकृत लोकभाशा थी। जैनियों का धार्मिक साहित्य अर्द्ध मागधी में लिखा गया। छठी सदी में गुजरात के बल्लभी नामक स्थान में जैन ग्रन्थों का अंतिम रूप से संकलन किया गया। वल्लभी ि ाक्षा का मुख्य केन्द्र था। प्राकृत भाशा के कारण अनेक क्षेत्रीय भाशाओं वि ोशतः सूरसेनी का विकास हुआ, जिससे मराठी भाशा का उद्‌भव हुआ। जैनियों ने प्रारंभिक धर्म ग्रंथों को अपभ्रं ों में लिखा। जैन साहित्य में महाकाव्य पुराण, उपन्यास एवं नाटक है। अभी भी जैन साहित्य काफी संख्या में पांडुलिपि के रूप में है। आरा (बिहार), गुजरात और राजस्थान के जैन मंदिरों में ये पांडुलिपियां सुरक्षित है।

ck) /ke % xkre c)

जैन धर्म की भांति बौद्ध धर्म का भी अभ्युदय हिन्दू धर्म के विरोध में हुआ था। इस के आदि प्रवर्तक गौतम बुद्ध थे। उनका मूल नाम सिद्धार्थ था। उनका जन्म 563 ई० पू० में लुम्बनी नामक वाटिका में हुआ था। कहा जाता है कि जन्म होने पर वे खड़े हो गए, सात डग भरे और कहा यह मेरा अंतिम जन्म है। इसके बाद मेरा कोई जन्म नहीं होगा। उनके पिता का नाम भाुद्धोधन और माता का नाम मायादेवी था। भाुद्धोधन हिमालय तटवर्ती कपिलवस्तु गणराज्य के भााक्यवं ी भाासक थे। सिद्धार्थ के जन्म के सातवें दिन उनकी माँ महामाया की मृत्यु हो गयी, उनकी मौसी महाप्रजाति गौतमी ने उनका पालन–पोशण किया। उनका गोत्र गौतम था, इसलिए उन्हें गौतम भी कहा गया। गौतम के विशय में ज्योतिशियों ने भविश्यवाणी की थी कि या तो वे विख्यात ज्ञानी होंगे या चक्रवर्ती सम्राट। राजा भाुद्धोधन

यह नहीं चाहते थे कि सिद्धार्थ सन्यासी बने। उन्होंने सिद्धार्थ को अत्यंत भोग–विलास में रखा, ताकि वे संसार के सुखों से विचलित न हो सके। उन्हें प्रारंभ में विभिन्न विशयों तथा अस्त्र– ास्त्र की ि ाक्षा दी गई।

बचपन से ही सिद्धार्थ चिंतन ील प्रकृति के थे। एक बार बचपन में ही वृद्ध, रोगी तथा मृतक को पहली बार देखकर वे कॉप गए थे और दुःख से छुटकारा पाने का उपाय सोचने लगे। युवावस्था के प्रथम चरण में प्रवे ा करते ही सिद्धार्थ एकान्त स्थान में बैठकर जीवन मृत्यु एवं दुःखों पर घंटों चिन्तन करने लगे। यह देखकर उनके पिता काफी चिन्तित हुए और उन्होंने सिद्धार्थ का विवाह एक परम सुन्दरी कन्या य ोधरा के साथ करा दिया। य ोधरा, रामग्राम के कोलिय ग्राम की राजकुमारी थी। सिद्धार्थ ने लगभग बारह वर्शो तक गृहस्थ जीवन व्यतीत किया। इसी बीच इन्हें एक पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र जन्म की खबर पाकर उन्हें कोई प्रसन्नता नही हुई उनका मन और खिन्न हो गया । उन्होंने कहा ''राहू आ गया।'' इसलिए पुत्र का नाम राहुल पड़ गया। जन्म, जरा, रोग मृत्यु दुःख और अपवित्रता ने उन्हें संसार त्याग और निवृति की ओर उत्प्रेरित किया। अंततः एक रात सिद्धार्थ अपनी पत्नी य ोधरा तथा पुत्र राहुल को छोड़कर 29 वर्श की अवस्था में मुक्ति मार्ग की खोज के लिए निकल पड़े। इस घटना को बौद्ध साहित्य में 'महाभिनिश्क्रमण' कहते है।

सिद्धार्थ अपने प्रिय अ व कन्धक और सारथी छन्दक को लेकर रात्रि में ही राज्य छोडकर चल पड़े। रास्ते में उन्होंने अपने वस्त्र, आभूशण उत्तर डाले और श्रमण वस्त्र धारण कर लिया। ललितविस्तार के अनुसार सिद्धार्थ ने यह कार्य मैनेयों के नगर अनुवैनेय में सूर्योदय के समय किया जब वे भााक्य कोलिय और मल्ल के जनपदों से आगे निकलकर अनोमा नदी पार कर चुके थे। उन्होंने सात दिन अनुपिय नामक आम्र–अद्यान में बिताये। इसके बाद वे राजगृह पहूँचे जहॉ उनका राजकीय स्वागत किया गया। किन्तु इसका सिद्धार्थ पर कोई असर नहीं हुआ। वे सत्य की खोज में आगे बढते गये। वे आलारकालाय नामक सिद्ध तपस्वी के पास पहूँचे जो अपनी साधना, सांख्य द ान ओर वैरागय के लिए विख्यात थे। किन्तु सिद्धार्थ की ज्ञान पिपास यहाँ भाांत ने हुई। तब वे उद्रक से भिन्न योग का ज्ञान प्राप्त हुआ। किन्तु सिद्धार्थ का मन न लगा और सत्य की खोज जारी रही। भ्रमण करते हुए वे मगध जनपद के सैनिक सन्निवे ा उरूबेला पहूँचे जहाँ उन्होंने निरंजना नदी के तट पर एक वृक्ष के नीचे बैठकर छह वर्श तक घोर तपस्या की । प्राणयाम के अभ्यास से भारीर को काफी कश्ट देने के बावजूद भी उन्हें ज्ञान नहीं मिला। निराहार और एकाधर से उन्होंने भारीर को इतना कश्ट दिया कि वह अस्थिपंजर मात्र रह गया। उन्होंने महसूस किया कि भोजन ग्रहण करना चाहिए तथा काया को कश्ट देने से कोइ लाभ नहीं। इस तपः साधना में उनके साथ पाँच और परिव्राजक थे जो पंचवर्गीय भिक्षु (पॉच की गुट में भ्रमण करने वाले भिक्षु) कहे जाते थे। उनके नाम थे आंज, कौडिन्य, अस्सजि, वप्प महानाम और मछिय। इन तपस्वियों ने सिद्धार्थ के नैतिक और मानसिक जीवन में बहुत सहायता की थी। वे प्रकृति और कर्म के सिद्धान्तों की भी चर्चा करते थे तथा सांख्य और ब्राह्मणेतर चिन्तन पद्धति का भी अन्वेशण करते थे।

जातक कथा से विदित होता है कि सिद्धार्थ ने भोजन ग्रहण करने का नि चय कर उरूबेला के सेनानी की पुत्री सुजाता से भोजन प्राप्त कर अपना अन ान तोड़ा था। इस पर कौडिन्य सहित पाँच ब्राह्मणों ने पथ भ्रश्ट माना और वे उन्हे छोड़कर ऋशिपतन चले गये। तत्प चात् सिद्धार्थ, गया पहुँचकर वह वृक्ष के नीचे पुनः ध्यान मग्न हो गए। सात दिन और सात रात समाधिस्थ होकर उन्होंने निरन्तर निर्विहन तप किया। आठवें दिन वै ाख पूर्णिमा को उन्हें सत्य और ज्ञान का आलोक मिला। इससे उनका सम्पूर्ण भारीर और मन प्रका ित हो उठा और उन्हें "सम्बेधि" की प्राप्ति हुई। अतः वे "तथागत" और "बुद्ध" कहे गए। नीधि प्राप्ति का स्थान "बोधगया" और जिस वह वृक्ष के नीचे उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ वह "बोधि वृक्ष" कहा गया। अब बुद्ध के मन में यह भावना आई मैं तो जागा किन्तु जब मैं जगत को जगाऊॅ तभी मेरा जागना सार्थक है।

विभिन्न कश्टों ओर दुःखों से पीड़ित जनता को ज्ञान और सत्य की ि ाक्षा देने बुद्ध निकल पड़े। गया में उन्होंने तपस्सु और माल्लिक नामक दो बनजारों को उपदे ा देकर अपना अनुयायी बना लिया। समाज के भाूद्र और दलित वर्ग के प्रति उनके स्नेह और प्रेम का यह प्रमाण है। गया से वे का ी के ऋशिपत्तन (सारनाथ) नामक स्थान में पहुंचे। वहाँ उन्होंने अपना प्रथम धर्मोपदे ा दिया और उन पाँचों तपस्वियों को दीक्षा दी, जिन्होंने, उन्हें पथभ्रश्ट समझकर, उनका साथ त्याग दिया था। पाँचों तपस्वी उनके ि ाश्य बन गए। बौद्ध साहित्य में इसे "धर्मचक्र प्रवर्तन"

कहते है। फिर तो अनके लोग बुद्ध के अनुयायी बनाने लगे। उन्होंने अपनी ि ाश्य–मंडली का एक संघ बनाया। अपने ि ाश्यों को बुद्ध ने उपदे ा दिया । ''भिक्षुओं! अब तुम लोग जाओ भ्रमण करो, तुम लोगों के हित के लिए तुम में से कोई एक साथ न जाए! तुम लोग उस धर्म का प्रचार करो जो आदि–मंगल है, मध्य मंगल है, और अन्त–मंगल है।

min'k % ck) /ke d fl)kUr

बुद्ध ने परिव्राजक को अतिकिलमथ अनुयोग और कामसुखल्लक अनुयोग (काया–क्ले ा और काम–सुख) से बचने का उपदे ा दिया। उसे 'मज्झिम पतिपदा' (मध्यम मार्ग) का अनुसरण करना चाहिए तथा 'सत्य चतुश्टय (चार आर्य सत्य) का पालन करना चाहिए।

चार आर्य सत्य– (क) संसार में दुःख है, जीवन, वृद्धावस्था, मुत्यु सभी दुख हैं (ख) दुःख के कारण है, सभी कारणों का मूल है तृष्णा (लालसा) (ग) इनसे मुक्ति मिल सकती है एवं (घ) इनके उपाय भी है।

अष्टांगिक मार्ग– दुःखों के निवारण का मार्ग 'अश्टांगिक मार्ग' कहा जाता है।

ये आठ अंग निम्नलिखित हैः–

1. **सम्यक् दृष्टि**– सबसे पहले हमारा दृश्टिकोण ठीक हो। जैसा दृश्टिकोण होगा वैसा ही हमारा काम होगा, तदनुरूप उनका परिणाम होगा।
2. **सम्यक् संकल्प**– हमारे संकल्प ठीक हो। गलत काम करने का हम नि चय ने करें। हमारे विचार पवित्र और भाुद्ध हो।
3. **सम्यक् वाक्य–** हमारे वचन सही हो। बोलचाल ठीक नहीं रहने पर मनुश्य स्वयं तो दुः ाी रहता ही है, दूसरों को भी दुःख देता है। अतः सम्यक् वाक्य हो।
4. **सम्यक् कर्म**– हमारे कार्य सम्यक् हों। गलत काम करके मधुफल की आ ाा हम नहीं कर सकते।
5. **सम्यक् आजीविका**– हमारी आजीविका के साधन ठीक हो कोई गलत या बुरी आजीविका न अपनायें।
6. **सम्यक चेष्टा**– हमारी चेश्टाएं सही हो किसी लाभ की प्राप्ति के लिए गलत काम नहीं करें।
7. **सम्यक् स्मृति**– हमारी यादगारी सही रहे। स्मृति गलत रहने से भी हमारे भाव तथा विचार उनसे प्रभावित हो जाते है। गलत धारणा में हम गलत काम कर देते है।
8. **सम्यक् समाधि**– हमारा ध्यान सही हो आध्यात्मिक चेतना सही हो।

दस शील– बुद्ध ने नैतिक आचरण को भाुद्ध और संतुलन करने पर वि ोश बल दिया। इसके लिए उन्होंने दस भाील के उपदे ा दिए। ये दस भाील हैः– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, नृत्य–गान का त्याग, श्रृंगार–प्रसाधनों का त्याग, समय पर भोजन करना, कोमल भाश्या का त्याग एवं कामिनी कंचन का त्याग। इनमें प्रथम पाँच गृहस्थों के लिए आव यक थे परन्तु संघ में प्रवे ा करने के वाले भिक्षुओं के लिए दसों भाील का पालन करना अनिवार्य था।

अनिश्वरवाद तथा अनात्मवाद – बौद्ध धर्म मूलतः अनिश्वरवादी है सृष्टि का कारण ईश्वर नही बुद्ध ने ईश्वर के स्थान पर मानव प्रतिष्ठा पर ही बल दिया। इसी प्रकार आत्मा की परिकल्पना भी नही की परन्तु पुनर्जन्म को माना गया है। बुद्ध के अनुसार यह आत्मा नही जो पुर्नजन्म लेती है वरन् ये कर्म है इच्छाएं है जो पुर्नजन्म लेती हैं। इसलिए कर्मफल को माना गया है।

बौद्ध धर्म का प्रचार– ऋशिपतन में वर्शा ऋतु बिताने के बाद बुद्ध उरूवेला की और चल पडे। मार्ग में उन्होंने तीस पथभ्रश्ट नवयुवकों को अपना अनुयायी बनाया। उनके प्रधान का नाम भद्र था अतः ये भद्रवर्गीय कहलाये। उरूबेला पहुँचकर उन्होंने अग्निहोत्री जटिल ब्राह्मण के तीन ि ाश्यों – मुख्य क यप, नदी क यप और गया क यप को अपना अनुयायी बनाया। ये तीनों सगे भाई थे। उनके क्रम ाः 500,300 और 200 जटा–पंडित ि ाश्य थे। ये सभी बुद्ध के अनुयायी बन गए। अपने इन ि ाश्यों के साथ बुद्ध राजगृह आए, जहाँ सम्राट विम्बिसार ने उनका आदर किया और श्रद्धास्वरूप वेणुवन दान में प्रदान किया। राजगृह में संजय नामक तपस्वी अपने 250 ि ाश्यों के साथ बुद्ध के संघ में

सम्मिलित हो गया। इन ि ाश्यों में सारिपुत्र और मोग्गल्लान महान् विद्वान थे। राजगृह में अनेक लोग बुद्ध के अनुयायी बन गए।

भ्रमण करते हुए बुद्ध अपनी जन्मभूमि कपिलवस्तु पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपने परिजनों को उपदे ा दिया और कुछ को भिक्षु बनाया। वहाँ पर बुद्ध की पालक माता महाप्रजापति गौतमी ने भी प्रवच्या ग्रहण करने की उत्कट अभिलाशा प्रकट की । बुद्ध नहीं चाहते थे कि नारियां बौद्ध संघ में प्रवे ा करे। अपने परम ि श्य आनन्द के अनुनय–विनय करने पर बुद्ध ने गौतमी को प्रवज्या ग्रहण करने की अनुमति दे दी। इसके साथ नारियों पर कड़ा अनु ाासन रखा। इस तरह सर्वप्रथम भिक्षुणी संघ स्थापित किया गया। गौतमी की पुत्री, नन्दा और बुद्ध की पत्नी, य ोधरा भी प्रवज्या ग्रहण करके भिक्षुणी बन गई।

कपिलवस्तु से लौटते समय मार्ग में अनुपिय नामक स्थान पर महात्मा बुद्ध ने भााक्य भाासकों भद्रिक आनन्द, अनुरुद्ध, उपालि तथा देवदत्त को उपदे ा देकर उन्हें बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। आनन्द तो उनका कट्टर समर्थक बन गया, किन्तु देवदत्त उनका विरोधी बन गया। वह बौद्ध संघ से बुद्ध को हटाकर स्वयं संघ का प्रधान बनना चाहता था। किन्तु उसे इसमें कोई सफलता नहीं मिली। उसने तीन–बार बुद्ध की हत्या का प्रयास भी किया। एक बार उसने धनुर्धारियों को बहकाया , किन्तु बुद्ध के निकट पहुँचकर उनके ह्रदय परिवर्तित हो गए। दूसरी बार, देवदत्त ने गृद्धकूट पर्वत के ि ाखर पर से एक ि ालाखंड तब गिरवाया जव बुद्ध नगर की ओर आ रहे थे। इसमें बुद्ध के पैर के अगूठे में चोट आई। जिसकी बड़ी श्रद्धा से जीवक ने चिकित्सा की। तीसरी बार देवदत्त ने अपने भाासकीय हस्तिचालक को आदे ा दिया कि वह नालगिरि नामक हाथी को मदमस्त कर उस मार्ग पर छोड़ दे जिधर से बुद्ध आया जाया करते थे। किन्तु आ चर्य की बात यह है कि मदमस्त हाथी ने सूंड से बुद्ध के चरण रज को लेकर अपने मस्तक पर डाला।

बुद्ध ने राजगृह को अपना कार्य केन्द्र बनाया क्योंकि वहॉ अनेक सुविधायें प्राप्त थी। वहां वे सीतावन में ठहरे हुए थे तथा लोगों को उपदे ा दिया करते थे। श्रावस्ती का श्रेश्ठि सुदल यहीं बौद्ध धर्म ने दीक्षित हुआ था। उसने श्रावस्ती के राजकुमार जेत काफी स्वर्ण मुद्रायें देकर, जेतवन खरीद लिया और बुद्ध को दान दिया। उसे जेतवन विहार में बुद्ध ने पच्चीस वर्श विताए थे। भरहूत स्तूप की मूर्ति पर इस दान का दृ य अंकित है।

श्रावस्ती मं एक वि ाल विहार बनवाया गया था जिसकी आर्थिक सहायिका और संरक्षिका वि ाखा थी। वह अंग जनपद के मछिय ग्राम के सेठ की दुहिता थी। वह भी बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गई। उसने अपने अमूल्य ि ारोभूशण बेचकर पूर्वाराम विहार का निर्माण करवाया। भगवान बुद्ध जब कभी श्रावस्ती आते तो कभी जेतवन विहार में ठहरते और भी पूर्वाराम विहार में। वि ाखा ने वहां के परिव्राजकों के लिए भोजन, औशधि, स्नान धाटी आदि का प्रबन्ध कर दिया था।

बुद्ध को वै ाली यात्रा के लिए समस्त लिच्छवि संघ ने आमंत्रित किया था। उस समय वहॉ महामारी का बड़ा प्रकोप था लोगो का वि वास था कि बुद्ध के आने से महामारी समाप्त हो जाएगी। बुद्ध का वहां बड़ा स्वागत किया गया। आम्रपाली (वहाँ की गणिका) ने बुद्ध का आदर सत्कार किया तथा साथ ही आम्रपाली वन भी दान में दिया।

बुद्ध ने श्रावस्ती के तिस्स नामक भिक्षु की स्वयं परिचर्या की । वह चर्मरोग से पीड़ित था। बुद्ध स्वयं गरम जल से उसे स्नान कराया और नवीन वस्त्र धारण कराके भिक्षुओं से कहा ''तुम लोगों के माता–पिता नहीं हैं, इसलिए तुम लोग एक दूसरे के माता–पिता बनो।'' श्रावस्ती में ही उन्होंने अंगुलिमान नामक क्रूर डाकू का ह्रदय परिवर्तन किया। वह बौद्ध भिक्षु बन गया।

महात्मा बुद्ध पैतालिस वर्शो तक अनवरत धर्मापदे ा करते रहे। वे पावस काल को छोडकर बराबर पर्यटन पर रहते थे तथा विभिन्न नगरों ओर ग्रामों में जाकर लोगों के दुःख दूर करने का प्रयास करते थे। वे पूरब में चम्पा (भागलपुर) और संथालपरगना तक, पि चम में कुरूक्षेत्र के कम्पासदम्म और भुल्लकोट्ठित नगरों तक, उत्तर में कपिलवस्तु तथा दक्षिण में कौ ाम्बी तक के क्षेत्रों में गए थे। 25 वर्श उन्होंने श्रावस्ती में बिताये। विम्बिसार और प्रसेनजीत जैसे सम्राट, सुदल जैसे सेठ, जीवक जैस चिकित्सक, अंगुलिमाल जैसे डाकू आदि उनके अनुयायी थे।

बुद्ध का अंतिम कालः महापरिनिर्वाण– अस्सी वर्श की आयु में पावा के निकट कु ीनगर (कु ीनारा) में बुद्ध का निधन हो गया, बौद्ध साहित्य में इसे महापरिनिर्वाण कहा गया है। उनके दाह संस्कार के प चात् उनके भस्माव ोश

के लिए आठ दावेदार हो गए थे जिन्होंने उन पर स्तूप निर्माण की बात कही। इनमें प्रमुख थे – मगध सम्राट अजात भात्रु, वै ाली के लिच्छवि गण, पावा के मल्ल, कु ीनारा के मल्ल तथा रामग्राम के कोलियगण।

बुद्ध के प्रधान शिष्य– महात्मा बुद्ध के अनुदायियों की संख्या बहुत अधिक थी। किंतु उनमें कुछ ऐसे ि ाश्य थे जो बुद्ध के काफी निकट थे और बौद्ध संघ में इनकी प्रधानता थी। वे अपनी विद्वता और सच्चरित्रता के लिए भी प्रसिद्ध थे। उनमें सारिपुत्त, आनन्द, मौद्गलयान, उपालि, सुनीति, सुदल, आदि भिक्षु तथा य ोधरा, नन्दा, आम्रपाली , महाप्रजापति गौतमी आदि भिक्षुणियां प्रमुख उपालि थे।

बुद्ध के विरोधी– बुद्ध की बढती लोकप्रियता से कुछ लोग विक्षुब्ध थे। देवदत्त इनमें मुख्य का उसने तीन बार बुद्ध की जान लेने की कोि ा ा की । मगध, अंग, को ाल आदि के ब्राह्मणों ने भी बुद्ध का कड़ा विरोध किया और उनके धर्म की कटु आलोचना की।

ck) /ke! d! mRFkku d! dkj.k

बौद्ध धर्म के उत्थान के कारण निम्नलिखित है–

1. **सरलता**– बुद्ध के आद ा बहुत ही सरल थे और जीवन संबंधी उनकी दा ानिकता साधारण नियमों पर आधारित थी। सभी नियम युक्तिसंगत और तर्कसंगत थे। उपदे ाों की विवेचना बोलचाल की भाशा में की गई। तत्कालीन समाज में ब्राह्मणों ने धार्मिक जटिलता तथा कर्मकांड को बहुत बढ़ा दिया था, दूसरी ओर बुद्ध का धर्म सरल था अतः लोग उनकी तरफ आकृश्ट हुए। उन्होंने सभी वर्ग के लोगों के लिए मोक्ष प्राप्ति के द्वार खोल दिए।
2. **प्रभावशाली व्यक्तित्व**– बौद्ध धर्म के प्रचार में महात्मा बुद्ध के प्रभाव ाली व्यक्तित्व का व्यापक प्रभाव थे। उनका व्यक्तित्व आकर्शक तथा प्रभावोत्पादक था। वे स्वयं विद्वानों ने भी उनसे प्रभावित होकर बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था।
3. **बौद्ध संघ**– बौद्ध संधों का भी यथेश्ट योगदान है। संघ के भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों ने धर्म का प्रचार किया। उनके दो ही उद्दे य ये एक, धर्म के आद ाों का पालन कर अपने जीवन को उज्जवल करना तथा दूसरा जनसाधारण में बौद्ध धर्म का प्रचार करना ।
4. **संरक्षण–** महात्मा बुद्ध के धर्म के उत्थान का एक प्रमुख कारण यह भी था कि बड़े सम्राटों, राजाओं सेठ–साहूकारों एवं प्रभाव ाली व्यक्तियों ने इस धर्म को स्वीकार कर इसके प्रचार कार्यों में हाथ बंटाया था। स्वयं महात्मा बुद्ध एक राजकुमार थे किंतु उन्होंने सभी सुखों का त्याग किया। जनता इनसे काफी प्रभावित थी। मगध के महाराजा बिम्बिसार, कौ ाल नरे ा प्रसेनजीत, अवन्ति के राजा प्रधौत ने, इस धर्म का अपनाकर इसका खूब प्रचार कराया। अ ाोक ने अपनी पूर्ण–भाक्ति बौद्ध धर्म के प्रचार में लगा दी। धर्म की व्याख्या के लिए उसने स्वयं परिभ्रमण किया तथा इसके आद ाों को जहाँ–तहाँ खुदवाया। प्रजा के आचरण पर निगरानी रखने के लिए उसने कुछ अधिकारी नियुक्त किए। उसने दे ा में ही नहीं अपितु विदे ाों में इस धर्म का प्रचार कराया। उसके काल में बुद्ध की मूर्तियां बनने लगी थी तथा इसकी विधिवत पूजा भी भुारू हो गई थी। कनिश्क और हर्श ने भी बौद्ध धर्म को राजकीय संरक्षण दिया। पाल वं ा के राजाओं ने भी बौद्ध धर्म का खूब प्रचार प्रसार किया।
5. **लोकभाषा का प्रयोग**– उस समय सभी ग्रन्थ संस्कृत में थे। धार्मिक वाद–विवाद भी संस्कृत भाशा में लिपिद्ध होती थी। जन–साधारण उन्हें समझने में असमर्थ थे। भगवान बुद्ध ने अपना उपदे ा साधारण जनता की भाशा पालि में दिया, भिक्षुओं ने भी इसी भाशा में धर्मोपदे ा दिए। जनसाधारण पर इसका वांछित प्रभाव पड़ा।
6. **बौद्ध धर्म की मान्यताएं आर्थिक प्रगति के अनुकूल होना** – बौद्ध धर्म वैदिक परम्परा के विपरीत समुन्द्री व्यापार के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण दिया इसलिए वैश्य वर्ग ने ना केवल इस धर्म को अपनाया अपितु प्रोत्साहन भी दिया जैसे गया तथा सांची के स्तूपों में वर्णित दृश्यों से स्पष्ट है कि वैश्यवर्ग बौद्ध धर्म को अपनाकर नया दान आदि देकर विशेष प्रोत्साहन दिया।

बौद्ध धर्म का पतन– बौद्ध धर्म ही एक ऐसा धर्म है जो उसी देश में, जिस दे ा में इसका जन्म हुआ, लुप्त हो गया। किंतु विदे ों में खूब फला–फूला, जहाँ आज भी इसके अनुयायी है। भारत में 14वीं सदी तक इसका पतन हो गया। इसके निम्मलिखित कारण थेः–

1. **बौद्ध संघ में दोष**– कालान्तर में बौद्ध संघों में अनेक दोश आ गए। बौद्ध विहारों में भिक्षु–भिक्षुणियों की चारित्रिक पवित्रता नश्ट हो जाने के कारण उनके प्रचार कार्यो में ि ाथिलता आ गई थी। विहारों के प्रचुर धन राि ा से अब ये लोग विलासिता का जीवन बिताने लगे थे। लोगों की दृश्टि में बौद्ध विहार अब व्यभिचार के अड्डे बन गए थे। उनका चरित्र अब बिल्कुल प्रेरणादायक नहीं रहा।
2. **कर्मकांडों की प्रधानता**– बौद्ध धर्म धीरे धीरे कर्मकांडों से ग्रस्त हो गया। बुद्ध की प्रतिमा की पूजा और विधि विधान पर बल दिया जाने लगा। अतः इसमें भी एक ऐसे वर्ग का जन्म हुआ, जो अध्यात्म पर ध्यान न देकर धार्मिक विधि विधान पर अधिक ध्यान देने लगा। बौद्ध धर्म जब तक आडम्बरहीन रहा लोग इससे प्रभावित होते रहे। किन्तु जैसे–जैसे यह आडम्बरों से पूर्ण होता गया, लोग इसके प्रति आकर्शण खोते गए।
3. **बौद्ध धार्मिक सिद्धान्तों में मतभेद**– बौद्ध भिक्षु धार्मिक सिद्धान्तों को लेकर आपस में लड़ने लगे और एक दूसरे का विरोध करने लगे। बौद्ध साहित्य की संख्या भी बढ़ गयी। जिन कुरीतियों के कारण हिंदू धर्म का पतन हुआ था, वे सभी कुरीतियां बौद्ध धर्म में प्रविश्ट हो गई। जनसाधारण इस धर्म को नास्तिक धर्म समझकर इससे विमुख होता गया।
4. **ब्राह्मण धर्म का पुनरूत्थान**– इसी समय ब्राह्मण धर्म का पुनरूत्थान हुआ। ब्राह्मण विद्वान अपनी खोयी हुई प्रतिश्ठा पुनः स्थापित करने के लिए दे ा के के विभिन्न भागों का भ्रमण करने लगे। इनमें प्रमुख थे भांकराचार्य, कुमारिल भटट, रामानान्द, प्रभाकर आदि। इन्होंने जगह–जगह बौद्ध धर्माधार्यों से भाास्त्रार्थ किया और उन्हें तर्क द्वारा पराजित किया। इसका जनसाधारण पर अच्छा प्रभाव पड़ा।
5. **संरक्षण का अभाव–** बौद्ध धर्म के पतन का एक कारण यह भी था कि कालांतर में इसे राजा महाजराओं का वह संरक्षण नहीं मिला जो इसे पहले मिला था। सातवाहन राजाओं ने इस धर्म को अपनाया तथा इसे संरक्षण दिया। लगभग 200 वर्शों तक विदे ाी यूनानी इससे प्रभावित रहे। किन्तु अधिकां ा भाासकों द्वारा इस धर्म को कोई प्रोत्साहन नहीं मिला । गुप्त सम्राटों ने बौद्ध धर्म को नहीं अपनाया, बल्कि उन्होंने ब्राह्मण विद्वानों को प्रोत्साहन दिया। अतः बौद्धधर्म राजधर्म नहीं रह गया और इसका पतन प्रारंभ हो गया।
6. **बौद्ध धर्म में स्त्रियों का प्रवेश**– बौद्ध संघ में स्त्रियों के प्रवे ा से अनेक कुरीतियों का जन्म हुआ। महात्मा बुद्ध ने उनके आचरण संबंधी कठोर नियम बनाए थे। भिक्षु और भिक्षुणियों के रहने की व्यवस्था अलग–अलग थी। वे भिक्षुओं से किसी प्रकार का वाद–विवाद या संपर्क नहीं रख सकती थी। बुद्ध की मृत्यु के प ाचात् इन नियमों के पालन में ि ाथिलता आ गई। कुछ ही वर्शो में विहारों में स्त्रियों की संख्या अत्याधिक हो गई। भिक्षुओं के लिए ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करना असंभव हो गया। अतः विहारों का भाुद्ध वातावरण दूशित होने लगा तथा सदस्यों का नैतिक जीवन जनसाधारण की दृश्टि में हेय समझा जाने लगा।
7. **मुस्लिम आक्रमणकारी**– मुस्लिम आक्रमणकारी कट्टर थे तथा इस्लाम के प्रचार के लिए उन्होंने भारतीय धर्मों के विरूद्व जेहाद भाुरू कर दिया। हिंदू मंदिरों तथा बौद्ध विहारों को नश्ट कर दिया। भिक्षु–भिक्षुणियों की खुलकर हत्या की। नालन्दा जैसे बौद्ध ि ाक्षा केन्द्र को जला डाला। भारत के अधिकां ा बौद्ध केद्रों को मुसलमानों ने समाप्त कर दिया।
8. **राजपूत जाति का उत्थान**– राजपूत जाति का उत्थान बौद्ध धर्म के पतन का कारण बनी। युद्धप्रियता राजपूतों की स्वाभाविक प्रवृति थीं। वे बौद्ध धर्म के कट्टर विरोधी थे। जब उत्तर भारत क बड़े भाग में राजपूत सेर्वसर्वा हो गए, तब वहाँ बौद्ध धर्म को किसी प्रकार का संरक्षण नहीं मिला। राजपूत हिंदू धर्म के संरक्षक और पोशक थे।

बौद्ध सम्प्रदाय– महायान सम्प्रदाय की स्थापना का श्रेय नागार्जुन को है। इस सम्प्रदाय के लोगों ने बौद्ध धर्म के सिद्धांतों मे परिवर्तन किए। ये लोग मूर्ति पूजा के समर्थन थे तथा संस्कृत भाशा का प्रयोग करते थे। अब मानव बुद्ध की जगह "लोकोत्तर बुद्ध" की स्थापना हुई।

जिन लोगों ने महात्मा बुद्ध के मूल उपदे ों को ग्रहण किया वे 'हीनयान सम्प्रदाय' के गिने जाने लगे। उन्होंने बुद्ध के उपदे ों के अनुसार आचार–विचार की पवित्रता तथा ज्ञान वृद्धि के महत्व को प्रतिपादित किया।

बाद में चलकर बौद्ध धर्म में एक तीसरा सम्प्रदाय आया जो वज्रयान के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने बुद्ध को ऐसा आद ि पुरूश बनाया जिन्हें अलौकिक सिद्धियां प्राप्त है। नागपंथ आदि का प्रचलन हुआ।

'महायान' भाब्द का प्रयोग सर्वप्रथम कनिश्क के भाासन काल में हुआ, किन्तु इसका बीज महात्मा बुद्ध के उपदे ों में निहित है बुद्ध ने कहा था कि निर्वाण प्राप्त करने के तीन मार्ग हैः–

1. कुछ लोग दूसरों की चिन्ता किए बिना अपनों चिन्ता करते है। ऐसे लोग अर्हत बनकर अपने उद्दे य का प्राप्त कर सकते है। इस मार्ग को 'अर्हतयान' कहते है।
2. कुछ लोग अपनी मुक्ति के साथ साथ दूसरों का भी कल्याण सोचते है ऐसे लोग 'प्रत्यक्ष बुद्धायन' द्वारा अपने उद्दे य को पूरा करते है।
3. कुछ लोग अपनी चिंता न करके दूसरों के कल्याण के लिए हो जीते हैं और अपना संपूर्ण जीवन दूसरों के कल्याण में लगा देते है। ऐसे लोग "बुद्धयान" का मार्ग अपनाते है। महायान सम्प्रदाय के लोगों ने यही मार्ग अपनाया।

बौद्ध धर्म की देन– बौद्ध धर्म ने भारत की सभ्यता संस्कृति, चिंतन धारा, सामाजिक जीवन आदि को काफी प्रभावित किया है। इनकी देन निम्नलिखित हैः–

1. **कला व वस्तु कला के क्षेत्र में** – बोधिसत्व की मूर्तियां तथा स्तूप आदि बनने लगी। इसके अनुकरण में हिन्दु देवी देवताओं की मूतियों तथा मंदिर भी बनाई जाने लगी। अतः मूर्तिपूजा हिंदू धर्म का अभिन्न अंग बन जाने का एक कारण देवी–देवताओं की मूर्तियों का निर्माण प्रारंभ होना है।
2. **लोकभाषा का विकास**– तत्कालीन लोकभाशा पालि में उपदे ा देकर गौतम बुद्ध ने लोकभाशा के उत्थान का रास्ता खोल दिया।
3. **भारतीय इतिहास**– अहिंसा पर जोर देकर बौद्ध धर्म मे भारत की राश्ट्रीय प्रकृति का भाांतिमय बनाने में योगदान दिया।
4. **तर्कवाद को प्रश्रय**– बुद्ध ने धर्म के क्षेत्र में स्वतन्त्र चिन्तन और तर्क पर जोर दिया। इससे धर्म और द ान के क्षेत्र मे स्वतन्त्र चिन्तन को प्रोत्साहन मिला।
5. **पड़ोसी देशों के साथ सम्पर्क**– चीन, वर्मा, सिंहल आदि अनेक दक्षिण–पूर्वी एि ायाई दे ों में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। विदे ों से भी अनेक छात्र और जिज्ञासु विद्वान भारत आते थे। इससे इन दे ों के साथ भारत का धनिश्ठ सम्पर्क बढ़ा।
6. **बौद्ध धर्म की शिक्षाएं आर्थिक विकास के अनुकूल** – बौद्ध धर्म का अंहिसा पर बल और यज्ञों के विरोध ने पशुधन की रक्षा की जो कि कृषि, पशुपालन तथा व्यापार को समुन्नत करने में सहायक सिद्ध हुई।

v/;k; 8

ekS;Z lkezkT;

इसमें हम मौर्य साम्राज्य से लेकर इसके पतन तक के बारे में पढ़ेंगे। भारतीय इतिहास में मौर्य–साम्राजय का महत्वपूर्ण स्थान है। इसने भारत को चंद्रगुप्त मौर्य और अ ाोक जैसे महान् भाासक दिया। इन्होंने न सिर्फ विजेता के रूप में ख्याति अर्जित की वरन् लोक कल्याणकारी भाासन पद्धति का श्री गणे ा किया।

इस अध्याय में हम मौर्यकालीन भाासन व्यवस्था, अर्थिक व्यवस्था का अध्ययन करने के प चात उस काल में हुए कला के विकास का जायजा लेंगे। उसके बाद अ ाोक के धम्म और मौर्य साम्राज्य के पतन के कारणों के बारे में जानकारी हासिल करेंगें।

अध्याय मुख्यतः निम्नांकित भाीर्शकों में विभक्त है–

- *मौर्य साम्राज्य–श्रोत, चंद्रगुप्त मौर्य, बिन्दुसार, अ ाोक*
- *मौर्यकालीन भाासन प्रबंध*
- *मौर्यकालीन आर्थिक व्यवस्था*
- *मौर्य कला का स्थापत्य*
- *अ ाोक का धम्भ और प्रभाव*
- *मौर्य साम्राज्य का पतन*

स्थापना–325 ई० पू० यूनानी भाासक सिकंदर ने भारत पर आक्रमण किया था। इस समय मगध तथा भारत के बड़े हिस्से पर नंद वं ा के भाासक धननंद का भाासन था। एक दुराचारी भाासक था। 322 ई० पू० चाणक्य कौटिल्य की सहायता से चंद्रगुप्त मौर्य ने धननंद की हत्या कर दी और मौर्य साम्राज्य की नींव डाली।

Jkr&मौर्यवं ा के विशय में हमें निम्नांकित श्रोतों से जानकारी मिलती है।

(क) **ग्रंथों–** (i) कौटिल्य के अर्थ ाास्त्र

(ii) सोमदेव के कथा सरितसागर

(iii) वि ाखदत्त के मुद्राराक्षस

(iv) मेगास्थनीज के इंडिका

(v) क्षेमेंद्र के वृहत् कथा मंजरी

(vi) पंतजलि के महाभाश्य

(vii) जैन ग्रंथ–भद्रबाहु के कल्पसूत्र तथा हेमचन्द्र के परिि ाश्ट पर्वन

(viii) बौद्ध ग्रंथ जैसे– दीपवंश, महावंश, दिव्यावादन, अशोकवादन

(ख) **पुरातात्विक सामग्रीः** खुदाई से प्राप्त भवनों के अव ोश, मृदभांड, ताँबा, चाँदी के पंचमार्क सिक्के आदि।

(ग) **विदेशी विवरणः** मौर्य साम्राज्य के बारे में स्ट्रैबो, जस्टिन, एरियन, प्लर्यक तथा फिलार्कस आदि द्वार दिया गया विवरण काफी सहायक है। ऐरियन तथा प्लूटार्क ने चंद्रगुप्त मौर्य को "एण्ड्रोकोट् सैद" कहा है। वहीं स्ट्रैबो तथा जस्टिन ने उसे "सण्ड्रोकोट्स" कहा है। विलियम जोन्स ने सर्वप्रथम सैण्ड्राकोट्स की पहचान चंद्रगुप्त मौर्य वे रूप में की थी।

(घ) **अशोक के अभिलेखः** अ ोक के ि ालालेख मौर्य वं ा के विशय में अत्यधिक प्रका ा डालते है। अ ोक के 14 ि ालालेख, 13 लघु ि ालालेख, स्तंभलेख तथा अन्य लघु स्तंभ लेख इस वं ा और वि ोशकर अ ोक के बारे में वृहत् जानकारी प्रस्तुत करते है।

मौर्य वंश के शासक

(1) **चंद्रगुप्त मौर्य (322–298 ई० पू०)**–चंद्रगुप्त मौर्य इस वं ा का संस्थापक था। उसने भारत में एक वि ाल साम्राज्य की स्थापना की । एक वि ाल साम्राज्य स्थापित करने के उपरांत उसने उस पर एक कु ाल प्र ासक की तरह भाासन किया और लोक कल्याणकारी निरंकुश राजतन्त्रात्मक राज्य की स्थपना की। इस कार्य में उसे अपने गुरू कौटिल्य का बहुमूल्य योगदान प्राप्त हुआ।

चंद्रगुप्त के मूल (वं ा) के संबंध में विद्वानों में मतभेद है और अलग अलग ग्रंथ उसके मूल के बारे में अलग–अलग जानकारी देते हैं। ग्रीक लेखक जस्टिन ने उसे साधारण कुल का बता या है। लैन ग्रेंथों ने उसे ऐ मोरिया जाति के प्रधान का पुत्र बता या है। विश्णु पुराण के अनुसार वल निम्नकुल का था। इसी प्रकार "मुद्रा राक्षस" (वि ाालवदत्त रचित) ने उसे 'वृशल' और 'कुलहीन' कहा है। महावं ा ने उसे क्षत्रियकुल का बताया है। अब यह स्वीकार किया जाता है। कि चंद्रगुप्त मौर्य, मोरिया क्षत्रिय वं ा का था। इस वं ा का भाासन पिप्लिवन में था। बचपन में ही कौटिल्य ने उसे अद्भुत गुणों वाला बालक पाया था और उसे वह तक्षि ाला ले गया। वहां उसने अध्ययन किया और बाद में इसी की मदद से मौर्य ने नढवंश को उखाड़ फेंका। सर्वप्रथम उसने पंजाब और सिंध पर अपना निमंत्रण स्थापित किया। 323 ई० में सिकंदर की मृत्यु के बाद चन्द्रगुप्त ने मगध जीतने की योजना बनाई। एक भीशण के उपरांत उसने 322 ई० पू० धननंद को परास्त किया, मगध पर अधिकार कर लिया।

सेल्युकस, सिकंदर के पूर्वी साम्राज्य का क्षेत्रिय था। वह साम्राज्य विस्तार करना चाहता था। 305 ई० पू० में चंद्रगुप्त मौर्य और सेल्यूकस की मुठभेड़ हुई। संभवतः इस युद्ध में चंद्रगुप्त विजयी हुआ। युद्ध के उपरांत हुए संधि के अनुसार सैल्यूकर ने चंद्रगुप्त मौर्य को भारत के उत्तर पि चम के सारे प्रदे ा सौप दिए। सैल्युकस ने अपनी पुत्री का विवाह चंद्रगुप्त से कर दिया और मेगास्थनीज को चंद्रगुप्त के दरबारी में अपना राजदूत नियुक्त किया।

चंद्रगुप्त के अन्य विजयों के बारे में हूमें कोई विवरण प्राप्त नहीं हुआ है। परंतु रूद्रदमन के जूनागढ अभिलेख से पता चलता है कि मौर्य का प्रांतप्रति पुरूशगुप्त सौराश्ट्र पर भाासन करता था। इससे यह अनुमान लगता है कि सौराश्ट्र मालवा व अवंति प्रदे ा चंद्रगुप्त मौर्य के निमंत्रण में थे। उसका दक्षिण भारत के अधिकां ा भागों पर भी निमंत्रण था।

वृद्धावस्था में चंद्रगुप्त राज काज छोड़कर जैन मुनि–भद्रबाहु का ि ाश्य बन गया। एक जैन मान्यता के अनुसार उसेन पूर्ण जैन तरीके से श्रवण बेल गोला (मैसूर) में मृत्यु का वरण किया। जिस पहाड़ी पर उसने अपना अंतिम जीवन जिया उसे चंद्रगिरी कहते है।

(2) **बिंदुसार (298–273 ई० पू०)**– चंद्रगुप्त मौग्र के उपरांत उसका पुत्र बिंदुसार भाासक बना। उसके विशय में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। उसने अपने पिता के वि ाल साम्राज्य पर कु ालता से भाासन किया और दक्षिणी भारत के कुछ हिस्सों को साम्राज्य में मिला लिया। उसने "अमित्रघात" की उपाधि धारण की थी। वायुपुराण में उसे भद्रसार और जैन ग्रंथों ने सिंह सेन कहा है।

स्ट्रैबों के अनुसार यूनानी– ाासक एण्टिओकस ने "डायमेकस" नामक राजदूत तथा मिश्र के भाासक टॉलमी ने "डायनी सीयस" नामक राजदूत बिंदूसार के दरबार में भेजा था।

इसके काल में तक्षि ाला में दो विद्रोह हुआ था। जिसका मुख्य कारणर स्थानीय प्रातपति का कु ाासन था। इसका दमन अ ोक ने किया। दूसरे, विद्रोह के दौरान ही बिंदुसार की मृत्यु हो गयी थी। इसके उपरांत अ ोक भाासक बना।

(3) **अशोक (273–233 ई० पू०)**– बौद्ध परंपरा के अनुसार अ ोक ने अपने 99 भाइयों की हत्या करके सिंहासन पर बैठा। आधुनिक इतिहासकार इसे अति योक्ति मानते हैं परंतु इतना निश्कर्श अव य निकालते है कि उसका भाइयों से उत्तराधिकार के लिए संघर्श हुआ था और इसमें उसकी जीत हुई।

पुराणों में उसका नाम "अ ोक वर्धन" मिलता है। मस्की ि लालेख में उसका नाम "अ ोक" है। उसने "देवनांप्रिथम्" तथा "प्रियद ीं" की उपधियां धारण की थी।

अ ोक की एकमात्र विजय कलिंग विजय थी। कलिंग, मौर्य काल का एक भाक्ति ाली राज्य था। अ ोक ने भाायद सुरक्षा की दृश्टि और समुद्र तट पर अधिकार कर अपने साम्राज्य के प्रसार के लिए इस पर आक्रमण किया था। अपने भाासन के आठवें वर्श (61 वर्श) अ ोक ने कलिंग पर आक्रमण कर दिया और एक भीशण लड़ाई हुई। इस युद्ध में 1 लाख लोग मारे। 1.5 लाख बंदी बना लिए गए। इस रक्तपात से वह अत्यंत द्रवित हुआ और कभी भी युद्ध लड़ने की प्रतिज्ञा की। इसके उपरांत उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया।

उस समय अ ोक के साम्राज्य का विस्तार पूर्व में बंगाल से लेकर पि चम में अफगानिस्तान तक तथा उत्तर के क मीर से दक्षिण में सुदूर दक्षिण तक था।

कलिंग की विजय के उपरांत, अ ोक की जीवनधारा ही बदल गई। एक क्रूर भाासक मानव कल्याण का सबसे बड़ा प्रवक्ता बन गया और मानवता के उच्च आद ों को प्राप्त करने का प्रयास करता है। उसने अपन पूरा जीवन मानवता और अपनी प्रजा की सेवा में लगा दिया। उसके इन प्रयासों का उल्लेख उसके ि लालेखों में मिलता है। ि लालेख संख्या 6 में उसने लिखा है–"सपंपूर्ण वि व में भलाई करने से बड़ा अन्य कोई कर्तव्य नहीं है।" वं संसार के समस्त व्यक्तियों की भलाइ। करना चाहता था। अ ोक ने चंद्रगुप्त मौर्य के राज–धर्म, जिसके अनुसार प्रजा कल्याण ही राजा का धर्म है, को अधिक विस्तृत कर दिया। उसने न सिर्फ अपनी जनता की सुरक्षा और भौतिक उन्नत िका प्रयास किया वरन् उनकी नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति का प्रयास किया। इसके लिए उसने "धम्म" का प्रतिपादन किया।

'धम्भ' लोक कल्याण कह भावना से ओत–प्रोत थी और मनुश्य को मनूश्य से प्रेम करना और परस्तपर सहिश्णुता की भावना रखना सिखाती थी। इसके द्वारा उसने सदाचार पर जोर दिया, सत्यवादिता, अहिंसा, दान, आदि ऊँचे मानव मूल्यों को जीवन में उतारने पर बल दिया। सबसे बड़ी बात यह थी कि उसने खुद इन चीजों को अपने जीवन में उतार कर, लोगों के सामने एक आर्द ा स्थपित किया। लोक कल्याण और परोपकार की भावना से प्रेरित होकर उसने इंसानों तथा जानवरों के लिए अस्पताल खोले, सराय बनवाए, सकड़ी के दोनों तरफ छायेदार वृक्ष लगवाने आदि जैसे अनेक कार्य किए।

अ ोक ने वि व भाांति और मानवता का पाठ पढ़कर न सिर्फ भारतीय इतिहास में बल्कि वि व इतिहास में सम्मान का स्थान अर्जित किया। निःसन्देह, वह एक महान भाासक था।

मौर्य शासन प्रबंध

चंद्रगुप्त मौर्य ने अपने विजयों से सारे भारत को एकता के सूत्रा में बाँध दिया। जिस भाासन व्यवस्था को उसने स्थापित किया वह मौर्य वं ा के अंत तक बना रहा। उसके उत्तराधिकारी बिंदुसार और अ ोक ने राज्य के कर्त्तव्यों की व्याख्या को विस्तृत करके सम्राट और उसके भाासनाधिकारों को सहन ील और उदार बनाया। मौर्य भाासन प्रणाली का वर्णन हमें कौटिल्य रचित "अर्थ ास्त्र" तथा मेगास्थनीत के 'इंडिका' से मिलता है।

मौर्य प्र ासन का आधार सम्राट होता था और समस्त भाक्तियाँ उसमें निहित थी किंतु राजा अपने अधिकारों का प्रयोग लोक कल्याण और परोपकारी तरीके से करता था। उसके पास सैनिक, न्यायिक, वैधानिक और कार्यकारी सभी भाक्तियाँ थी। महत्वपूर्ण पदों पर वह स्वयं नियुक्ति करता था। साम्राज्य के आमात्य और पुरोहित के पद बड़े महत्वपूर्ण थे और इन पर नियुक्ति के पूर्व उम्मीदवार को खूब अच्छे तरीके से जांचा–परखा जाता था। इसे "उपधा परीक्षण" कहते हैं। मौर्यकालीन भाासन व्यवस्थाका विस्तृत अध्ययन हम निम्न भाीर्शकाके के अंतर्गत कर सकते हैं–

(क) **राज्य सिद्धांत–** मौर्यकाल में राजा के दैवीय सिद्धांत को मान्यता मिल चुकी थी वह अत्यंत भाक्ति ाली हो गया था। मौर्यकाल में गणराज्यों का ह्रास होने लगा था, इसके परिणामस्वरूप राजतंत्र की स्थिति सुदृढ़ हो गया था। राजा के अधिकार वं ानुगत थे। लेकिन यहां यह उल्लेखनीय है कि असीमित भाक्तियों के स्वामी होने के बावजूद भाासक स्वेच्छाचारी और निरंकु ा नहीं थे।

राज्य का प्रधान होने के नाते राजा को अनेक कर्त्तव्यों को निर्वाह करना पड़ता था। यही कारण था कि उसकी ि ाक्षा पर वि ोश बल दिया जाता था। राजा का प्रथम कर्त्तव्य राज्य के नागरिकों की रक्षा करना ओर उनकी उन्नति सुनि चत करना था। राज्य का कर्त्तव्य था कि वह व्यक्ति के नैतिक, भौतिक, आध्यात्मिक, भारीरिक आदि विकास में सहयोग करें।

कौटिल्य के अनुसार, राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपने राज्य की समृद्धि ओर भाक्ति विस्तार के लिए साम (संधि), दाम (धन), दंड (युद्ध) और भेद (शडयंत्र) आदि किसी या सभी युक्ति का प्रयोग करे। राजा को प्रदत्त सारी भाक्यिाँ जनहित के कार्यों के लिए है। मौर्य सम्राटों ने इसी आधार पर अपनी भाासन व्यवस्था स्थापित की।

(ख) **राजा–** राजा राज्य का प्रधान था। वह असीमित भाक्तियों का स्वामी था और उसके अधिकार वं ानुगत थे। मौर्य भाासक स्वेच्छाचारी नहीं थे और अपनी भाक्तियों का प्रयोग अपने मंत्रियों की सलाह से करते थे। सिर्फ योग्य व्यक्ति ही सिंहास न का दावेदार हो सकता था।

राजा की दिनचर्चा काफी व्यस्त रहती थी। उसे राज्य की रक्षा, न्याय, दैनिक प्र ाासन आदि अनेक बातों का ख्याल रखना पड़ता थ। राज्य की स्थिति की जानकारी वह गुप्तचरों से लेता था। उसे लोगों की समस्याएं सुननी होती थी और उनका हल ढूढंना होता था। जन साधारण राजा से मिल सकता था। राजा के कर्त्तव्यों के बारे में कौटिल्य ने लिख है, "प्रजा की प्रसन्नता मे उसकी प्रसन्नता, प्रजा के हित में उसका हित है। वह उसी कार्य को करेगा जो उसकी प्रजा के हित में है।" अपनी खु ाहाली के लिए ही प्रजा राजा को कर देती है।

राजा का जीवन महलों में गुजरता था। उसके महल वैभवपूण और सुख–सुविधाओं से परिपूर्ण थे। राजा के जीवन की रक्षा का पूरा प्रबंध सुनि चत किया जाता था। राजा भी व्यक्तिगत सुरक्ष हेतु स ास्त्र अंगरक्षिकायें होती थी। राजा को दिए जा रह भोजन और पेय पदार्थ की जांच की जाती थी।

राज्य सेना का सेनापति भी था और युद्ध के दौरान उनका नेतृत्व करता था। राज्य विस्तार राजा का एक प्रमुख कर्त्तव्य था।

(ग) **मंत्री परिषद्–** यद्यपि भाासक की भाक्तियाँ असीमित थी फिर भी वह निरंकु ा नहीं था उसे पराम र्ा देने के लिए दो सभाएँ थीं–

(i) मंत्री सभा (ii) मंत्री–परिशद

मंत्री परिशद में तीन से 12 सदस्य हो सकते थे और उनकी नियुक्ति योग्यता के आधार पर की जाती थी। मनुश्य अथवा प्रधानमंत्री का चयन इन्हीं में से होता था। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। राजा स्वयं इसकी नियुक्ति करता था और उसके चरित्र की गहनता से जाँच की जाती थी। मंत्री सभा के मंत्री, प्र ाासकीय विभाग के प्रधान होते थे और राजा को सलाह देते थे। यह सलाह सम्मिलित रूप से दी जाती थी। महत्वपूर्ण विशयों पर पहले मंत्री–सभा विचार करती थी। इन्हें वेतन दिया जाता था। वेतन 48,000 पन था।

मंत्रीपरिशद्, मंत्री सभा से बड़ी होती थी जिसमें 12, 16 या 20 सदस्य होते थे। परंतु कौटिल्य के अनुसार यह संख्या बढ़ाई जा सकती थी। इस परिशद् की बैठके गुप्त होती थीं और निर्णय बहुमत के आधार पर लिया जाता था। परिशद का राजा पर पूर्ण नियंत्रण होता था किंतु राज मंत्रिपरिशद की सलाह मानने को बाध्य नहीं था। मंत्रीपरिशद के सदस्यों को 12,000 पण वेतन के रूप में दिए जाते थे।

मौर्य काल के मंत्रीपरिशद की जानकारी हमें कौटिल्य के अर्थ ाास्त्र के अतिरिकत स्ट्रैबी तथ एरियन के विवरणों से भी मिलती है। इनसे ज्ञात होता है कि मंत्री सभा तथा मंत्री परिशद सिर्फ राजा को सला देने वाली संस्थाएं नहीं थी वरन् प्र ाासनिक कार्यों में भी सहायता देती थी। मंत्री सभा, मंत्री परिशद से अधिक श्रेश्ठ और

प्रभाव ाली थी। ये राजकुमार पर भी नियंत्रण रखते थे और साम्राज्य की अत्यंत गोपनीय बातें उन्हें ज्ञात होती थी। राजदूतों के स्वागत सत्कार एवं अन्य समारोहों में मंत्रीपरिशद के सभी सदस्य उपस्थित रहते थे।

(घ) **केंद्रीय शासन–अधिकारी–** मौर्य भाासन व्यवस्था अत्यंत सुव्यस्थित थी और केंद्रित नौकर ाही उसे आधार और मजबूती प्रदान करती थी। भीर्शस्थ अधिकारियों के 'तीर्थ' या 'आमात्य' कहते थे। यद्यपि तीर्थ भाब्द का प्रयोग केंद्रीय भाासन के अधीन, विभागों के लिए भी हुआ है। प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष एक आत्मात्य होता था। इन अमात्यों के नीचे कई उपविभागों के अध्यक्ष भी होते थे। ये भी महत्वपूर्ण और भाक्ति ाली होते थे। इनमें से कुछ नगर प्रबंध, कुछ सेना प्रबंध और कुछ बाजार प्रबंध के कार्य निश्पादित करते थे। कर वसूलों का कार्य इन्हीं के द्वारा होता था।

केंद्रीय भाासन में कुल 18 विभाग (तीर्थ) थे। अतएव, केंद्रीय भाासन में कुल 18 अमात्य (तीर्थ़) होत थे। इनके नाम इस प्रकार है–

(1) पुरोहित

(2) महामंत्री

(3) सेनाध्यक्ष– सेना का प्रधान। इसे 48,000 पण वेतन मिलता था

(4) दण्डपाल– पुलिस विभाग का प्रधान। इसे 24,000 पण वेतन मिलता था

(5) दौवारिक या द्वारपाल

(6) युवराज

(7) समाहर्ता– राजस्य विभाग का प्रमुख होता था। इसका कार्य आय व्यय का ब्यौरा रखना, वार्शिक बजट तैयार करना तथा राजस्व एकत्रित करना था। इसे 24,000 पण वेतन मिलता था।

(8) सन्निधता कोशाध्यक्ष– यह राजकीय कोश का मुख्य अधिकारी था। इसे भी 24,000 पण वेतन मिलता था।

(9) दुर्गपाल– दे ा के अंदर के दुर्गों का रक्षक

(10) अंतपाल या सीमारक्षाधिकारी– सीमावतीर्र दुर्गों का रक्षक

(11) अंतर्वि ाक– राजा की अंगरक्षक सेना का प्रमुख अधिकारी

(12) प्रदेश्टा– फोजदारी न्यायधी ा

(13) व्यावहारिक– प्रधान न्यायधी ा

(14) प्र ास्त्र– कारागार का अधिकारी

(15) नायक– नगर का प्रमुख अधिकरी

(16) पौर– कोतवाल

(17) कर्मान्ति– कारखानों का अधिकारी

(18) मंत्रि मण्डलाध्यक्ष

उपर्युक्त विभागों के पदाधिकारियों के अतिरिक्त कुछ अन्य महत्वपूर्ण अधिकारी का भी वर्णन 'अर्थ ास्त्र' में मिलता है जो मात्यों से श्रेश्ठता में कमतर थे। ऐसे लगभग 28 विभागों के अध्यक्षों का वर्णन मिलता है। इनमें प्रमुख थे–

(1) पण्याध्यक्ष – वाणिज्य का अध्यक्ष

(2) सुराध्यक्ष – भाराब का अध्यक्ष

(3) सूनाध्यक्ष – बूचड़खाने का अध्यक्ष

(4) गणिकाध्यक्ष – वे याओं का अध्यक्ष

(5) अकराध्यक्ष – खानों का अध्यक्ष

(6) पौतवालाध्यक्ष – माप–तौल का अध्यक्ष

(7) सीताध्यक्ष – कृशि विभाग का अध्यक्ष

(8) लक्षणध्यक्ष – टकसाल का अध्यक्ष

(9) कुप्पाध्यक्ष – वन संपत्ति का अध्यक्ष

(10) खनयाध्यक्ष – सांमर संपत्ति का अध्यक्ष

(11) मुद्राध्यक्ष – पार्सपोट का अध्यक्ष

(12) लौहाध्यक्ष – धातु का अध्यक्ष

(13) विविताध्यक्ष – चारागह का अध्यक्ष

(14) आमुघागराध्यक्ष – भास्त्रगार का अध्यक्ष

(15) पत्तशध्यक्ष – पैदन सेना का अध्यक्ष

(16) अ वाध्यक्ष – अ व का अध्यक्ष

(17) हस्त्याध्यक्ष – हाथियों का अध्यक्ष

(18) पत्तनाध्यक्ष – बंदरगाहों का अध्यक्ष

(19) सूत्राध्यक्ष – कपड़ो का अध्यक्ष

(20) मानाध्यक्ष – स्थान एवं काल का अध्यक्ष

(21) नौकाध्यक्ष – नावों का अध्यक्ष

(22) सुर्वणाध्यक्ष – सोने का अध्यक्ष

(23) कोश्ठाध्यक्ष – भंडार का अध्यक्ष

(24) कोशाध्यक्ष – खजाने का अध्यक्ष

(25) रक्षाध्यक्ष – रथों का अध्यक्ष

(26) गौआध्यक्ष – मवे ायों का अध्यक्ष

(27) द्यूताध्यक्ष – जुआखानों का अध्यक्ष

(28) बंधनागाराध्यक्ष – जेलों का अध्यक्ष

(ङ०) **प्रांतीय शासन–** चंद्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य अत्यंत वि ाल था। अतएव भाासन की सुविधा के लिए भाासन का विकेन्द्रीकरण अनिवार्य था। साम्राज्य प्रांतों में विभक्त था और प्रांतों 'विशयों' या 'आहार' में। भाासन के स्तर और उनके प्रधान नीचे दिखाए गए हैं। प्रांत प्र ाासन की सबसे छोटी

साम्राज्य (सम्राट)
↓
प्रांत (महामात्र / कुमार महामात्र)
↓
विशय (विशयपति)
↓

जिला (स्थानिक)
↓
ग्राम (ग्रामिक)

इकाई और ग्राम सबसे छोटी इकाई थे। प्रांतों की संख्या सही–सही ज्ञात नहीं फिर भी अनुमान है कि अ ोक के काल में प्रांतों की संख्या 5 थी–

	प्रांत	**राजधानी**
(i)	उत्तरापथ	तक्ष ाला
(ii)	दक्षिणापथ	सुवर्णगिरी,
(iii)	अवन्ति राश्ट्र	उज्जैन
(iv)	कलिंग	तोसाली
(v)	प्रा ी प्रदे ा	पाटलिपुत्र

मौर्य प्र ासन में दो प्रकार के प्रांत थे–एक वे जो अधीनस्य भाासकों द्वार भाासित थे (ऐसे प्रांतों के भाासक को महामात्र कहते थे), दूसरे वे प्रांत जो मौर्य–सम्राट के सीधे नियंत्रण में थे और जिन्हें प्र ासनिक दृश्टि से बांटा गया था (ऐसे प्रांतों पर अधिकां ातया राजकुमार युवराज नियुक्त होते थे और इन्हें कुमार महामात्र कहते थे। प्रांतों के महामात्र सम्राट के निदे ों के अनुसार भाासन चलाते थे।

विशय, विशयमित के अधीन थे। जिलों के प्र ासन स्थानिक के हाथों में रहता था। स्थनिक के अधीन गोत होते थे। प्रदेश्टि नामक अधिकारी, स्थानिक और गोप के कार्यों का निरीक्षण करता था।

प्र ासन की सबसे छोटी–इकाई ग्राम थी। गांव के मुखिया को ग्रामिक कहते थे। 'ग्रामिक' कहीं–कहीं निर्वाचित और कहीं–कहीं नियुक्त होते थे। वह गाँव के व्यक्तियों द्वारा निर्वाचित ग्राम सभा की मदद से गाँव का भाासन देखता था। ग्राम प्र ासन के अतिरिक्त वह न्याय भी करता था।

(च) **नगर प्रशासन**–नगर प्र ासन की व्यवस्था बहुत अच्छी थी। मेगास्थनीज के अनुसार नगर का प्र ासन तीस सदस्यों का एक मंडल भाता था। भाासन के लिए नगर बोर्डो (wards) में बांटा था। तीस सदस्यों मंडल 6 समितियों में विभाजित था, प्रत्येक में 5 सदस्य होते थे। हर सीमित अलग–अलग कार्य करती थी। इनका वर्णन निम्नलिखित है–

(i) ि ाल्पकला समिति–पाटलिपुत्र में ि ाल्पकारों संख्या काफी अधिक थी। पाटलिपुत्र एक व्यापारिक केंद्र था। उद्योगों का उदय भी हुआ था। अतः इनके निरीक्षण के लिए एक समिति गठित भर गई। यह समिति कलाकारों, श्रमिकों आदि का पारिश्रमिक भी निर्धारित करती थी। उत्पादन की भाुद्धता पर वि ोश ध्यान दिया जाता था।

(ii) वैदे िक समिति–यह राज्य में निवास कर रहे विदे ियों की देख–रेख करती थी। उसका कार्य विदे ियों की सुरक्षा, निवास स्थन, स्वास्थय आदि की व्यवस्था करना था। यही समिति विदे ियों के मृत्यु के प चात् उनकी क्रिया कर्म करती थी और उनकी संपत्ति उनके उत्तराधिकारियों को दे देती थी।

(iii) जनसंख्या समिति–यह समिति जन्म मरण का लेखा जोखा रखती थी। यह जनसंख्या गणना का कार्य करती थी और इसी के आकड़ों के आधार पर सरकार अपनी नीतियाँ बनाती थी। इन्हीं आकड़ों के आधार पर भरारोपण होता था।

(iv) वाणिज्य–व्यवसाय समिति–यह समिति व्यापारियों एवं वाणिको के कार्यों की देख–रेख करती थी। इस समिति का कार्य व्यापारियों के माल की बिक्री का प्रबंध करना तो था ही यह भी सुनि चित करती थी कि क्रेता ठगा न जाए और माप–तौल ठीक हो।

(v) वस्तुनिरीक्षण समिति–पाटलिपुत्र में उ़द्योग धंधे विकसित थे और इसलिए उत्पादों की देख–रेख और गुणवत्ता की जाँच के लिए एक समिति गठित की गई थी। मिलावट करना गैरकानूनी था और नियम विरूद्ध आचरण के लिए कठोर सजा होती थी।

(vi) कर समिति–यह समिति बिक्री कर वसूल करती थी। यह एक महत्वपूर्ण समिति थी। करवंचनाा के लिए कठोर दंड का प्रावधान था। ऐसा प्रतीत होता है कि कर चोरी के लिए मृत्यु दंड दिया जाता था।

पाटलिपुत्र का वर्णन मेगास्थानीज ने बड़े सुंदर ढंग से किया है। यह नगर गंगा और सोन के संगम पर बसा हुआ था। नगर की लंबाई नौ मील और चौड़ाई पौने दो मील थी। यह नगर चारों ओर से लकड़ी की दीवार थी। दीवार में 64 दरवाजे और 570 बुर्ज थे। इस दीवार के चारों ओर 600 फीट चौड़ी और 45 फीट गहरी खाई थी। जो सदैव पानी से भरी रहती थी। मेगास्थनीज के अनुसार नगर–निर्माण एक योजनाबद्ध तरीके से किया गया था और उसकी भाोभा अद्वितीय थी। नगर में सड़कों, तालाबों, चिकित्सालयों, विद्यालयों आदि की उचित व्यवस्था थी। मेगास्थनीज के अनुसार पाटलिपुत्र, उस समय भारत का सर्वश्रेश्ठ नगर था।

(द) **ग्राम प्रशासन**– प्रत्येक ग्राम में एक पंचायत होती थी जो गांव का भाासन देखती थी। पंचायत की मुखिया ही 'ग्रामिक' कहलाता था। वह पंचायत के सदस्यों की मदद से गांव का प्र ाासन चलाता थ। उसे ग्रामवासी चुनते थे और उसका पद अवैतनिक होता था। दस गाँवों के ऊपर एक गोप नियुक्त होता था तथा कई गई गोपों के ऊपर स्थानितक होते थे।

(ज) **न्याय प्रशासन–** मौर्य भाासकों की न्याय व्यवस्था का सर्वोच्च न्यायधी ा सम्राट होता था। कड़े दंडों का विधान था। साधारण दंडों के लिए जुर्माना या अर्थदंड किया जाता था और व्यभिचार की सजा अंग विच्छेद थी। गंभीर श्रेणी के अपराधों जैसे ि ाल्पी को चोट पहुँचाना, कट वंचना आदि की सजा मौत थी। कौटिल्य में तीन प्रकार के अर्थदंडों की उल्लेख किया है–

(i) पूर्व साहस दंड – 48 पण से 96 पण तक

(ii) मध्यम साहस दंड – 200 पण से 500 पण तक

(iii) उत्तम साहस दंड – 500 पण से 1000 पण तक

न्यायालय दो प्रकार के होते थे–

(i) केन्द्रीय न्यायालय–यह दो प्रकार के थे। एक में सम्राट फैसला करता था और दूसरे में मुख्य न्यायाधी ा।

(ii) स्थानीय न्यायालय–ये भी दो तरह के थे–दीवानी और फौजदारी। दीवानी अदालतों को धर्मस्थीय तथा फौजदारी अदालतों को कंटक ाोधन कहते थे।

इनके अतिरिक्त ग्राम पंचायतों को भी न्याय का अधिकार था। कुछ व्यापारिक संघों के भी न्यायालय थे। न्याय प्रणाली के सबसे निचले स्तर पर ग्राम न्यायाल था। 'संग्रहण' एवं 'द्रोणमुख' स्थानीय तथा जनपर स्तर के न्यायालय थे।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अभियोगों पर तीव्रता से विचार होता था और सुनवाई कर प्रक्रिया भी तेज थी। मृत्यु दंड के संबंध में अ ाोक ने यह नि ि चत किया किया सजा सुनाए जाने के तीन दिन बाद ही मृत्यु दंड दिया जाए।

(झ) **गुप्तचर विभाग**– यह विभाग "महामात्यापसर्प" नामक अमात्य के अधीन कार्य करता था। कौटिल्य ने गुप्तचरों को 'गुढ़ पुरूश' कहा है। मौर्य प्र ाासन में दो तरह के गुप्तचर थे–(i) संस्था (ii) संचार

(i) संस्था गुप्तचर एक स्थान पर टिक कर रहते थे और अना कार्य करते थे

(ii) संचार गुप्तचर इधर–उधर भ्रमण करते थे और गोपनीय जानकारियाँ एकत्रित करते थे। स्त्रियों को भी गुप्तचर नियुक्त किया जाता था। विदे ाी राज्यों में भी गुप्तचर भेजे जाते थे। गुप्तचरों के अनेक कार्य थे।

वे अपराधियों, भात्रुओं का भेद पता लगाते थे। वे सरकारी कर्मचारियों की गतिविधियों पर निगरानी रखते थे ओर उसकी सूचना सम्राट को देते थे। गुप्तचरों के ऊपर भी गुप्तचरों की नियुक्ति होती थी। जो गुप्तचर अपने कर्तव्य से विमुख पाए जाते थे उन्हें कठोर दिया जाता था। गुप्तचर विभाग साम्राज्य में व्यवस्था एवं भाांति बनाए रखने में महत्वपूर्ण और उपयोगी था। राज्य के कर्मचारी और अपराधी को गुप्तचरों का डर होता था।

(ञ.) **सैन्य प्रशासन–** मौर्य सम्राटों की सेना वि ााल और अति ाक्तिभााली थी। इस वि ााल सेना को संगठित करने का श्रेय चंद्रगुप्त मौर्य को जाता है जिसे अपने वि ााल साम्राज्य को नियंत्रण से रखने के लिए भी सेना भी आव यकता थी। सेना के चार अंग थे–पैदल सेना, घुड़सवार, हाथी और रथ। चंद्रगुप्त की सेना में 6 लाख पैदल सैनिक (जस्टिन के अनुसार) 50,000 घुड़सवार 9000 हाथी और 8000 रथ थे। प्रत्येक में 5–5 सदस्य होते थे। ये समितियाँ निम्न है।

	समिति	**कार्य**
1.	प्रथम समिति	जल सेना की व्यवस्था
2.	द्वितीय समिति	यातायात एवं रसद की व्यवस्था
3.	तृतीय समिति	पैदन सैनिकोकं की देख–रेख
4.	चतुर्थ समिति	अ वारोहियों की देख–रेख
5.	पंचम समिति	गज सेना की देख–रेख
6.	ाश्ट समिति	रथ सेना की देख–रेख

प्लर्यक और जस्टिन का कहना है कि चंद्रगुप्त ने नंदों की पैदल सेना से तीन गुनी अधिक (अर्थात लगभग 60,000 पैदल सैनिक) सेना लेकर पूरे उत्तर भारत पर नियंत्रण स्थापित किया। सैन्य विभाग का सबसे बड़ा अधिकारी सेनापति होता था। जिसे करीब 48,000 पण वेतन मिलता था। "नायक" युद्धक्षेत्र में सेना का नेतृत्व करने वाला अधिकारी होता था। इसे 12,000 पण वेतन मिलता था। अर्थ ाास्त्र से ज्ञात होता है कि मौर्यों के पास नौ सेना थी। सम्राट स्वयं सेना का प्रधान सेनापति होता था और युद्ध–क्षेत्र में युद्ध का संचालन करता था।

ek;ldkyhu vkfFkd 0;oLFkk

तत्कालीन भारत एक कृशि प्रधान दे ा था और इसलिए राज्य की आय का मुख्य श्रोत भूमिकर था। यूनानी लेखकों जैसे स्ट्रेको, ऐरियन आदि का कहना है कि भूमि पर राज्य का स्वामित्व था। वह किसी व्यक्ति की नीजि संपत्ति नही थी। मौर्य काल में भूमिकर उपज का 1/6 भाग या 1/8 भाग भी किया जा सकता था। मौर्य प्र ाासन ने सिंचाई पर वि ोश ध्यान दिया। जुनागढ़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि चंद्रगुप्त मौर्य सुद ान झील का निर्माण सिंचाई के लिया किया। मौर्यकाल में सिचाई कर उपज का 1/5 से 1/3 भाग होता था। राज्य कर वसूलने के लिए पदाधिकारी नियुक्त थे यूनानी लेखकों ने उन्हे "अग्रोनाभोई" कहा है। भूमि और सिंचाई की व्यवस्था का काम नहीं करते थे।

कौटिल्य ने अर्थ ाास्त्र में तीन प्रकार भूमि का उल्लेख किया है–

(i) कृश्ट भूमि – जिस भूमि की जोताई होती हो।

(ii) अकृश्ट भूमि – जिस भूमि की जोताई नहीं हाती हो।

(iii) स्थल भूमि – ऊँची भूमि

मौर्यकाल में कुछ अन्य प्रकार की भूमिका का उल्लेख है–

(i) अदवमातृक–अच्छे किस्म की उपज भूमि जिसपर बिना सिंचाई के ही अच्छी खेती होती थी।

(ii) सीता भूमि–सरकारी भूमि सीताभूमि कहलाती थी। इसकी देख–रेख सीता यज्ञ नामक अधिकारी करता था। इस भूमि से प्राप्त आय को 'सीता' कहा गया है।

मौर्य काल में वन को दो भागों में बाँटा गया था–

(1) हस्तिवन–जिस वन से हाथियों की प्राप्ति होती थी। ऐसे वन सुरक्षित रखे जाते थे क्योंकि कि इनसे सेना के लिए हाथी मिलते थे।

(2) द्रव्य वन–ऐसे वन जहां से लकड़ी आदि प्राप्त होते थे। राजकीय भूमि, चारागाहों तथा वनों से भाासन को अच्छी आय प्राप्त हो जाती थी। नगरों में निवासियों को मकान कर तथा जन्म–मृत्यु कर आदि भी देने होते थे। निम्न प्रकार के करों का उल्लेख मिलता है–

(i) बलि– एक प्रकार का धार्मिक कर था।

(ii) भाग– भूमि कर में राजा का हिस्सा था।

(iii) हिरण्य – वह कर जो अनाज के रूप में न लेकर नकद रूप में लिया जाता था।

सरकार को खानों, नमक, भास्त्र–निर्माण, मादक द्रव्यों, जुआ, वे वावृति आदि से भी आमदनी होती थी। ि ाल्पियों, व्यापारियों तथा अन्य दे ाों के लोगों को लाइसेंस लेना पड़ता था और उसके लिए भाुल्क देना पड़ता था। न्यायालयों द्वारा अपराधियों पर किए गए जुर्माने, भेंट (नजराने) निःसंतानों की सम्पत्ति आदि सरकारी आय के अन्य मुख्य साधन थे।

मौर्यकाल में बैंकिग सुविधा तो नही थी किंन्तु रूपया ऋण पर उपलब्ध था। जिसके लिए 15% और अधिक ब्याज देय होता था। कौटिल्य के अर्थ ास्त्र में मौर्यकालीन मुद्राओं के नाम इस प्रकार हैं–

(i) कर्शापण या पण – यह चांदी का सिक्का था।

(ii) सुवर्ण – यह सोने का सिक्का था।

(iii) भाशक – यह तांबे का सिक्का था।

मुद्राओं को 'लक्ष्णाध्यक्ष' नामक अधिकारी जारी करता था। कुछ सुनार स्वतंत्र रूप से सिक्के ढालते थे। जिसके लिए उन्हें राज्य को 13.5% भाुल्क के रूप में देना पड़ता था।

मौर्यकाल में व्यापार काफी विकसित था। व्यापार आंतरिक और विदे ाी दोनों प्रकार का था। मौर्यकाल में व्यापार स्थल मार्ग और जल मार्ग दोनों से होता था। इस काल में आंतरिक व्यापार के मुख्य केन्द्र थे–तक्षि ाला, का ाी, उज्जैन, कौ ाम्बी, पाटलिपुत्र आदि। सूती वस्त्र के लिए का ाी, बंगाल, पुण्ड्र और कलिंग प्रसिद्ध थे। यद्यपि रे ाम का आयात चीन से होता था तदापि का ाी ओर पुण्ड्र रे ाम के लिए ख्याति प्राप्त थी।

जल मार्ग का आंतरिक व्यापार के रूप में भी प्रयोग होता था। नदियों के मार्ग से नावों द्वारा यह संचालित होता थां बड़ी नदियों से बड़े नाव चलते थे। विदे ाों से वयापार के लिए सोपाटा महत्वपूर्ण बंदरगाह था। यह पि चमी तट पर स्थित था। भारत और मिश्र के बीच समुद्रिक व्यापार होता था। पि चमी तट पर ही एक समुद्री मार्ग भड़ोच तथा काठियावाड़ होते हुए लंका तक जाता था।

स्थल मार्गों और सड़कों द्वारा भी व्यापार संचालित होता था। प्रमुख व्यापारिक स्थल मार्गों के से एक पाटलिपुत्र को उत्तर पि चम प्रांतों से जोड़ता था। यह ताम्रलिप्ति तक जाता था। दूसरा महत्वपूर्ण मार्ग हैमवतपथ था जो हिमालय की तरफ जाता था। दक्षिण की ओर एक मार्ग श्रावस्ती से गोदावरी के तटवर्ती नगर प्रतिशठान तक जाती थी। व्यापारियों से व्यापार कर संगठित किया जाता था।

मौर्यकाल में हम देखते हैं कि राज्य ने आय के सभी स्रोतों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण स्थापित किया ताकि राज्य की आय के साधन बढ़ सके जो कि इतने बड़े साम्राज्य के बनाए रखने तथा सुदृढ़ करने के लिए अत्यन्त आवश्यक था। इसीलिए अधिक से अधिक भूमि को जोतने योग्य बनाने के लिए शूद्रों को भी बीज, पशुओं तथा आर्थिक सहायता देकर कृषक बनने को प्रोत्साहित किया। उद्योग धन्धों तथा व्यापार पर भी विभिन्न सुपरिन्टेन्डट नियुक्त कर

नियन्त्रण स्थापित किया। खनिज पदार्थों, शराब के निर्माण पर सीधे राज्य का अधिकार रखा। जिन्हें राज्य स्वयं बोली के आधार पर ढेके पर देती थी। राज्य के स्वयं के भी फार्म जिन्हें सीता भूमि कहते थे ओर भाड़े के मजदूरों से खेती कराई जाती थी। राज्य के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में रखा। पहली बार नियमित करों की एक लम्बी सूची देखने को मिलती है इस प्रकार राज्य की आय बढ़ाने के लिए राज्य ने विभिन्न कदम उठाए।

ek;Z dyk vkj LFkkiR;

मौर्यकला का स्थान भारत की प्राचीनतम कलाओं में है। भारत में कला का प्रेरणा भाक्ति सर्वदा धर्म रहा है। इसी कारण भारतीय मूर्तिकला तथा स्थापत्य कला मुख्यता देवी–देवताओं की मूर्तियों, मंदिरों, बिहारों आदि के निर्माण में अभिव्यक्ति पाता है। मौर्य कला पर भी धर्म का स्पश्ट प्रभाव देखने को मिलता है। मौर्य कलाकृतियों में हमें कलाकारों का सौन्दर्य बोध तथा कला के प्रति प्रेम स्पश्ट रूव से दिखाई देता है। अतएव मौर्य कलाकृतियाँ श्रेश्ठ है।

मौर्य कला पर विदे ी प्रभाव के संबंध में विद्वानों मे मतभेद है परंतु अधिकां ा इतिहासकारों ने मौर्य कला पर पि ायिन और ग्रीक प्रभावों को स्वीकार किया है। र्पा ायिनों स्थापत्य कला ओर ग्रीकों की मूर्ति कला भारतीयों से ज्यादा उन्नत थी। इसके अतिरिक्त भारत का इन दोनों से गहरा संबंध रहा है। यहां यह उल्लेखनीय है कि अ ाक को अभिलेखों की प्रेरणा पाि ाया के भाासक डेरियस प्रथम से मिला था। डेरियास ही अपने आदे ाों के प्राचार्य पत्थर के अभिलेखें का प्रयोग किया था। लेकिन मौर्य कला पूर्णताया र्पा ायिन तथा यूनानी कला न थी और न यह माना जा सकता हे कि मौर्य कला का निर्माण पूर्णतया पि ार्यन अथवा यूनानी कलाकारों की सहायता से किया गया था। मौर्य युग से पहल भी भारत में कलाकार थे जो लकड़ी और मिट्टी की छोटी–छोटी कलाकृतियाँ बनाते थे ओर वे भाीघ्र ही नश्ट हो जाते थे। मौर्य सम्राटों के संरक्षण में उनका विकास हुआ और उन्हीं कलाकारों ने मौर्य कला को जन्म दिया। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि मौर्य कला पूर्णतः भारतीय है।

मौर्य युग में मुख्यतः स्थापत्य कला का विकास हुआ यद्यपि कुछ मात्रा में ि ाल्प कला और मूर्ति कला का विकार भी हुआ। मूर्तिकला के क्षेत्र में कलात्मक विकास हम मौर्यकाल में पाते हैं। दीदारगंज (बिहार) से प्राप्त एक बड़ी सुंदर व वि ाल भारी मूर्ति मौर्यकाल के मूर्तिकाल के विकास का सुंदर नमूना है। यह मूर्ति अपनी चिकनी ओर चमकदार पालि ा के लिए प्रसिद्ध है। इस मूर्ति के दोनो ओर मोती की एक लड़ी सिर से नीचे लटकी है। डमरू के समान कान के आभूशण है। मोती की एक माश्ला स्तनों के बीच जटकी है और पेट के ऊपरी भाग को छू रही है। पैरों में वजनदार पायल है। मूर्ति को देखने के बाद इस ऊँचे दर्जे की कला तारीफ किए बिना नही रहा जा सकता । नारी– ारीर के आकर्शण की और सजावट को इससे सुंदर अभिव्यक्ति देखने को कम ही मिलती है। आभूशण बनाने और रत्नों के काम में भी मौर्य कलाकार प्रवीण था। पिपरहवा से प्राप्त स्फटिक प्याला मौर्यकाल की कृति है। पाटलिपुत्र से प्राप्त पुत्र "मुस्कुराते बालक" का भाीर्श और मौर्य कला का एक अनुपम उदाहरण है।

मौर्यकाल के सर्वश्रेश्ठ नमूने सम्राट अ ाोक के प्रस्तर स्तंभ है। ये स्तंभ लाल चती वाले सफेद पत्थर (जो मथुरा के समीपवर्ती इलाकों से प्राप्त हुए थे) और काले धब्बे वाले भूरे पत्थर (जो चुनार से प्राप्त हुये थे) विभिन्न स्तंभ विभिन्न ऊँचाइ तथा वजन के थे लेकिन उनमें निम्न समान्य वि ोशताएँ है–

(i) सभी स्तंभ पत्थर की एक ि ाला से काटकर बनाए गए थे और कहीं भी जोड़ नहीं था।

(ii) वे बेहर चिकने और चमकदार थे।

(iii) वे तीन हिस्सों में बाँटे जा सकते हैं–जमीन से नीचे का हिस्स, गोलाकार स्तंभ और भाीर्श। उनका जो भाग भूमि के अंदर था उसमें मोर बने हुए थे। मध्य क स्तंभ गोलाकार स्तंभ है। इस गोलाकार स्तंभ के ऊपर उल्टा कमल का फूल और उसके ऊपर पत्थर की गोल पट्टी जिसमें चक्र अथवा प ाु बने हुए थे और सबसे ऊपर एक या एक से अधिक प ाुओं की मूर्तियां थी। किसी स्तंभ के भाीर्श पर हाथी, किसी पर सिंह, किसी पर घोड़ा आदि है। जैसे–लौरिया नंदगढ़ भाीर्श पर सिंह है, रामपुरवा में साँड, सनकिन स्तंभ पर हाथी है।

इन स्तंभों में सारनाथ का स्तम्भ सर्वश्रेश्ठ माना जाता है। इसकी मुख्य वि ोशता इसका भाीर्श है। स्तंभ कें मुख्य गोलाकार भाग के ऊपर उल्टा कमल का फूल है। उसके ऊपर भी पट्टी पर 24 तीलियों वाला चक्र है। इनकी संख्या

4 है। इनके बीच में चार दि ााओं में हाथी, साँड, घोड़ा और सिंह बने है। पत्थी की इस गोल पट्टी के ऊपर चारों दि ााओं में मुख किये हुए और एक–दूसरे से पीठ लगाये चार खड़े सिंह है चारों दि ााओं में बुद्ध की भाक्ति का प्रतीक है।

भारत में अ ोक के 7 स्तंभ लेख मिले है–ये 6 अलग–अलग स्थानों से प्राप्त हुए है।

प्रयाग स्तंभ लेख, इलाहाबार

दिल्ली–टोपरा स्तंभ लेख, दिल्ली (पहले यह टोपरा में था। इसे फिरोज ााह तुगलक ने दिल्ली लाया)

दिल्ली–मेरठ स्तंभ लेख, दिल्ली (पहले यह मेरठ में था। इसे भी फिरोज ााह तुगलक दिल्ली लेकर आया था)

रामपुरवा स्तंभ चंपारण (बिहार)

लौरिया अराज, स्तंभा लेख, चंपारण, बिहार

लौरिया नंदगढ़ स्तंभलेख, चंपारण, बिहार

लघु स्तंभ कई अन्य स्थानों जैसे सारनाथ, रूम्मिनदेई, निग्लीवा, से भी प्राप्त हुए है।

मौर्यभुगीन वास्तुकला विकसित था। इस समय नगरों और अद्वितीय महलों का निर्माण हुआ था। ग्रीक विद्वानों ने चंद्रगुप्त के पाटलिपुत्र स्थित महल की तुलना पर्ि ाया के राजभवनों से की है। कई सौ वर्शो बाद फाहियान भी पाटलिपुत्र के राजप्रसादों और महलों को देखकर आ चर्य चकित रह गया था। अब तो इसके अव ोश ही भोश है। चंद्रगुप्त मौर्य का महल वि ााल रहा होगा ऐसा अनुमान लगाया जाता है। पाटलिपुत्र में 80 स्तंभों वाले एक वि ााल भवन मिला है।

गुहा काल का विकास भी इस काल में हुआ। अ ोक और उसके प्रयौत्र द ारथ ने बौद्ध और आजीवको के निवास के लिए गया के निकट बराबर की पहाड़ियों में गुहागृह बनवाए। नागार्जुन, सुदामा, कर्ण आदि नाम के इन गृहों को ठोस पत्थरों का काटकर बनाया गया था किंतु इसकी छते और दीवारें भी ों की भांति चमकती थी। ऐसी कलात्मक उपलब्धि न तो पहले और न ही बाद में भारत में देखनें की मिली।

अ ोक के काल में अनेक स्तूपों का निर्माण कराया गया। कहते है उससे 80,000 से भी अधिक स्तूपों का निर्माण कराया। स्तूप निर्माण मौर्य काल से पूर्व भी होता था किन्तु बाद में ये काफी अधिक संख्या में बनने लगे और बैद्ध धर्म की वि ोशता बन गए। स्तूप अर्द्ध–गोलाकार आकृति होते थे जिनका भीतरी कच्ची ईटों का तथा बाहरी भाग पकी ईटों को बना हुआ होता था। स्तूप के चारों ओर परिक्रमा के लिए पद–मार्ग होते थे, जिनके चारों ओर चहारदीवारी होती थी। अधिकतर स्तूपों की चहारदीवारी लकड़ी या पत्थर की होती थी और मुख्य स्तूप के निर्माण के बाद बनाई जाती थी। स्तूप बौद्ध भिक्षुओं की अस्थियों पर बनायें जाते थें।

साँची का स्तूप अ ोक द्वारा बनवाए गए उसका व्यास 36.5 मीटर और ऊचाई 23.25 मीटर है। इसी तरह के अन्य स्तूप नेपाल और श्रीलंका में भी है। अ ोक के काल के अधिकतर स्तूप नश्ट हो चुके है।

वास्तुकला के दृश्टि से मौर्यकालिन नगरों और उनके भवनों का अध्ययन भी महत्वपूर्ण है। अ ोक ने श्रीनगर और नेपाल के ललित पट्टन नामक भाहरों की स्थापना की। मेगास्थनीज और फाहियान ने पाटलिपुत्र नगर की भूरि–भूरि प्र ंसा की है। मेगास्थनीज ने पाटलिपुत्र को नौ मील लंबा और 2 मील चौड़ा बताया है। यह नगर लकड़ी के वि ााल दीवार से धिरी थी तथा इसमें 54 दरवाजें और 570 बुर्ज थे। राजभवन में सरोंवर और उद्यान थे। राजभवन का वि ााल भवन 80 खंभों वाला था।

इस प्रकार हम देखते है कि कला का खूब विकास हुआ। इनमें सर्वाधिक प्रभावित करने वाले अ ोक के स्तंभ थें।

v'kkd dk /kEe vkj mldk i:pkj

कल्हण की राजतरंगिणी के अनुसार अ ोक ि ाव का उपासक था, अर्थात वह ब्राहम्ण धर्म का अनुयायी था और लगभग 60 हजार ब्राहम्ण को रोज भोजन कराता था। किंतु कलिंग के युद्ध में हुए रक्तपात से वह अत्याधिक विचलित हो गया और उसने बौद्ध धर्म अपना लिया। और अब वह चण्डाशोक से धर्माशोक हो गया।

अगर हम अ ोक की धार्मिक नीति की बात करें तो हमें पता चलेगा कि अ ोक बैद्ध धर्म के प्रचार प्रसार के लिए अनेक कार्य किए। धर्म प्रचार के लिए उच्चधिकारियों की नियुक्ति की गई, मठों का निर्माण किया गया, पालि भाशा के माध्यम से उपदे ों को लोगों का बताया गया। धर्म प्रचार के लिए इसने अपने पुत्र महेंद्र और पुत्री संधमित्रा को विदे ा भेजा। इस प्रकार के अनेक कार्य से बौद्ध धर्म का प्रचार किया गया। प्र न उठता है कि अगर उसने बौद्ध धर्म कों राजधर्म बना ही दिया था तो धम्म की क्या आव यकता थी?

इस संबंध में विद्वानों ने दो तरह के विचार व्यक्त किए है। एक धारा के विद्वान का मत है अ ोक एक दयालु राजा था और अपनी प्रजा के नैतिक विकास के उद्दे य से उसने धम्म का प्रतिपादन किया। दूसरी धारा के विद्वानों का मत है कि अ ोक का धम्म एक कूटनीति चाल थी। उनका कहना है कि लंका तथा उत्तर पि चम के क्षेत्रों से संभावित खतरों को टालनें के उद्दे य तथा अपने वि ाल साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने के उद्दे य से अ ोक ने अपने नए धर्म धम्म का प्रतिपादन किया। वे कहते है कि चूँकि उस समय भी भारत में अन्य कई धर्म थे जो बौद्ध धर्म के सिद्धांतों को पूरी तरह नही मानते थें, अतः उनके कोप से बचनें के लिए धम्म का प्रयोग किया गया।

जो भी हो तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक वातावरण से प्रभावित होकर अ ोक ने एक नई विचारधारा या धर्म 'धम्म' का प्रतिपादन किया। यह उसके व्यक्तिगत धर्म अर्थात बौद्ध धर्म से अलग था और मूलरूप से यह मानवता की ि ाक्षा देता था। डा० भंडाटकर ने धम्म को "धर्म निटपेक्ष बौद्ध धर्म" कहा है। वही डा० स्मिथ के अनुसार "अ ोक का धम्म किसी एक संप्रदाय वि ोश से संबंधित न होकर सभी भारतीयों के लिए एक समान था।" सभी विद्वान इस बात पर एकमत है कि अ ोक ने बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्तों जैसे चार आर्य स्त्यानि तथा अष्टमार्ग का नही बल्कि उसके कुछ नैतिक सिद्धांतों का ही प्रचार किया जो बौद्ध धर्म से प्रेरित थे किंतु अन्य सभी भारतीय धर्मो में भी पाया जाता था। अ ोक का भाासन बहुत विस्तृत क्षेत्र पर था और उसके नागरिकों में परस्पर इतनें अधिक मतभेद थे कि उन्हें एक सूत्र में बाँधनें वाली किसी भाक्ति की जरूरत थी। भारतीयों कों बाँधनें के लिए धर्म से अच्छी कोई भाक्ति नही हो सकती थी। अतः अ ोक ने धम्म को चुना जा मानवता के ऐसे विचारों कों अपनाए जाने पर बल देती थी कि इसका कोई विरोध कर ही नहीं सकता था।

धम्म, प्राकृत भाशा का भाब्द है जिसका अर्थ धर्म होता है। अ ोक का धम्म अत्यंत विस्तृत था और मानवीय मूल्यों से पटिपूर्ण। इसके मुख्य तत्व निम्नलिखित थे–

1. **उचित व्यवहार–** धम्म का पहला सिद्धांत व्यक्ति को अन्य लोगों के प्रति उचित व्यवहार करने का सबक सीखता है। इसके अनुसार बड़े को सम्मान देना चाहिए और उनकी आज्ञा का पालन करना चाहिए। गुरू के प्रति श्रद्धा रखनी चाहिए तथा उनके द्वारा दिखाए गए मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। मित्रों से मित्रवत व्यवहार और सदभावना रखनी चाहिए। साधुओं का सत्कार करना चाहिए और उनके व्याख्यानों का ध्यानपूर्वक सुनना चाहिए। असहाय, दीन और दासों के प्रति मनुश्य की कृपा की दृश्टि रखनी चाहिए और यथा भाक्ति उनकी सहायता करनी चाहिए।

   इसी प्रकार बड़ों और गुरूजनों से अपने छोटों और ि ाश्यों से दया का बर्ताव करने की अपेक्षा की जाती है। नौकरों, बच्चों, गरीबों, अधीनस्थ व्यक्तियों से नम्र और सहानुभूति पूर्वक व्यवहार होना चाहिए।

2. **अहिंसा–** अहिंसा पर अत्यधिक बल दिया गया है। किसी भी जीव को चोट और कश्ट पहुँचाना पाप था। मांसाहार और ि ाकार करने वर्जित था। किसी भी जीव की हत्या पाप माना गया था। प ाु–बलि निशिद्ध था और इसका विरोध किया गया है।

3. **धार्मिक सहिष्णुता–** सभी संप्रदायों को दूसरें से सहिश्णुता रखनी चाहिए और दूसरे के धर्म को आदर की दृश्टि से देखना चाहिए। स्वयं अ ोक ने इसे व्यक्तिगत जीवन और भाासन प्रणाली का हिस्सा बनाया। उसने बौद्ध धर्म को राज्यधर्म तो अव य बनाया लेकिन दूसरें धमों से सहिश्णुता रखी उसका मानना था कि धर्म व्यक्तिगत आस्था की चीज है। अपने धर्म की सराहना और दूसरें धर्म की निंदा को अनुचित बताया गया था।

4. **सत्य–** अ ोक ने सत्य को मानवता का आभूशण माना है। मनुश्य को यथासंभव सत्य का प्रयोग करना चाहिए। अपने लधु ि ालालेख–II में अ ोक ने लागों को सत्य बोलने के लिए प्रेरित किया है।

5. **पाप से बचाना–** ईर्श्या, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि मनुश्य के भात्रु माने गए है। मनुश्य कों सदैव इनसे बचने का प्रयास करना चाहिए। ये बुराईयाँ ही मनुश्य के विचार का कारण बनती है।
6. **सदाचार का पालन–**मनुश्य को सदाचार के मार्ग पर चलना चाहिए। दया, दान, अहिंसा, पवित्रता, सत्य आदि सद्गुण माने गए है। अपने ि ालालेख–IV में अ ोक ने अपनी प्रजा को सदाचारी जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी है।
7. **कर्मकांड का त्याग–** धम्म लोगों से निरर्थक कर्मकांडों का त्याग का सच्चे धर्म के मार्ग का अनुसरण करने की सलाह दी है। उनसे कर्मकांड छोडकर धर्म–मंगल, धर्म–दान और धर्म–विजय के लिए कहा है।
8. **कर्म**–अ ोक कर्म और पुनर्जन्म में वि वास रखता था। उसका मत था कि मनुश्य को अपनें कर्मो का फल भोगना पड़ता है अतः उसने लोगों को सत्कर्म की सलाह दी। एक जन्म में किए गए कार्य का फल अगले जन्म में भी भुगतना पड़ सकता है। अतः मनुश्य को सदाचार और सत्कर्म करना चाहिए और जीवन को सफल बनाना चाहिए।

इस प्रकार पाते है कि व्यक्तिगत और सामाजिक नैतिकता और आचरण के नियमों ने अ ोक के धर्म का निर्माण किया। अ ोक का धर्म एक व्यावहारिक आचरण का धर्म था। अपनें 12 वें ि ालालेख में उसने लिखवाया था कि सभी व्यक्ति को एक–दूसरें से मीठा बोलना चाहिए, अपने ह्रदय कों भ्रुद्ध बनाना चाहिए, दूसरों की निंदा नही करनी चाहिए, धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन करना चाहिए और अंहिसा का पालन करना चाहिए। रेमिला थापर के अनुसार "अ ोक के लिए धम्म व्यावहारिक जीवन का ऐसा मार्ग था जिसें उसने अपने परिचित दा निकों के नैतिकता और नागरिक अत्तरदायित्व की भावना पर निर्भर था।" उसके धर्म का आधार बहुत व्यापक और सहिष्णु था। अशोक का धर्म व्यक्ति को समाज के लिए उपयोगी बनाता है और उसे सामाजिक उत्तरदायित्व सीखाता है।

अपने इस धर्म के प्रचार के लिए अ ोक ने निम्नांकित साधनों का प्रयोग किया–

(1) सर्वप्रथम उसने व्यक्तिगत आचरण को धम्म के अनुकूल बनाया। उसे अहिसा त्याग दी थी। मांसाहार छोड़ दिया और प ुबलि बंद कर दी गई। सार्वजिनक हित के कार्य संपादित किए और मुक्त हस्त दान दिया।

(2) उसने धम्म के सिद्धांतों का प्रचार किया। इसके लिए उसने ि ालालेख और स्तंभ लेखों का सहारा लिया। इन अभिलेंखों को हम चार भागों में बाँट सकते है।

(क) ि ालालेख – इनकी कुल संख्या 14 है।
(ख) लधु–ि ालालेख – इनकी कुल संख्या 13 है।
(ग) स्तंभलेख – इनकी कुल संख्या 7 है।
(घ) अन्यलधुस्तंभलेख – जो कई स्थानों पर मिले है।

अपने ि ालालेखों के माध्यम से अ ोक ने लोगों का धार्मिक आचरण के लिए प्रेरित किया। जैसे–

(क) प्रथम ि ालालेख – प ुबलि की निंदा की गई है।
(ख) तृतीय ि ालालेख – कुछ धार्मिक नियम उल्लेखित है।
(ग) चतुर्य ि ालालेख – धर्म संबंधी कुछ और नियमों का उल्लेख
(घ) पांचवें ि ालालेख – धर्म माहामांत्रों की नियुक्ति
(ड) सातवें ि ालालेख – अ ोक के धर्म यात्राओं की चर्चा
(च) आठवें ि ालालेख – अ ोक के धर्म यात्राओं की चर्चा
(छ) नौवें ि ालालेख – सदाचार की ि ाक्षा
(ज) चौदहवें ि ालालेख – जनता को धार्मिक जीवन के लिए प्रेरित किया है।

भाब्र (वैराट) लधु ि ालालेख में "धम्म" का उल्लेख किया है।

अ ोक ने अपने अभिलेखें कों स्थानीय लिपियों में लिखवाया ताकि ज्यादा लोग लाभन्वित हो सकें।

(3) उसने धार्मिक उत्सव और समारोहों की भाुरूआत की। रण–धोश का स्थान धम्म–धोश ने ले लिया।

(4) उसने धर्म महामात्रों की नियुक्ति की जो धार्मिक विचारों और सहिश्णुता का प्रचार प्रसार करते थे।

(5) उसने भात्रुक, प्रादे ाक और मुक्त नामक अधिकारियों को भी इस कार्य में संलग्न किया।

(6) अ ोक ने पाटलिपुत्र में तीसरी बौद्ध संगीति का आयोजन किया गया। इस सभा ने दे ा–विदे ा में धर्म प्रचारक भेजें। अ ोकों का पुत्र महेंद्र और पुत्री संधमित्रा भी इसी उद्दे य से श्री लंका भेजे गए। सीरिया, मिश्र, साइप्रस आदि अनेक दे ों में धर्म प्रचारक भेजे गए।

/kEe dk iHkko

अ ोक ने अपने धम्म के द्वारा मानव कल्याण की भावनाओं का विस्तार किया। भाांति और अहिंसा का पाठ उसने न सिर्फ अपनी प्रजा को पढाया वरन् सारी दुनिया में धर्म प्रचारक भेजकर उसने वि व को भान्ति का संदे ा दिया। अ ोक ने राजत्व के सिद्धान्त को नए आयाम दिए। कौटिल्य ने राजा का धर्म अपने प्रजा की सुख– ाांति बनाए रखना बताया है, अ ोक ने उसका विस्तार किया। सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अ ोक ने न सिर्फ कोरे उपदे ा दिए वरन् उन्हे अपने व्यक्तिगत जीवन में उतार कर लोगों के सामने उदाहरण पे ा किया। अ ोक से पहले भाायद ही किसी भाासन ने ऐसे अनुकरणीय उदाहरण अपनी जनता के समक्ष पे ा किए थे। उसके इन कृत्यों से जनता में मानव कल्याण की भावनाओं का विस्तार हुआ और उनके नैतिक चरित्र में सुधार आया। लोगों को ि ाक्षित करने के लिए नियुक्त अधिकरिओं ने मानव की सेवा और जीवों पर दया के सिद्धांत का प्रचार–प्रसार किया। लोक–कल्याण तथा मानवता के उच्च आद ों कों प्राप्त करना इनका मुख्य प्रयास था। इन प्रयासों से जहां एक ओर वह दे ा में धार्मिक सहिश्णुता और एकता कायम करने में सफल रहा वही विदे ों में भेजे गए धर्म प्रचारकों ने भारत की सभ्यता और संस्कृति को विदे ों में पहुँचाया।

अ ोक की धार्मिक नीति ही उसे संसार के महानतम् भाासकों में स्थान दिलाती है। डा० आर० के मुखर्जी ने कहा है कि अ ोक की महानता इस बात में नहीं कि उसनें एक मानव धर्म के बारे में सोचा वरन् इसमें है कि उसने उसे कार्यन्वित किया। अपने धम्म विजय, सदाचारी जीवन भौली पर बल, अहिंसा का सिद्धांत पर बल, सराय और अस्पतालों का निर्माण आदि अनेक मानवतावादी कार्य किए। डा० भंडारकर कहते है, "अ ोक का आद ा संसार के समस्त जीवों का भौतिक तथा आधात्मिक कल्याण करना था। डा० भार्मा ने अ ोक का प्राचीन वि व इतिहास का महानतम् धर्म प्रचारक भाासक बताया है।

इस एक नकारात्मक प्रभाव यह पड़ा कि उसने अपने सैन्य संगठन पर कम ध्यान दिया जिससे सैनिकों का मनोबल गिरा। इसका परिणाम हमें उसकी मृत्यु के उपरांत मौर्यो के पतन के रूप में देखनें को मिलता है।

ek;Z lkezkT; dk iru

अ ोक की मृत्यु 232 ई० पू० हुई और उसकी मृत्यु के साथ ही मौर्य सम्राज्य का पतन भाुरू हो गया। लगभग 185 ई० पू० अंतिम मौर्य–सम्राट बृहद्रथ को पदच्चूत कर पुश्यमित्र भाुंग ने इस वं ा का अंत कर दिया। इस प्रकार महान मौर्य–साम्राज्य अ ोक की मृत्यु के 47 वर्श बाद नश्ट हो गया। इतने बड़े साम्राज्य का इतनी तेजी से मिट जाना और वह भी तब जब अ ोक जैसे महान सम्राट ने लागों कों अहिंसा और मानवता का संदे ा दिया हों, अपनें आप में एक आ चर्य जनक घटना है। इतनें बड़े साम्राज्य के विखंडन के अनेकों कारण हो सकते है और इन कारणों के लेकर विद्वान में गहरा मतभेद है। कुछ विद्वान मौर्य साम्राज्य के पतन के लिए अ ोक की धार्मिक नीति को दोशी मानते है, तो कुछ कमजोर उत्तराधिकरियों को। कुछ ने ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया को इस वं ा के पतन का कारण माना है तो कुछ ने विदे ाी आक्रमणों की। हम इन सभी कारणों का वि लेशण करेंगें:

(1) **ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया–** डा० हरप्रसाद भास्त्री ने अ ोक के भाासन के विरूद्ध हुए ब्राहम्णों की प्रतिक्रिया को मौर्य वं ा के पतन का मुख्य कारण बताया है। उनके अनुसार, अहिंसा पर अत्यधिक जोर, कर्मकांडों का विरोध, धर्म महामात्रों द्वारा ब्राहम्ण धर्म का दमन, ब्राह्मणों के वि ोशाधिकार की समाप्ति आदि अनेकों ऐसे कारण थे जिन्होंने

ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया के उदय और विकास में सहयोंग दिया। उनका यह भी कहना है कि पुश्यमित्र सुंग जिसने मौर्य वं ा को उखाड़ फेंका ब्राह्मण ही था।

लेकिन श्री भाास्त्री के विचार पूरी तरह ठीक नही ज्ञान पड़ते। यह संभव है कि अपने वि ोशाधिकरों की समाप्ति से ब्राह्मण असंतुश्ट होंगे किंतु यह एक तथ्य है कि उसके नि ाानें पर थे। इसके अतिरिक्त पुश्यमित्र भाुंग का सेनापति के रूप में नियुक्त किया जाना यह द ार्ता है कि मौर्यो का ब्राह्मणों पर पूर्ण वि वास था। इस तरह बृहद्रथ का पदच्यूत होना किसी जन क्रान्ति का परिणाम नही थी।

(2) **अशोक का उत्तरदायित्व–** डा० राय चौधरी ने अ ोक की अहिंसा की नीतियों कों मौर्य साम्राज्य के पतन के लिए मुख्य रूप से जिम्मेवार माना है। उनका कहना है कि अपनी इस नीति के कारण अ ोक ने राज्य की भाक्ति क्षीण कर दी और सैनिकों का मनोबल काफी गिर गया। ऐसी स्थिति में उनसे आक्रांताओं का मुहँतोड़ जवाब देने की उम्मीद नहीं की जा सकती थी। श्री राय चौधरी ने अ ोक को मौर्य साम्राज्य के पतन के लिए प्रत्यक्ष रूप से दोशी माना है। इनका कहना है कि केन्द्रीय नियंत्रण के ढीला पड़नें से प्रांतीय प्र ाासक काफी स्वेच्छाचारी हो गए और जनता पर अत्याचार करने लगे। परिणाम स्वरूप लोगों में विद्रोह की भावना बलवनी हुई। कुछ विद्वानों का मत है कि अ ोंक ने धार्मिक तथा मानवतावादी कार्यो पर अत्यधिक धन खर्च किया और व ही प्रत्यक्ष रूप से मौर्यो के आर्थिक दुर्बलता का दोशी है।

डा० राय चौधरी का यह मत भी सर्व मान्य नही है क्योंकि इस बात के संकेत नही मिलते कि अ ोक ने अपनी सेना की संख्या में कमी कर दी थी। लेकिन इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि अहिंसात्मक नीति के कारण सैनिकों की आक्रमकता में कमी जरूर हुई होगी।

(3) **आर्थिक संकट**–डा० कौ ाम्बी ने मौर्य सम्राटों की आर्थिक दुर्बलता को उनके पतन के लिए दोशी माना है। एक भारी भरकम नौकर ाही और विस्तृत साम्राज्य के व्यय के लिए मौर्य भाासकों को अत्यधिक धन की आव यकता थी। अ ोक ने अपने भाासन काल में अनेक नए पद सृजित किए और धर्म प्रचार पर काफी धन व्यय किया। इन सब का परिणाम यह हुआ कि राज्य का व्यय तों काफी बढ़ गया लेकिन आय के साधनों में कोई वृद्धि नही हुई। इससे खजाना खाली हो गया। इसी आर्थिक संकट के कारण मौर्य साम्राज्य का पतन हुआ।

यह मत भी सर्वमान्य नही है। किंतु आर्थिक तंगी ने भी अपना योगदान पतन में जरूर दिया होगा।

(4) **निर्बल उत्तराधिकारी**–मौर्य साम्राज्य एक वि ाल साम्राज्य था और उसे नियंत्रण में रखनें के लिए योग्य भाासकों की आव यकता थी। अ ोक की मृत्यु के उपरांत कोई भी भाक्ति ााली और योग्य भाासक इस वं ा मे नहीं हुआ। अतः इसका पतन नि चत था। परवर्ती मौर्य भाासक न सिर्फ उत्तराधिकारी के लिए लड़नें में अपनी भाक्ति व्यर्थ गँवाते रहें वरन् उन्होंने सत्ता को सुख भोगने का एक साधन मात्र बना लिया। ऐसी स्थिति में न तो वे आंतरिक विद्रोहों का ही दमन कर सके और न ही विदे ाी आक्रांताओं से अपने प्रजा की रक्षा कर सके। योग्यता के आभाव में वे लोकप्रिय भी नही होते थे और यही कारण है कि पुश्यमित्र भाुंग ने बड़ी ही आसानी से अंतिम मौर्य भाासक से सिंहासन छीन लिया।

(5) **वृहत नौकरशाही**–डा० रोमिला थापर ने मौर्य साम्राज्य के पतन का सबसे मुख्य कारण उसकी केंद्रीय नौकर ाही को माना है। उनका कहना है कि मौर्य भाासन केंद्रीयकृत थी। और उसमें नौकर ाही की महत्वपूर्ण भूमिका थी। मौर्य भाासकों ने नौकर ाहों की योग्यता और वफादारी की जाँच ठीक ढंग से नही की। मौर्य काल में सारा भाासन एक व्यक्ति की योग्यता पर निर्भर हो गया। एक अति केन्द्रित भाासन व्यवस्था में सत्ता कुछ ही हाथों में सीमित थी। नौकर ाही के सही इस्तेमाल के लिए इनका योग्य होना अनिवार्य था। बाद में मौर्य भाासक अयोग्य थे और वि ाल नौकर ाही पर नियंत्रण नही रख सके और परिणामतः उसी के बोझ तले
दब गए।

(6) **विदेशी–आक्रमण**–भारत की उत्तर पि चमी सीमा सदैव ही असुरक्षित रही है। अ ोक की मृत्यु के बाद इस सीमा की रक्षा नही हो सकी। केंद्रीय भाासन के कमजोर हो जाने, आर्थिक संकट के गहरा जाने और आंतरिक अस्थिरता ने, विदे ी आक्रांताओं का नियंत्रण दिया। बार–बार होने वाले इन विदे ी आक्रमणों ने मौर्य साम्राज्य को निर्बल बना दिया और अंततः इसका अस्तित्व ही मिट गया।

इस प्रकार हम देखते है कि मौर्य साम्राज्य के पतन के अनेक कारण थे और इसके पतन में सभी कारणों ने योगदान दिया फिर भी कमजोर उत्तराधिकारी, आर्थिक संकट और वृहत नौकरशाही तथा कुछ हद तक अ ोक की नीतियाँ इसके लिए मुख्य रूप से जिम्मेदार थी।

v/;k; 9

ek;kÙkj dky

ये दोनों वं ा मौर्य सत्ता के पतन के बाद क्रम ाः उत्तर और दक्षिण भारत की बड़ी भाक्तियाँ थी। कुशाण वं ा का प्रतापी भासक कनिश्क एक महान भासक था।

सातवाहनों का इतिहास काफी अंधकार में है। हमें इनके उदय के काल और राजाओं के क्रम का ठीक–ठीक पता नही है। इस वं ा में गौतमी पुत्र भातकर्णी जैसा महान् भासक हुआ इसने भाकों को बुरी तरह पराजित किया और लगभग संपूर्ण दक्षिण–भारत और दक्षिण पि चम भारत पर अपना साम्राज्य स्थापित किया।

इस अध्याय में हम मौर्योत्तर काल के दो प्रमुख वं ाों का अध्ययन करेंगेः

- *कुशाण वं ा*
- *आंध्र–सातवाहन वं ा*

कुषाण वंश

मौर्य साम्राज्य के पतन के प चात अनेक विदे ाी आक्रमणकारियों ने भारत पर आक्रमण किया। इनमें कुशाण भी एक थे। इसने भारत में एक साम्राज्य बनाया जिसका प्रभाव सुदूर मध्य एि ाया, ईरान, अफगानिस्तान एवं पाकिस्तान तक था। यह साम्राज्य अपने चरमोत्कर्श के समय तत्कालीन वि व के बड़े साम्राज्यों के समकक्ष था। इसने भारत का विदे ाों से संपर्क स्थापित कराया और भारतीय संस्कृति कों प्रभावित किया। यही कारण है कि भारतीय इतिहास में उनके भाासन काल का महत्वपूर्ण स्थान है।

हूणों द्वारा पि चमी चीन ने निकाले जाने के उपरांत यू–ची कबीले ने भाकों को पराजित कर बैक्ट्रिया और ऑक्सस नदी घाटी का क्षेत्र जीत लिया और यही बस गए। यहाँ पर रहते हुए यू–ची जाति पाँच भागों में विभक्त हो गयी। इन्ही भााखाओं में एक का नाम कुशाण था। कालांतर में कुशाण के सरदार ने अन्य चार भााखाओं पर विजय प्राप्त कर ली और अपने राज्य की वृद्धि आरंभ की। इसी समय से ये सभी कुशाण कहलाने लगे। कुशाण वं ा के भाासकों का विवरण नीचे दिया जा रहा है–

(1) **कदफिस I (15ई०–65ई०)**– कदफिस प्रथम को कुजुल कदफिस के नाम से भी जानते है। वह कुशाण वं ा का प्रथम भासक था। उसने यू–ची जाति के सभी कबीलों को संगठित कर हिंदूकु ा के पार और पि ायिन प्रदे ाों पर कब्जा कर लिया। काबुल पर कब्जा कर उसने वहाँ से यूनानी सत्ता उखाड़ फेंकी। अपने अभियानों से उसने बैक्ट्रिया, संपूर्ण अफगानिस्तान, पूर्वी ईरान और भारत का उत्तर–पि चमी हिस्सा जीत लिया। वह अपने भारतीय राज्य का भाासन प्रत्यक्ष रूप से नही करता था वरन् अप्रत्यक्ष रूप से अपने प्रतिनिधियों द्वारा करता था।

(2) **कदफिस II (65ई०–78ई०)**– कदफिस II को वीम कदफिस के नाम से भी जानते हैं। उसने अपने पिता की भांति ही अपने साम्राज्य का विस्तार किया। वह एक योग्य और महत्वकांक्षी भासक था। उसने भारत के आंतरिक भागों पर विजय प्राप्त किया। इसने सिंधु नदी के पार तक्षि ाला और पंजाब के क्षेत्र विजित किए। कदफिस I ने केवल ताँबे के सिक्के ही जारी किए थे जिस पर 'महाराजाधिराज' और 'धर्मधिदस' आदि भाब्द खुदा हुआ है। लेकिन कदफिस II ने सोने और तांबे दोनों के सिक्के जारी किए। इन सिक्कों पर भारतीय प्रमाण स्पश्ट दिखाई देता है क्योंकि इनपर एक तरफ यूनानी लिपि तथा दूसरी तरफ खरोश्ठी लिपि खुदी है। कुछ सिक्कों पर ि ाव, नंदी और त्रि ाूल की आकृतियाँ भी अंकित हैं। इससे ज्ञात होता है कि वह भौव मत का अनुयायी था।

(3) **कनिष्क (78ई०–102ई०)**– कुशाण भाासक कनिश्क से सिंहासनारूद होने की तिथि के संबंध में इतिहास कारों में मतभेद है। इसे 78ई० से लेकर 144ई० के मध्य के किसी समय को माना जाता है। फिर भी इतिहासकारों में इस बात को लेकर कोई विवाद नहीं ही कदफिस II के उपरांत कनिश्क गद्दी पर बैठा। वह निःसंदेह इस वं ा तथा भारत के महान भाासकों में एक था। जब कनिश्क सिंहासन पर बैठा कुशाण साम्राज्य में मध्य एि ाया, अफगानिस्तान और पि चमोत्तर भारत सम्मिलित थे। भाासक बनने से पूर्व वह कदफिस II के पूर्वी भारतीय साम्राज्य का 'क्षत्रप' था। इस प्रकार वह भारत में ही रहा था। कदफिस II की मृत्यु के बाद के उत्तराधिकार के युद्ध में वह विजयी रहा और सर्वप्रथम उसने पे ाावर (पुरूशपुर) को अपनी राजधानी बनाया। ऐसा इसलिए कि पे ाावर इसके साम्राज्य के मध्य में था इसके उपरांत उसने अपना साम्राज्य विस्तार भाुरू किया।

कनिश्क एक साम्राज्यवादी और महत्वकांक्षी भाासक था। कनिश्क के विजयों के बारे में विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है फिर भी प्राप्त जानकारी के अनुसार उसका साम्राज्य उत्तर में क मीर से लेकर पि चम में रभे ासन तक फैला हुआ था। अपने भाासन काल में अनेक विजय प्राप्त किए। उसने उत्तरी सिंध और कश्मीर पर विजय दक्षिण मे खोतान तथा पूर्व में बिहार ओर पश्चिम में खोरासन तक फैला हुआ था। जमाया और स्वयं अपनी सेना सहित पाटलिपुत्र पहुँच गया। ग्रंथों से ज्ञात होता है कि कनिश्क ने पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर वहाँ के भाासक को पराजित किया और हर्जाने के रूप में अ वधोश, बौतम बुद्ध का भिक्षापात्र तथा एक अनोखा क्कुट प्राप्त किया था। संपूर्ण उत्तरी भारत विजित करने से उसकी दक्षिणी सीमा नर्मदा नदी के तट तक जा लगीं।

भारत के बाहर भी कनिश्क ने अपना साम्राज्य विस्तार किया। चीनी श्रोतों के अनुसार कनिश्क चीनी राजकुमारी से विवाह करना चाहता था। उसने चीन के सम्राट क पास इस आ ाय का संदे ा लेकर दूत भेजा लेकिन चीनी भाासक ने उसे अस्वीकार कर दिया। इस पर कनिश्क ने चीन पर आक्रमण कर दिया लेकिन इस युद्ध के परिणाम के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ का मानना है कि इसमें कनिश्क को विजय श्री मिली तो कुछ अन्य इस मत के समर्थक है कि वह पराजित हुआ और उसे एक अपमानजनक संधि पर हस्ताक्षर करना पड़ा। कुशाण भाासक कनिश्क ने एक वि ाल साम्राज्य भी स्थापना की। पामीर पठार और हिजन्दूकु ा पर्वत के उस पार तक अपने साम्राज्य का प्रसार करने का श्रेय कनिश्क को हो प्राप्त है। लगभग 23 वर्श भाासन करने के उपरांत कनिश्क की मृत्यु हुई।

कनिष्क का शासन प्रबंध– कनिश्क के भाासन प्रबंध के विशय में कुछ वि ोश जानकारी उपलब्ध नही है लेकिन उपलब्ध जानकारियों से ज्ञात होता ाहै कि कनिश्क एक योग्य भाासन प्रबंधक था। उसने अपने वि ाल साम्राज्य को प्रांतों में बाँट रखा था। अपनी राजधानी पुरूशपुर से कुछ प्रदे ों पर वह प्रत्यक्ष रूप से भाासन करता था। अन्य प्रांतों पर उसके द्वारा नियुक्त क्षत्रय भाासन करते थे। उत्तर पि चमी भारत में 'लल', 'वे पि ा' और 'लियके', मथुरा में 'खरमल्लान', बनारस में 'वनस्सपर', कौ ाम्बी में 'धनदेव' तथा अयोध्या में 'सत्यमित्र' उसके क्षत्रपों के रूप में कार्य करते थे। उसके भाासनकाल में मध्य–एि ाया, चीन और रामन साम्राज्य के साथ भारतीय व्यापारियों के व्यापारिक संबंध बहुत बढ़े हुए थे। कनिश्क के रोमन सम्राट से धनिश्ठ संबंध थे। कनिश्क का राजदूत रोमन सम्राट के दरबार में रहता था।

कनिश्क ने दो प्रकार के सिक्के जारी किए–एक की लिपि यूनानी और दूसरे प्रकार की पि ार्यन। उसके सोने के सिक्के रोमन सम्रायें के सिक्कों के सदृ ा हैं। इन सिक्कों पर एक तरफ स्वयं उसकी और दूसरी तरफ किसी देवी/देवता की मूर्ति अंकित है।

कनिष्क का कला और साहित्य प्रेम– कनिश्क कला और साहित्य का प्रेमी था। यही कारण है कि उसके समय कला और साहित्य ने उन्नति की। उसने अपने काल में अनेक स्तुप, बौद्ध–मठ, ि ाला–अभिलेख और स्तंभों का निर्माण कराया। अपनी राजधानी को सुंदर इमारतों से सु ोभित किया। बुद्ध के अस्थि–अव ोश पर उसने एक बुर्ज बनवाया जो 400 फीट ऊँचा था। उसमें 14 मंजिलें थीं और उस पर लोहे की एक ि ाखर था। यह बुर्ज छठी भाताब्दी तक विद्यमान था।

मूर्तिकला के क्षेत्र में इस काल में वि ोश प्रगति हुई। "गंधार भौली" का विकास इसी काल में हुआ। यह भौली भारतीय और युनानी भौली का मिश्रण थी। इस भौली में महात्मा बुद्ध की विभिन्न मूर्तियों का निर्माण किया गया। ये

सब अपनी सुंदरता के लिए प्रसिद्ध हैं। इसी युग में मथुरा मूर्ति–कला भौली का विकास और दक्षिण भारत में अमरावती मूर्ति–कला भौली का विकास हुआ तथा परिणामस्वरूप भारत में सुंदर और भावनात्मक मूर्तियों का निर्माण आरंभ हुआ। मथुरा में कनिश्क की एक आदमकद मूर्ति मिली है। गांधार शैली में जहाँ विषय भारतीय तथा निर्माण तकनीक यूनानी थी वहीं मथुरा मूर्तिकला पूर्ण भारतीय थी।

इसी समय अजंता के गुफा–चित्रों का निर्माण आरंभ हुआ।

कनिश्क की राजधानी में अनेक दा निक जैसे पा र्व, वसुमित्र, अ वधोश उसके समकालीन थे। नागर्जुन जैसे प्रकांड पंडित और चरक जैसे चिकित्सक उसकी राजसभा के रत्न थे। इसी के काल में अ वधोश ने "बुद्ध चरित" और चरक ने 'चरक संहिता' (आयुर्वेद का ग्रंथ) की रचना की। नागार्जुन महान दा निक और महायान संप्रदाय के प्रवर्तक थे। अ वधोश ने सूत्रालंकार की रचना की। अ वधोश की रचनाओं की तुलना मिल्टन, गेटे आदि के रचनाओं से की जाती हजै। नागार्जुन दा निक के अतिरिक्त एक वैज्ञानिक भी थे। उन्हें भारत का आईन्सटाइन (Einstein of India) कहते है क्योंकि नागर्जुन ने अपनी पुस्तक "माध्यमिक सूत्र" में सापेक्षता सिद्धांत को प्रस्तुत किया।

कनिष्क का धर्म– कनिश्क के धर्म के बारे में उसकी मुद्राओं से जानकारी प्राप्त होती है। उसकी मुद्राओं को तीन भागों में बाँट सकते है–

(i) जिनपर यूनानी देवता सूर्य और चंद्रमा अंकित है।

(ii) जिनपर ईरानी देवता अग्नि अंकित है।

(iii) जिनपर गौतम बुद्ध के चित्र अंकित है।

इस आधार पर विद्वान दो तरह के निश्कर्श निकालते है–

(i) कनिश्क क्रम ाः यूनानी, ईरानी और बौद्ध धर्माबलंदी बना या

(ii) कनिश्क एक सहिश्णु भाासक था, अतः उसने सभी धर्मो का आदर किया और इसी कारण सभी के चित्र मुद्राओं पर अंकित कराए।

इस प्रकार, हम निि चत तौर पर कनिश्क के प्रारंभिक मत के बारे में नहीं जानतें, परन्तु पाटलिपुत्र–विजय के बाद वह अ वघोश से अत्यधिक प्रभावित हुआ और बौद्ध मताबलंबी बन गया। इस प्रकार कनिश्क ने भी अ ोक की तरह बौद्ध धर्म स्वीकार किया किंतु उसके बाद भी युद्ध जारी रखा। कनिश्क एक सहिश्णु भाासक था और उसने अन्य धर्मो के साथ आदर का व्यवहार किया।

कनिश्क बौद्ध धर्म की 'महायान' ाखा का अनुयायी था। इसने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए काफी कार्य किया। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद बौद्ध धर्म पतन की ओर उन्मुख थी, कनिश्क के प्रयत्नों से इसमें नवजीवन का संचार हो गया। उसने कई बिहारों और स्तूपों का हेतु चौथी बौद्ध संगीति का आयोजन किया।

कनिश्क ने बौद्ध धर्म से जुड़ी भ्रंतियों और मतभेदो को दूर करने के उद्दे य से चौथी बौद्ध संगीति का आयोजन क मीर के कंडलवन में किया। इस संगीति के अध्यक्ष बसुमित्र तथा उपाध्यक्ष अ वधोश थे। इस संगीति में बौद्ध धर्म ही नयान और महायान संप्रदाय में बँट गया। इस संगीति में तीनों पिटकों पर टीकायें लिखी गयी।

dfu"d d: mÙkjkf/kdkjh

कनिश्क की मृत्यु के उपरांत उसका पुत्र वासिश्क (102–106ई०) भाासक बना। उसके उपरांत हुविश्क (106ई०–138ई०) ने भाासन किया। वह एक योग्य भाासक था किंतु इसके समय में साम्राज्य का विस्तार कुछ कम हो गया था। इसके प चात वासुदेव –I (145ई०–176ई०) भाासक बना। वह कुशाणों का अंतिम बड़ा भाासक था। कुशाण वं ा का पतन आरंभ हो गया था। इसकी बाद कुशाणों की भाक्ति तेजी से घटती गई और अंततः उनका पतन हो गया।

आंध्र–सातवाहन वंश

मौर्य साम्राज्य के पतन के उपरांत दक्षिण–पि चम भारत की सबसे महत्वपूर्ण भाक्ति सातवाहन थे। इसके विशय में हम जानकारी खुदाई से प्राप्त साम्रगियों, अभिलेखों, सिक्कों और धार्मिक ग्रंथों से प्राप्त होती है। 'सातवाहन' भाब्द बाणभट्ट रचित "हर्श चरित" तथा सोमदेव कृत 'कथा सरित्सागर" में मिलती है।

सातवाहनों के उदय की तिथि अत्यंत विवाद ग्रस्त है और विद्वानों ने इस संबंध में विभिन्न मत प्रकट किए है। मत्स्य पुराण के आधार पर आंतवाहनों ने 400 वर्शो तक राज्य किया। उनके 30 भाासक बताए गए है जबकि नाम सिर्फ 19 भाासकों के दिये गये है। उधर वायुपुराण के अनुसार उनके 19 राजा थे यद्यपि नाम 20 भाासकों के दे दिए गए हैं। डा० भंडारकर के मतानुसार सातवाहन कुल का आरंभ 72–73ई०पू० में हुआ। लेकिन डा० राय चौधरी का मत हैं कि इस वं ा के मुख्य भााखा के 19 भाासक हुए है जिन्होंने 300 वर्शो तक भासन किया यद्यपि उनकी उप ााखाओं के 11 भाासकों ने अगले 100 वर्शो तक भाासन किया। अधिकां ायता यह वि वास किया जाता है कि सातवाहन वं ा की स्थापना 'सिमुक' द्वारा की गई। सिमुक ने 60ई०पू० कण्व भाासक सु ार्मा की हत्या करके इस वं ा की स्थापना की।

सातवाहन भाब्द " ाालिवाहन" भाब्द का अपंभ्र ा है जो एक कुल के लिए प्रयुक्त होता था। पुराणों ने सातवाहनों को "आन्ध्र" या "आन्ध्रभृत्य" कहा है। आन्ध्र भाब्द का प्रयोग एक जाति के लिए हुआ है। आन्ध्र गोदावरी और कृ णा नदियों के बीच की तेलुगु दे ा में बसनेवाली प्राचीन जाति थी। कहा जाता है कि पहले सातवाहन भाासकों का राज्य दक्षिण–पि चम भारत में था और उनकी राजधानी प्रतिश्ठान अथवा महाराश्ट्र के औरंगाबाद जिलें में गोदावरी नदी के तट पर स्थित पैथान थी। किन्तु बाद में विदे ाी आक्रमणकारियों के हमलों ने उनकी भाक्ति को केवल आंध्रप्रदे ा तक सीमित कर दिया और तब वे आंध्र कहलाने लगे।

सातवाहनों का मूल भी अंधकारमय है। इसके संबंध में इतिहासकारों में मतभेद है। जहाँ डा० गोपालचार्य सातवाहन भाासकों के सूर्यवं ाी क्षत्रिय बताते है वहीं डा० राय चौधरी ने उन्हें ऐसा ब्राहम्ण बताया है जिनमें नाग–वं ा का रक्त सम्मिलित था। इस संबंध में डा० राय चौधरी के विचार ज्यादा सटीक मालूम पड़ते हैं क्योंकि इस वं ा के अभिलेख भी इन्हें ब्राहम्ण ही धोशित करते है। नासिक के अभिलेख में गौतमीपुत्र को "एक ब्राहम्ण और भाक्ति में पर ुराम तुल्य" कहा गया है। इसकी पुश्टि एक दूसरें प्रसंग से भी होती है जिसमें उसे "क्षत्रियों के दर्प और मान का दमन करने वाला" बताया गया है।

प्रमुख शासक– जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है सातवाहनों के उदय के काल में मतभेद है और नि चित तौर पर कुछ भी नही कहा जा सकता । इसलिए निम्नलिखित तिथियों को मान्य अनुमान पर आधारित माना जाए।

(1) **सिमुक (60ई०पू०–37ई०पू०)–** सातवाहन वं ा का संस्थापक सिमुक था। इसने 60ई० पू० कण्व भाासक सु ार्मा की हत्या कर इस वं ा की नींव डाली। सिमुक के विशय में जानकारी हमें पुराणों तथा नाना घाट अभिलेख से मिलती है। पुराणों में सिमुक को सिंधुक, ि ाा ुक आदि नामों से संबोधित किया है। सिमुक ने 23 वर्शो तक भाासन किया। उसने कण्व और भांगु वं ाों को नश्ट कर दिया और मध्यकाल के कुछ हिस्से को अपने अधिकार में ले लिया।

(2) **कृष्णा (37ई०पूं०–18ई०पू०)–** सिमुक के बाद उसका भाई कृ णा गद्दी पर बैठा। इसने लगभग 18 वर्शो तक भाासन किया। उसने नासिक को अपने राज्य में मिला लिया। इसने नासिक में एक दरी–गृह बनवाया।

(3) **शतकर्णी–I (18ई०पू०–38ई०पू०)**– कृ णा के प चात भातकर्णी–I भाासक बना। यह एक य स्वी भाासक था। इसने प्रतिश्ठान को अपनी राजधानी बनाया। उसने दो अ वमेध यज्ञ और एक राजसूय यज्ञ किया। उसने पि चमी मालवा, और विदर्भ आदि पर विजय प्राप्त की। ऐसा माना जाता है भातकर्णी के विजयों के उपरांत दक्षिण–भारत के अधिकां ा भाग, मध्य–भारत के अधिकां ा हिस्सों, मालवा और मगध के कुछ हिस्सों पर इसका साम्राज्य फैला था। नानाधाट और हाथी गुम्फा अभिलेखों से ज्ञात होता है कि संभवतः भातकर्णी– I के विरूद्ध ही खाद्खेल ने युद्ध किया था। अपने विजयों के उपरांत उसकी विधवा पत्नी नागनिका ने अपने पुत्र भाक्ति श्री और बेदि श्री संरक्षिका बनकर भाासन चलाया। परंतु इसके समय से सतवाहन सत्ता दुर्बल होने लगी। इसके प चात

कई भासक हुए परंतु इनमें "हाल" के अतिरिक्त कोई भी भाक्ति ाली नहीं था। हाल सातवाहन वं ावली का 17वां भासक था। उसने श्री लंका विजित किया और वहाँ की राजकुमारी से विवाह किया। इसके बाद कई भासक हुए लेकिन कोई भी भाकों के आक्रमण का सामना नहीं कर सका।

ईसा की पहली–सदीं के अंतिम समय में भाकों ने सातवाहनों से मालवा तथा दक्षिणी–पि चमी भारत को जीतकर नासिक तक अपना साम्राज्य विस्तार कर लिया। ऐसी स्थिति में सातवाहनों की भाक्ति सिर्फ आंध्र प्रदे ा में सिमट कर रह गई। सातवाहनों की खोई हुई महिमा और प्रतिश्ठा गौतमी पुत्र भातकर्णी ने पुनः प्राप्त की।

(4) **गौतमी पुत्र शतकर्णी (106ई०–130ई०)–** सातवाहनों का सबसे महान भासन गौतमीपुत्र भातकर्णी था। वह सातवाहन वं ावली का 23वां भासक था। दक्षिण भारत की राजनीति में इसके समय भाकों और सातवाहनों का संघर्श हुआ। गौतमपुत्र भातकर्णी से पूर्व भाकों ने वि ोशकर भाक भासक 'नहपान' ने सातवाहनों की भाक्ति को बहुत हानि पहुँचायी थी। गौतमीपुत्र भातकर्णी ने सातवाहन वं ा की खोई हुए प्रतिश्ठा पुनस्थापित की। उसके विजयों की सुविस्तृत बालिका हमें नासिक अभिलेख से प्राप्त होते है। उसमें लिखा है कि गौतमी पुत्र ने क्षत्रियों का मान मर्दन किया और ब्राहमण धर्म को फिर से प्रतिश्ठित किया। उसने 124–125ई० में लगभग नहपान को परास्त किया तथा उसके राज्य का अधिकां ा हिस्सा जीतकर उसपर अधिकार कर लिया। उसने भाकों से गुजरात, सौराश्ट्र, पि चमी राजस्थान, मालवा, बरार और उत्तरी कोकण प्रदे ों को छीना। इसके बाद उसने दक्षिण में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए दक्षिण के भाकों पल्लवों पर भी आक्रमण कर उन्हें पराजित किया। उसके राज्य विस्तृत हो गया और यह उत्तर में मालवा और सौराश्ट्र से लेकर दक्षिण में कृ णा नदी तक तथा पूर्व में बरार से लेकर पि चम में कोकण तक फैला हुआ था। सुदूर दक्षिण के राज्य भी उसकी अधीनता स्वीकार करते थे। इसकी मृत्यु 130 ई०में हुई।

यह एक उदार भासक था। अपने वीरता व पैरूश के बल पर एक वि ाल साम्राज्य स्थापित करने के अतिरिक्त उसने अनेक बौद्ध भिक्षुओं को दान दिया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उसने सभी वर्ग के भिक्षुओं को दान नहीं दिया। उसने सिर्फ कारला के महा सांधिको तथा नासिक के भादायनिकों को दान दिया। उसने करजक ग्राम तथा बलूरक की गुहाएँ बौद्धों को दान में दी थी।

उसने 'वेकटास्वामी' की उपाधि धारण की इसकी जानकारी नासिक अभिलेख संख्या 4 से मिलती है। नासिक अभिलेख संख्या 3 में गौतमी पुत्र भातकर्णी को धन्यकर स्वामी कहा गया है। यहाँ इसके द्वारा बनाए गए कमरों की जानकारी मिलती हैं। नासिक अभिलेख संख्या 5 से इसके द्वारा दिए गए दानों की जानकारी मिलती है।

(5) **वसिष्ठि पुत्र श्री पुलमावि (130ई०–154ई०)**– गौतमी पुत्र भातकर्णी के उपरांत उसका पुत्र वसिश्ठि पुत्र मावि भासक बना। उसने सातवाहनों का प्रभुत्व आंध्र दे ा पर फैलाया। इसलिए उसे पहला आंध्र भासक कहते है। संभवतः उत्तर पि चमी भाग पर भाकों का दबाव काफी बढ़ गया था। जुनागढ ि ालालेख में संभवतः वसिश्ठिपुत्र के दोबार रूद्ररामन के हाथों पराजय की बात अंकित है। इन पराज्यों के उपरांत भायद सातवाहनों को वे सारे प्रदे ा, जिसे गौतमीपुत्र ने जीता था, छोड़ देना पड़ा। इस प्रकार सौराश्ट्र, गुजरात, मालवा, पि चमी राजस्थान, उत्तरी कोंकण आदि प्रदे ा उनके हाथों से निकल गए। किंतु इसके बाद पुलमावि ने दक्षिण पूर्व में अपनी भाक्ति का विस्तार कर आंध्र प्रदे ा जीत लिया।

पुलमावि के काल में सातवाहनों की नौ–सेना और समुद्री व्यापार में वृद्धि हुई उसका समय आर्थिक संपन्नता का काल था। उसने नवलगढ़ में एक नगर बसाया। अमरावती स्तूप की मरम्मत उसी के काल में हुई।

(6) **याज्ञ श्री शतकर्णी (169–194ई०)–** सातवाहन वं ावली का यह 27वां भासक था। यह अंतिम महत्वपूर्ण भासक था। इसके भासन के जानकारी हमें चिन्न नामक स्थान से प्राप्त अभिलेख, कन्हेरी अभिलेख तथा नासिक अभिलेख से प्राप्त होते है। उसके काल के सिक्के भी हमारी जानकारी बढ़ाते है। इनसे ज्ञात होता है कि उसका राज्य विस्तृत था। उसने भाकों को पराजित कर उनसे कई क्षेत्र जीत लिये। उसका प्रभुत्व समुद्र पर भी था। उसने सिक्कों पर दो मस्तूलों वाले पोत और मत्स्य तथा भांख की आकृतियाँ अंकित है।

याज्ञश्री के उत्तराधिकारी अयोग्य और कमजोर थे। परिणामस्वरूप विदे ी आक्रमणें और आंतरिक विद्रोहों को नियंत्रित नहीं रख सके और तीसरी सदी के अंत तक यह वं । समाप्त हों गया।

सातवाहन शासन

सातवाहनों की सत्ता राजतंत्रतात्मक थी। राज्य प्रधान राजा होता था। उसके पास असीमित भाक्तियाँ होती थी किंतु कोई भाासक स्वेच्छाचारी नहीं था। वे धर्म भाास्त्रों के आधार पर भाासन करते थे। संभवतः सातवाहन राजाओं ने 'देवीय' सिद्धांत का समर्थन नहीं किया। ऐसा अनुमान उसकी उपाधियों से लगाया जा सकता है।

राजा का कर्तव्य अपनी प्रजा की रक्षा करना, अपनी सीमा का विस्तार करना और युद्ध में सेना का नेतृत्व करना था। राजा की सहायता के लिए 'आमात्य', 'महामात्य' तथा 'राजानात्य', नामक अधिकारियों का उल्लेख मिलता है।

साम्राज्य, जनपदों में बँटा था। जनपदों को सुधारू भाासन के दृश्टिकोण से 'आहारों' में बाँटा गया था। आहारों का तुलना वर्तमान जिलों से की जा सकती है।

साम्राज्य
↓
जनपद (राजपुत्र/महाभोज)
↓
आहार
↓
ग्राम (ग्रामिक)

जनपदों का भाासन महाभोज/राजपुत्र/महारथी करते थे। प्रत्येक आहार में 'कटक' नामक एक सैनिक छावनी होती थी जो भाांति और सुरक्षा के लिए उत्तरादायी होती थी। ग्रामों का भाासन ग्रामिक, ग्राम–सभाओं की मदद से चलाता था।

जागीरदारी प्रथा की भाुरूआत, सातवाहनों के काल में हुई। सातवाहन भाासक धार्मिक अनुश्ठानों के अवसर पर ब्राहम्णों को गाँव दान में दिया करते थे। आरंभ में ये गाँव सिर्फ कर–मुक्त थे किंतु बाद में उन्हें राजस्व और प्र ासनिक अधिकार भी सौंपे जाने लगे। गौतमी पुत्र भाातकर्णी ने अपने प्र ासनिक अधिकरियों को यह निर्दे । दिया था कि वे ऐसे गाँवों के भाासन में हस्तक्षेप न करें। इससे जागीरदारी प्रथा भाुरू हुई। वस्तुतः सातवाहन भाासकों ने ऐसा कृशि–योग्य भूमि में वृद्धि करने के लिए किया। दान में उपजाऊ भूमि नहीं दी जाती थी, वरन् मालिक इन्हें अपनी मेहनत से उपजाऊ और कृशि योग्य बनाते थे। इस प्रकार भूमि पर मलिकाना हक मिलने लगा।

vkfFkd fLFkfr

कृशि से प्राप्त आय, सातवाहन भाासकों के आय का मुख्य स्रोत था। भूमि की मापी की जाती थे और इसके लिए 'रज्जुक' नामक अधिकारी नियुक्त किए गए थे। करों का निर्धारण इसी आधार पर होता था। चार प्रकार की भूमि का उल्लेख मिलता है। कृशि के लिए सिंचाई की व्यवस्था थी। इसके लिए कुओं, तालाब आदि प्रयोग में लाए जाते थे। सिंचाई के साधनों का विकास राजाओं का कर्त्तव्य माना जाता था। कासारों तथा नहरों के निर्माण को पुण्य का कार्य माना जाता था।

सतवाहनों को जंगल से भी आय प्राप्त होता था। जंगलों से प्राप्त लकड़ियाँ, जडी–बूटियाँ, आदि के निर्यात और ब्रिकय से भाासन को अच्छी आय प्राप्त होती थी। इसके अतिरिक्त व्यापारियों से चुंगी और नमक कर आदि से भी सातवाहन भाासकों के आय के श्रोत थे।

उद्योग धंधों का भी विकास इस काल में हुआ। काँसा, टिन, ताँबा तथा सोना कें प्रयोग से कई प्रकार की वस्तुएँ बनाई जाती थी। फसल काटने के औजारों की चर्चा हमें मिलती है। बड़े पैमाने पर व्यापार संपन होता था। पेरिप्लस के अनुसार इटली से भाराब, तथा अरब से सीसा टिन आदि का आयात होता था। सातवाहनों के समय में व्यापारियों ने

अपने संगठन, श्रेणी और गिल्ड का निर्माण कर लिया था। व्यपारी को "नैगम", व्यापारियों के काफिले के प्रमुख को "सार्थवाह" तथा व्यापार संघ के प्रमुख को "श्रेश्ठिन्" कहा जाता था।

सातवाहनों का यूनानियों से व्यापारिक संबंध था। प्लिनी के अनुसार यूनान के व्यापारी गुजरात तथा मालावार तट पर स्थित बंदरगाहों से व्यापार करते थे। मृगुकक्ष इस काल का एक महत्वपूर्ण बंदरगाह है। कृ णा और गोदावरी नदियों से व्यापार कार्य आसान हो जाता था।

सातवाहनों का व्यापार सुदूर पूर्व के दे ों से भी व्यापक पैमाने पर होंता था। मलय दे ा पर दक्षिण भारतीय व्यापारियों के आने जाने का, सांस्कृतिक प्रभाव भी पड़ा था। भयाम से भी भारत के व्यापारिक संबंध इस काल में थे। लगभग दूसरी सदी में तो भारतीय उपनिवे ा यहाँ स्थापित हुआ।

सोपाय, नासिक, कोल्हापुर, मालावार तट, कोरोमंडल तट आदि से प्राप्त सिक्के इस काल के विकसित व्यापार की ओर इ ारा करतें हैं।

lkekftd fLFkfr

सातवाहन समाज चार वर्गो में विभक्त था– भासक वर्ग, ब्राहम्ण, वै व और भूद्र।

समाज से ब्राहम्णों की स्थिति सर्वश्रेश्ठ थी। वे वेद का अध्ययन/अध्यापन तथा यज्ञ कराने का कार्य करते थे। श्रोतीय ब्राहम्णों द्वारा बताए गए कर्तव्यों का पालन राजा करता था और वही इनके भोजन का भी प्रबंध करता था। उसे समाज में वि िश्ट स्थान प्राप्त था और राजन उन्हें यज्ञ के बाद गाँव आदि दान में दे दिया करते थे। उनके लिए सजा भी कम थी। समान अपराध के लिए उन्हें अन्य वर्णो के मुकाबलें कम सजा होती थी। श्रोतीय ब्राहम्ण पर किसी प्रकार का कर नहीं लगता था तथा राजा की अनुपस्थिति में वह न्यायधी ा का कार्य करता था।

क्षत्रियों का कार्य भासन करना था। यद्यपि सातवाहनों को ब्राहम्ण होना ही सर्वाधिक मान्य मत है। वे वेदों का अध्ययन करते थे और युद्ध करना उनका कर्तव्य था। क्षत्रियों के लिए युद्ध स्थल में मरना सौभाग्य और गौरव की बात मानी जाती थी। इस समय समाज में तीन प्रकार के सामांत होते थे–(i) महारथी (इन्हें सिक्के जारी करने का अधिकार था।), (ii) महाभोज (iii) महासेनापति। ये सत्ता की दृश्टि से सर्वोच्च स्थान पर थे।

तीसरा वर्ग वै यों का था, जिन्हें यज्ञ करने और बेद के अध्ययन का अधिकार था। दान देना इसके लिए आव यक था। ये आर्थिक और सामाजिक दोनों रूपों में अच्छी स्थिति में थे। ये मुख्यतः कृशि और व्यापार करते थे। व्यापारियों ने संगठन, श्रेणी और गिल्ड बना लिए थे। व्यापारी को "नैगम" कहते थे; काफिलों के प्रमुख को "सार्मवाह" तथा व्यापारी संधो के प्रमुख "श्रेश्टिन्" कहा जाता था। लेखक, वैध, स्वर्णकार आदि इस तीसरें वर्ग के सदस्य थे।

भूद्र समाज के चौथे वर्ग थे और उनका कार्य सेवा करना था। मुख्यतः ब्राहम्णों की सेवा उनका कार्य था लेकिन वो क्षत्रियों और वै यों की सेवा भी करते थे। इन्हें व्यक्तिगत संपत्ति रखनें का अधिकार तो था किंतु उनके सामाजिक और राजनीतिक अधिकार अत्यंत सीमित थे।

समाज में महिलाओं की स्थिति बहुत अच्छी नही थी। उन्के अधिकार काफी सीमित थे। वे यज्ञ नहीं कर सकती थीं। उनका उपनयन संस्कार नही होता था। पुरूशों का स्त्रियों पर पूर्ण नियंत्रण था। पति को पत्नी का भरण–पौ ान करना होता था। समाज में नियोग प्रथा थी। हमें वरों और पर्दा प्रथा दोनों के होने के संकेत मिलते है। बहु विवाह और दहेज की प्रथा समाज में विद्यमान थी। विद्यवाओं की स्थिति दयनीय थी। स्त्रियों के रत्न–आभूशण पहनने के संकेत मिलते है।

धर्म– सातवाहनों ने धार्मिक सहिश्णुता का परिचय दिया। इस कारण, इस काल में ब्राहम्ण और बौद्ध धर्मो की उन्नति हुई। चैत्यगृह और दरी गृह के निर्माण कराए जाते थे। ब्राहम्ण धर्म पुनजीवित हो रहा था। अ वमेघ यज्ञ, राजसूय यज्ञ आदि इसके बढते हुए प्रभाव को द ाते है। भगवान ि ाव और कृ ण की पूजा होती थी। इस काल में विभिन्न संप्रदायों में एकता और सहिश्णुता बनी रहीं।

कला और सहित्य– सातवाहनों को ब्राहम्ण बताया गया है किंतु उन्होंने संस्कृत की जगह प्राकृत को प्रश्रय दिया। सतवाहनों की राजभाशा प्राकृत थी। ये ब्राहमी लिपि का प्रयोग करते थे। उनके अभिलेख प्राकृत भाशा में ही है।

इस काल में साहित्य ने व्यापक उन्नति की। राजा हाल ने स्वयं "गाता सप्त ाती" की रचना की । यह प्रकृत में रंचित है। गुणादय ने भी प्रकृत में "वृहत्कथा" की रचना की। सर्ववर्मन ने व्याकरण ग्रंथ "कातन्त्र" की रचना की। भाूद्रक ने इसी काल में "मृत्छकटिकम" की रचना की। भरतमुनि रचित "नाटय् ाास्त्र" जिसमें 5000 भलोक है इसी काल में
रची गई।

कला के क्षेत्र में भी इस काल में धार्मिक वास्तुकला का विकास हुआ। इस काल में कई स्तुपों का निर्माण हुआ। साहवाहन काल की मुख्य वि ोशता यह है कि इस काल में स्तूपों को तोरणों से युक्त किया गया। ये तोरण स्तूप के चार कोनों पर अंलकृत रूप से स्थापित किए जाते थे। नासिक के निकट अनेक बैद्ध गुहाओं का निर्माण इस काल में हुआ।

सातवाहनों की स्थापत्यकला का अनुपम उदाहरण अमरावती में देखनें को मिलता है। इन भवनों के अव ोश इनकी मव्यता की गाथा सुनाते है।

सातवाहनों के काल की मूतियाँ भाजा, नाना धाट, पीतलखेड़ा, नासिक कन्हेरी आदि स्थानों से प्राप्त हुई हैं।

v/;k; 10

I xe dky

सुदूर दक्षिण के इतिहास की जानकारी हमें संगम साहित्य से प्राप्त होती है। संगम साहित्यों की रचना विभिन्न पांड्य राजाओं के संरक्षण में मदुरै में आयोजित तीन संगमों में हुई इस अध्याय में हम संगम काल की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति की जानकारी लेंगे। इसके उपरांत हम पांड्य और चोल वं ा (संगम कालीन और उसके प चात्) का अध्ययन करेंगे।

इस अध्याय में हम पढ़ेंगे:

- *संगम काल और संगम साहित्य*
- *संगम काल की राजनीतिक सामाजिक स्थिति*
- *पांड्य वं ा*
- *चोल वं ा*

संगम काल– भारत के सुदूर दक्षिण मे कृश्णा और तुगभद्रा नदियों के मध्य स्थित प्रदे ा को 'तमिमकम् प्रदे ा' कहा जाता था। इस प्रदे ा में अनेक छोटे–छोटे राज्य अस्तित्व में थे। इनमें चेर चोल और पांड्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे। इन राज्यों के विशय में जानकारी अ ोक के अभिलेखों तथा कौटिल्य और मेगास्थनीज के विवरणों में मिलता है। खाखेम के हाथी गुम्फा अभिलेख से भी इनके बारे में थोड़ी जानकारी मिलती है।

तमिल प्रदे ा के साहित्य, संस्कृति, समाज आदि की स्पश्ट जानकारी हमें संगम साहित्य से प्राप्त होती है। संगम साहित्य हमें सुदूर दक्षिण भारत की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थित, दक्षिण भारत के विदे ाों से व्यापारिक संबंध तथा उत्तर और दक्षिण भारत की संस्कृतियों के समन्वय का ज्ञान प्राप्त होता है। इसमें दो राय नहीं कि संगम साहित्य ये कुछ बातें और तथ्य सही नहीं जान पड़ते और वे अति ायोक्तिपूर्ण है परंतु फिर भी ये दक्षिण भारत के इतिहास पर समुचित प्रका ा डालते है।

संगम साहित्य– संगम भाब्द का अर्थ है संघ या गोश्ठी। संगम वस्तुतः तमिल कवियों, विद्वानों और बुद्धिजीवियों की एक परिशद् थी। तमिल भाशा में लिखे गये प्राचीन साहित्य को ही संगम साहित्य कहा गया है। सुदूर दक्षिण भारत में पाण्ड्य भाासकों के संरक्षण में मदुरै में इन गोश्ठियों का आयोजन हुआ था। इनका सर्वप्रथम उल्ल्ेख 8 वीं सदी में रचित इटैयनगर अगप्पोरूल के भाश्य की भूमिका में प्राप्त होता है। इटैयनार अगप्पोरूल के अनुसार इन संगमों में 8,598 कवियों ने भाग किया और 197 पांड्य भाासकों ने इनको संरक्षण प्रदान किया था। इसमें दिये गये कुछ भाासकों ओर कवियों के नाम बाद के अभिलेखों और अन्य ग्रंथों से भी प्राप्त हुए है। संगम का महत्वपूर्ण कार्य होता था। उन कवियों लेखकों की रचनाओं का अवलोकन करना जो अपनी रचनाओं को प्रकाि ात करवाना चाहते थे। संगम की संस्तुति के उपरांत ही वह रचना प्रकाि ात हो पाती थी। प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर यह निश्कर्श निकलता है कि इस प्रकार के तीन संगमों का आयोजन किया गया था। तीनों संगम कुल 9990 वर्श तक चले। संगम साहित्य का संकलन 100 ई० से 600 ई० के मध्य हुआ होगा लेकिन इस संबंध में प्रमाणिक जानकारी का आभाव है और इसलिए विद्वानों के बीच इनके निि चत काल के बारे में मतभेद है। इन तीनों संगमोमं का विवरण नीचे प्रस्तुत है–

(I) **प्रथम संगम**

स्थान	:	मुदरै
अध्यक्ष	:	अगस्त ऋशि

सदस्यों की संख्या	:	549
संरक्षक शासकों की संख्या	:	89
रचनाओं की संख्या	:	4,499
कुल अवधि	:	4,400 वर्श
महत्वपूर्ण रचनायें	:	परिपाडल, मुदनारै, अकत्तियम, मुदुकुरूक और कलिरियाविरै
उपलब्ध ग्रंथ	:	कोई नहीं
विद्वान	:	अगस्य ऋशि, तिरिपुर मेरिथ आदि

(II) **द्वितीय संगम**

स्थान	:	मुदरै
अध्यक्ष	:	अगस्य एवं तोल्कापियर
सदस्यों की संख्या	:	49
संरक्षक भाासकों की संख्या	:	59
रचनाएँ	:	3,700
अवधि	:	3,700 वर्श
महत्वपूर्ण रचनायें	:	अकत्तियम, मापुरानम्, व्यालमालै, कलि, कुरूक आदि
उपलब्ध ग्रंथ	:	तोल्कापियर रचित तोल्कापियम्
विद्वान	:	इरून्दयूट, कुरूगोलिमोसी, वेल्लूर काप्पियन्

(III) **तृतीय संगम**

स्थान	:	मुदरै
अध्यक्ष	:	नक्कीरट
सदस्यों की संख्या	:	49
संरक्षक भाासकों की संख्या	:	49
रचनाएँ	:	449
अवधि	:	1850 वर्श
महत्वपूर्ण रचनायें	:	नेडुण्थोकै, नत्रिनै, कुरून्थोकै, पदित्रयुन्तु, पेरिसै आदि
उपलब्ध ग्रंथ	:	काफी ग्रंथ उपलब्ध है
विद्वान	:	नक्कीरट, इटैयनार, परनर, कपिलर आदि

egRoi.k laxe lkfgR;

(I) **तोलकाप्पियम–** इसकी रचना दूसरे संगम में हुई थी। द्वितीय संगम की यही एकमात उपलब्ध रचना है। व्याकरण के इस ग्रंथ की रचना तोल्काप्पियर ने की थी। यह सूत्र भौली में रचित है और तीन खंडों में विभाजित है। हर खंड 9–9 उपखंडों से विभक्त है। पहले खंड में वर्ण विचार (इलथु) में व्युपत्ति (सोल) एवं तीसरे में पदार्थ (पौरूल) का उल्लेख है।

इस ग्रंथ से हमें तत्कालीन तमिल समाज, संस्कृति एवं साहित्य के विशय में जानकारी मिलती है।

(II) **एतुतीकै (अष्ट पदावली)**– इनका संग्रह तीसरे संगम में हुआ था। इसमें 8 काव्य संग्रह है।

(1) **नण्णिनै–** इसमें 400 भलोक है। एक भलोक में 9–12 पंक्तियाँ है। इसका संग्रह 175 कवियों मिलकर किया है। इसमें पाण्ड राजा के प्रेम प्रसंगों का वर्णन है।

(2) **कुरून्थोकै–** इसमें 400 छोटे गीत संकलित है। प्रत्येक भलोक में 4–8 पंक्तियाँ है। इसमें भी प्रेम प्रसंगों का वर्णन है।

(3) **एन्कुरूनूर–** इसका भााब्दिक अर्थ पाँच सौ होता है। इसमें 500 भलोकों का संकलन है। यह पाँच भागों में बँटा है और प्रत्येक में 100 भलोक है। किलाट द्वारा संग्रहीत इस संग्रह में प्रेम का वर्णन है।

(4) **पवितुप्पतु–** इसमें 800 भलोक है। यह दस भागों में विभक्त है और इसमें चेर राजाओं की प्र ांसा की गई है। तमिल क्षेत्र की राजनीतिक अवस्था की सच्ची तस्वीर हमें देखनें को मिलती है।

(5) **परिपाडल–** यह 70 भलोंको का संग्रह था किंतु इसमें से 46 नश्ट हों चुके है। इस प्रकार अब मात्र 24 भलोक ही बचे है। इसमें देवताओं की प्र ांसा की गई है।

(6) **कलित्तोगै (कलि)–** इसमें 150 भलोकों का संकलन है। वैसे तो यह एक प्रेम गाथा ही है। किन्तु इसने नीतिवाक्यों की भी चर्चा है। इससे हमें तत्कालीन विवाहों का ज्ञान होता है।

(7) **अहनानुरू (अह)–** इसमें 400 भलोक है। यह तीन खंडों में विभक्त है। इसका मुख्य विशय भी प्रेम है। इसके एक भलोक 13–37 पंक्तियों के है।

(8) **पुरूनानूरू (पुरम)**– इसमें 400 भलोक है। तमिल सभ्यता की व्याख्या इस काव्य में भी की गई है।

(III) **पत्तुप्पातु (दस गीत)–**दस गीतों के संग्रह इस ग्रंथ में हैं। इसकी रचना भी तीसरेंसंगम काल में हुई थी। इन दस कविताओं में अनेक तमिल देवताओं की चर्चा है।

(1) तिरूमुरूकात्तप्पदै– इसकी रचना नक्कीरर ने की है। इसमें संगम कालीन देवता मुरूगन एवं उसके पर्वतीय निवास स्थलों की प्र ांसा की गयी है।

(2) नेडुनल्वार्द– इसकी रचना नक्कीरर ने की है। इसमें पति–वियोग का वर्णन है और युद्ध की चर्चा की गई है। इसमें कुल 188 पंक्तियाँ है।

(3) पेरूम्पानात्रुप्पदै– 500 गीतों वाले इस संग्रह की रचना रूद्रन कत्तनार ने की। इस संग्रह के काँची के भाासक तोण्डैमान इलण्डिरैपर के विशय में ऐतिहासिक जानकारी मिलती है। इसमें कांची में हो रहें व्यापार की चर्चा और भौगोलिक बनावट (दक्षिण–भारत) का वर्णन है।

(4) पत्तिनप्पालै– इसके लेखक उरूत्तीरण कन्नार था। इसमें करिकाल की प्र ांसा की गई है। इस लेखन से राजा इतना खु ा हुआ कि लेखक को बहुत धन इनाम में दिया। इसमें 301 पंक्तियाँ हैं। इससे कावेरी पट्टनम बंदरगाह की जानकारी मिलती है।

(5) पोरूनारात्रप्पदै– इसनें 248 वाक्य है। तमिलनाडू के राजनीतिक इतिहास का वर्णन है।

(6) मदुरैकांचि– मरूथनाट द्वारा रचित इस संग्रह में पांड्य नरे ा नेडुजेरियल की प्र ांसा की गयी है।

(7) सिरूपानात्रप्पदै– इसमें 269 वाक्य है। इसमें पांड्य, चेर और चोल की राजधानियों का वर्णन मिलता है।

(8) मुल्लैप्पातु– नप्पुथनाट कृत इस संग्रह में एक रानी के पति–विरह का वर्णन किया गया है।

(9) कुरिन्चिप्पातु– इसकी रचना कपिलर है। 261 वाक्यों का यह काव्य प्रेम और ग्रामीण जीवन पर आधारित है।

(10) भलैयदुकदाम– इसमें 582 वाक्यों का संग्रह है। इसके रचनाकार कौ िकनार है। इस संग्रह में प्रकृतिचित्रण एवं नृत्यकला पर प्रका ा डाला गया है।

(IV) **पेदिनेकिकणक्कु (अष्टादश लधु उपदेश गीत)–**यह तमिल धर्म पर प्रका ा डाला गया है। इसमें 18 कविताओं का संग्रह है।

(1) नद दियार– इसमें 40 अध्याय है। यह मानव जीवन पर प्रका ा डालता है।

(2) नाल डीयार (मुप्पाल)– इसमें 133 अध्याय हैं। व्यक्ति के धर्म, अर्थ और काम पर प्रका ा डालता है।

(3) कलवती नाव्पडु– इसमें युद्धों का वर्णन है।

(4) कैनीले– इसके रर्चायता पदीनेण है।

(5) इणीयवै–नाण पदू– यह भोन्दनार द्वारा रचित है। इसमे ऐसे 126 चीजों का वर्णन है जिसे पाने की अभिलाशा लोगों को होती है।

(6) इन्ना नाणपटु– इसके रचयिता कतीलट है।

(7) नाणमणीक्क डीकै– इसमें 105 पद है। इसमें चार ऐसी चीजों का वर्णन हैं जो मनुश्य को आगे बढ़ाता है ओर चार ऐसी चीजों का वर्णन भी है जो मनुश्य को पतन की ओर ले जाता है।

(8) काणनाणपदु– इसमें 40 पदों का संकलन है। वैदिक रीति से यज्ञ की चर्चा इसमें है।

(9) ऐतीनै–ऐम्बटु– यह एक प्रेम कविता है जिसमें 50 पद है।

(10) तीनैमोली–ऐम्बटु– इसके रचनाकार कन्नर भोदनार है। इसमे 53 पद हैं यह भी प्रेम पर आधारित हैं

(11) ऐन्तीनै–इलुपटु– इसमें 70 पद हैं और इसके रचयिता मुवादीयार है।

(12) तीनैमोली–न्टैम्बटू– 150 पदों की यह प्रेम गाथा है।

(13) तीरीकुडकम– इसमें 101 पद है। इसमें भारतीय औशधियों की चर्चा की गयी है।

(14) इलादी– इसमें 82 पद है। इसमें चारों वेदों और औशधियों की चर्चा है।

(15) आचारक–कौवे– इसकी रचना मुल्लीयार ने की थी। 101 पदों के इस संग्रह में भगवान ि ाव की वंदना है।

(16) पलमोली–नानुणु– इसकी रचना मुनरूरैचरैयर ने की थी। इसमें 400 पद है।

(17) भीरूपंथ मुलम– इसमे 98 पद है। इसमें भी औशधियों की चर्चा है।

(18) मुटुमाली ककांची– इसमें 10 अध्याय है।

(V) **शिलप्पदिकाटम–** यह तमिल साहित्य का प्रथम महाकाव्य है। इसका भााब्दिक अर्थ है' पूपुर की कहानी'। इसकी रचना इंलांगोआदीगल ने की थी। इस महाकाव्य का नामक 'कोवलन' और नायिका 'कण्णीक' है। यह महाकाव्य तत्कालीन तमिल समाज का सजीव चित्र प्रस्तुत करता है। यह महाकाव्य तीन भागों में विभक्त है–पुहारक्कांडम, मटुरैक्कांडम और वंजिक्काडम। इनमें क्रम ा पांड्य और चेर राज्यों का वर्णन नहीं है। इस महाकव्य के के विभिन्न कांडों में क्रमशः श्रृगार, करूण और वीर रस का प्रयोग हुआ है।

(VI) **मणिमेखलै–** इस महाकाव्य की रचना सत्तनार ने की थी। ऐसी मान्यता है कि जहाँ पर ि ालप्पीदिकारम की कहानी खत्म होती है वहीं से मणिमेखलै की कहानी प्रारंभ होती है। इसकी नायकि "मणिमेखलै" ि ालप्पादिकारम के नायक "कांवलन" की पुत्री थी। यह मणिमंखलै के त्याग की कहानी है।

(VII) **जीवक चिंतामणि–** यह तिरूतक्कदेवर की अमर कृति है। इसमें 3,145 पद है जो तेरह खंडों में विभाजित है। यह तेरह खंडों में विभाजित है और इसमें राजकुमार जीवक की कहानी है।

संगमकालीन राजनीतिक दशा– संगमकालीन भाासन का स्वरूप राजतंत्रात्मक था। राजा का पद वं ाानुगत होता था और प्रायः ज्येश्ठ पुत्र उत्तराधिकारी होता था। राजा के पास असीमित भाक्तियाँ थी। किन्तु राजा निरंकु ा नहीं होते थे और उच्च आर्द ाों का पालन करते थे। राज्य विस्तार करना, प्रजा का पालन करना तथा निश्पक्षता से भाासन करना राजा का कर्त्तव्य था। राजा प्रतिदिन अपनी सभा (नलवै) में प्रजा की कठिनाइयों का सुनता था। राजा ही सर्वोच्च न्यायाधी ा होता था।

राजा की मदद के लिए प्रतिनिधि परिशदे थी जो भाासन चलानें में राजा को सहयोग देती थी। इन परिशदों के सदस्य जन प्रतिनिधि, पुरोहित, वैध और मंत्री हुआ करते थे। इस परिशद को "पंचवारम" या पंचमहा सभा कहते थे। भाासन की जानकारी के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति की जाती थी। इन्हें "औरर" या "वै" कहते थे।

संगमकाल में साम्राज्य "मंडलम्", मंडलम "नाडु" तथा नाडु "उर" में विभक्त थे।

साम्राज्य
↓
मंडलम्
↓
नाडु
↓
उर

बडे गांव को पेरूर और छोटे गांव को सिरूर कहते थे। पुराने गांव मुडूर कहलाते थें।

राजस्व– संगमकाल में राज्य की आय का मुख्य श्रोत भुमिकर था। यह उपज का 1/6 भाग होता था। भूमि कर को "कराई" कहते थे। व्यपार कर से राज्य की काफी आमदनी होती थी। सीमा भाुल्क से प्राप्त आय को "उल्गू" या "संगम" कहते थे। सामांतों द्वारा दिया जाने वाला कर "इराई" कहलाता था।

lxe dky dh lkekftd fLFkfr

संगम साहित्य हमें तमिल प्रदे ा के सामाजिक स्थिति के बारे में जानकारी प्रदान करते हैं। हमें पता चलता है कि वहाँ की सामाजिक द ाा और उत्तर भारत की सामाजिक द में कुछ समानता है तो कुछ अंतर भी है। संगम साहित्य से हमें पता चलता है कि दक्षिण का समाज उत्तर भारत के वैदिक वातावरण से काफी प्रभावित हो चुका था। यज्ञ आदि विधि यहाँ भी भाुरु हो गए और ब्राह्मणों का महत्व बढ़ने लगा। इसके अतिरिक्त संगम साहित्य से हमें यह ज्ञात होता है कि दक्षिण भारत का समाज चार वर्णो में विभाजित नहीं बँटा था। संगम साहित्य कृशको और उनकी स्थिति, महिलाओं और उनकी स्थिति के बारे में जानकारी देते हैं।

(क) वर्ण और जाति व्यवस्था–तमिल प्रदे ा में उत्तर भारत की तरह चार वर्णों की व्यवस्था को मान्यता प्राप्त नहीं थी। संगम साहित्य में समाज के पांच वर्गों में विभक्त होने के प्रमाण मिलते हैं जो इस प्रकार है–

(1) **ब्राह्मण (पुरोहित वर्ग)**–दक्षिण भारत में भी उत्तर भारत की तरह ही वैदिक सभ्यता का प्रभाव पड़ा। इससे कर्म को बढ़ावा मिला। राजाओं ने समाज में प्रतिशठा के लिए यज्ञ करना प्रारंभ कर दिया। मनुश्य और ई वर के मध्य संबंध स्थापित करने का माध्यम ब्रह्माणों को माना गया। इससे उनका महत्व बढ़ने लगा। ब्राह्मण को अब अधिक दान देना, उन्हें प्रसन्न रखना, दक्षिण भारतीय राजाओं का मुख्य उद्दे य हो गया। संगम साहित्य हमें बताता है कि वे मांस खाते थे और मदिरा का सेवन करते थे। इसके बावजूद उन्हें समज में ऊंचा स्थान प्राप्त था। वस्तुतः ब्राह्मणों का तमिल प्रदे ा में प्रवे ा ही इस काल में हुआ।

(2) **अरसर (शासक वर्ग)**– राजा सवेसर्वा होता था और उसकी स्थिति अत्यंत सुदृढ़ थी। वं ाानुगत राजतंत्र का प्रचलतन था। राजा की नैतिकता पर बल दिया जाता था। प्रजा के पिता के रूप में राजा वर्णन है। संगम साहित्य हमें बताते है कि राजा और उसके राज्य के जीवन यापन का मुख्य आधार खेती थी। जनता यह वि वास करती थी कि राजा की कृपा से वर्शा आदि नियमित रूप से होती है। राजा राज्य विस्तार की इच्छा रखते थे। संगम साहित्य में हमें चक्रवर्ती राजा की चर्चा की गई है। राजा का सर्वोच्च न्यायाल मंदरम् कहलाता था।

राजा की सुरक्षा के लिए सैनिकों को रखने की प्रथा थी जिन्हें वेतन मिलता था। सेना का कप्तान 'एनाडी' कहलाता था। राज्य में अपना प्रभुत्व स्थापत करन के लिये राजा कवियों और कलाकारों को

सार्वजनिक स्थलों पर धनराि ा दान दिया करते थे। पट्टिनप्पलै नामक संगम साहित्य के रचयिता को करकाल नामक चोल राजा ने सोलह लाख सोने की मुद्राएँ भेंट की।

(3) **बेनिगर (वणिक वर्ग)–** ये लोग तमिल प्रदे ा के आंतरिक एवं बाह्य व्यापार का संचानलन करते थे। आंतरिक और विदे ी व्यापार उन्नत थी। बंदरगाहों से दे ी सामानों का निर्यात विदे ाों में होता था। जहाजों के माध्यम से माल का निर्यात होता था। पुहार (बंदरगाह) के लोग व्यापार के कारण काफी धनी हो गये थे और वि ाल भवनों में रहते थे। जहाजों पर झंडे होत थे औ लाइट हाउस की व्यवस्था भी थी। आयात वाली वस्तुओं में भाराब, दीपक और घोड़े भाामिल थे। मुि ादी नामक बंदरगाह में यवन व्यापारी सोना लाते थे और काली मिर्च तथा दुर्लभ वस्तुओं जैसे दवा, पत्थर आदि ले जाता थे। चेर राजाओं को इससे काफी आय होती थी।

(4) **बल्लाल (बड़े कृषक एवं शासक वर्ग)–** तमिल ग्रंथ 'पुनानूर' के उल्लेख के आधार पर ज्ञात होता है कि इस वर्ग को शसक समान ही प्रतिश्ठा प्राप्त था। ये वस्तुतः धनी भूमिपति थे उनकी नियुक्ति उच्च पदों पर होती थी और वे राजा के साथ युद्ध एवं ि ाकार पर जाते थे। इनके अतिरिक्त राजाओं से इनके वैवाहिक संबंध भी थे। इस वर्ग को सेना में उच्चे पद प्राप्त थे, चौल सेना में इन्हें 'अर ु' तथा वेल और पांड्य सेना में इन्हें "कविदी" कहा गया है।

(5) **बेल्लार (मजदूर कृषक वर्ग)–** इनका मुख्य व्यवसाय खेती था। कृशकों को प्रधान वेलिर कहलाता था। वेल्लार वर्ग बहुत संपन्न तो नही था किंतु प्रतिश्ठाा उसे भी प्राप्त थी वेल्लार लोगों ने ही सर्वप्रथम काँसे के बर्तन बनाना भाुरू किया। लोहे का प्रयोग भाायद इन्होंने ही भाुरू किया। खेतों में सिंचाई एवं लोटे के कुदाल, फाल आदि का प्रायोग भी हमें संगम काल में मिलता है। रान्ना, रागी, चावल, कपास आदि का उत्पान होता था। चेर राज्य कटहल, काली मिर्च, भैंस और हल्दी के लिए प्रसिद्ध था। सिंचाई के नये तरीकों का प्रयोग और लोहे के औजार भी इन्हीं लोगों ने बनाए, जिससे कृशि क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। संगम साहित्य बताता है कि कृशि के विकास ने दक्षिण भारत में सामाजिक जीवन को स्थायित्व प्रदान किया।

(ख) **स्त्रियों की स्थिति**– संगम काल में स्त्रियों की स्थिति काफी अच्छी थीं संगम काल में स्त्रियों की द ाा, ऋग्वैदिक काल में उनकी स्थिति जैसी थी। सामाजिक या धार्मिक अवसरों पर एवं अन्य उत्सवों में वे खुलकर भाग लेती थी। सार्वजनिक नृत्यों में वे भाग लेती थी। उन्हें जीवन साथी चुनने की स्वतंत्रता थी। उनका वस्त्र एवं रूप सज्जा उनकी आर्थिक पर निभेद थी। अनेक प्रकार के वस्त्र एवं आभूशण वे पहनती थी। समाज में सूती वस्त्र ज्यादा प्रचलित था। ऊनी एवं रे ामी कपड़े भी औरते पहनती थी। धनी स्त्रियां मोती जड़ित टोपियाँ पहनती थी। निम्न वर्ग की स्त्रियां खेतो में काम करती थीं उच्च वर्ग की कुछ स्त्रियं जैसे औवेयर एवं नच्चेलिमर ने एक सफल कवयित्री के रूप में अपने को का स्थापित किया और इस वर्ग की स्त्रियां ि ाक्षा प्राप्त करती थी।

समाज में पत्नी का धार्मिक महत्व था। उसकी पूजा एक आर्द ा एवं पवित्र पत्नी या पतिनी के रूप में मूर्ति बनाकर की जाती थी। यह कन्नगी पूजा के नाम प्रसिद्ध है। यह पूजा प्रजन क्रिया या भाक्ति देवी से संबंधित थी। यह नारी पर पुरूश के सर्वाधिकार को भी बताता है। मेगास्थनीज कहता है कि पांड्य क्षेत्र में नारी– ाासन करती थी।

हमें विधवाओं के बारे में जानकारी मिलती है। उनकी स्थिति अति दयनीय थी। कभी कभी विधवा अपने पति के साथ स्वयं जलकर मर जाती थी। अर्थात सती–प्रथा भी प्रचलित थी किंतु इसके उदाहरण कम मिलते हैं वस्तुतः विधवाओं का जीवन इतना कश्टकर था कि विधवा स्त्रियां अपने पति की चिता में जलकर मर जाना ही बेहतर समझती थी। विधवा स्त्री न तो ठीक से खाना खा सकती थी ही सो सकती थी। उसके लिए हरी चीजें खाना और स्नान करना वर्जित था। उसे घर के कोने में रहना पड़ता था और सूखी रोटी खाने को मिलती थी।

संगम काल में गणिकाओं एवं नर्तकियों के रूप में "परत्तियर" व "कर्णिगौचर का उल्लेख मिलता है। ये वे यावृति द्वारा जीवनयपन करती थी। वे याएँ भाहरों और गाँवों मे ंएक नि चत गली में रहती थी। संगम साहित्य में अनेक वे याओं द्वारा धनी व्यापारियों को दरिद्र कर देने के उदाहरण उपलब्ध हैं। "ि ाल्पपदिकारम" का कथानक ही कोवलन नामक एक धनी व्यापारी के वे या के जाल में फंसकर बर्बाद हो जोने का वि ाद वर्णन है।

(ग) **विवाह**—संगमकालीन ग्रंथ "तोलकाप्पियम" में विवाहों को उल्लेख मिलता है। आठों प्रकार के विवाह का स्पश्ट उल्लेख नहीं मिलता है। किंतु आर्यों ने ही विवाह को एक संस्कार के रूप मे तमिल क्षेत्र में स्थापित किया।

सामान्य जन एक पत्नी प्रथा में वि वास रखते थे परंतु संपन्न वर्ग के लोग एक से अधिक पत्नी रखते थे। संगमयुगीन ग्रंथों में प्रेम विवाह को पंचतिणै, एक पक्षीय प्रेम को "कैक्ळिणै" तथा अनुचित प्रेम विवाह को 'पेरूनिदिणै' कहा गया है।

(घ) **मनोरंजन**—कविता पाठ, गायन, वादन, नृत्य, नाटक आदि मनांरंजन के साधन थे। लोग ि ाकार, कु ती लड़ना, पासा खेलना आदि को भी मनोरंजन के साधन के रूप में अपनाते थे।

(ङ) धर्म—तमिल साहित्य के अनुसार उत्तर भारत से अगस्त्य ऋशि, पौण्डिन्य ऋशि आदि ने उत्तर भारत से जाकर दक्षिण में वैदिक धर्म का प्रसार किया। अगस्त्य ऋशि के अनेकों आश्रम एवं मंदिर हमें आज भी दक्षिण भारत में देखने को मिलता है। तमिल ग्रंथों के अनुसार तमिल भाशा और व्याकरण की उत्पत्ति अगस्थ्य ऋशि की थी। उसी समय ब्राह्मण धर्म दक्षिण पहुँचा। समाज में प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिए दक्षिण भारत के राजाओं ने ब्राह्मण धर्म को प्रोत्साहित किया। ब्राह्मण धर्म के अलावा संगम साहित्य बौद्ध धर्म की चर्चा करता है। जैन धर्म का प्रभाव भी हमें तमिल क्षेत्र में देखने को मिलता है।

संगमकाल में दक्षिण भारत में 'मुरूगन' की पूजा करते थे। ि ाव, बलराम और कृश्ण की उपासना भी की जाती थी। उत्तर भारत के कार्तिकेय और दक्षिण भारत के मुरूगन में काफी समानता है। कालांतर में मुरूगन को 'सुब्रह्मण्य' कहा गया है। तमिल प्रदे ा में मुरूगन को ि ाव—पार्वती के पुत्र के रूप में जाना जाता हे ंतमिल प्रदे ा में मुरूगन का प्रतीक मुर्गा (कुक्कुट) को माना गया, जिसे पर्वत—ि ाखर पर क्रीड़ा करना पसंद है।

उत्तर भारत की तरह यहां भेड़, मुर्गों, भैंस आदि की बलि दी जाती थी। पदिरूप्पत्तु के अनुसार उत्तर भारत की तरह विश्णु भगवान की पूजा में तुलसी तथा घंटे का प्रयोग होता था। कापालिक भौवों की चर्चा मणिमेखलै नामक संगम ग्रंथ में मिलती है।

पांड्य वंश

पांड्य भारत का अत्यंत प्राचीन राज्य है। इनका वर्णन अनेक श्रोतों से मिलता है जिसके पाणिनी की अश्टाध्यायी कौटिल्य का अर्थ ाास्त्र, स्ट्रैबो के विवरण आदि भाामिल है। पांड्य भाब्द का भााब्दि अर्थ ठीक से ज्ञात नही है। जनश्रुतियों में इस संबंध में मतभेद है। कुछ के अनुसार पांड्य उस "कोरकई" के तीन भाइयों के वं ाज थे जिन्होंने क्रम ा पांड्य, चोल और चेर राज्य स्थापित किये। एक अन्य अनुश्रुति में उनका संबंध पांडवों से बताया जाता है।

पांड्यों को राज्य दूर दक्षिण में स्थित था और संभवतः इसमें मदुरै, रामानाथपुरम्, तिरूनेलवेलि, तिरूचिरापल्लली एवं ट्रावनकारे आदि भाामिल थे। इनका राज्य चिन्ह मत्स्य (मदनी) था। पांडयों की आरंभिक राजधानी, कोरकई थी और बाद मं मदुरै उनकी राजधानी बनी। मदुरै अपनी कीमती मोतियों और उच्च कोटि के वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध था। मदुरै उन्नत ाील व्यापार के लिए प्रसिद्ध था और इसे दक्षिण भारत की मथुरा कहते हैं प्रारंभ में कोरकई उनका मुख्य बंदरगाह था।

श्रोत— इनका प्रारंभिक उल्लेख पाणिनी की "अश्टाध्यायी" में मिलता है। वाल्मीकी रामायण में भी पांड्य राजनधानी की संपत्ति का वर्णन है। महावं ा के अनुसार श्रीलंका के राजकुमार विजन ने पांड्य राजकुमारी से विवाह किया था। कौटिल्य के 'अर्थ ाास्त्र' में भी पांड्य का वट (पांड्य दे ा में एक पर्वत) में मिलने वाले पांड्यकावटक नामक एक वि ोश प्रकार के मोती के मोती का उल्लेख मिलता है। मेगास्थनीज की इंडिका पांड्यों के बारे में जानकारी देता है

और हमें बताता है कि पांड्य जाति का भाासन नारियाँ करती थी और छः वर्श की आयु में ही वे संतान उत्पन्न करती थी। मेगास्थनीज के अनुसार पांड्य राज्य का नामाकरण हिरेकलीज की पांड्य नामक पुत्री के नाम पर हुआ था। अ ोक के ि ालालेख संखया–2 और ि ालालेख संख्यउ–13 में पांड्यों का उल्लेख उसके साम्राज्य की दक्षिणी सीमा के बाहर एक स्वतंत्र जाति के रूप में हुआ है। खांरवेल का हाथी गुफा अभिलेख के अनुसार खाारवेल ने पांड्य भाासक को हराकर उससे घोड़े, हाथी, रत्न ओर मोतियाँ प्राप्त थी। स्ट्रेबो के अनुसार पांड्य भाासकों ने 20 ई० पू० रोमन सम्राट, अगस्ट्स सीजर के पास दूत भेजे थे। "पेरिप्लस ऑफ सी इरिथ्रियन सी" और टॉलमी के 'ज्योग्रीफी' (Geography) में पांड्यों की राजधानी मदुरै और उसके अनेक अन्य नगरों तथ व्यापारिक केंद्रों का उल्लेख है।

शासक– पांड्य राज्य संबंधी ऐतिहासिक साम्रगी का आभाव है। संगम साहित्य ही इस पर कुछ विस्तृत प्रका ा डालता है 'ि ाल्पदिकारम्' 'मणिमेखल' आदि में कुछ राजाओं के नाम तो मिलते हैं किंतु उन्हें कालक्रम में ठीक से रखना मुि कल है क्योंकि इन राजाओं की तिथिक्रम के बारे में संगम सहित्य हमें कोई जानकारी नहीं देता है। संगम साहित्य से हमें तत्कालीन पांड्य समाज की सामाजिक तथा धार्मिक जीवन की जानकारी मिलती है।

(1) **नेडियोन–** इसके विशय में जानकारी को श्रोत "पात्तुपात्तु" में संकलित मुन्गुडिकिलार तथ नक्कीटर की कविताएँ है। नेडियोन का भााब्दि अर्थ है "लंबा आदमी"। यह एक पैराणि पात्र है। ऐसी मान्यता है कि इसी के प्रयासों से "पहरूली नदी" अस्तित्व में आई। इसी ने सागर पूजा को परंपरा की भाुरूआत की।

(2) **पलशालैमुडकुडमी–** यह पांड्यों का प्रथम ऐतिहासिक भाासक था। इसने अनके यज्ञ करवाए थे। अतः इसे "पल ाालै" कहते हैं। 'पल ाालै' का अर्थ होता है अनेक यज्ञ ाालायें बनवाने वाला।

(3) **नेडुंजेलियन–** वह एक योग्य भाासक था। इसके प्र ाासन की जानकारी हमें "मदुरैकांजी" ग्रंथ से मिलती है। इसने तलैयालंगानम का प्रसिद्ध युद्ध जीता था। इस युद्ध में नेडुंजेरिमयन ने चेरों और चालों कीसंयुक्त सेना का पराजित किया था। इसने चेर भाासक भोय (हाथी के सदृ ा आंखों वाला) को बंदी बना लिया और कारागार ने डाल दिया। तेंडुनेलियन का राजधानी मदुरै थी। इसने अपनीसेना में महुआरों को वि ोश महत्व दिया था।

वह एक साहित्य प्रेमी था। उसने अपने दरबार मे नक्कीरर को संरक्षण प्रदान किया था। उसके समकालीन कवियों में कल्लादनार और मागुंडिमरूददन भाामिल था। नेडुंजेलियन एक न्याप्रिय भाासक था। इसकी जानकारी हमें ि ालप्पायि से मिलता है। ि ाल्पदिकारम् के नायिका "कणणगी" के निर्दोश पति को हार चुराने के अपराध में नेडुंजेलियन ने मृत्यु दण्ड दे दिया, पर कालांतर में जब उसे वास्तविकता का ज्ञान हुआ तो आत्मग्लानि से उसने आत्महत्या कर ली।

(4) वेि ार ोलिय कोरकै– यह नेडुंलियान का छोटा भाई था। "सती कण्णगी" के सम्मान में वि ााल उत्सव का आयोजन किया। इसने नवरत्न की उपाधि धारण की थी।

(5) नल्लियक्कोडन– इसे संगल काल का अंति भाासक था।

pky jktoश

चोल भाब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत 'चोर' या तमिल भाब्द 'चोलम्' अथवा "कोल" से हुआ है। इसका भाब्दिक अर्थ मंडराने वाला होता है। चोलों का राज्य उत्तर और पि चम पन्नार और वेल्लर नदियों के बीच की भूमि पर फैला था और तंजोर तथा त्रिचला पल्ली के वर्तमान जिलों तथा पुटुकोट्टा रियासत के एक भाग एक तक विस्तृत था। इसकी अनेकर राजधानियों का उल्लेख मिलात है। जैसे उरैयुर, तंजौर तथा गंगैकोड चोड पुरम।

श्रोत– चोलो के विशय में प्रथम जानकारी पाणिनी कृत अश्टाध्यायी से मिलती है। अ ोक के अनुसार (ि ालालेख संख्या 2 तथा 13) वे मौर्य सीमा के बाहर के मित्र राज्य थे।

इनके विशय में जानकारी के अन्य श्रोत कात्यायन कृत कार्तिक, महाभारत, संगम साहित्य तथा पेरिप्लस ऑफ दी इटीथ्रियसन सी है। टॉलमी ने भी अपनी पुस्तकों में चोलो का उल्लेख कि है। पेरिप्लस ऑफ दी इरीथ्रियन सी में चोल राज्य के नगरों तथा बंदरगाहों का वर्णन मिलता है।

ि ालालेख भी हमें चोलों के बारे में जानकारी देते हैं। विजयालय और राज राजा–I के अभिलेखों से उनके भाासक काल की जानकारी मिलती है। इस संबंध मे तिरूवेलीपुरम के अभिलेख महत्वपूर्ण है।

स्मारकों तथा भवनों से चोलों का इतिहास प्राप्त होता है। चालो द्वारा जारी किए गए सिक्के भी ऐतिहासिक दृश्टि से महत्वपूर्ण है।

प्रमुख शासक

(1) **उखप्पहरे इलन जेत चेत्री–** यह चोल राजवं ा का प्रथम भाासक था। इसने अपनी राजधानी अरैयुर में स्थापित की। वह युद्ध में प्रयुक्त होने वाले अपने सुंदर रथों के लिए प्रसिद्ध है।

(2) **करिकाल–** यह प्रांरभिक चोल भाासकों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाासक था। उसने वश्णि नामक स्थान पर वेलरि तथा ग्यारह अन्य भाासकों की संयुक्त सेना को परास्त किया था। अपनी विजयों से यह पूरे प्रदे ा पर छा गया और पांड्य और चेर महत्वहीन हो गए।

संगम साहित्य से ज्ञात होता हे कि कारिकाल ने कावेरी नदी के मुहाने पर 'पुहार' पत्तम (कावेरी पत्तनम) की स्थापना की। भाक्ति ाली नौ सेना का स्वामी था और संगम युग का सबसे महान एवं पराक्रमी था। "पट्टिपालै" कृति के उल्लेख के आधार पर ऐसा प्रतीत होत है कि करिकाल के समय में उद्योग तथा व्यापर उन्नति की अवस्था में थे। इस पुस्तक के लेखक को करिकाल ने बहुत सारा धन उपहार में दिया था।

(3) **नेडुॅजेलियाल–** करिकाल के उपरांत इस वं ा का अंतिम महान भाासक नेडु जेलियल था। उसने पांड्यों और चेरों के विरूद्ध लड़ाई लड़ी और इसकी मृत्यु भी युद्ध क्षेत्र में ही हुई। संगम साहित्य कि अनेक कविताओं में इसकी प्र ांसा की गई है। इसके उपरांत का चोल–इतिहास अंधकारमय है और यह स्थिति 9 वीं सदी तक बनी रही। 9 वीं सदी के मध्य में चालों ने पुनः अपनी गरिमा प्राप्त की। यह कार्य विजयालय के हाथों संपन्न हुआ।

(4) **विजयालय (850 ई०–871 ई०)–** चोल साम्राज्य को दक्षिण भारत में पुनः स्थापित करने का श्रेय विजयालाय को जाता। विजयालय ने पल्लवो से उनकी राजधानी छीन ली। उसने तंजौर को अपनी राजधानी बनाया।

(5) **आदित्य प्रथम (871 ई०–907 ई०)–** यह विजयालय का पुत्र था। इसने अपनी भाक्ति का विस्तार किया और पल्लव भाासक अपराजित को 893 ई० में पराजित कर संपूर्ण पल्लपव क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार उसने संपूर्ण तोंडमंडलम् पर अधिकार कर चोलवं ाज के स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। उसने पि चमी गंगों की राजधानी तलकांड पर अधिकार कर लिया आदित्य प्रतम ि ाव का उपासक था और उसने अपनी राजधानी तंजौर में अनेक ि ाव मंदिरों का निर्माण कराया।

(6) **परांतक–I (907–953 ई०)–** आदित्य के पुत्र, परांतक–I ने पांण्ड्य भाासक राजसिंह के राज्य पर अधिकार कर लिया। राजसिह श्रीलंका भाग गया। पांड्यो की राजधानी विजित करने क उपरांत उसने "मदुरैकोण्ड" की उपाधि धारण की। इसके उपरांत उसने राजसिंह और श्रीलंका के भाासक की संयुक्त सेना को पराजित किया। इसके उपरांत उसने राश्ट्रकूट भाासक कृश्ण तृतीय को परास्त किया। चोलों की बढ़ती भाक्ति से गंग और राश्कूट दोनों चिंतित् थे। अतः दोनों की संयुक्त सेना ने चोल राज्य पर आक्रमण कर दिया। 949 ई० में तक्कोलम (आरकाट) नामक स्थान पर चोल सेना पराजित हुई। परांतक–I का ज्येश्ठ पुत्र राजदित्य इसी युद्ध मे मारा गया। इस विजय के उपरांत कृश्ण तृतीय ने "तंजौरकोंड" की उपाधि धार की थी। चालों को इस पराजय से गहरा धक्का लगा और दक्षिण भारत की राजनीति में अगले 30–32 वर्शो तक को महत्वपूर्ण भूमिका नहीं निभा सके। परांतक–I के उपरांत उसका पुत्र सुंदर चोल भाासक बना। परांतक की मृत्यु 953 ई० में हुई थी।

(7) **राज राज प्रथम (985–1041 ई०)**– तक्कोलम के युद्ध में पराजय से लगे गहरे धक्के से उबरने में चोलों का 30–25 वर्श लग गए। सौभाग्य से उन्हें राजराज–ᑭ जैसा महान् और भाक्ति ाली भाासक मिला। राज राज–I ने चोलों की प्रतिश्ठा पुनः स्थापित की। सिंहासन पर बैठते ही उसने साम्राज्य विस्तार भाुरू कर दिया और आरंभ में ही (मुम्मडि चोल देव) की उपाधि धारण की।

सर्वप्रथम उसने केरल पर आक्रमण कर चेरों की नौसैनिक भाक्ति को नश्ट किया। इसके बाद उसने पांड्य भाासक अमरभुंजंग पर आक्रमण कर उसे बंदी बना लिया। इसके उपरांत उसने एक वि ाल नौसेना की मदद से संपूर्ण श्रीलंका को जीत लिया। उस समय वहां का भाासक महेंन्द्र–V था। चोलों ने श्रीलंका की राजधानी अनुराधा पुर को लूटा। चोलों ने श्रीलंका को चोल साम्राज्य का एक हिस्सा बनाया और इसकी राजधानी पोलोनरूक में स्थापित की। राजराजा ने गंगों को भी परास्त किया।

राज राजा ने पि चमी चालुक्य भाासक तैलप–II को पराजित किया और पूर्वी चालुक्य भाासक भाक्तिवर्मन को वेंगी के सिंहासन रूढ़ करने में मदद दी। उसने पूर्वी ओर पि चमी चालुक्यों की एकता तोड़ने के लिए ऐसा किया। इसके बाद तैलप–II की मृत्यु के उपरांत भाासक बने सत्याश्रय से उसने उसका सारा राज्य छीन लिया। उसने मालद्वीप भी जीत लिया था और आंध्र ाासक उसकी आधीनता स्वीकार करते थे।

इस प्रकार राज राजा ने अपेन कु ाल नेतृत्व और संगठित नौसेना की मदद से एक वि ाल चोल साम्राज्य स्थापित कर लिया। उसने एक भाक्ति ाली नौसेना का गठन किया था।

राज राजा भी भौव था। उसने अपने आराध्य के सम्मान में राजराजे वर मंदिर का निर्माण 1010 ई० में तंजौर में किया। यह तमिल वास्तुकला का अनुपम नमूना है। उसने विश्णु कें मंदिर भी बनवाए ओर चूडामणि बिहार के निर्माण में सहयोग दिया। इससे यह पता चलता है कि वह धार्मिक दृश्टि से सहिश्णु था।

एक कु ाल प्र ाासक होने का परिचय देते हुए इसने 1010 ई० में भूमि सर्वेक्षण आरंभ किया एवं अपने साम्राज्य में स्थानीय स्व ाासन को प्रोत्साहर किया।

(8) **राजेंन्द्र प्रथम (1014–1044 ई०)**– राज राजा का पुत्र राजेन्द्र प्रथम की एक अत्यंत महत्वाकांक्षी भाासक था। उसेन न सिर्फ अपने पिता के विजित साम्राज्य को संगठित किया वरन् अनेके नए प्रदे ा जीत कर चोल साम्राज्य को उसकी चरम सीमा पर पहुँचा दिया। सबसे पहले उसने केरलो ओर पांड्यों के विद्रोहों का दमन किया। उसके उपरोत उसने श्रीलंका विजय के पूर्ण किया। राजराजा के काल में श्रीलंका का दक्षिण–पूर्वी विजित नहीं किया गया था। फिर उसने कल्याणी के चालुक्यों बनवासी के कदंबों और गोड़वाना क्षेत्र जीत लिया। संपूर्ण दक्षिण भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करे के उपरंत उसने उत्तर भारत पर भाासन स्थापित किया। उसकी सेनाएं 1021–1025 ई० के मध्य गंगा तक पहुँच गई। इस क्रम में राजेंन्द्र–I ने उड़ीसा, बंगाल ओरी मगध पर विजय प्राप्त की। यद्यपित यह विजय स्थायी नहीं थी। इस विजय के उपरांत उसने किसी भाग को अपने साम्राज्य में सम्मिलित नहीं किया किंतु "गंगैकोंड़" की उपाधि जरूर धारण की।

उसने जल सेना की मदद से अंडमान–निकोबार तथा बर्मा का आराकान तथा पीगू प्रदे ा विजित किया। उसने मलाया, जावा, सुमात्रा के भाासक श्री विजय (ौलेन्द्र साम्राज्य) को अपनी अधीनता स्वीकीर करने को बाध्य किया। इन विजयों के फलस्वरूप भारतीय व्यापार, उपनिवे ा और संस्कृति का प्रचार इन प्रदे ाों में हुआ।

राजेन्द्र–I एक महान भाासक था। अरब सागर में नौसेना की श्रेश्ठता स्थापित करने वाला पहला भारतीय भाासक था। वह एक महान् निर्माता भी था। उसने कई नगर बसाया। इनमें "गंगौकोंडचोलपुरम" प्रसिद्ध है। वह भौव था और उसने भी अनेक मंदिरों का निर्माण किया।

(9) **राजाधिराज (1044–1052 ई०)**– राजेन्द्र चोल के बाद उसका पुत्र राजाधिराज भाासक बना। उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा परंतु उसने उन सबका बड़ी दृश्टता से सामना किया। पांड्य, केरल और

लंका के राजाओं ने उसके विरूद्ध एक संघ बनाया और उस पर आक्रमण कर दिया। राजाधिराज ने उन्हें परास्त कर दिया। उसकी मृत्यु 1052 ई० में चालुक्य भाासक सोमे वर के साथ युद्ध में हुई।

(10) **राजेंन्द्र द्वितीय (1052 ई०–1063 ई०)**– राजाधिराज की मृत्यु के उपरांत उसका भाई राजेंद्र–II भाासक बना इसके दौरान भी चोल चालुक्य संघर्श चलता रहा। अपने साम्राज्य की रक्षा करने में राजेंद्र द्वितीय सफल रहा। उसने कोल्हापुर में जय स्तंभ स्थापित किया।

(11) **वीर राजेंद्र (1063 ई०–1070 ई०)**– इसने भी श्रीलंका और भोलेन्द्र साम्राज्य पर अपने अधिपात्य को सुरक्षित रखने में सफलता पाई। उसने चालुक्य भाासक सोमे वर–I ओर सोमे वर–II को पराजित किया। इने सामे वर की पुत्री से विवाह किया।

(12) **कुलोतुंग (1070–1118 ई०)**– वीर राजेन्द्र के उपरांत उसका पुत्र अधिराज भाासक बना परंतु उसकी हत्या कर दी गई। कुलोतुंग अधिराजेंद्र का बहनोई था। उसने पांड्य ओर चेरों का दमन किया और उसके राज्यों मे अपनी सैन्य टुकड़ियों रख दी ताकि वे पुनः विद्रोह न कर सके। उसेन चालुक्य नरे ों को भी पराजित किया। कलिंग पर आक्रमण करके उसने कुछ भागों को अपने साम्राज्य में मिला लिया। उसने अपनी पुत्री का विवाह श्रीलंका के राजकुमार से किया और अनेक राज्यों से कूटनीतिक संबंध स्थापित किया।

यह चोलवं ा का अंतिम महान भाासक था। वह एक साहसी और धैर्यवान भाासक था। कुलोत्तुंग प्रथम के उत्तराधिकारियों–विक्रमचोल, कुलोत्तुंग–II, राजराज– II, कुलोत्तुंग–III, राजराज– III और राजेंद्र तृतीय) ने लगभग 100 वर्शों तक भाासन किया परंतु चोल पतन की ओर उन्मुख थे और दक्षिण भारत की भाासन किया परंतु चोल पतन की ओर उन्मुख थे और दक्षिण भारत की राजनीति में उनका महत्व कम होता जा रहा था। अंततः पाण्ड्य भाासक सुंदर पांड्य ने राजेन्द्र–III को पराजित कर चोलवं ा का अंत कर दिया।

चोल प्रशासन

राजा– भाासन का प्रधान राजा होता था। उसके हाथों में समस्त भाक्तियाँ केन्द्रित थी। उस पर किसी लोकतांत्रिक संस्था का नियंत्रण नही था। राजा को सलाह देने के लिए मंत्री होते थे जो भाासन–व्यवस्था में भी उसकी मदद करते थे। राजा का पद वं ाानुगत होता था। चोल राजा राजराज प्रथम के काल से चोलो ने उत्तराधिकार की लड़ाई को समाप्त करने के उद्दे य से अपने जीवकाल में ही अगले राजा (उत्तराधिकारी) को घोशणा की देते थे और भाासन कार्यों में संलग्न कर उन्हें योग्य बनाते थे। सम्राट की सहायता के लिए मंत्रियों के अतिरिक्त अधिकारी भी होते थे। उन्हें जागींरे और उपाधियाँ दी जाती थी। राजा के मौखित आदे ों पर इन उच्च्य अधिकारियों के ही हस्ताक्षर होते थे।

प्रशासन– साम्राज्य प्रांतों के बाँटा था जिसे मंडलम कहा जाता था। मंडलमा पर राजपरिवार के सदस्यों का भाासन होता था। प्रांतों को कोट्टम तथा कोट्टम नाडु में विभक्त थे।

साम्राज्य
↓
मंडलम (प्रांत)
↓
कोट्टम
↓
नाडु (जिले) (जिला समितियाँ को 'नट्टर' कहते थे)
↓
ग्राम (ग्राम समिति को 'डर' कहते थे)

प्र ाासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थे। कुछ ग्रामों को मिलाकर "कुर्रम" बनात था। चोल प्र ाासन की वि ोशता यह थी कि मंडलम्, कोट्टम, नाडु तथा ग्राम सभी प्र ाासनिक ईकाईयों के लिए सार्वजनिक समितियाँ होती थी जो इस

भाासन–व्यवस्था का संचालन करती थी। व्यापारियों की अलग समितियाँ होती थी। इन्हें "नगरत्तार" कहते थे। नाडु और ग्राम की समितियों को क्रम ाः "नट्टर" और "उर" कहते थे। ब्राह्मण गाँवों की समितियों को "महासभा" कहते थे।

प्रत्येक गांव को 30 वार्डों में बाँटा जाता था। प्रत्येक वार्ड के व्यक्ति कुछ व्यक्तियों को चुनते थे। उम्मीदवार की योग्यताएं निर्धारित थी। उनके पास $1\frac{1}{2}$ एकड़ भूमि, अपना मकान, कम से कम एक वेद और एक भाश्य का ज्ञान, 20 से 70 वर्श के मध्य की आयु जरूरी, भार्ते थी। इसके अतिरिक्त यह भार्त भी थी कि उसने या उसके संबंधी ने कोई अपराध न किया हो। प्रत्येक बार्ड से चुने हुए इन व्यक्तियों के समूह में से एक का चुनाव पार्थियों द्वारा होता था। इस प्रकार ग्राम समिति के 30 सदस्यों का चयन होता था। समिति के गठन के उपरांत विभिन्न विशयों से संबंधित समितियां बना दी जाती थी। जैसे न्यायसमिति, विदे ाी यात्री समिति आदि।

ग्रास सभा के कार्य विस्तृत थे। गाँव की सभी भूमि पर उसका नियंत्रण होता था। भूमि संबंधी सभी परिवर्तनों पर केन्द्रीय सरकार महासभा की स्वीकृति लेती थी। सभा को जंगल आदि को साफ करके नयी भूमि प्राप्त करने का अधिकार था। सभा ही भूमि को किसानों में बांटती थी और लगान वसूलती थी। लगान ने देने की स्थिति में जमीन की नीलामी कर दी जाती थी। राज्य के निरीक्षक सभा के हिसाब की जाँच करते थे। इसके अतिरिक्त कोई अन्य हस्तक्षेप केंन्द्रीय भाासन द्वारा नहीं कया जाता था। ये समिति न्याय करती थी और दोशियों को दंड देती थी। ि ाक्षा का प्रबंध भी यही करती थी।

राजस्व– राज्य की आय का प्रमुख साधन भूमि कर था। यह उपज का 1/6 वां भाग होता था। राज राज– के काल में यह 1/2 हो गया था। भूमिकर नकद या उपज दो किसी रूप में दी जा सकती थी। इस काल में सिंचाई का उत्तम प्रबंध था। भूमि को उत्पादकता के आधार पर बाँटा गया था। भूमि की माप की जाती थी और लगान तय की जाती थी। वसूली कठोरता से होती थी।

भूमिकर के अतिरिक्त राज्य के व्यापार पर चुंगी, और अपराधियों के अर्थ दंड से राजस्व प्राप्त होता था। नमकर कर, सिंचाई कर वनों और रवानों से भी अच्छी आय प्राप्त होती थी। अधीनस्थ राजाओं सामांतों के भेंट से भी खजाना भरताथा।

सैन्यव्यवस्था– चोल सम्राटों के पास एक वि ाल स्थल सेना और सुसंगठित नौसेना थी। उनकी स्थल सेना में 1.5 लाख सैनिक तथा 60,000 हाथी थे। स्थल सेना 4 अंगों मे विभक्त थी–पैदल, घुड़सववार, धनुर्धर और हाथी। घोड़े अरब से मंगाए जाते थे। घुड़सवार को कदिरेच्चेवगर हाथी सेना को (कुंजिर मल्लर) तथा धनुर्धर को विल्लिगड़ कहते थे। दे ा भर मे विभिन्न स्थलों पर ध्वनियाँ बनाकर इतनी बड़ी सेना का रखा जाता था। सेना की छावनियों को कड़गम कहते थे।

इसके अतिरिक्त चोलों के पास एक सुसज्जित नौसेना थी जिसके कारण उन्होंने श्रीलंका, मलाया, जावा आदि पर साम्राज्य स्थापित किया।

न्याय व्यवस्था– चालों की न्यायव्यवस्था संगठित थी। मुकदमों के निर्णय करने का अधिकार स्थानीय संस्थाओं को प्राप्त थी। अंतिक अपील राजा के पास की जा सकती थी। सजा बहुत कठोर नहीं थीं चोरी जैसे छोटे अपराधों के लिए गधे पर बैठाकर घुमाया जाता था।

चोलों की संपूर्ण भाासन व्यवस्था को देखने के बाद यह बड़ी सरलता से कहा जा सकता हे कि वह अत्यंत लोकतांत्रिक और संगठित थी। प्र ाासन का स्तर अत्यंत ऊँचा था और स्थानीय स्व ाासन तो अनुकरणीय था।

सामाजिक व्यवस्था– समाज के चार वर्ग थे। परंतु अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह का प्रचलन था। अतः अनेक प्रकार की मिश्रित जातियों का उदय हुआ था। साधारणताया, लोग सजातीय विवाह करत थे। नगरों में जातीय आधार पर मुहल्ले बसते थे वि ोशकर ब्राह्मण जाति के लोग। बहु विवाह सिर्फ उच्चवर्ग में पाया जाता था। चोल समाज में दास प्रथा का प्रचलन था। किंतु उन पर साधारणतया कोई अत्याचार नहीं होता थां समाज का निर्धन वर्ग मजदूरी करके जीवन व्यतीत करता था। इनकी स्थित संतोशजनक नहीं कहा जा सकता।

समाज में स्त्रियों का स्थान काफी ऊँचा था। उन्हें सामाजिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे। यद्यपि लज्जा स्त्री का एक वि ोश गुण माना जाता था परंतु तब भी पर्दा प्रथा नहीं थी। स्त्रियाँ सभी सामाजिक और धार्मिक कार्यों में भाग लेती थी। स्त्रियाँ संपत्ति की स्वामिनी होती थी। चोल काल मे सती प्रथा का उल्लेख मिलता है। देवदासी प्रथा प्रचलित थी समाज में इनका एक वर्ग था। ये नृत्य संगीत में निपुण होती थी। ये मंदिरों में रहती थी और देवताओं को प्रसन्न करना इनका कार्य था। कुछ देवदासियों द्वारा विवाह करके गृहणी जीवन व्यतीत करने का उल्लेख मिलता है।

धर्म– चोल राजाओं का प्रधान धर्म भौव मत था। इसके बावजूद के अन्य धर्मों के प्रति सहिश्णुता रखते थे। चोल काल में भौव मत के अतिरिक्त वैश्णव, बौद्ध जैन संप्रदाय प्रचलित थे। राजराज–I ने भौव होते हुए विश्णु मंदिर ओर बौद्ध बिहारों का निर्माण कराया था। धार्मिक अनुदारता का उदाहरण हमें सिर्फ कुलोत्तुंग–I के शासनकाल में मिलता है। कहते हैं वैष्णव आचार्य रामानुज ने उसके व्यवहार से क्षुब्ध होकर होयसलों की राजधानी द्वार समुद्र में पलायन कियां चोल लेखों में वैदिक कर्मकांड की चर्चा बहुत कम मिलती है। मूर्ति पूजा और तीर्थ यात्रा की प्रधानता थी।

कला– चोल काल में वास्तुकला विशेषरूप से विकास हुआ। इसका मुख्य कारण यह था कि चोल शासक महान् निर्माता थां चोल राजाओं ने अनेक भव्य प्रसाद, मंदिर और नगर बनाये। चोल मंदिरों कें मुख्य विशेषता विस्तृत प्रागाण, विशाल विमान तथा ऊँचे और अलंकृत गोपुर (द्वार) है। विभ्न्नि चोल शासकों द्वारा निर्मित मंदिरों की सूची नीचे दी जा रही है।

	मंदिर	**निर्माता**
1.	राजराजेश्वर मंदिर	राजराज–I (तंजौर)
2.	तिरूवलीश्वरम् मंदिर	राजराज–I (तिरूनवेली)
3.	गंगैकोंडचोलपुरम का मंदिर	राजेन्द्र– I (गंगे को पुरम)
4.	ऐरावतेश्वर मंदिर	राजराज– II
5.	कंपरेश्ववर मंदिर	कुलोत्तुंग–II

प्रारंभ में चोल मंदिर छोटे होता थे किन्तु बाद में बड़े तथा विशाल मंदिरों का निर्माण हुआ। तंजौर का राजराजेश्वर मंदिर 150 मीटर लंबा और 75 मीटर चौड़ा है। इसमें 14 मंजिले है जो 57 मीटर ऊँची है। इसके शीर्ष पर 7.5 मीटर ऊँचा गुंबज है जिसका वजन 80 टन है और जो एक ही पत्थर को काटकर बनाया गया है। इसी तरह राजेन्द्र– I द्वारा निर्मित मंदिर भी बहुत विशाल है और कला की दृष्टि से राजराजेश्वर मंदिर से भी ज्यादा परिपक्व जान पड़ता है।

चोल शासकों ने अनेक झील, तालाब और बांधों का भी निर्माण कराया। राजेन्द्र– I गंगैकोंडचोलपुरम में एक विशाल झील का निर्माण कराया था।

चोलकाल में मूर्तिकला का भी काफी विकास हुआ। मंदिरों में मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की जाती थी। इसके अतिरिक्त संपूर्ण मंदिर को छोटी–बड़ी मूर्तियों से सजाया जाता था। चोलकाल की मूर्तिकला की मुख्य विशेषता कांसे की मूर्तियों को निर्माण है। शिव की "नटराज" के रूप में बनी कांसे की मूर्तियां सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है।

साहित्य– चोल को तमिल साहित्य का स्वर्ण युग कहते है। इस काल में रचित पुस्तकें और उनके रचयिताओं की सूची नीचे दी जाती है।

	ग्रंथ	**रचयिता**
1.	जीवन–चिंतामणि	निरूत्क देवर
2.	शूलमणि	तोलामोक्ति
3.	कलिंगत्तुप्पाणि	जयगोदार
4.	रामावतारम् (तमिल रामायण)	कंबन
5.	रसोलियम्	बुद्धमित्र

प्रसिद्ध विद्वान पुगलेन्दि और दंडी इसी काल में हुए थे। इस काल में संस्कृत भाषा कें ग्रंथों की रचना भी हुई।

v/;k; 11

x|Ir dky

"भारतीय इतिहास का स्वर्ण काल" कहे जाने वाले गुप्त काल में अनेक पराक्रमी और न्यायप्रिय शासक हुए। इनमें चन्द्रगुप्त–I, समुद्रगुप्त (जिसे भारत का नेपोलियन कहते है), विक्रमादित्य आदि प्रमुख हैं। इस काल में साहित्य, कला और संस्कृति का भरपूर विकास हुआ। इस अध्याय का विषय वस्तु गुप्त काल ही है।

- *गुप्त–साम्राज्य*
- *समुद्रगुप्त*
- *चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य*
- *फाहियान (399–411 ई॰)*
- *फाहियान का भारत–वर्णन*
- *कुमारगुप्त (415 से 455 ई॰ तक)*
- *स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (455–667 ई॰ लगभग)*
- *गुप्तकालीन भारत*
- *सामाजिक व्यवस्था*
- *धार्मिक–व्यवस्था*
- *आर्थिक अवस्था*

x|Ir&lkekT;

गुप्तवंश का शासल काल भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण काल है। राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टिकोण से यह भारतीय पुनरुत्थान काल था। गुप्तकालीन स्रोतों में साहित्यिक एवं पुरातात्विक दोनों प्रकार की सामग्रियों की बहुलता है।

साहित्यिक साधन– साहित्यिक साधनों के अन्तर्गत पुराण। काव्य, नाटक, स्मृति आदि है। यूँ तो सभी 18 पुराणों से गुप्त राजाओं की जानकारी मिलती है, किन्तु विष्णुपुराण, वायुपुराण तथा ब्यह्मंडपुराण इनमें उल्लेखनीय हैं। इनके द्वारा गुप्तों के प्रारंभिक इतिहास एवं राज्य सीमा के बारे में जानकारी मिलती है। धर्मशास्त्र एवं नीतिशास्त्र की पुस्तकों से भी गुप्तकाल की जानकारी मिलती है। 'कामन्दकीय' नीतिशास्त्र गुप्तकालीन प्रशासन पर प्रकाश डालता है। काव्य–नाटक साहित्य से भी गुप्तकालीन इतिहास, सभ्यता एवं संस्कृति की जानकारी प्राप्त होती है। विशाखदम वात्स्यायन, वसुबन्धु, शुद्रक तथा कालीदास की विभिन्न रचनाओं से गुप्तकाल के विषय में विविध जानकारी मिलती है।

गुप्तकालीन इतिहास की संरचना में विदेशी यात्रियों के वृतान्त भी बड़े सहायक सिद्ध हुए हैं। चीनी पर्यत्क फाहियान का विवरण बड़ा महत्वपूर्ण है। उसने पश्चिम में पुणकलावती से लेकर पूर्व ताम्रलिप्ति तक विभिन्न ऐतिहासिक केन्द्रों में रूककर स्थानीय प्रथाओं, धार्मिक विश्वास, जलवायु एवं वनस्पतियों का सुन्दर वर्णन किया है। हेन्नसांग हर्ष के समय सातवीं सदी में भारत आया था। उसके अनुसार नालन्दा विश्वविद्यालय का संस्थापक कुमारगुप्त था। उसने बुद्धगुप्त, तथागतगुप्त, बालादिव्यगुप्त नरेशों का भी उल्लेख किया है। चीनी यात्री ईत्सिग श्रीविजय होता हुआ ताम्रलिप्ति पहुँचा। उसने भी नालन्दा विश्वविद्यालय का वर्णन किया है। अल्बेरुनी का यात्रा वृतान्त 'तहकीके–हिन्द' बड़ा महत्वपूर्ण है।

उसके अनुसार हिन्दू कुशल दार्शनिक, ज्योतिष एवं खगोलशास्त्र के मर्मज्ञ एवं महान् गणितज्ञ थे। उसने काशी को हिन्दुओं का मक्का कहा है।

पुरातात्विक साधन– इसके अंतर्गत अभिलेख, सिक्के, स्मारक, मुहर आदि आते हैं। अभिलेखों के अंतर्गत स्तम्भलेख, शिलालेख तथा ताम्रलेख आते हैं। अभिलेख शिला, स्तम्भ एवं ताम्रपत्रों पर खुदे हुए हैं। मुहरों एवं मुद्राओं पर भी अभिलेख उत्कीर्ण है। इन अभिलेखों से गुप्त शासकों की वंशावली, उनके कृत्यों उनकी दानशीलता एवं राजनीतिक निपुणता का पता चलता है। सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक व्यवस्था का भी पता चलता है। इनमें प्रमुख है हरिषेण रचित प्रयाग–प्रशस्ति, समुद्रगुप्त की एरण प्रशस्ति, नालन्दा एवं गया अभिलेख, रामगुप्त की पूर्वी मालवा का अभिलेख, चन्द्रगुप्त द्वितीय का मेहरौली लौह–स्तम्भ, मथुरा–शिलालेख, प्रथमकुमार गुप्त का दामोदरपुर ताम्रलेख मंदसोर शिलालेख, स्कंदगुप्त का भितरी स्तंम्भ लेख इत्यादि।

गुप्त अभिलेखों के अतिरिक्त समसामयिक नरेशों की प्रशस्तियों, उत्तर गुप्तवंशी अभिलेखों तथा सामंतों के अभिलेख भी गुप्त वंश के इतिहास की जानकारी के साधन है। वर्ण व्यवस्था की चर्चा भी इन अभिलेखों में की गई है इसमे 'द्विजों' के अतिरिक्त कायस्थों का भी उल्लेख हुआ है। तत्कालीन मुहरें प्रायः मिट्टी की बनायी जाती थी सिर्फ कुमारगुप्त द्वितीय के काल की मुद्रा चाँदी की बनी हुई है। कुछ महरें धार्मिक हैं तो कुछ पदाधिकारियों के, तो कुछ व्यक्तिगत। मुहरों में विभिन्न पदाधिकारियों का उल्लेख मिलता है।

गुप्तकालीन इतिहास की संरचना में सिक्के बड़े सहायक सिद्ध हुए है गुप्त नरेशों के सिक्के सोने, चाँदी तथा ताम्र के बने हुए हैं तथा पश्चिम में गुजरात से लेकर पूर्व में बंगाल तक पाये गये हैं जो उनके साम्राज्य विस्तार को दर्शाते हैं।

गुप्तकालीन स्मारक जैसे–मंदिर, स्तम्भ,मूत्तियाँ तथा गुफायें भी उस काल के इतिहास का वर्णन करती है। इनमें प्रमुख है– भूमरा का शिव मंदिर। जबलपुर के निकट तिनावा का विष्णु मंदिर, अजयगढ़ राज्य में नचनाकुठार का पार्वती मंदिर, देवगढ़ का दशावतार मंदिर, भीतर गांव का ईंट–निर्मित मंदिर तथा लाड़खान मंदिर, ये तत्कालीन वास्तुकला, उत्कीण, भास्कर, धार्मिक विश्वासएवं प्रचलन के भव्य परिचालयक हैं। मंदिरों में शिखर निर्माण की परम्परा गुप्तकाल से प्रारंभ होती है। देवगढ़ का दशावतार मंदिर इसका ज्वलन्त उदाहरण है। तत्कालीन स्तंम्भ प्रायः एक ही विशाल प्रस्तर खंड को काटकर बनाये गये हैं। महरौली का लौह स्तम्भ सदियों की धूप–वर्षा के बावजूद लौह–मुक्त है। अनेक वैष्णव, शैव, जैन तथा बौद्ध प्रतिमायें मिली हैं जो तक्षण कला में उत्कृष्ट उदाहरण हैं। गुप्तकालीन गुहा–मंदिर,चैत्यगुह I प्रथम वर्गीय हैं। यह गुफा विशाल चट्टान को काटकर निर्मित की गई थी इसके भीतर एक देवालय है जो ब्राह्मण गुहा–मंदिर का प्राचीनतम उदाहरण है। अजन्ता की गुफायें (संख्या 16, 17 एवं 19) महायान सम्प्रदाय से संबंधित है।

गुप्तवंश का उदय– गुप्तवंश के प्रारंभिक इतिहास का बहुत कम ज्ञान है पुराणों के अनुसार गुप्तोंका उदय प्रयाग और साकेत के बीच सम्भवतः कौशाम्बी में लगभग तीसरी शताब्दी के अंत में हुआ था। कहा जाता है कि इस राजवंश का संस्थापक श्रीगुप्त था।

श्रीगुप्त– प्रभावती गुप्त के पूना ताम्रपत्र अभिलेख में श्री गुप्त को 'गुप्तवंश का आदिराज' बताया गया है। ऋद्धापुर अभिलेख के अनुसार श्रीगुप्त धारण गोत्र का था। श्री गुप्त के राज्य में बंगाल का कुछ राज्य सम्मिलित रहा होगा गुप्त आलेखों में 'महाराज' की उपाधि श्रीगुप्त और घटोत्कय दोनों के लिए प्रयोग की गई है।

घटोत्कच– घटोत्कच को गुप्त आलेखों में श्रीगुप्त का पुत्र तथा उत्तराधिकारी बताया गया है। किन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्त के दो अभिलेखों में घटोत्कच को प्रथम गुप्त राजा कहा गया है। घटोत्कच गुप्त चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में उस प्रांत का प्रमुख था जिसकी राजधानी वैशाली थी। यह उल्लेखनीय है कि उसे महाराज न कहकर 'कुमारामात्य' कहा गया है।

चन्द्रगुप्त प्रथम– इस वंश का तीसरा राजा चन्द्रगुप्त प्रथम शक्तिशाली शासक हुआ। उसने 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की। अतः यह कहा जा सकता है कि वह एक स्वतंत्र शासक था। उसने अपने राज्य का विस्तार भी किया। उसने एक सम्वत् भी चलाया था, जो 20 दिसंबर 318 ई0 अथवा 26 फरवरी 320 ई0 से प्रारंभ होता था। किन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि यह सम्वत् चन्द्रगुप्त प्रथम ने न ही, अपितु समुद्रगुप्त ने चलाया था।

चन्द्रगुप्त के जीवन की सबसे बड़ी घटना उसका भिच्छवी–राजकुमारी कुमारदेवी से विवाह करना था। इसका प्रमाण मुद्राओं, प्रयाग प्रशस्ति तथा पुराणों से मिलता हैं। मुद्राओं पर एक तरफ चन्द्रगुप्त, कुमारदेवी तथा दूसरी तरफ लक्ष्मी देवी की मूर्ति अंकित है। इस वैवाहिक संबंध के पश्चात् गुप्त वंश का वैभव बढ़ा। लिच्छवी–वंशी शासक पाटलीपुत्र में कुषाणों के सामंत के रूप में राज्य करते थे। वैवाहिक संबंध के फलस्वरूप चन्द्रगुप्त पाटलीपुत्र का शासक बन गया। लिच्छवी और गुप्तराज्य एक हो गए। अब कुमारदेवी को 'महादेवी' की उपाधि दी गई किन्तु कुछ विद्वानों के अनुसार लिच्छवी वंश का विधि सम्भत अधिकारी उसका पुत्र समुद्रगुप्त था। कुमारदेवी के पिता की मृत्यु जो घटोत्कच का समकालीन था 310 ई0पू0 के आस–पास ही हुई होगी। उस समय समुद्रगुप्त के अल्पायु होने के कारण लिच्छवी राज्य का शासन भार कानूनन नहीं तो कम से कम व्यावहारिक रूप में चन्द्रगुप्त ने ही संभाला होगा।

साम्राज्य विस्तार– चन्द्रगुप्त प्रथम की विजयों का कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है, पौराणिक एवं अन्य साक्ष्यों के आधार पर उसके राज्य की सीमा निश्चित करने का प्रयास किया गया है। स्मिथ के अनुसार चन्द्रगुप्त प्रथम का अधिकार तिरहुत, दक्षिण बिहार, अवध इसके सभी पर्वतीय प्रदेशों पर बतलाया है। वायुपुराण से पता चलता है कि गुप्त के वंशज अनुगंगा प्रयाग, साकेत तथा मगध पर राज्य करेंगे। चन्द्रगुप्त राजा कैसे बना इस बात पर विद्वानों में मतभेद है। प्रमाणों के आधार पर पता चलता है कि अपने जीवन के अंतिम समय में चन्द्रगुप्त ने समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। इसका उल्लेख हरिषेण के प्रयाग–प्रशस्ति, एरण अभिलेख एवं रिथपुर दान शासन से भी होती है।

इस प्रकार चन्द्रगुप्त प्रथम ही गुप्तों का पहला महत्वपूर्ण शासक हुआ। उसके समय से ही गुप्तों का राजनीतिक प्रभुत्व बढ़ने लगा और वे संपूर्ण भारत के स्वामी बन गए। समुद्रगुप्त के गया–ताम्रलेख के अनुसार चन्द्रगुप्त की मृत्यु लगभग 328 ई० में हुई।

Ieæx|Ir

समुद्रगुप्त के शासल काल की जानकारी उसके दो शिलालेखों तथा दो ताम्रलेखों से विशेष रूप से मिलती है। इसमें सबसे महत्वपूर्ण साधन है हरिषेन रचित प्रयाग प्रशस्ति। इलाहाबाद के अशोक के स्तम्भ पर समुद्रगुप्त का लेख उत्कीण है। इसके अतिरिक्त एरण अभिलेख, रघुवंश आर्यमं– श्रीमूलकल्प तथा मुद्राओं इत्यादि से भी तत्कालीन राजनीतिक दशा तथा समुद्रगुप्त की सफलताओं और व्यक्तित्व का विस्तृत मिलता है। किन्तु सबसे प्रमुख प्रयाग प्रशस्ति ही है।

इससे पता चलता है कि वह अपने पिता का ज्येष्ठ पुत्र न था किन्तु उसकी योग्यता तथा चरित्र–बल के कारण चन्द्रगुप्त ने उसे ही अपना उत्तराधिकारी चुना। चन्द्रगुप्त प्रथम ने अश्रुपूरित नेत्रों से समुद्रगुप्त से कहा 'तुम योग्य हो, इस सारी पृथ्वी पर शासन करो।' कुछ विद्वानों के मतानुसार उसने अपने जीवनकाल में ही समुद्रगुप्त को सिंहासन पर बैठा दिया, किन्तु कुछ विद्वान इसका खंडन करते हैं।

उसके सिंहासन पर बैठते ही कुछ लोगों ने उसका विरोध किया, किन्तु समुद्रगुप्त सब आपत्तियों पर विजयी हुआ और शीघ्र ही उसने अपने स्थिति को सुदृढ़ कर लिया। संभवत: वह 330 ई0 में गद्दी पर बैठा तथा 380 ई० के लगभग तक शासक बना रहा।

समुद्रगुप्त को 'भारतीय नेपोलियन' की उपाधि से विभूषित किया गया है। जब वह गद्दी पर बैठा, उस समय भारत की राजनीतिक स्थिति अत्यंन्त डवाडोल थी। नाग वाकाटक राजाओं के कारण कुषाणों की शक्ति नष्ट हो चुकी थी। पूर्वी तथा दक्षिणी पंजाब में भी अन्य कई स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हो चुकी थी। यही अवस्था मध्य–भारत तथा देश के अन्य भागों में भी थी। साम्राज्य को सुसंगठित करने के लिए समुद्रगुप्त ने दिग्विजय की नीति बनाई। उसके विजयों को पांच श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

(1) आर्यावर्त्त (उत्तरी भारत) (2) आटविक राज्य (3) दक्षिण भारत के राज्य (4) सीमान्त राज्य (5) गणराज्य।

1. **आर्यावर्त की विजय**– प्राचीन काल में विन्ध्यपर्वत तथा हिमाचल के बीच का प्रदेश 'आर्यावर्त' के नाम से विख्यात है। समुद्रगुप्त ने नौ प्रमुख राज्यों को पराजित कर उत्तरी भारत में एकछत्र राज्य की स्थापना की। इस राजाओं के नाम थे– रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, गणपतिनाग, नागसेन, अच्युत, नन्दि एवं बलवर्मा।

   रैप्सन के अनुसार ये राजा विष्णुपुराण में वर्णित नाग नरेश हैं। किन्तु इस विचार से अनेक विद्वान सहमत नहीं हैं। इन राजाओं के राज्य सीमाओं को लेकर विद्वानों में मतभेद है।

2. **आटविक राज्य**– उत्तरी भारत में साम्राज्य स्थापित करने के पश्चात् समुद्रगुप्त ने दक्षिण की ओर ध्यान दिया। किन्तु इसके पूर्व आटविक नरेशों को पराजित करना आवश्यक हो गया। उसने आटविक राजाओं को जीता तथा उन्हें अपना सेवक बनाया। एरण प्रशस्ति से भी इस बात की पुष्टि होती है। फलीट के अनुसार आटविक नरेश गाजीपुर से लेकर जबलपुर तक फैले हुए थे। एक शिलालेख के अनुसार आटविक राज्यों की संख्या 18 थी। यह क्षेत्र को महाकान्तकार भी कहा गया है। इसमे जबलपुर छोटानागपुर तक झारखण्ड का क्षेत्र सम्मिलित था। इन राजाओं के परास्त करने के बाद ही वह दक्षिणापथ की ओर बढ़ा।

3. **दक्षिण भारत पर विजय**– मध्य भारत को पारकर समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ पर आक्रमण किया तथा वहां के राजाओं को जीतकर अपने अधीन कर लिया। दक्षिण के राजाओं ने संयुक्त रूप से कोलेरू तालाब के किनारे समुद्रगुप्त का मार्ग रोककर उससे युद्ध किया। उनका नेतृत्व मन्तराज तथा विष्णुगोप कर रहे थे। इस युद्ध में उनकी हार हो गई। दक्षिणपथ के विभिन्न राजाओं की नामावली इस प्रकार है– कोशल का महेन्द्र, (महाकोशल, विलासपुर, रायपुर और संबलपुर के जिले) : इस कोशल को दक्षिण कोशल कहते हैं जिसकी राजधानी श्रीपुर थी।

   महाकान्तर व्याघ्रराज– व्याघ्रराज महाकान्तर का शासक था।

   केरल का मन्तराज– (कोशल का मन्तराज)– दक्षिण भारत का कोशल अथवा सोनपुर का प्रदेश जिसकी राजधानी महानदी के तट पर ययातिनगरी थी। कोलर्घ्ण के अनुसार यह प्रदेश गोदावरी तथा कृष्णा के बीच कोलेरूका सार था। सम्भवतः यह प्रान्त उड़ीसा तथा मद्रास के बीच था।

   पैवटपुरक– महेन्द्रगिरि कौटदूर का स्वामिदत्त– पिष्पुर, महेन्द्रगिरि और कौइटुर गंजाम जिले का शासक स्वामिदत्त थां

एरण्डपाल का दमन	: यह स्थान गंजाम जिले में चिकाकोल के समीप एरण्ट–पत्नी में है।
कान्चेय का विष्णु गोप	: विष्णुगोप कांची का शासक था।
आवमुक्त का नीलराज	: इसकी राजधानी गोदावरी के निकट पिथुंडा थी।
बैंगेय का हार्स्तवर्ग	: हार्स्तवर्ग वेंगी का राजा था। यह स्थान सम्भवतः एलेर में पेडवेगी से मिलता है।
पल्लक का उग्रसेन	: राजा उग्रसेन पल्लक का शासक था। यह स्थान नेलोर जिले में है।
दैवराष्ट्र का कुबेर	: राजा कुबेर देवराष्ट्र स्थान का था।
कोस्थलपुर का धनज्जय	: कोस्थलपुर का शासक धनज्जय था।

4. **सीमान्त राज्य**– दक्षिण भारतीय नरेशों को पराजित करने के पश्चात् समुद्रगुप्त ने सीमान्त शासकों को अपने अधीन किया। पाँच विभिन्न प्रदेशों के शासक थे जो 'नृपति' कहलाते थे। इनके अतिरिक्त नौ राज्य थे जो गणराज्य थे। समुद्रगुप्त ने उत्तर तथा पूरब के राजाओं तथा पश्चिम के नौ गणराज्यों को पराजित कर अपने अधीन किया। इनके राज्य थे (राजतंत्रात्मक राज्यों में) (i) समतट (ii) दवाक (iii) कामरूप (iv) नेपाल (v) कतृपुर।

5. **गणराज्य**– भारत के पश्चिमी क्षेत्रों में अति प्राचीनकाल से ही विभिन्न गणों का प्रभुत्व था कालांतर में ये गणराज्य काफी शक्तिशाली बन गए थे। समुद्रगुप्त ने इनकी स्वतंत्रता नष्ट कर दी यद्यपि वे पहले की तरह काम करते रहे परन्तु वे समुद्रगुप्त के अधीनस्थ राज्य बन गए। ये गणराज्य थे (1) मालव गणराज्य (अजमेर से चितौड़ तक का प्रदेश) (2) अर्जुनायन, (अलवर तथा भरतपुर जिले का क्षेत्र) (3) यौधेय गणराज्य, (यमुना तथा सतलुज नदी

के बीच का प्रदेश) (4) मद्रक (रावी और चिनाव के बीच का क्षेत्र) (5) आमीत गणराज्य (सौराष्ट्र तथा मध्य भारत तथा बेतवा नदी के बीच का प्रदेश) (6) अर्जुन गणराज्य (मध्यप्रदेश के नरसिंहपुर जिले के समीप) (7) रवरपरिक गणराज्य (मध्य प्रदेश का दमोह जिला) (8) सनकानिक और (9) काका गणराज्य विदिशा के समीपवर्ती क्षेत्र में स्थित था।

इस प्रकार समुद्रगुप्त ने अपने साम्राज्य की सीमाओं का सम्पूर्ण भारत में व्यापक विस्तार किया। किन्तु केवल आर्यावर्त के शासकों को छोड़कर अन्य शासकों को अपने–अपने राज्यों में स्वतंत्र रूप से शासन करने के लिए छोड़ दिया।

समुद्रगुप्त केवल महान विजेता ही न था। बल्कि एक महान् प्रशासक भी था। उसने केन्द्रीय प्रभुत्व तथा स्थानीय स्वायत्तता के सिद्धान्तों का अच्छा समन्वय किया। उसने दृढ़ केन्द्रीय सत्ता की स्थापना की, साथ ही उसने दूरस्थ प्रदेशों के शासकों को केवल करद बनाकर छोड़ दिया। पड़ोस के विदेशी शासकों के साथ भी उसने मैत्रीपूर्ण संबंध रखा।

अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान सार्वभौम प्रभुता का सूचक था। समुद्रगुप्त ने इसका अनुष्ठान किया तथा यज्ञ में दान देने के लिए सोने के सिक्के ढलवाये। इन सिक्कों पर एक ओर यज्ञस्तम्भ (यूप) में बंधे हुए घोड़े की मूर्ति है, दूसरी ओर हाथ में चँवर लिए समुद्रगुप्त की महारानी का चित्र अंकित है और उन सिक्कों पर अश्वमेध पराक्रम लिखा हुआ है। उसने अश्वमेघ यज्ञों का अनुष्ठान एक से अधिक बार किया।

उसने विभिन्न प्रकार की मुद्रायें जारी की, जिनसे उसके गुण और कर्म प्रकट होते हैं। धनुर्धर और युद्ध परशु के प्रकारों से उसकी सामरिक शक्ति का आभास होता है, वीणावादक–प्रकार से उसके संगीत प्रेम और अश्मेघ प्रकार से उसकी विजय का परिचय मिलता है। उसकी मुद्राओं पर राजा की वेशभूषा, दुर्ग, लक्ष्मी, कार्तिकेय आदि भारतीय देवी–देवताओं की आकृतियाँ व्याघ्र, सिंह, गैंडा, हाथी भारतीय पशुओं के चित्र तथा गरूड़ध्वज अंकित हैं।

प्रशासन– शासन कार्य की देखभाल करने तथा सम्राट को राजकाज में परामर्श देने के लिए एक मंत्रीमंडल था। केन्द्रीय शासन में अनेक विभाग थे जो पूर्ण प्रकार से संगठित और व्यवस्थित थे। उसने पदाधिकारियों को अनेक प्रकार की उपाधियाँ प्रदान की तथा उनके सिथियन नामों के बदले नये नाम दिए। प्रधान सेनापति को महाबलाधिकृत और प्रधान न्यायाधीश को महादण्डनायक कहा जाने लगा। उसका शासन इतना सुसंगठित और शक्तिशाली था कि उसके अधीन राजाओं को कभी उसके विरूद्ध विद्रोह अथवा षडयन्त्र करने का साहस ही न हुआ और उसके पश्चात् भी उसके साम्राज्य का सर्वत्र शांति स्थापित रही।

अतः समुद्रगुप्त गुप्तवंश का एक महान शासक था। वह एक कुशल योद्धा प्रवीण सेनापति, सफल संगठनकर्त्ता, काव्य प्रेमी तथा कला–संस्कृति का प्रकाण्ड उन्नायक था। वह आकर्षक व्यक्तित्व का स्वामी था। सम्पूर्ण उत्तर भारत, मध्य–भारत, दक्षिण भारत तथा सीमांत प्रदेशों का वह सफल विजेता था। उसके दिग्विजय उसके महान् सेनानायक होने का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। उसे 'समरशतावतरण दक्षः' अर्थात् 'सौ युद्धों का विजेता' कहा गया है। एक शिलालेख में उसे 'अप्रतिवाय वीर्यः' अर्थात् 'अजेय वीर' कहा गया है। उसने विदेशी शक्तियों सिंहलद्वीप तथा कुछ अन्य द्वीपों के शासकों के साथ उसने मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित किया था।

विशाल साम्राज्य में शासन करने के लिए सामंती व्यवस्था थी। उसने दूरस्थ प्रांतों का शासन अपने सामंतों को सौंप दिया जो सम्राट के प्रतिनिधि के रूप में शासन करते थे। साम्राज्य को अनेक भुक्तियों (प्रांत) तथा विषयों (जिलों) में विभाजित किया गया था। अहिच्छत्र, श्रावस्ती, कौशाम्बी, बर्द्धमान आदि भुक्ति थे। पूर्वी मालवा भी उसके साम्राज्य का अंग था।

उसने मुद्रा में सुधार किया। उसने कुषाणों की निम्न–कोटि स्वर्ण मुद्राओं का त्यागकर शुद्ध स्वर्ण मुद्राओं का प्रचलन करवाया। उसकी स्वर्ण मुद्रायें छह प्रकार (गरुड़, धनुर्धर, परशु, अश्वमेघ, व्याध्र निहंता एवं वीणाधारण) की थी। इनमें प्रथम तीन प्रकार की मुद्रायें सम्राट के सैनिक एवं वीर जीवन से संबंधित थी। बयाना निधि में समुद्रगुप्त की 183 मुद्रायें मिली हैं जिनसे 136 गरुड़ प्रकार की हैं। दिग्विजय के उपलक्ष्य में उसने अश्वमेघ मुद्रायें प्रचलित की होंगी। उसके उत्तराधिकारियों ने उसे अश्वमेघहर्ता की उपाधि प्रदान की थी। प्रयाग प्रशस्ति के अनुसार वह संगीतशास्त्र का मर्मज्ञ

था। उसकी व्यक्तिगत अभिरूचि, सांस्कृतिक उपलब्धियाँ, साम्राज्य–सीमा, धार्मिक एवं आर्थिक दशाओं के परिज्ञान की दिशा में उसकी मुद्राएं काफी महत्वपूर्ण सिद्ध हुई हैं।

वह एक महान् राजनीतिज्ञ भी था। वह संपूर्ण भारत को एक राष्ट्र बनाना चाहता था, किन्तु एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ के रूप में उसने अनुभव किया कि आवागमन की कठिनाइयों के कारण यह कठिन है एक चतुर तथा दूरदर्शी राजनीतिज्ञ की भाँति उसने अपने साम्राज्य को सुरक्षित रखने की व्यवस्था की। इस उद्देश्य ने उसने आटविक नरेशों को अपना सेवक बनाया। सीमांत प्रांतों में उसे कर देकर, अपनी आज्ञा मानकर तथा अभिवादन कर उसकी सत्ता स्वीकार की जाती थी। उसने विजित राजाओं को पदच्युत नहीं किया वरन् उनका राज्य तथा संपत्ति उन्हें लौटा दी इससे वे सम्राट के परमभक्त बन जाए। इससे गुप्त साम्राज्य को स्थायित्व प्राप्त हुआ।

प्रयाग प्रशस्ति में हरिषेण ने लिखा है, "संगीत कला में उसने नारद तथा तुम्बरू को भी लज्जित कर दिया था। अनेक काव्यों को लिखकर उसने काव्यराज की उपाधि धारण की।" वह विद्वानों का आश्रयदाता था।

समुद्रगुप्त एक उदार शासक था वह दानी तथा कोमल प्रकृति का था। विद्वानों और ब्राह्मणों को वह अनेक पुरस्कार देता था। अभिलेखों में उसे कोहि गोओं एवं स्वर्ण मुद्राओं का प्रदाता कहा गया है। वह सज्जनों का उद्धारक तथा दुष्टों का संहारक कहा गया है। फाहियान के अनुसार दीन–हीन, अपंग–अकिंचन एवं विधवाओं की निःशुल्क चिकित्सा दी जाती थी।

समुद्रगुप्त धर्मपरायण सम्राट था। प्रयाग प्रशस्ति में उसे धर्म की चारदीवारी कहा गया है। वह वैष्णव था। उसकी राजाज्ञायें गरूड़ मुद्रा में अंकित होती थीं। उसके सिक्कों पर गरूड़ध्वज एवं वैष्णवधर्म के प्रतीक अंकित है। किन्तु वह अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु था। उसने बोधगया में एक बौद्ध मंदिर के निर्माण की अनुमति दी थी। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान बसु–बन्धु उसके दरबार में था।

चूँकि समुद्रगुप्त वीर, साहसी तथा पराक्रमी योद्ध था। अतः स्मिथ ने उसे 'भारत का नेपोलियन' कहा है। नेपोलियन चालीस युद्धों का विजेता था, किन्तु समुद्रगुप्त को समरशत (सौ युद्धों) का विजेता कहा गया है। यह ध्यान देने योग्य है कि समुद्रगुप्त को नेपोलियन इसीलिए कहा जाता है कि समुद्रगुप्त भी उसी की तरह एक महान् विजेता था। किन्तु नेपोलियन की तरह घृणा उसका धर्म, प्रतिशोध उसका कर्तव्य और क्षमादान कलंक नहीं था।

अतः समुद्रगुप्त एक पराक्रमी दिग्विजयी सम्राट के अतिरिक्त कुशल शासक, प्रवीण राजनीतिज्ञ, धर्म सध्ष्णु एवं साहित्य कला का पोषक था।

रामगुप्त– विशाखदत्त रचित देवी चन्द्रगुप्त नामक नाटक के कुछ उदाहरण से यह पता चलता है कि समुद्रगुप्त के बाद रामगुप्त गद्दी पर बैठा, किन्तु वह दुर्बल और कायर था। एक बार शक राजा के साथ भीषण युद्ध में वह चारों ओर से घिर गया अतः अपने तथा अपनी प्रजा की रक्षा के लिए उसने अपनी पत्नी ध्रुवदेवी अथवा ध्रुवस्वामिनी को शक राजा के रनिवाए में भेजना स्वीकार कर लिया। उसका छोटा भाई चन्द्रगुप्त यह अपमान न सह सका उसने अपनी भाभी की रक्षा के लिए एक चाल चली। वह स्वयं ध्रुवस्वामिनी के वेश में शक राजा के खेमे में पहुँचा और वही उसकी हत्या कर दी। इस घटना से चन्द्रगुप्त की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी और रामगुप्त को अपकिर्ती भुगतनी पड़ी। दोनों भाईयों में मन–मुटाव हो गया। चन्द्रगुप्त का जीवन संकट में पड़ गया अतः प्राणरक्षा के लिए उसने पागल होने का नाटक किया और अंत में रामगुप्त को मारकर स्वयं गद्दी पर बैठ गया तथा ध्रुवस्वामिनी को अपनी रानी बना लिया। हर्षचरित में प्राप्त उल्लेखों के आधार पर इसकी पुष्टि की गई है। किन्तु इसके विरोध में यह कहा जाता है कि रामगुप्त के सिक्के नहीं मिले हैं और न गुप्तों के उत्कीर्ण लेखों में उसका जिक्र ही है।

pUæx|Ir f}rh; foØekfnR;

समुद्रगुप्त के पश्चात् गुप्तवंश का सबसे प्रतापी सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' हुआ। अपने पिता के ही समान वह योग्य सेनापति एवं कूटनीतिज्ञ था। संभवतः उसके पिता ने उसके गुणों के कारण रामगुप्त को पदच्युत कर उसे अपना उत्तराधिकारी बना दिया। किन्तु विशाखदत्त रचित देवी चन्द्रगुप्तम् नाटक से ऐसा आभास होता है कि चन्द्रगुप्त ने अपने ज्येष्ठ भ्राता की हत्या कर उसकी विधवा से विवाह कर लिया तथा गद्दी पर बैठ गया। उसकी माता का नाम

दत्तदेवी था उसके विषय में जानकारी 6 महत्वपूर्ण अभिलेखों से मिलती है– मथुरा स्तंभलेख, उदयगिरी गुहा–लेख, गढ़वा शिलालेख, सांची लेख, मथुरा शिलालेख एवं मेहरौली का लौह स्तंभ लेख।

इन स्रोतों से यह पता चलता है कि चन्द्रगुप्त लगभग 380 से 414–415 शासक बना रहा। उसकी माता का नाम दत्तदेवी था। सम्राट बनने के पश्चात् उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। गुप्त एवं ताकाटक अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसका दूसरा नाम देवराज और देवगुप्त भी था। उसकी प्रथम रानी का नाम कुबेरनागा था जो एक नागकन्या थी। इसी रानी की पुत्री प्रभावती गुप्त थी। ध्रुवदेवी या ध्रुवस्वामिनी उसकी दूसरी पत्नी थी जिससे गोविन्दगुप्त एवं कुमारगुप्त का जन्म हुआ।

वैवाहिक संबंध– गुप्तवंश के राजा अपने समकालीन महत्वपूर्ण राजवंशों से विवाह स्थापित कर अपनी स्थिति को दृढ़ बनाया करते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भी इसी नीति का अनुसरण किया। उसने नाग वंशी कन्या कुबेरनागा से विवाह किया इससे उसे प्रभावती नामक पुत्री की प्राप्ति हुई उसने अपनी पुत्री का विवाह वाकाटक नरेश से किया इससे उसे वाकाटकों की मैत्री सहज ही प्राप्त हो गई। उसने कुन्तल नरेश की पुत्री का विवाह अपने पुत्र या पौत्र से कर कदम्बवंश के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध बनाया।

चन्द्रगुप्त का विजय अभियान– हिन्दू अनुश्रुतियों में चन्द्रगुप्त द्वितीय को एक अत्यन्त पराक्रमी विजेता के रूप में याद किया जाता है। वह अपने पिता की ही तरह वीर और महत्वाकांक्षी था। उसे एक विशाल साम्राज्य विरास्त में मिली थी किन्तु देश की सीमाओं में शांति बनाये रखने की जिम्मेवारी उसकी थी। मालवा और सौराष्ट्र के शक तथा पश्चिमी पंजाब के कृषाण शक्तिशाली थे। शकों पर विजय पाने के लिए चन्द्रगुप्त ने विशाल सेना गठित की और पूरी तैयारी के साथ उस पर आक्रमण किया। युद्ध में क्षत्रप रूद्धसिंह तृतीय हारा और मारा गया। मालवा, गुजरात तथा सौराष्ट्र गुप्त साम्राज्य के अंग बन गए। साम्राज्य की सीमायें पश्चिमी समुद्र तक फैल गयी। इससे आंतरिक तथा वैदेशिक दोनों प्रकार के व्यापार को बहुत प्रोत्साहन मिला। इस विजय के परिणाम स्वरूप उज्जैन, जो विद्या, कला और साहित्य का केन्द्र था, साम्राज्य की दूसरी राजधानी बन गया।

उसने बंग में शत्रुओं के एक संघ का नाश किया और सिंधु के सात मुहानों को पारकर के वाह्लीक को जीता। अतः पूर्व में बंगाल और पश्चिम में सिन्धु नदी के पार तक उसकी विजय पताका फहराने लगी। बंगाल के छोटे–छोटे शासकों ने संयुक्त रूप से गुप्त वंश का विरोध किया, किन्तु वे पराजित हुए और संपूर्ण बंगाल सीधा गुप्त शासन के अधीन आ गया। इन विजयों के स्मारक स्वरूप ही चन्द्रगुप्त ने विष्णुपद पहाड़ पर लौह स्तम्भ खड़ा किया था, जिसे 11वीं सदी में राजा अनंगपाल दिल्ली उठाकर ले गया। चन्द्रगुप्त की सैनिक सफलतायें आश्चर्यजनक थी। अब गुप्त साम्राज्य ने समस्त बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश, पंजाब, मध्यप्रदेश समस्त मध्यभारत गुजरात और काठियावाड़ के प्रदेश सम्मिलित थे।

चन्द्रगुप्त की उपाधियाँ– चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पराक्रम, प्रताप तथा दिग्विजयों के कारण अनेक उपाधियाँ धारण की। जेसे विभिन्न छोटे–छोटे गणराज्य का अंत करके 'गणारि' और शकों विजय के पश्चात् 'शकारि' तथा अपनी दिग्विजयों के उपरान्त उसने "विक्रमादित्य" की उपाधि धारण की। उसकी अन्य उपाधियों में "नरेशचन्द्र", "सिंहविक्रम", "देवराज", "देवश्री" तथा "देवगुप्त" भी कहा गया है।

राजधानियाँ– चन्द्रगुप्त के समय पाटलीपुत्र ही गुप्त साम्राज्य की राजधानी थी परन्तु जब शकों में आक्रमण की तैयारी की तो उसने अस्थायी राजधानी पूर्वी मालवा में विदिशा में बनायी। शकों के प्रभाव के पश्चात उनकी राजधानी उज्जैन हो गयी। संभवतः अयोध्या भी उसकी राजधानी रही हो। कौशाम्बी को भी उसने अस्थायी राजधानी बनाया था।

शासन प्रबंध– चन्द्रगुप्त द्वितीय एक महान् विजेता होने के साथ–साथ एक कुशल शासक भी था। उसने विशाल साम्राज्य को संगठित कर उसकी शासन–व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध किया। उसका शासन एकतन्त्रा शासन प्रणाली पर आधारित था। सारे राज्य का प्रशासन साम्राज्य की राजधानी पाटलीपुत्र से संचालित होता था। राजा वंशानुगत होते थे। सारी सत्ता उसके हाथ में होते हुए भी वह निरकुश तथा स्वेच्छाचारी सम्राट नहीं था। वह सेना का प्रधान सेनापति तथा राज्य का सर्वोच्च न्यायाधीश भी था।

उसकी सहायता के लिए एक मंत्रिपरिषद होती थी जिसके मंत्रियों का पद पैतृक होता था। उसका प्रधान मंत्री 'मंत्रिन' कहलाता था। "शांति विग्रहीक" युद्ध, शान्ति तथा संधी का मंत्री होता था।

साम्राज्य प्रान्तों में विभक्त थे जिन्हें 'भुक्ति' कहा जाता था। इसका प्रधान "गोत्री" अधिकारी को 'उपरिक' कहा जाता था। प्रान्त जिलों में विभाजित था इसे विषय कहते थे इसका सर्वोच्च अधिकारी विषय पति कहलाता था। विषय ग्रामों में विभक्त थे जिनके शासक 'ग्रामिक' कहलाते थे।

केन्द्रीय तथा प्रान्तीय अधिकारी थे– उपरिक, वलाधिकरण, रणमंडाधिकरण, महादंडनायक, महाप्रतिहार, मशश्वपति आदि।

सम्राट स्वयं मुकदमे सुनता था तथा अपराध के अनुसार दंड देता था। राजद्रोहियों को दाहिना हाथ काट लिया जाता था। साम्राज्य में शांति और व्यवस्था होने के कारण व्यापार तथा उद्योग धंधों का खूब विकास हुआ। चन्द्रगुप्त ने सुन्दर तथा कलापूर्ण सोने, चाँदी तथा ताँबे के सिक्के चलाये।

वह बड़ा धर्मपरायण तथा दानी शासक था। उसने एक दान विभाग बनवाया था। वह ब्राह्मण धर्म का अनुयायी तथा विष्णु का उपासक था। किन्तु शैव, बौद्ध, जैन धर्मों के प्रति सहिष्णु था। उसके राज्य में धर्म के आधार पर भेद–भाव नहीं था।

वह एक महान् विजेता था अपने पिता की भांति उसने भी दिग्विजय की नीति का अनुसरण किया। उसने अश्वमेघ यज्ञ का आयोजन किया और विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। उसने साम्राज्य–विस्तृत किया। चन्द्रगुप्त एक कुशल शासक था। नगर और ग्राम शासन का उत्तम प्रबंध था। उसकी शासन व्यवस्था अभिन्न थी। उसने साम्राज्य की नीति पद्धति पर संगठन, अमात्य मंडल का संगठन, नवीन कर्मचारियों की नियुक्ति, सुरक्षा शांति–व्यवस्था के उपाय उसकी मौलिक प्रतिभा के परिचायक है।

चन्द्रगुप्त कूटनीतिज्ञ था। नारी के वेश में उसने शकपति की हत्या की थी तथा पागल का स्वांग रचकर रामगुप्त की हत्या की। वैवाहिक संबंधों द्वारा उसने साम्राज्य को शांति तथा स्थिरता प्रदान की।

वह साहित्य कला का पोषक तथा विधानुरागी था। उसके अन्तः पुर में संस्कृत भाषा का प्रयोग होता था। उसके दरबार में नवरत्न–धन्वतीर, क्षेपणक, उदयसिंह, शंकु, वेतालभट्ट, घटकर्पर, कालिदास, वराहमिहिर तथा वररूचि रहते थे। पाटलीपुत्र में विशेषज्ञ परिषदें थीं जो काव्यकारों की परीक्षा लेती थी। उसके द्वारा निर्मित स्वर्ण, रजत तथा ताम्र सभी मुद्राओं में उच्चकोटि की कलात्मकता दिखती है। उसकी सिंहनिध्न्ता मुद्रायें उसके शौर्य, वीरत्व तथा साहस की परिचायक है। पाटलीपुत्र तथा उज्जयिनी के अनुपम प्रसाद उसके कला प्रेम के परिचायक है। उज्जयिनी नगर पृथ्वी का भूषण था। पाटलीपुत्र के राज प्रसाद की कलात्मकता देख फाहियान ने उसे देव निर्मित बताया हैं

अतः स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय एक महान् विजेता, कुशल शासक, कूटनीति–विशारद, साहित्य–कला मर्मज्ञ एवं धर्म सहिष्णु सम्राट था। उसका शासन काल गुप्तकालीन इतिहास के स्वर्णिम परिच्छेद का प्रतिनिधित्व करती हैं

Qkfg;ku ¼399&411 bZ0½

फाहियान एक चीनी यात्री था जो चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में स्थलमार्ग से भारत आया तथा समुद्री मार्ग से वापस गया। वह एक बौद्ध भिक्षु था। धर्म की पुस्तकों की खोज तथा बौद्ध तीर्थ स्थानों के दर्शन के लिए यात्रा के अनेक कष्टों को सहता हुआ वह बुद्धदेव की भूमि भारत आ पहुँचा। पूरी यात्रा में उसे 15 वर्ष लगे जिसमें छः वर्ष वह भारत में तथा दो वर्ष श्रीलंका में रहा। भारत प्रवास के दौरान वह तीन वर्ष पाटलीपुत्र में रहा। उसने तत्कालीन भारत की सामाजिक धार्मिक व आर्थिक दशा का वर्णन किया तथा उन्हें सराहा किन्तु तत्कालीन शासक चन्द्रगुप्त द्वितीय का कहीं भी नाम नहीं दिया है।

Qkfg;ku dk Hkkjr&o.kZu

राजनीतिक दशा– फाहियान के अनुसार मगध के राजा का शासन श्रेष्ठ व कुशल था। राजा प्रजाहितैषी था। प्रशासन राजधानी पाटलीपुत्र से संचालित होता था। राजतंत्र प्रमुख था। राजा वंशानुगत होते थे तथा सारी शक्ति उनमें केन्द्रित

थी। फिर भी राजा निरकुंश नहीं था। विभिन्न पदाधिकारी थे– शांति विग्रहिक, महाभंडागारनायक आदि। साम्राज्य भुक्तियों में तथा भुक्ति विषयों में विभाजित थे।

राज्य की आय का मुख्य साधन भूमि कर (उद्रंग) था। यह उपज का 1/6 प्रतिशत था। भूमि की उर्वरता के अनुसार 16 प्रतिशत से 25 प्रतिशत तक कर लगाया जाता था। उपरिक उनसे लिए जाते थे जिन्हें भू–स्वामित्व प्राप्त नहीं था। 'वट', 'भृत', धान्य (अनाज कर), हिरण्य (मूल्यवान धातुओं पर कर), न्याय शुल्क, अर्थदण्ड, भोगकर (व्यापारिक वस्तुओं पर) आदि थे।

साम्राज्य में अनेक अधिकारी तथा कर्मचारी थे–

(1) राजामात्य (सम्राट का परामर्शदाता) (2) महासामन्त व महाप्रतिहार (अन्तः पुर का अधिकारी) । (3) राजस्थानीय (सम्राट के राजप्रसाद का अधिकारी) (6) मट (पुलिस का सिपाही) (7) उपरिक (न्याय व राजस्व अधिकारी) (8) विनय–स्थिति स्थापक (मुख्य दण्डाधिकारी) (9) दण्डनायक व महादण्डनायक (न्याय विभाग के अन्य अधिकारी) (10) भाडागाराधिकृत (कोष विभाग का अध्यक्ष) (11) महाक्षपटलिक (राजकीय लेखे जोखे का अधिकारी) (12) महासेनापति (सेना का सर्वोच्च अधिकारी) (13) महापीलपति (हाथियों की सेना का अध्यक्ष) (14) महाश्वपति (अश्वारोही सेना का अध्यक्ष) (15) रणभांडागारिक (युद्ध व रसद सामग्री का अधिकारी)।

इन सभी अधिकारियों को राज्य की ओर से वेतन मिलता था। देश में शांति व व्यवस्था थी और चोरी व अपराध कम होते थे। फाहियान के अनुसार अपराध कम होते थे और दंड विधान कठोर नहीं था। अधिकांश अभियुक्तों पर जुर्माना लगाया जाता था, किन्तु राजद्रोहियों के अंग–भंग कर दिए जाते थे। देशद्रोहियों की आंखें निकलवा ली जाती थी। यात्रियों का बहुत आदर होता था वे बिना किसी प्रवेश–पत्र के एक स्थान से दूसरे स्थान आ जा सकते थे। दान–धर्म की कई संस्थायें थी। सड़क के किनारे दानगृह तथा धर्मशालायें बनी हुई थी।

सामाजिक दशा– फाहियान के अनुसार तत्कालीन लोगों का जीवन सुखी व सम्पन्न था। देश के निवासियों की उदारता, धर्मपरायणता दानशीलता, सुख सुविधायुक्त धर्मशालाऐ, समृद्ध कृषि व विभिन्न दान के स्थल इस बात के प्रमाण है कि साधारण जनता सुखी व समृद्ध थी।

फाहियान के अनुसार लोगों में शिष्टाचार, दान, अतिथिसत्कार सदाचारित, उच्च नैतिकता आदि गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थे।

भारत में जो विदेशी जातियाँ जैसे शक, पल्लव, हूण, यूनानी व कुषाण आयी वे धीरे–धीरे भारतीय समाज में विलीन हो गयी थी। समाज वर्ण व्यवस्था पर आधारित था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र के अतिरिक्त चार आश्रम–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व सन्यास आश्रम को समाज के सभी वर्ग मानते थे। ब्राह्मणों को समाज में सर्वोच्च स्थान था वे ज्ञानी वेद के ज्ञाता होते थे, तत् पश्चात् क्षत्रिय थे जो समाज की रक्षा करते थे। वैश्य व्यापार तथा शूद्र सबों की सेवा करते थे। कुछ हीन जातियाँ जैसे –चाण्डाल नगर के बाहर रहती थी तथा अन्दर प्रवेश करते समय ढोल बजाती थी।

समाज में संयुक्त परिवार की प्रथा थी। परिवार का मुखिया वयो–वृद्ध व्यक्ति होता था जो परिवार के सारे सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक व्यवस्था के लिए जिम्मेवार होता था। समाज में दास प्रथा भी थी। वे खरीदे–बेचे जाते थे। स्त्रियाँ स्वतंत्र थी कुलीन स्त्रियाँ घर के बाहर घूंघट का प्रयोग करती थी। वे पुरुषों के साथ सामाजिक धार्मिक कार्यो में भाग लेती थी। समाज में वेश्यावृत्ति भी प्रचलित थी। अनुलोम तथा प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाह होते थे। उच्च वर्ग में बहु–विवाह भी प्रचलित था।

स्त्री व पुरुष दोनों श्रृंगार प्रिय थे। वे नंगे पैर रहते थे। मुख होठों के सौंदर्य वृद्धि हेतु विभिन्न प्रकार के सुगंठित लेपों का प्रयोग किया जाता था। मुख पर चन्दन पाउडर लगाया जाता था। केशों में सुगंधित तेलों का प्रयोग कर उन्हें विभिन्न प्रकार से संवारा जाता था। बाली, माला, बाजूबंध आदि का प्रयोग होता था।

आर्थिक दशा– फाहियान लिखता है कि इस काल में देश धन–धान्य से परिपूर्ण था। मुख्य व्यवसाय कृषि थी। गेहूँ, दाल, चावल, जूट, मक्का, कपास, फल, सब्जियाँ, सुपारी आदि की खेती की जाती थी। कपड़ा उद्योग मुख्य व्यवसाय था।

धातुओं को गलाकर विभिन्न वस्तुयें बनाई जाती थी। जलपोत भी बनाए जाते थे। हाथी दाँत की मूर्तियाँ बनती थी।

जल व स्थल दोनों मार्ग से व्यापार होता था। व्यापार की वस्तुओं में सूती रेशमी वस्त्र, सोना, चाँदी, रत्न, नमक व मसाले मुख्य थे। व्यापार के मुख्य केन्द्र विदिशा, उज्जैन, मथुरा, साकेत, प्रयाग, बनारस, गया, ताम्रलिप्ति, भृगृकच्छ (भड़ौच), पुष्पपुश आदि थे। आंतरिक व्यापार के लिए पर्याप्त राजमार्ग थे। रोम, चीन, ईरान, अरब आदि देशों से व्यापार होता था।

धार्मिक दशा– फाहियान के अनुसार इस समय ब्राह्मण धर्म अपनी उन्नता–वस्था में था। चन्द्रगुप्त स्वयं वैष्णव था किन्तु पंजाब, मथुरा और बंगाल में बौद्ध धर्म की प्रधानता थी। कई स्थानों पर उसने कई बौद्ध भिक्षु तथा कई बौद्ध विहार देखे। इस काल में लोगों के पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त थी।

शिक्षा– फाहियान के शब्दों में गुप्तकाल में शिक्षा का भी पर्याप्त प्रचार था। राज्य की ओर से शिक्षण संस्थाऐं नहीं थी, गुरू अपने आश्रमों में शिक्षा दिया करते थे। मंत्र, सूत्रों एवं भाष्यों में अयोध्या के विद्वान बहुत प्रसिद्ध थे। नालन्दा एक महान विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हो गया था। सौराष्ट्र में वल्लभी भी प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र था। ब्राह्मणों में शिक्षा का अधिक प्रचार था किन्तु शूद्र अशिक्षित ही रहते थे। वेदों के स्थान पर पुराण, स्मृति तर्क, दर्शन, न्याय व व्याकरण आदि का अध्ययन किया जाता था। ज्योतिष, गणित व आयुर्वेद भी पढ़ाये जाते थे। साहित्य तथा संस्कृति भाषा का भी उत्कर्ष हुआ।

पाटलीपुत्र का वर्णन– पाटलीपुत्र तथा अशोक के महल से फाहियान अत्यंत प्रभावित हुआ। बीस बड़े और सुसज्जित रथों वाले विशाल जुलुस की उसने बहुत सराहना की। ये जुलुस हर साल निकाले जाते हैं और दूसरे महीने की 8वीं तिथि को इसे शहर में घुमाया जाता है। उनमें गायक और संगीतज्ञ भी होते थे।

dqekjxqIr ¼415 ls 455 bZ0 rd½

चन्द्रगुप्त द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र कुमारगुप्त राजसिंहासन पर बैठा। उसके शासन काल में गुप्त साम्राज्य की शक्ति स्थिर रही किन्तु अंतिम वर्षों में पुण्यमित्र शुंग के वंशजों ने गुप्त साम्राज्य पर भीषण आक्रमण आरंभ कर दिया। अपनी वृद्धावस्था एवं अस्वस्थता के कारण उसने आक्रमणकारियों से निपटने का भार अपने पुत्र स्कन्दगुप्त को सौंपा। कुछ विद्वानों के अनुसार कुमारगुप्त इस युद्ध में मारा गया था। स्कन्दगुप्त के शत्रु बड़े विकराल साधन सम्पन्न तथा अत्यधिक शक्तिशाली थे किन्तु अपने अतुलित पराक्रम का प्रदर्शन करके स्कन्दगुप्त ने अन्त में अपने शत्रुओं का नाश कर दिया।

कुमारगुप्त ने भी अश्वमेघ यज्ञ किया था। उसने सोने के नये प्रकार के सिक्के चलाये। एक सिक्के में एक ओर कार्तिकेय को मोर पर सवार दिखाया गया और दूसरी ओर राजा मोर का अभिवादन कर रहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि वह कार्तिकेय का परम भक्त था। लगभग 445 या 446 ई0 में उसकी मृत्यु हो गयी।

LdUnxqIr foØekfnR; ¼455&667 bZ0 yxHkx½

स्कन्दगुप्त गुप्तवंश का अंतिम महान शासक था। उसकी मृत्यु के कुछ ही वर्षों पश्चात् गुप्तवंश का पतन हो गया। डा0 मजुमदार के अनुसार कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात् गद्दी के लिए गृह युद्ध हुआ। इसमें स्कन्दगुप्त ने अपने सभी भाईयों यहाँ तक की पुरूगुप्त को भी जिसका सिंहासन पर वैध अधिकार था हटा दिया तथा स्वयं सम्राट बन गया। विहार अभिलेख तथा भटारि अभिलेख में जो वंशावली दी गई हैं उसमें उसकी माता का नाम नहीं है। अतः वह मुख्य रानी नहीं थी। कथासरित सागर में स्कन्दगुप्त को विक्रमादित्य कहा गया है, जो भले च्गों पर विजय प्राप्त करने के बाद उसे मिली। अतः मजुमदार की गृह–युद्ध की धारणा बहुत तर्कपूर्ण नहीं है। उसकी सैन्य प्रतिभा से प्रसन्न होकर ही कुमारगुप्त ने उसे अपना उत्तराधिकारी मनोनीति किया था।

उसके शासन काल में बर्बर हूण जाति ने भारत पर आक्रमण किया। ये लोग लूट मार करते हुए मध्य एशिया से गान्धार तथा भारत तक आ गए। इसका वर्णन भिटारी अभिलेख में किया गया है। स्कन्दगुप्त ने वीरता से युद्ध किया यद्यपि उसकी भुजा से रक्त प्रवाहित हो रहा था उसने हूणों को इस बुरी तरह परास्त किया वे 5वीं सदी के अन्त तथा 6वीं सदी के प्रारंभ तक फिर आक्रमण करने का साहस नहीं प्राप्त कर सके।

इस प्रकार स्कन्दगुप्त ने अपने पूर्वजों के विशाल साम्राज्य को कायम रखा। साथ ही उसने कुशल प्रशासन की भी व्यवस्था की। पुराने प्रांतपतियों के स्थान पर सभी जगहों पर नए गवर्नर नियुक्त किए गए। जूनागढ़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने पर्णदत्त को सौराष्ट्र का गवर्नर नियुक्त किया। चक्रपालित को गिरनार का अधिकारी बनाया। इसने 456 ई0 में सुदर्शन झील का पुनर्निर्माण करवाया। उसने यज्ञ किए तथा सुदर्शन झील के समीप विष्णु भगवान का मंदिर बनवाया। शर्व्वनाग एवं प्रभाकर तथा भीम वर्मा की स्कन्दगुप्त के अधीन शासक या प्रान्तपति थे।

बिहार शिलालेख में अग्रहारिक सौलिक तथा भौगोलिक नामक अधिकारियों का उल्लेख किया गया है। इनमें से पहले शुल्क वसूल करने वाले थे तथा दूसरा जंगलों का अधिकारी था। चक्रपालिक नगर–रक्षक था।

स्कन्दगुप्त अपनी वीरता, जन–कल्याण की भावना एवं चारित्रिक विमलता के लिए विख्यात है। भिटारी अभिलेख में उसे जगतिभूज–बलाढ्यों गुप्तवशैकवीरः कहा गया है। उसकी तुलना इन्द्र एवं राम से की गई है। उसकी प्रर्म–परायणता तथा सत्यवादिता की तुलना धर्मराज युधिष्ठिर से की गई है। उसे 'पराहितकारी' कहा गया है। उसे श्रेष्ठ, बुद्धिमान और प्रजा–वत्सल राजा कहा गया है।

पुरूगुप्त तथा कुमारगुप्त द्वितीय– स्कन्दगुप्त की मृत्यु 467 ई0 के बाद पुरूगुप्त सिंहासन पर बैठा। वह संभवतः स्कन्दगुप्त का सौतेला भाई था। इसी काल में कुमारगुप्त द्वितीय नामक एक और गुप्त राजा का उल्लेख आया है। वह 474 ई0 में शासन कर रहा था। इन दोनों राजाओं का शासन–काल अत्यंत संक्षिप्त था।

बुद्धगुप्त– पुरूगुप्त के बाद बुद्धगुप्त सिंहान पर बैठा। वह 477 ई0 में शासन कर रहा था उसके अनेक उत्कीर्ण लेख मिले हैं। उसने संभवतः 20 वर्ष या उससे कुछ अधिक समय तक शासन किया। उसने साम्राज्य में शांति एवं व्यवस्था कायम रखी। मालवा, गुजरात और बंगाल आदि प्रान्तों पर उसका अधिपत्य कायम रहा। फिर भी इस काल में गुप्त साम्राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा कम होने लगी थी। बुद्धगुप्त की मृत्यु 500 ई0 के लगभग हुई होगी।

उसके पश्चात् उसका भाई नरसिंहगुप्त सिंहासन पर बैठा। उसके बाद कुमारगुप्त तृतीय तथा विष्णुगुप्त शासक हुए। इन तीनों ने मिलकर 570 ई0 तक राज्य किया होगा। नरसिंहगुप्त के उत्तराधिकारी निर्बल निकले और पतन को न रोक सके। चारों ओर आंतरिक विद्रोह उठ खड़े हुए। फलस्वरूप गुप्तवंश का पतन हो गया।

गुप्त साम्राज्य के पतन के कारण– गुप्त साम्राज्य के पतन के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे –

अयोग्य उत्तराधिकारी– गुप्त साम्राज्य के विस्तार में समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय का अपूर्व योगदान रहा था। स्कन्दगुप्त के शासन काल तक तो स्थिति संतोषजनक रही। किन्तु स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् गुप्तवंश में कोई ऐसा सम्राट नहीं हुआ जो साम्राज्य की एकता के सूत्र में बांधकर रख सकता।

विदेशी आक्रमण– गुप्त साम्राज्य पर हुए विदेशी आक्रमणों ने भी इसे विशेष क्षति पहुँचायी। गुप्त साम्राज्य के क्रमशः पुलयमित्रों, हूणों तथा यशोधर्मन के आक्रमण को सहना पड़ा। प्रत्येक आक्रमण ने साम्राज्य की स्थिति को और भी दयनीय बना दिया। गुप्त साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण हूणों का आक्रमण ही था।

नयी शक्तियों का उदय– उभरती हुई नयी शक्तियों से भी गुप्त साम्राज्य को काफी क्षति हुई। गुप्त सम्राटों की कमजोरी एवं हूणों से प्रेरणा लेकर कई स्वतंत्र राज्यों का उदय हुआ। इनमें सबसे प्रमुख मालता का यशोधर्मन था। जिन प्रदेशों में गुप्त नरेशों ने शासन नहीं किया था, उन पर इसने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। उसने अपने वंश को औलिकर वंश कहा है। शक्ति संवर्द्धन कर उसने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। 532 ई0 में उसने मगध सम्राट कुमारगुप्त तृतीय को हराया। उसने हूण नरेश मिहिरकुल को भी पराजित किया। उससे प्रेरणा पाकर अन्य छोटे–छोटे राज्य भी स्वतंत्र हो गए। दक्षिण भारत में भी गुप्तों की शक्ति समाप्त हो चुकी थी। इस प्रकार गुप्त–साम्राज्य धीरे–धीरे नष्ट हो गया।

उत्तराधिकार के निश्चित नियम का अभाव– साम्राज्य की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि इसमें उत्तराधिकारी के नियम सुनिश्चित नहीं किए गए थे। समुद्रगुप्त के समय से ही ज्येष्ठ पुत्र के स्थान पर अन्य पुत्र को गद्दी पर बैठा देने की जो परंपरा प्रारंभ हुई उसने कलह एवं उत्तराधिकार के युद्ध को जन्म दिया। गुप्तवंश के असंतुष्ट राजकुमारों जैसे हरिगुप्त और प्रकाशादित्य ने हूणों का साथ दिया। अतः साम्राज्य आंतरिक दृष्टि से कमजोर पड़ने लगा।

प्रशासनिक कमजोरियाँ– प्रो॰ रोमिला थापर एवं प्रो॰ गोयल के अनुसार गुप्त साम्राज्य की अवनति एवं पतन का मुख्य कारण वह प्रशासकीय व्यवस्था थी जिसकी आधारशिला समुद्रगुप्त ने रखी थी। गण–राज्यों को उसने आंशिक स्वतंत्रता दी थी। प्रमुख केन्द्रों पर ही सम्राट का सीधा नियंत्रण था शेष पर सामंती अधिकार थे। मालवा में वंशनुगत शासक थे। भूमि अनुदान की प्रथा ने उन सामंतों की संख्या में और भी वृद्धि कर दी। दुर्बल गुप्त शासक इन अधीनस्थ राजाओं को अपने नियंत्रण में नहीं रख सके और मौका पाते ही ये स्वतंत्र हो गए। इन कारणों के चलते गुप्त साम्राज्य का पतन हुआ।

आर्थिक कारण– गुप्त साम्राज्य के पतन के कुछ आर्थिक कारण थे। इस काल में प्रारंभ से ही भूमिदान देने की प्रथा थी। दान प्राप्त किये गए व्यक्तियों को नमक एवं खानों का भी स्वामित्व दे दिया गया। भूमि अनुदान के मालिकों को कुछ प्रशासनिक अधिकार भी सौंप दिए गए। इससे राजा की शक्ति का हास हुआ। कृषि दास अथवा अर्द्ध कृषि दासों ने कृषि का पूरा ध्यान नहीं दिया अतः ऊपज गिर गई। बेगारी की प्रथा से, किसानों, कारीगरों, शिल्पियों की गतिशीलता सीमित हो गयी। फलतः स्वायत्त ग्राम संस्थाओं का जन्म हुआ। मुद्रा अर्थ व्यवस्था के अभाव में भी व्यापार, नगर एवं उद्योग धंधे पनप नहीं सके। विदेशी आक्रमणों में आर्थिक ढांचे को हिलाकर रख दिया।

सामन्तों के विद्रोह– गुप्तकाल में सामंतवादी प्रथा प्रचलित थी। ये सामंत अपने–अपने क्षेत्रों के स्वतंत्र शासक थे। इनमें मौखरि, परिव्राजक महाराज, औलिकर, मैत्रक आदि उल्लेखनीय हैं। इनके पास विशेष राजनीतिक अप्रिकार थे फलतः मौका पाते ही वे सम्राट के विरुद्ध विद्रोह कर देते थे। कालांतर में जब गुप्त सम्राट कमजोर होने लगे, सामंतों ने विद्रोह कर स्वतंत्रता हासिल की।

सैनिक कारण– गुप्त साम्राज्य के पतन का एक प्रमुख कारण सैनिक भी था। गुप्तों के पास अपनी सुसंगठित सेना नहीं थी। अभिलेखों तथा फाहियान के वर्णन में कहीं सैन्य बल का वर्णन नहीं किया गया है। अतः कालांतर में गुप्तों की केन्द्रीय शक्ति के दुर्बल हो जाने पर सामंतों ने सम्राटों की मदद नहीं की। फलस्वरूप गुप्त साम्राज्य का पतन अवश्यम्भावी हो गया।

धार्मिक कारण– गुप्त साम्राज्य के पतन के लिए धार्मिक कारण भी प्रमुख था। प्रारंभिक गुप्त शासक वैष्णव थे किन्तु बाद के सम्राटों ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया जिसके कारण सम्राटों की युद्धप्रियता, जो साम्राज्य की सुरक्षा एवं स्थायित्व के लिए आवश्यक है, नष्ट हो गयी। परवर्ती शासकों की यह नीति पतन का कारण बनी।

साम्राज्य की विशालता– गुप्त साम्राज्य के पतन का एक मौलिक कारण साम्राज्य की विशालता थी। उन दिनों आवागमन के साधन विकसित नहीं थे। अतः इतने विशाल साम्राज्य पर शासन करना कठिन था। योग्य शासकों के समय तो गड़बड़ी नहीं हुई किन्तु उत्तरकालीन नरेशों के समय विघटनात्मक प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ने लगी। फलतः दूरस्थ प्रांतों के शासकों ने केन्द्रीय शासन से अपने को मुक्त कर लिया।

गुप्तकालीन दंडनीति– गुप्तकालीन दण्डनीति अत्यन्त नर्म थी। बड़े से बड़े अपराध पर कठोर दण्ड नहीं दिया जाता था। इससे देश में आंतरिक शत्रुओं को अशान्ति और अव्यवस्था फैलाकर साम्राज्य को विनाश करने के लिए प्रोत्साहन मिलने लगा। और वे साम्राज्य विरोधी कार्यों में सफल होने लगे।

विदेश नीति का परित्याग– परवर्ती गुप्त सम्राटों ने अपने पूर्वजों की विदेश नीति का परित्याग कर दिया। फलतः आवश्यकता पड़ने पर उन्हें कोई सहायता नहीं देता था अंततः उनका पतन अनिवार्य हो गया।

लगभग 550 और 595 ई॰ के बीच गुप्त साम्राज्य का पतन हो गया। इसकी स्थापना 319 ई॰ में हुई थी। प्रारंभिक शासकों ने इस साम्राज्य को विस्तृत किया किन्तु उत्तरकालीन शासकों की अयोग्यता तथा अन्य विभिन्न कारणों से इस साम्राज्य का पतन हो गया।

x|rdkyhu Hkkjr

राजनीतिक व्यवस्था– मौर्य साम्राज्य के बाद भारत में फिर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना और राजनीतिक शक्तियों को एक सूत्र में संगठित करने का श्रेय गुप्त वंश के शासकों को है। गुप्त सम्राटों ने न सिर्फ एक विशाल साम्राज्य की

स्थापना की बल्कि इसे प्रशासन की भी सुव्यवस्था की। मौर्यों के अधीन सत्ता के केन्द्रीयकरण पर बल दिया गया था वहाँ गुप्तकाल में सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया गया।

गुप्त साम्राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था का अध्ययन हम केन्द्रीय प्रांतीय एवं स्थानीय शासन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं।

केन्द्रीय शासन– राजतंत्रीय व्यवस्था के ही अनुरूप गुप्त सम्राटों में राज्य की सारी शक्ति निहित रहती थी। वह राज्य का प्रधान होता था। सारे कार्य उसी की आज्ञानुसार चलते थे। इस युग में राजा की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त काफी लोकप्रिय था। गुप्त शासकों और उनका अनुकरण करते हुए अन्य शासकों ने महाराजाधिराज, परम भट्टारक, परमेश्वर, परमदेवता जैसी उपाधियाँ धारण की। राजाओं की शक्ति और प्रतिष्ठा ने वृद्धि होने के बावजूद गुप्त शासक प्रजावत्सल थे, निरंकुश और अत्याचारी नहीं थे। राजा का प्रमुख कर्तव्य प्रजा की रक्षा करना था। वह राज्य के कार्यकारिणी न्यायपालिका एवं सेना का प्रधान था।

युवराज– गुप्त सम्राटों ने युवराज को भी प्रशासन में उचति स्थान प्रदान किया। राजकुमारों की समुचित शिक्षा पर बल दिया जाता था तथा उन्हें महत्वपूर्ण प्रशासनिक पद सौंपे जाते थे। सम्राट का ज्येष्ठ पुत्र युवराज बनाया जाता था परन्तु विशेष अवस्था में छोटे परन्तु योग्य राजकुमार को भी युवराज बनाया जा सकता था। युवराज को अनेक प्रशासनिक अधिकार दिए गए थे। वह शासन में सम्राट की सहायता करता था। उन्हें प्रांतपति के रूप में भी नियुक्त किया जाता था।

मंत्रीपरिषद– राजा विभिन्न मंत्रियों की सहायता से शासन करता था इन मंत्रियों या सचिवों की संख्या निश्चित नहीं थी। इनका प्रमुख कार्य राजा की सहायता करना एवं उन्हें मंत्रणा देना था। नारद स्मृति से ज्ञात होता है कि मंत्रीगण "धर्मशास्त्र" में कुशल अर्थज्ञान में प्रवीण, कुलीन और सत्यवादी थे।" राजा इनकी मदद से प्रशासन की देखभाल करता था। इन मंत्रियों का पद बहुधा वंशानुगत होता था। एक ही मंत्री कई विभागों का प्रधान हुआ करता था। हरिषेण एक ही साथ संधि–विग्रहिक, कुमारामात्य और महादण्डनायक था। राजा स्वयं मंत्री परिषद की अध्यक्षता करता था। पुरोहित को मंत्रीपरिषद में स्थान नहीं दिया गया था। मंत्रियों के जिम्मे विभिन्न विभाग सौंपे गये थे।

नौकरशाही– केन्द्रीय नौकरशाही या केन्द्रीय शासन प्रणाली के विषय में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। गुप्त शासकों ने किसी नयी व्यवस्था को जन्म नहीं दिया बल्कि आवश्यक परिवर्तनों के साथ पुरानी पद्धति को ही बनाए रखा।

महासेनापति– सिद्धांततः राजा स्वयं सैन्य व्यवस्था का प्रधान हाता था। परन्तु उसके अधीन विभिन्न सेनापति महासेनापति भी होते थे जो युद्ध क्षेत्र में सेना का संचालन करते थे।

रण्भाण्डागारिक– ये भी सैन्य–व्यवस्था से ही संबंधित थे। इसका मुख्य कार्य सेना के लिए आवश्यक सामग्री की व्यवस्था करना था।

महाबलाधिकृत– यह सेना, छावनी एवं व्यूहरचना विभाग का प्रधान था। इसके अधीन अनेक बलाधिकृत होते थे। वह संभवतः सैनिकों की बहाली करता था।

दण्डपाशिक– यह पुलिस विभाग का प्रधान था। इसके अधीन शांति सुव्यवस्था बनाए रखने वाले अनेक कर्मचारी थे जैसे चोरोद्धरिक (चोरों को पकड़ने वाला), दूत, भट आदि थे। कुछ अभिलेखों में इस अधिकारी को दण्डपाशधिकारणिक भी कहा गया है।

महादण्डनायक– इसका कार्य युद्ध एवं न्याय संबंधी था। युद्ध के अवसर पर वह महासेनापति के अधीन सेना का पीलुपति (हाथी की सैन्य टुकड़ी का सेनापति) आदि रहते थे। साधारण सैनिक को 'चाट' और सेना की छोटी टुकड़ी को 'चमू' कहा जाता था। युद्ध में परशु, शर, अंकुश, शक्ति, तोमर आदि अस्त्रों का व्यवहार होता था। महादण्डनायक न्यायाधीश का भी कार्य करता था।

महासन्धि विग्रहिक– उसका कार्य राजदूत के समान था। वह अन्य राज्यों के साथ युद्ध या संधि संबंधी मामलों का निर्धारण करता था। वह राज्य की वैदेशिक नीति का प्रधान होता था।

बिनयस्थितिस्थापक– वह शान्ति एवं व्यवस्था (धर्म नीति) का अधिकारी था।

भण्डागाराधिकृत– यह राजकीय कोष का प्रधान था।

महाक्षपटलिक– यह अभिलेख विभाग का प्रधान था।

सर्वाध्यक्ष– यह सम्भवतः केन्द्रीय सचिवालय की देख–रेख करने वाले अधिकारी था।

महाप्रतिहार– यह राज–प्रसाद की सुरक्षा करने वाला प्रमुख अधिकारी था।

ध्रुवाधिकरण– इस विभाग के अधीन राज्य की कर वसूली का कार्य था।

गोल्मिक– (जंगलों से राजस्व प्राप्त करने वाला), गोप (ग्रामों की देखभाल करने वाला) करणिक (आधुनिक रजिस्ट्रार) लेखक या लिपिक का कार्य करते थे।

पुस्तपाल– महाक्षपाटलिक का सहायक।

अग्रहारिक– दान–विभाग का प्रधान।

इनके अतिरिक्त भी कई अन्य पदाधिकारी थे। जैसे स्थापित सम्राट प्रतिनर्तक, युवराजकुमारामात्य, परमभट्टारक, पादिय, कुमारामात्य, युवराज, भट्टारकपादीय आदि।

केन्द्रीय शासन के विभिन्न विभाग अधिकरण कहलाते थे,एवं साम्राज्य के प्रमुख पदों पर काम करने वाले राजकुल से संबंधित व्यक्ति कुमारामात्य कहे जाते थे। प्रत्येक अधिकरण की अपनी–अपनी मुद्रा होती थी। बहुत से अधिकारियों कापद वंशानुगत होता था। इन्हें नकद वेतन के साथ–साथ भूमि अनुदान भी सेवा के बदले में प्राप्त होता था। परिणामतः ये धीरे–धीरे शक्तिशाली बने गये।

सैन्य–संगठन– सैनिक विभाग केन्द्र का सबसे महत्वपूर्ण विभाग था। सम्राट् ही सेनाध्यक्ष होता था। वृद्ध सम्राट की सेना की अध्यक्षता युवराज करता था। राजा के नीचे प्रधान सेनापति होता था जिसे महादण्डनायक कहा जाता था। गजसेना और अश्वसेना सेना के मुख्य अंग थे। गजसेना के प्रधान को महापीलु–पति कहा जाता था। इसके नीचे कई उपाध्यक्ष होते थे जिन्हें पीलुपति कहते थे। अश्वसेना के अध्यक्ष को महाश्वपति कहा जाता था। प्रयाग–प्रशस्ति में फरसा (परशु), वाण (शर), शंकु, तोमर, भिन्दिपाल आदि युद्ध–हथियारों का उल्लेख मिलता हैं

पुलिस– गुप्तकाल में पुलिस की समुचित व्यवस्था थी। पुलिस का बड़ा अधिकारी दण्डपाशिक कहलाता था। साधारण कर्मचारियों को चाट तथा भाट कहा जाता था। पहरेदार को रक्षिन् कहा जाता था। उस समय कोई चोरी डकैती नहीं होती थी। साम्राज्य में शांति व्यवस्था थी। चोरी, डकैती, हत्या आदि अपराध बहुत कम होते थे। गुप्तचर विभाग काफी दक्ष था। इसके कर्मचारी दूत कहे जाते थे। पुलिस और गुप्तचर काफी सतर्क रहते थें

गुप्त सम्राटों का दण्ड विधान कठोर नहीं था। मृत्युदण्ड किसी को भी नहीं दिया जाता था। देशद्रोहियों अथवा बार–बार चोरी करने वाले अपराधियों का हाथ काट दिया जाता था। प्रायः अपराधियों को आर्थिक दण्ड ही दिया जाता था। अपराध बहुत कम होते थे। गुप्त सम्राट न्याय क्षेत्र में बड़े उदार थे। वे प्रायः सभी प्रकार के अपराधियों को न्यायालय से दण्ड पाने के उपरान्त क्षमा याचिका प्रस्तुत करने पर क्षमा कर दिया करते थे। बड़े–बड़े अपराधी भी क्षमा याचना करने पर प्रायः क्षमा कर दिये जाते थे।

राजस्व व्यवस्था– राज्य की आय के कई प्रमुख साधन थे। सबसे अधिक आय भूमि कर से होता था। आय के अन्य स्रोत थे– नियमित कर, सामयिक कर, अर्थदण्ड, राज्य सम्पत्ति से आय और अधीनस्थ सामन्तों से प्राप्त उपहार। नियमित कर के अन्तर्गत उद्रंग (भूमि कर), उपरिकर (भूमि कर), भूतोवात्त, प्रत्याय, विष्टी तथा अन्य प्रकार के कर थे। राजा उपज का छठा भाग कर के रूप में लेता था। नगरों तथा गाँवों में बाहर से आने वाले माल पर चुंगी लगती थी। बंजर भूमि, जंगलों, चारागाहों, नमक की खानों पर राज्य का स्वामित्व होता था। यह भी आय के साधन थे।

प्रान्तीय शासन– शासन की सुविधा के लिए गुप्त साम्राज्य को विभिन्न प्रशासनिक इकाईयों में विभक्त किया गया था। प्रान्त को 'भुक्ति' कहा जाता था एवं राज्य को देश, राष्ट्र, पृथ्वी, अवीक आदि। गुप्त साम्राज्य निम्न भुक्तियों में विभक्त था–

1. **पुण्डवर्धन भुक्ति :** इसमें उत्तरी बंगाल और पूर्णिया का कुछ भाग सम्मिलित था। यहाँ कर्ण कायस्थ वंशीय उपरिक महाराज जयदत्त और ब्रह्मदत्त का जिक्र मिलता है।
2. **वर्धमान भुक्ति (बंगाल का ही एक भाग)** : यह महाराज विजयसेने के अधीन था।
3. **तीर भुक्ति (तिरहुत या उत्तरी बिहार)** : यहाँ का राज्यपाल गोविन्दगुप्त था।
4. **मालवा भुक्ति** (मन्सौर, मध्यप्रदेश)।
5. **कौशाम्बी भुक्ति** (उत्तर प्रदेश)।
6. **सौराष्ट्र भुक्ति (काठियावाड़) :** यहां का राज्यपाल पर्णदत्त था।
7. **मगध या श्रीनगर भुक्ति।**
8. **नव्याव काशिक भुक्ति :** यहाँ नागदेव राज्यपाल था।

मुक्ति का प्रधान प्रांतपति, उपरिक,महाराज राष्ट्रीय, भोगपति, गोप्त आदि नाम से भी जाने जाते थे। ये सभी राज्यपाल केन्द्रीय शासन के प्रतिनिधि के रूप में शासन करते थे। इनकी सहायता के लिए भी क्षेत्रीय मन्त्रिमण्डल था। दामोदरपुत्र ताम्रपत्र पर अंकित लेखों का अनुशीलन यह बतलाता है कि भुक्ति शासन में सहायता प्रदान करते थे।

सुक्ति के अन्तर्गत कई विषय या जिले हुए करते थे। इसका शासक विषयपति कहलाता था। वह तन्नियुक्तक भी कहलाता था। प्रांतपति ही इसकी नियुक्ति करता था। केन्द्रीय शासक से इसका कोई संबंध नहीं था। वह प्रमुख नगर में रहता था जो अधिष्ठान कहलाता था। उसके कार्यालय को अधिकरण कहते थे। विषयपति की सहायता के लिए भी एक स्थानीय समिति रहती थी जिसकी मदद से वह शासन चलाता था। विषय की क्षेत्रीय कार्यकारिणी का उल्लेख दामोदरपुत्र ताम्रपत्र में किया गया है। इसके अनुसार इस समिति में चार सदस्य होते थे– नगर श्रेष्ठी, सार्थवाह, प्रथम कुलीक तथा प्रथम कास्थ। इनमें से नगर श्रेष्ठी प्रमुख होता थ। सार्थवाह व्यापारियों को प्रतिनिधित्व करता था। प्रथम कुलिक प्रधान शिल्पी अथवा शिल्प संघ का प्रमुख होता था। प्रथम कायस्थ प्रधान लिपिक था। एक अन्य अधिकारी साधनिक था जो संभवतः प्रशासकीय साधनों का उपाय करता था। विषयपति जिले के महत्तरों (प्रमुख व्यक्ति) की भी नियुक्ति करता था जो शासकीय मामलों में उसकी सहायता करते थे। जिले की शान्ति व्यवस्था, सुरक्षा एवं कर उगाही का काम जिलाधिकारियों पर ही था। इन कामों में वह युक्त, आयुक्त, नियुक्त, दण्डपाशिक, चोरोद्धरणिक दण्डनायक, पुस्तपाल आदि की मदद लेता था।

विषयपति के कार्यकारिणी की अवधि का ज्ञान दामोदरपुर ताम्र–अभिलेख से मिलता है। राज्यपाल की तरह इनकी भी नियुक्ति पाँच वर्षों के लिए होती थी। एक समान पदाधिकारियों का भी उल्लेख है जिसके आधार पर इनके कार्यकाल की अवधि पाँच वर्षों तक मानी गयी है। ये पदाधिकारी थे– विषयपति– कुमारामात्य वेत्रवमंग्, नगर श्रेष्ठी– धृतिपाल, सार्थवाह– बंधुमित्र, प्रथम कुलिंक घृतिमित्र, प्रथम कायस्थ–शॉबपाल तथा पुस्तपाल रिसिदत्त, जयनन्दि एवं विभुदत्त।

विषयपति की विभिन्न उपाधियाँ थी। निम्नलिखित उपाधियों का वर्णन अभिलेखों में हैं– कुमारामत्याधिकरण, युवराज पादीय कुमारामात्य।

इनमें कुमारामात्य शब्द विवादास्पद है। इसका अर्थ कुछ विद्वान राजकुमार के सभासद से लगाते हैं। प्रयाग प्रशस्ति में हरिषेण को भी कुमारामात्य कहा गया है। संभवतः यह आमात्य राजकमार सदृश सम्मान पाता था। 'युवराज पादीय' शब्दों का भी अर्थ स्पष्ट नहीं है। यह अधिकारी संभवतः राजकुमार के कार्यालय से संबंधित था। गुप्तों की शासन व्यवस्था मौर्यां से अधिक सुदृढ़ थी।

स्थानीय प्रशासन– गुप्तकालीन अभिलेख हमें नगर एवं ग्राम प्रशासन का भी ज्ञान कराते हैं। नगर का पदाधिकारी द्वांगिक कहलाता था। स्कन्दगुप्त के समय में सौराष्ट्र के राज्यपाल का पुत्र चक्रपलित सौराष्ट्र (गिरनार) में नगरपति था। इसका प्रमुख कार्य नगर को स्वच्छ बनाए रखना, नगरवासियों के स्वास्थ्य पर ध्यान देना तथा करो की वसूली करवाना था। इसकी मदद के लिए नगर सभा होती थी। पुरताल नामक एक कर्मचारी का भी उल्लेख शहरों में मिलता है। ये निग–सभाओं की मदद से शासन करते थे।

विषय के अन्तर्गत कई ग्राम हुआ करते थे। इनका प्रधान ग्रामपति या महन्तर कहलाता था, यह ग्राम प्रशासन का अध्यक्ष होता था। इसकी सहायता के लिए पंचायत होती थी। पंचायत के सदस्यों का उल्लेख दामोदपुर ताम्रपत्र में हुआ है। ये सदस्य थे : महत्तर, आटकुलाधिकारी, ग्रामिक तथा कुटम्विन।

ग्राम शासन का भारत इसी पंचायत के ऊपर था। प्रशासनिक मामलों में इन्हें काफी स्वतंत्रता थी। ग्रामों के आयच्यय का हिसाब रखने वाला कर्मचारी तलवारक था। ग्राम सभा का प्रमुख कार्य ग्रामों में शांति सुव्यवस्था बनाये रखना, कर की वसूली करवाना एवं जमीन के क्रय–विक्रय का लेखा–जोखा रखना था।

lkekftd 0;oLFkk

वर्ण–व्यवस्था– गुप्तकाल का समाज परम्परागत चार वर्णों में विभक्त था– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, एवं शूद्र। समाज में ब्राह्मण का स्थान सर्वोच्च था। शैक्षणिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक विशेषाधिकार उसे प्राप्त थे। प्रधानतः उसके छः कर्म थे– वेद पढ़ना, वेद पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना। ये कर्म उसके स्वधर्म के अंतर्गत आते थे। वह समाज के विकास में अनवरत सचेष्ट रहते थे। अपनी तपश्चर्या और साधना से वह समाज के लोगों को सन्मार्ग और सद्भाव का मार्ग दर्शन कराते थे। ब्राह्मण को प्राणदंड नहीं दिया जाता था। शूद्रक के मृच्छकटिक के नवें अंक में ब्राह्मण चारूदत्त के हत्यारा सिद्ध किये जाने पर भी ब्राह्मण होने के कारण उसे प्राणदंड नहीं दिया गया था। मनु ने ब्रह्महत्या को महापातक माना है। दशकुमार चरित में ब्राह्मण मंत्री राजद्रोह का दोषी होने पर केवल अंधा बना दिया गया था। गुप्त काल में ब्राह्मण राजवंशों के प्रमाण मिलते हैं जिसमें वाकाटक और कटम्ब प्रमुख थे। गुप्तों का सामन्त शासक मातृविष्णु ब्राह्मण था। मनु का कथन है कि क्षत्रियकर्म से जीवन–निर्वाह न कर सकने के कारण ब्राह्मण वैश्य के कर्म–कृषि, गोपालन और व्यापार ग्रहण कर सकता था। संकट के समय वह व्यापार कर सकता था। मनु का कथन है कि ब्राह्मण को धनवर्द्धक वस्तुयें बेंचनी चाहिए।

समाज में क्षत्रियों की स्थिति ब्राह्मणों के बाद थी। उन पर ही देश देश और समाज का रक्षा का प्रबंध था। युद्ध में जीती गई सारी वस्तुयें क्षत्रिय की होती थी। मनु के अनुसार, रथ, घोड़ा, हाथी, छत्र, धन, धान्य (सब प्रकार के अन्न), पशु, स्त्रियाँ (दासी आदि), सब तरह के द्रव्य (गुड़, नमक आदि) और कुव्य (सोना चाँदी के अतिरिक्त ताँबा–पीतल आदि धातु) जो योद्धा जीतकर लाता था, उसी का होता था। सम्राट समुद्रगुप्त को ऐसे ही अनेक राजाओं से उपहार में बहुमूल्य धन–सम्पत्ति और राज–कन्यायें प्राप्त हुई थीं। मनु ने क्षत्रियों को वैश्य वैश्य कर्म अपनाने की सलाह दी है, पर कृषि कर्म को उनके लिए वर्णित कहा है। पारिवारिक संकट काल में वे वाणिज्य–व्यापार भी कर सकते थे।

समाज में वैश्यों का स्थान क्रमानुसार तीसरा था। व्यापारिक व्यवस्था और कृषि का समस्त भार उसके ऊपर था। गुप्तयुग में उन्हें श्रेष्ठि, वणिक्, सार्थवाह आदि नामों से संबोधित किया जाता था। राज्य को अधिकाधिक कर प्रदान करने वाला वर्ग वैश्य ही था जो अपनी वस्तुओं के विक्रय की आय से राजा को कर देता था। ब्राह्मण और क्षत्रिय की तरह वैश्य भी आपत्तिकाल में दूसरे कर्म करते थे। गौ, ब्राह्मण और वर्ण की रक्षा के लिए वैश्य भी शस्त्र ग्रहण कर सकता था।

समाज में शूद्र का स्थान अत्यन्त निम्न था। हेमचन्द्र ने शूद्रों के लिए छह नाम निर्दिष्ट किए हैं– शूद्र, अन्त्यवर्ण, कृषल, पद्यः, पज्ज और जघन्य। वह पतित और हेय माना जाता था। उसमें उत्साह, प्रयास और व्यवहार का अभाव था। उसके सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और नैतिक जीवन से संबंधित जितने भी नियम थे, सभी उनकी नीचता प्रदर्शित करते थे। मनु ने उन्हें कुछ सुविधायें दी थी। काष्ठशिल्प, धातुशिल्प, भांडशिल्प, चित्रकला आदि कर्म की अनुमति उन्हें दी गई। उन्हें विद्या ग्रहण करने की भी अनुमति दी गई। पुराणों में भी उनके प्रति उदार भावना व्यक्त की गई हैं तथा इन्द्रि निग्रह के साथ मोक्ष–प्राप्ति का भी उल्लेख किया गया है। फिर भी शूद्र पूर्ण–रूपेण द्विजों की दया पर निर्भर थे।

गुप्तकालीन स्मृतियों में कुछ मिश्रित जातियों–मूर्द्धाविषिक्त, अम्बष्ठ, पारशव, उग्थ तथा करण के उल्लेख मिलते हैं। बाद की अपेक्षा इस काल में उपजातियों में गतिशीलता अधिक थी। वे निम्न कृति का पालन करते थे। जंगली जानवरों का शिकार करना, मछली मारना, श्मशान घाट की रखवाली करना आदि उनके कार्य थे। उन्हें बस्ती से बाहर रहना पड़ता था। ग्राम या नगर में प्रवेश करते समय ये ढोल बजाते थे। ताकि उन्हें लोग स्पर्श करने से बच जाए।

उन्हें स्मृतियों में अंत्यज अथवा चाण्डाल तथा प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न बताया गया है। जितने उच्च वर्ण की लड़की होगी और जितना निम्नवर्ण का लड़का होगा उनमें विवाह से उत्पन्न संतान को उतनी ही निम्न जाति में रखा जाएगा।

अस्पृष्यता तथा मिश्रित जातियां – ये जातियां वर्णव्यवस्था के दायरे में भी नहीं रखी गई थी जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है अर्थात् जिन्हें छूना तो दूर की बात उनकी परछाई पड़ना भी उच्च वर्ण के लोगों को अपवित्र कर देता था। इनकी हालत बहुत ही दयनीय थी। इनको उच्च वर्ग के झूटन पर जीना पड़ता था।

विवाह प्रथा– राजवंशों में अन्तर्जातीय विवाह होते थे। क्षत्रिय गुप्तों का विवाह संबंध ब्राह्मण, वाकाटक और नाग राजाओं के साथ था। विधवा विवाह और सती प्रथा का भी प्रचलन था। बहु–विवाह की प्रथा भी थी। अनमेल विवाह भी होता था, जिसका उदाहरण कुमारगुप्त हैं ऊंची जाति का पुरुष नीच स्त्री से विवाह कर सकता था, जो अनुलोम विवाह कहलाता था। ऊंची जाति की स्त्रियाँ और नीची जाति के पुरुषों से भी संबंध हो सकता था। ऐसे विवाह को प्रतिलोम कहा जाता था।

दास प्रथा– भारत में घरेलू ढंग की दास प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही थी। किन्तु विदेशी यात्रियों ने इसका जिक्र नहीं किया है। युद्धबन्दियो, कर्जदारों और हारे हुए जुआरियों को बहुधा दासता स्वीकार करनी पड़ती थी। कभी–कभी अकाल के समय गरीब लोग अपनी इच्छा से दासता स्वीकार कर लेते थे। दास स्वतंत्र भी हो सकते थे। अनेक साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था। अधिकतर उन्हें घरेलू काम धंधे ही करने पड़ते थे। यूनान अथवा रोम की भांति हजारों की संख्या में दास खेतों पर काम नहीं करते थे।

रहन–सहन– अधिकांश जनता का भोजन साधारण तथा सात्विक था। लोग ज्यादातर शाकाहारी थे, मांस–मदिरा आदि का प्रयोग चाण्डाल किया करते थे।

जनता साधारण वस्त्रों का प्रयोग करती थी। साधारण श्रेणी के लोग सूती वस्त्र और उच्च श्रेणी के लोग रेशमी वस्त्र का प्रयोग करते थे। स्त्री और पुरुष दोनों का आभूषणों का बड़ा चाव था। तरह–तरह के सुन्दर आभूषण प्रयोग में लाये जाते थे। स्त्रियाँ कानों में जड़ाऊँ और बालियाँ, गले में मोतियों की मालायें और हार, हाथों में रत्नजड़ित चूडियाँ, कंगन और कड़े, उँगलियों में अंगूठियाँ और कमर में करधनी पहनती थी। पैरों मे पाजेब भी पहने जाते थे। स्त्रियां केश श्रृंगार में विशेष रूचि लेती थी। केश विन्यास के नमूने अजन्ता की चित्रकारी में दिखाये गये हैं। पुरुष भी गले में मालायें, कानों में कुंडल, हाथ में कड़े और उँगलियों में अँगूठियाँ पहनते थे। मुख और होठों की सुन्दरता के लिए रंगों और सुगंधित पाउडरों का प्रयोग किया जाताथा। विलासीता की वस्तुयें उस समय के समाज में अधिकता से प्रयोग की जाती थी।

मनोरंजन– उस समय के समाज में खेल–कूद मनोरंजन के साधनों का यथेष्ठ प्रचार था। स्त्री–पुरुष दोनों ही चौपड़ तथा शतरंज खेलते थे। भेड़ी और मुर्गों की लड़ाई देखने का जनता को बड़ा चाव था। समारोहों और उत्सवों के अवसर पर स्त्रियाँ गाती, बजाती, नाचती और गेंद के कई प्रकार के खेल खेलती थी। बालकों को गेंद और आँखमिचौनी के खेल में रुचि थी। नाटक तथा खेल–तमाशे मनोरंजन के साधन समझे जाते थे। धार्मिक उत्सवों का विशेष प्रचार था। जनता उत्सवों में बड़ी रूचि रखती थी। रथों की दौड़ और रथ–यात्रा का अधिक प्रचार था। स्त्रियाँ भी रथ यात्रा में सम्मिलित होती थी। उस समय की गणिकायें नाच–गाकर समाज का मनोरंजन करती थीं। गणिकाओं को समाज में सम्मानपूर्ण दृष्टि से देखा जाता था। गुप्त–सम्राटों को शिकार खेलने का बड़ा शौक था। वे बड़ी तैयारियों के साथ शिकार को जाया करते थे। समाज में गोष्ठियों का भी प्रचलन था। गोष्ठियाँ प्रायः एक ही स्तर और स्वभाव के लोगों में होती थी।

कौटुम्बिक व्यवस्था– इस युग में सम्मिलित कुटुम्ब की प्रथा थी। पिता कुटुम्ब की सम्पत्ति का स्वामी था। लेकिन भाईयों तथा पुत्रों का भी हिस्सा होता था। इस युग में मिताक्षर नियम प्रचलित था जिसके अनुसार पुत्र को अपने पूर्वजों की सम्पत्ति में जन्मसिद्ध अधिकार माना जाता था। विधवाओं को केवल जीवन वृत्ति मिलती थी। कन्याओं को पिता की सम्पत्ति में भाग नहीं मिलता था।

स्त्रियों की स्थिति– समाज में स्त्रियों की स्थिति संतोषजनक नहीं थी। बाल–विवाह का प्रचलन था। कुछ स्मृति ग्रंथों में पिताओं के लिए यह अनिवार्य ठहराया गया है कि वे अपनी कन्याओं का विवाह रजस्वला होने के पूर्व ही कर दें।

जो ऐसा नहीं करते वे नरक के भागी होते हैं। स्त्रियों को शिक्षा नहीं दी जाती थी। फिर भी उच्च कुलों में नारियों को शिक्षा मिलती थी। आश्रमवासी कन्यायें इतिहास और पुराण का अध्ययन करती थी। वे स्वयं भी पद्यरचना करती थी। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में अनसूया शकुन्तला के छन्दोबद्ध प्रणय–संदेश को समझ लेती है। महाकवि कालीदास से आदर्श पत्नी के अन्य गुणों के साथ उसके लिलित कला निपुणता का भी उल्लेख किया है। अनसूया चित्रकला में और यज्ञ की पत्नी वीणावादन में कुशल थी। अमरकोष में नारी शिक्षिकाओं (उपाध्याया और उपाध्यायी) तथा वेद मंत्रों की शिक्षा देने वाली नारियों का उल्लेख है। 'ललित विस्तार' से विदित होता है कि गोपा नामक राजकन्या अनेक शास्त्रों में प्रवीण था। मनु ने लिखा है कि सभ्य नागरिक पत्नी को दैनिक, मासिक तथा वार्षिक आय–व्यय का विवरण रखने का ज्ञान होना चाहिए। स्त्रियों का संपति पर भी अधिकार था। याज्ञवलक्य ने निर्देश दिया है कि पुत्र और विधवा के अभाव में पुत्री ही उत्तराधिकारिणी है। वृहस्पति ने भी उसके उत्तराधिकार को स्वीकार किया है। भाष्याकार विज्ञानेश्वर ने भी स्त्री धन छः प्रकार का बताया है– पिता, माता, भ्राता व पति द्वारा दिया हुआ धन अग्नि की सन्निधि में विवाह के समय कन्यादान के साथ प्राप्त तथा अधिवंदन के निमित्त मिला हुआ धन। यही नहीं, विवाह के पश्चात् प्रीतिपूर्वक सास, श्वसुर आदि से पादवंदनादि प्रथा में स्त्री को जो प्राप्त होता था, वह भी स्त्री धन था। स्त्रीधन के अन्तर्गत परिवार की भूमि के अतिरिक्त उसके मूल्यवान् वस्त्र–भूषण भी होते थे जिनका वह स्वयं उपयोग करती थी। कुछ सीमा तक पर्दा प्रथा भी प्रचलित थी। कुली स्त्रियाँ घरों से निकलकर परदा अथवा घूंघट का प्रयोग करती थी। विधवाओं की स्थिति दयनीय होती जा रही थी उन्हें न केवल पूर्ण ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करना पड़ता था, बल्कि उनके लिए सती हो जाना श्रेयस्कर समझा जाता था। उत्तर भारत की कुछ सैन्य जातियों में बड़े पैमाने पर सती प्रथा प्रचलित थी। मनु स्त्रियों को व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में प्रस्तुत करता है ऐसे अनेकों उदाहरण है जहां स्त्री शूद्र तथा सम्पत्ति को साथ–साथ एक समान रखा है। गुप्तकाल में स्त्रियों को और शूद्रों को वेद इत्यादि पढ़ने का अधिकार नही दिया गया था और ना ही शूद्र व स्त्रियां कुलीन वर्ण की भाषा संस्कृत बोल सकती थी। उन्हे अपभ्रंश में ही बात करनी पड़ती थी। इसकी पुष्टि कालिदास के नाटकों से हो जाती है जिनमें महिलाएं व शूद्र अपभ्रंश भाषा बोलते है अन्य संस्कृत। इस प्रकार गुप्तकाल में स्त्रियों की स्थिति बहुत ही दयनीय थी।

वेश्यावृत्ति– मृच्छकटिक के द्वारा गणिकाओं के जीवन पर प्रकाश पड़ता है। इस ग्रन्थ में वेश्या के घर को युवकों का निवास स्थान बताया गया है। वेश्यागामी को समाज निम्न दृष्टि देखता था। जो वेश्यायें वृद्धा हो जाती थीं उनका रूप–व्यापार समाप्त हो जाता था। अतएव वे कुटहनी का काम करना प्रारंभ कर देती थी। वे एक तरह से नई वेश्याओं के लिए मार्गदर्शिका का काम करती थी और उनके लिए उनकी आमदनी में भाग लेती थी। दयनीय दशा में पड़ी युवतियों को गणिका–वृत्ति सिखा देना और युवकों को पथभ्रष्ट करना उनका काम था। कुट्टनियों के हथकंडों एवं उनकी गर्हित जीवन–वृत्ति पर दो प्राचीन ग्रंथ 'कुट्टनीमतम्' और 'दूतीकर्म–प्रकाश' उल्लेखनीय है।

जन–जीवन– गुप्तकालीन जनता समृद्ध सम्पन्न और सुखी थी। कुछ विद्वानों के अनुसार साम्राज्य की जनसंख्या द्रुतगति से बढ़ती जा रही थी जिसका प्रमुख कारण जनसाधारण के सुखमय जीवन, भोजन, आवास तथा वस्त्राभूषणों की बहुलता पर आधारित था। परन्तु समाज का एक बहुत बड़ वर्ग (महिलाएं, शूद्र तथा अस्पृश्य) सामाजिक तथा आर्थिक विषमता झेल रहे थे। फाहियान ने भारतीयों के सदाचार अैर नैतिक गुणों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। वह लिखता है, "लोगों का आपसी व्यवहार बड़ा सुन्दर था। वे प्रेमपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे।" मांस मदिरा आदि का सेवन चाण्डालों के अलावा कोई नहीं करता था। लहसुन, प्याज आदि का भी प्रयोग नहीं होता था। सुअर और मुर्गी पालना घृणित समझा जाता था। अन्व्यज और चाण्डाल ही इस काम को करते थे। समाज में नैतिकता की भावना प्रबल थी। समृद्ध लोग मुक्तहस्त से दीन व्यक्तियों की सहायता करते और मंदिर, धर्मशालायें बनवाते तथा प्याऊ आदि लगवाने में भारी धनराशि व्यय करते थे। बीमारों का इलाज मुफ्त होता था तथा इन्हें भोजन कराया जाता था।

/kkfe!d&0;oLFkk

वैदिक धर्म– गुप्त सम्राट वैष्णव थे और वैदिक धर्म को पूरी तरह राज्य की ओर से संरक्षण प्रदान कर रहे थे जिससे गंगा–यमुना के मध्य के देश और मध्यभारत आदि में वैदिक धर्म का कुछ प्रचार हुआ। यज्ञ की प्रथा चलती रही। इस काल के नाग, वाकाटक, गुप्त आदि वंशों के राजाओं ने अनेक अश्वमेघ तथा अन्य यज्ञ किए, किन्तु फिर भी वैदिक धर्म इतना लोकप्रिय नहीं रह गया था।यज्ञ जनता के आर्थिक साधनों से परे थे। राजा–महाराजा तथा धनी लोग यज्ञ

किया करते थे। स्मृतियों ने स्पष्ट लिखा है कि यज्ञ उन्हीं को करना चाहिए जिनके भण्डारों में तीन वर्ष के लिए पर्याप्त साधन जमा हो। साधारण लोग स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म की ओर झुक रहे थे। इस प्रकार वैदिक धर्म अवनति की ओर अग्रसर हो रहा था और आगे चलकर उसका महत्व और भी अधिक घट गया।

वैष्णव– गुप्त सम्राटों के वैष्णव भागवत धर्म का अनुयायी होने के कारण उनके संरक्षण में यह धर्म निबोध गति से उन्नति करने लगा था। अनेक वैष्णव मंदिरों का निर्माण इस युग में हुआ। धार्मिक भावना और विश्वास का स्वरूप परिवर्तित हुआ। विष्णु के दस अवतारों में वराह और कृष्ण की पूजा का प्रचलन इस काल में विशेष रूप से हुआ। पुराणों में उल्लिखित है कि वराह ने पृथ्वी का उस समय उद्धार किया था जिस समय वह प्रलय के तीव्र वेग से जल मग्न होती जा रही थी। वाराह अवतार की पूजा को इसी धार्मिक गाथा ने बल दिया था क्योंकि गुप्त सम्राट ने भी दस्युओं और क्लेच्छों के निरन्तर आक्रमणों से उत्पन्न प्रलय की सी अवस्था में से भारत भूमि का वराहावतार की तरह ही उद्धार किया था। इस काल में राम को विष्णु का अवतार मानकर पूजा करने की प्रथा का प्रचलन संभवतः शुरू नहीं हो पाया था किन्तु कृष्ण की पूजा का उल्लेख मिलता है। परन्तु फिर भी राम के अत्यन्त महान् और परम पावन चरित्र में भगवान् के अर्थात् देवी अंश का विचार इस समय में विकसित होना प्रारंभ हो गया था। फिर भी राम की पूजा का प्रारंभ भारत में छठी सदी के बाद से ही आरंभ हुआ।

शैव धर्म– गुप्तकाल में शैव धर्म का काफी प्रचार था। गुप्त सम्राटों के मंत्री सेनानायक और उच्च अधिकारी शैव थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मंत्री वीरसेन ने उदयगिरि में शिव मंदिर का निर्माण किया था। कुमारगुप्त प्रथम के समय में ध्रुवशर्मा शैव था जिसने कार्तिकेय मंदिर को दान दिया था। गुप्तों के सामन्त महाराज हस्तिन के खोह अभिलेख में 'नमो महादेव' शब्द उत्कीर्ण है। दामोदर–अभिलेख में शिवपूजा के निर्मित अग्रहारदान का उल्लेख मिलता है मथुरा में माहेश्वर नामक एक शैव संप्रदाय था। वाकाटक नल, मैत्रक, कदम्ब और परिव्राजक वंशीय नरेश शेव धर्मावलम्बी थे।

गुप्तकाल की शिव मूर्तियाँ भी मिली है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय एकमुख या चतुर्मुख शिव की पूजा का प्रचलन था। नागाद राज्य में स्थित भुमरा और खोह में एकमुख शिवलिंग की प्रतिमायें मिली हैं। गुप्तकालीन मूर्तियों का संग्रह अजमेर के संग्रहालय में किया गया है। इसमें चतुर्मुख लिंग तथा शिव की काफी प्रतिमायें हैं। करमदंडा से भी एक शिवलिंग मिला है। इसे पृथ्वीषेण ने बनवाया था। त्रिशूल और नन्दी के अनेक चिन्ह मिले हैं।

गुप्तकाल में शक्ति (देवी) पूजा का भी प्रचलन था। कालान्तर में शक्ति और शिव की पूजा का एक साथ समन्वय होना प्रारंभ हो गया। शिव और शक्ति की पूजा उनके करूणामय और भयंकर दोनों रूपों में की जाती थी। देवी के विभिन्न रूपों में उमा, गौरी, पार्वती, भवानी, अन्नपूर्णा, ललिता आदि करूणाशील रूप थे तथा चामुण्डा, दुर्गा, कालरात्री, कात्यायनी और भैरवी के रूप भयंकर थे। बंगाल शक्ति सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र था।

शिव पजा के साथ गणेश और कार्तिकेय की पूजा भी की जाती थी। कार्तिकेय के स्वामी महासेन भी कहा जाता था। कालान्तर में गणेश के आसकों का एक सम्प्रदाय बन गया। पहाड़पुर में गणेश की धातु तथा पाषाण से निर्मित मूर्तियाँ मिली है। गणेश बड़े ही लोकप्रिय देवता थेउनको समस्त विपत्तियों का नाशक तथा सफलतादायक समझा जाता था। बौद्ध और जैनी भी इनकी पूजा करते थे। बौद्धों ने गणेश मूर्ति का प्रचार हिन्देशिया में भी किया था।

जैन धर्म– वैदिक धर्म तथा बौद्ध धर्म को मानने वाले काफी अधिक थे किन्तु उत्तर भारत में जैन धर्म को मानने ावलों की संख्या बहुम कम थी। एक तो अपने कठोर आचरण के कारण यह जनता को काफी कम आकर्षित कर सका था तथा दूसरे आचरणहीन विदेशियों से अपने आप को बचाने के लिए यह धीरे–धीरे दक्षिण की ओर खिसक रहा था। जैन धर्म में भी तीर्थकरो की मूर्तियों की पूजा मंदिरों में होती तथा स्तुति, अर्चन,पूजन, तीर्थयात्राा, दान, पुण्यादि प्रचलित थे।

सूर्य की उपासना– इस काल में सूर्य के भी कई मंदिर बने थे। सूर्य का एक मंदिर मालवा के मदसौर में, दूसरा ग्वालियर में तीसरा इंदौर में तथा चौथा बधेलखंड में प्राप्त हुआ है। बंगाल में सूर्य की मूर्तियाँ मिली हैं।

नाग तथा यक्ष की पूजा– इस काल में नाग तथा यक्ष की भी पूजा होती थी परन्तु यह पूजा केवल निम्न वर्ग के लोगों तक ही सीमित थी।

मंदिरों का निर्माण– गुप्त काल में मंदिरों का निर्माण बहुत बड़ी संख्या में हुआ। इन मंदिरों मं लोग पूजा–पाठ किया करते थे तथा यहाँ व्याख्यान भी होते थे। मंदिरों के निर्माण के फलस्वरूप चित्रकला तथा शिल्पकला की भी प्रगति हुई। मंदिरों में कीर्तन तथा नृत्य–गान भी होते थे। अतएव इससे नृत्यकला का भी विकास हुआ। इन मंदिरों में देवताओं की मूर्तियों प्रतिष्ठित की गई थी। उनकी पूजा आदि का ढंग और भी जटिल हो गया। देवता को प्रातः मधुर संगीत द्वारा जगाना, सुन्दर वस्त्र पहनाना, आरती उतारना, उसका भोग लगाना आदि सभी बातें प्रचलित हो गई थी। इसके अतिरिक्त इस काल में संध्या, उपासना व्रत, उपवास, श्रद्ध आदि का भी महत्व बढ़ गया। अतः गुप्त युग के आते–आते वर्तमान सनातन धर्म का रूप पूर्ण तथा निश्चित हो चुका था। साधारण लोगों में अब भी सर्पों, वृक्षों और पशुओं आदि की पूजा प्रचलित थी और बलि आदि चढ़ाने की प्रथा भी जारी थी।

धार्मिक सहिष्णुता की भावना– सहिष्णुता की भावना सदैव से भारतीय जीवन की विशेषता रही है। वैष्णव, शैव, बौद्ध तथा जैन धर्म का साथ–साथ फलना–फूलना इस बात की पुष्टि करता है। अधिकतर गुप्त सम्राट वैष्णव थे, किन्तु शिव, सूर्य आदि के उपासकों तथा बौद्धों और जैनों का वे समान रूप से आदर करते थे। सभी संप्रदायों को धार्मिक विश्वास तथा पूजा–पाठ की स्वतंत्रता थी बल्कि दान तथा सरकारी नौकरियों आदि में भी किसी प्रकार का भेद–भाव नहीं किया जाता था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सेनापति अमरकर्दव बौद्ध था। समुद्रगुप्त पक्का हिन्दु था किन्तु उसने अपने पुत्र की शिक्षा का भार प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान वसुबन्धु को सौंपा। नालन्दा के प्रसिद्ध बौद्ध विहार को गुप्त सम्राटों ने मुक्त हस्त से दान दिया और उनके संरक्षण में वह संस्था खूब फली–फूली। इस युग के अन्य राजवंशों की भी यही स्थिति थी।

vkfFkZd voLFkk

गुप्तकालीन भारत में आर्थिक क्षेत्र में बड़ी प्रगति हुई। गुप्तों के विशाल साम्राज्य में शांति व्यवस्था व्याप्त थी। अतः कृषि, उद्योग–धंधे एवं व्यापार–व्यवसाय का परिपूर्ण विकास हुआ। देश धन–धान्य से परिपूर्ण था और लोग सुखी–सम्पन्न थे। आर्थिक जीवन के विभिन्न पहलू निम्नलिखित है–

कृषि– गुप्तकाल और उसके परवर्ती काल तक आकर कृषि अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गयी थी। उसका विस्तार बढ़ गया था। वराहमिहिर ने तीन फसलों का उल्लेख किया है– गर्मी (रब्बी) पतझड़ (खरीफ) और साधारण समय में होने वाली फसलें (अर्थात् श्रावण, बसंत व चैत्र या वैसााख)। अमरकोष में भी ऐसी फसलों का उल्लेख हुआ। गेहूँ, धान, ज्वार, बाजारा, मटर, दाल, तिल सरसों, अलसी कपास, अदरख, सब्जी, काली मिर्च आदि विभिन्न फसल उपजाए जाते थे। उस युग में धान के नीवार शालि और कलम अनेक प्रकार के नाम हो गये थे। चावल की एक फसल आठ दिन में तैयार कर ली जाती थी। मगध में उत्पन्न होने वाले चावल की सुगन्ध बहुत सुन्दर होती थी। यह महँगा था तथा इसका व्यवहार उच्च वर्ग के लोग करते थे। सेब, अंगूर, अनार, आदि उपजाए जाते थे। नील किला, आम, द्राक्ष, कटहल आदि भी विभिन्न प्रदेशों में उपजाए जाते थे। केसर की खेती दाटेल (अफगानिस्तान) और कश्मीर में होती थी। गरम मसालों में काली मिर्च, इलायची, लौंग आदि भी बोये जाते थे पाडेय देश (केरल) के तटीय भागों में इनकी खेती अधिकता से होती थी। साधारणतः सभी प्रकार की उपज जो आजकल होती है उस युग में भी हुआ करती थी।

सिंचाई के लिए लोग वर्षा पर निर्भर करते थे। वर्षा के अभाव में कृत्रिम सिंचाई की जाती थी। झील, कूप, तड़ाग, कुल्पा आदि का उपयोग सिंचाई के लिए किया जाता था। वराहमिहिर ने ज्योतिष के आधार पर नक्षत्रों का अध्ययन करके वर्षा के विषय में विस्तृत विवरण दिया है। सिंचाई के लिए बड़ी–बड़ी कृत्रिम झीलें बनायी जाती थी। सिंचाई का थोड़ा बहुत प्रबन्ध राजा की ओर से भी हुआ करता जैसा स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख से विदित होता है कि सौराष्ट्र के गिरनार नगर के सुदर्शन झील का पुनरुद्धार किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में साधारणतः छोटे–छोटे

कृषक होते थे, जो अपने परिवार के श्रम से जमीन जोतते थे। परन्तु कही–कही जैसे जूनागढ़ लेख में ग्यारह 'पाटक' जमीन का वर्णन मिलता है। इसी प्रकार जो बड़ी जमीन दानस्वरूप दी जाती थी उसमें गृहिता स्वयं जमीन न जोतकर भूमिहर मजदूरों के द्वारा जमीन जुतवाता था। भू अनुदान प्रथा का धीरे–धीरे दुष परिणाम यह हुआ कि अब भू–पतियों के अधीन काम करने वाले किसान, कालांत्तर में अर्धदास बनते चले गए।

भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व था। जो भूमि बेकार पड़ी रहती थी वह राज्य की संपत्ति समझी जाती थी। बहुत से गांवों में कृषि योग्य कुछ ऐसी भूमि हाती थी जो राज्य की भूमि समझी जाती थी। राजा ऐसी भूमि को दान में देता था। दान पाने वाले व्यक्ति इस भूमि के मालिक हो जाते थे। जो भूमिपति स्वयं खेती नहीं कर पाते थे वे अपनी भूमि किसानों को दिया करते थे। किसान को इस दशा में उपज का 33 से 50 प्रतिशत तक मिलता था। भूमि का मूल्य उसकी उर्वरता पर निर्धारित होता था। जंगलों में सागवान, सन्दल तथा आबनूस की लकड़ी मिलती थी।

उद्योग धंधे– कृषि एवं पशुपालन के अतिरिक्त विविध प्रकार के उद्योग–धंधे भी होते थे। देश केविभिन्न भागों में सूत की कटाई एवं कपड़े की बुनाई के काम होते थे। है। अमरकोष में कताई–बुनाई, धागे का संदर्भ आया है। इसी प्रकार कालिदास के नाटकों में महीन कपड़ों का उल्लेख आता है। पशुपालन जीविका का अन्य प्रमुख साधन था। कामंदक और मन के अनुसार गोपालन वैश्य का पेशा है। अमरकोष में पालतू पशु के रूप में घोड़े, भैंस, ऊट, बकरी, भेड़, गधा, कुत्ता और बिल्ली आदि का वर्णन है। बढ़ई, लोहार, कुम्हार आदि व्यवसायी अपने–अपने कामों में सदा व्यस्त रहते थे। मोती, सोना, चाँदी के आभूषण बनते थे। तांबे एवं काँसे की मूत्तियाँ एवं बर्तन बनते थे। लौह–व्यवसाय बड़ा उन्नत था। लौहकार बड़े ही निपुण होते थे। दिल्ली के पास का लौह स्तंभ उत्कृष्ट लौह–कला का सर्वोत्तम नमूना है। य सिदियों की धूप एवं वर्षा के चपेट को सहते हुए भी जंग से मुक्त हैं। नाव–जहाज भी बनते थे। हाथी–दाँत से अनेक प्रकार की सुन्दर वस्तुयें बनायी जाती थी। पशुचर्म, कसतूरी तथा हाथी दांत आदि चीजें अन्य पशुओं से प्राप्त होती थी।

निगम तथा शिल्पियों की श्रेणियों जैसी संस्थायें बैंकों का काम भी करती थी। लोग उनके पास अपना धन जमा करते थे और नियमित रूप से ब्याज पाते थे। यदि किसी निगम अथवा श्रेणी के लोग सामूहिक रूप से एक स्थान से दूसरे स्थान को चले जाते तो भी लोगों का विश्वास उनमें बना रहता। उन संस्थाओं का प्रबन्ध छोटी–छोटी समितियों के हाथ में रहता था जिनमें चार–पाँच सदस्य और एक सभापति होता था। राज्य उनके कामों में हस्तक्षेप नहीं करता था। वे स्वयं अपने नियम तथा उपनियम बनाती थी। सदस्यों के पारस्परिक झगड़े उन्हीं की कार्यपालिकाएँ तय कर देती थी। राजा के न्यायालयों में उन्हें नहीं जाना पड़ता था।

नगर– गुप्तकाल में नगर व्यापार व्यवसाय और संस्कृति के केन्द्र थे। इनमें पाटलीपुत्र, वैशाली, उज्जयिनी, दशपुर, भृगृकच्छ, ताम्रलिपित आदि प्रमुख थे। फाहियान ने पाटलीपुत्र के राजप्रसाद का बड़ा रोचक वर्णन किया है। वैशाली तीर भुक्ति (तिरहुत) की राजधानी थी। फाहियान इस नगर में आया था। वह लिखता है कि इसके भीतर एक विहार था जिसे आम्रपाली नामक गणिका ने गौतम बुद्ध के निवास के निमित्त बनवाया था। पश्चिम भारत में उज्जयिनी का नगर सबसे प्रसिद्ध था। मृच्छकटिक से ज्ञात होता है कि गुप्तकाल में यह नगर अत्यन्त समृद्धशाली था। यहाँ अनेक विहार, देवालय, सरोवर, कूप तथा यज्ञ कूप विद्यमान थे जिनके कारण इसकी शोभा अवर्णनीय थी। नगर वेश्या वसन्तसेना का भव्य प्रासाद बड़ा मनमोहक था। रघुवंश में उज्जयिनी के राजप्रासाद, महाकाल–मंदिर, शिप्रा नदी एवं उपवनों का बड़ा सुन्दर वर्णन हुआ है। दशपुर भी पश्चिम भारत का एक प्रसिद्ध नगर था। मेघदूतम् तथा मदसौर–लेख में इसका वर्णन किया गया हैं भृगुकच्छ (भड़ौच) पश्चिम समुद्रतट का सबसे प्रसिद्ध बन्दरगाह था। पेरिप्लस के वर्णन के अनुसार यह नगर भारतीय आयात–निर्यात का सुप्रसिद्ध केन्द्र था। ताम्रलिप्ति पूर्वी समुद्रतट का सबसे बड़ा बन्दरगाह था। पैठन, विदिशा, प्रयाग, बनारस, गया, कौशम्बी, मथुरा, पेशावर आदि तत्कालीन प्रमुख नगर थे।

व्यापार– गुप्तकाल में व्यापार उन्नतावस्था में था। आतंरिक व्यापार की वस्तुयें कपड़े, खाद्य–पदार्थ, मसाले, नमक तथा बहुमूल्य धातुयें थी। भड़ौच, उज्जयिनी, पैठन, विदिशा, ताम्रलिप्ति, प्रयाग, बनारस, गया,पाटलीपुत्र, वैशाली, कौशाम्बी, मथुरा, पेशावर आदि नगर एक दूसरे से जुड़े हुए थे। वे व्यापार के केन्द्र थे। वस्तुएँ सड़कों तथा नदियों दोनों के द्वारा भेजी जाती थी। सामान बैलगाड़ियों तथा जानवरों की पीठ पर ढोया जाता था। बड़ी–बड़ी नावों का निर्माण किया जाता था। गुप्तकाल में जलमार्ग का अधिक प्रचलन था। आन्तरिक व्यापार में नदियों का प्रयोग किया जाता था जिसमें छोटी बड़ी सभी प्रकार की नावें चला करती थी। सिंधु, रावी, चेनाब, गंगा, यमुना, सरयु आदि नदियों में नावें चलती थी। कालीदास के अनुसार व्यापरियों के कारवाँ पहाड़ी मार्ग में इस प्रकार चलते थे जैसे वे उनके भवन हों, नदियों पर ऐसे विहरते थे मानों वे कूप हों तथा वनों के मार्ग में ऐसे जाते थे जैसे वे उपवन हों। बड़े–बड़े जलपोत सागरों और महासागरों में चलते थे। बालि, सुमात्रा, जावा, सुवर्णभूमि जैसे देशों में भारतीय व्यापारी समुद्री मार्ग से जा सकते थे। ताम्रलिप्ति बंगाल का सबसे बड़ा बन्दरगाह था। यहाँ से चीन, लंका, जावा तथा सुमात्रा से व्यापार होता था। दक्षिण में

गोदावरी और कृष्णा नदियों के मुहाने पर बहुत अच्छे–अच्छे बंदरगाह थे जिनके द्वारा पूर्वी द्वीपसमूह तथा चीन से व्यापार होता था। कल्याण, चोल, भडौच पत्थर, कपड़े, सुगंधित वस्तुएँ, मसाले, नील, औषधियाँ, नारियल, हाथी दाँत आदि वस्तुओं का निर्माण किया जाता था। भृगुकच्छ (भड़ौच) बन्दरगाह से निर्यात की जाने वाली भारतीय विलास–सामग्रियों की रोम में बड़ी मांग थी। वहाँ के बाजारों में भारतीय मलमल, जवाहरात, मोती तथा सिलक भरे रहते थे। टिलनी में हार्दिक क्लेश व्यक्त किया है कि उसके देशवासी अपनी विलासिता के कारण देश की अतुल धनराशि भारत भेज देते थे। उनके अनुसार प्रतिवर्ष भारत में लगभग रोम की पाँच करोड़ मुद्राएँ आती थी।

लेन–देन में प्रायः वस्तुविनियम–प्रथा प्रचलित थी। प्रतिदिन की वस्तुओं को खरीदने में कौड़ी का प्रयोग किया जाता था। गुप्त सम्राटों ने विभिन्न तरह की स्वर्ण, रजत, ताम्र आदि मुद्रायें प्रचलित थी। इससे उनके ऐश्वर्य एवं सम्पन्नता का पता चलता है।

शिक्षा और साहित्य– गुप्तकाल में शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व विकास हुआ। अनेक इतिहासकारों ने गुप्त युग की साहित्यिक समृद्धि की तुलना एथेंस के इतिहास के परिक्लीयन युग और अंग्रेजी साहित्य के इतिहास के एलिजाबेथ युग से की जाती है।

यद्यपि उस काल में राज्य की ओर से शिक्षण संस्थायें नहीं थी, गुरु अपने निवास गृहों में व्यक्तिगत रूप से अपने शिष्यों को शिक्षा प्रदान करते थे। पाटलीपुत्र, मथुरा, उज्जैन, अयोध्या, बनारस, नासिक, वत्सगुल्म और वल्लभी शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। इस काल में विहार में नालंदा विश्वविद्यालय का उत्कर्ष हो रहा था। सौराष्ट्र में बल्लभी भी महत्वपूर्ण विद्यापीठ थी। दक्षिण भारत में शिक्षा का केन्द्र काँची था जहाँ हिन्दु और बौद्ध दोनों धर्मों को शिक्षा दी जाती थी। बौद्ध–विहार भी शिक्षा का प्रचार करते थे। ब्राह्मण वर्ग में शिक्षा का विशेष प्रचलन था। तांत्रिक और व्यवसायिक शिक्षा शिल्पियों के परिवारों को दी जाती थी इस युग में पुराण, स्मृति, महाकाव्य, तर्क, दर्शन, न्याय आदि का विशद अध्ययन किया जाता था। ज्योतिष, गणित तथा आयुर्वेद जैसे विषय भी पढ़ाये जाते थे। शूद्रों और अछूतों में शिक्षा का अभाव था। प्रारंभिक शिक्षा के लिए गाँवों में पाठशालाएँ थी जिन्हें लिपि शालाएँ कहा जाता था।

साहित्य– इस काल में संस्कृत साहित्य का काफी विकास हुआ था। संस्कृत का प्रयोग शिलालेख, स्तंभलेख, दानपत्र लेख आदि में किया जाने लगा। संस्कृत साहित्य को राष्ट्रभाषा बनने का गौरव प्राप्त हुआ। बौद्ध एवं जैनों ने भी प्राकृत और पाली भाषा को छोड़कर संस्कृत को अपना लिया था। परिणामस्वरूप संस्कृत को नयी स्फूर्ति मिली और उसने इस काम में अत्यधिक उन्नति की। गुप्त सम्राटों ने विद्वानों एवं कवियों को अपने दरबार में प्रश्रय दिया। कुछ शासक तो स्वयं विद्वान थे। समुद्रगुप्त में आश्चर्यजनक काव्यात्मक तथा कलात्मक प्रतिभा थी।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दरबार में नव रत्नों को संरक्षण दिया गया था। इनमें कालिदास सबसे प्रतिभावान थे। वह संस्कृत के अद्वितीय नाटककार तथा कवि थे। कालिदास के प्रसिद्ध ग्रंथों में कुमारसंभव और रघुवंशम् दो महाकाव्य, "अभिज्ञानशाकुन्तलम्", विक्रमोर्वशीयम्, मालविका–ग्निमित्रम् तीन नाटक, मेघदूत और ऋतसंहार दो जीत काव्य हैं।

अन्य महाकवियों में वत्सभट्टी थे जिन्होंने "रावण–वध" नामक महाकाव्य की रचना की जिसके प्रत्येक श्लोक में संस्कृत व्याकरण के किसी न किसी नियम की समीक्षा की गयी है। दण्डी ने "देशकुमार चरित्र" तथा "रीति ग्रन्थ काव्यादर्श" की रचना की। वीससेन साव चन्द्रगुप्त क्षितीय के काल में प्रसिद्ध कवि और महाव्याकरणचार्य था। "किरातार्जुननीयम्" का लेखक भारवी इस युग का प्रतिभासंपनन्न कवि था।

भ्रातृहरी के तीन काव्य ग्रंथ अतुलनीय हैं– "श्रृंगार शतक", वैराग्य शतक और "नीति शतक"। भ्रातृगुप्त, सौमिल्ल और कुलपुत्र अन्य प्रसिद्ध कवि थे। मामट्ट "काव्यालंकार" का लेख इस युग की निधि थी। शूद्रक ने 'मृच्छकटिकम्' नाटक संस्कृत में लिखा। विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' और "देवी चन्द्रगुप्तम्" नाटक प्रसिद्ध हैं। "स्वप्ननासला" का लेख्का भास भी इस युग का प्रसिद्ध नाटककार था।

इस काल में रचित नीति ग्रन्थों में "कामन्दक का नीतिसार" ग्रंथ अनुपम हैं इस काल में स्मृति ग्रन्थों या कानून ग्रन्थों की भी रचना हुई। इनमें नारद स्मृति, कात्यायान स्मृति, बृहस्पति स्मृति, पराशर स्मृति तथा याज्ञावलक्य स्मृति भी प्रसिद्ध है।

इस काल में कोष और कत्यायान व्याकरणों की भी रचना हुई। अमर सिंह ने "अमरकोष" इसी युग में लिखा। इस काल में पाणिनी, कल्यायन, और पातंजलि के व्याकरण ग्रन्थ प्रसिद्ध थे परन्तु चन्द्रगोपी नामक बौद्ध भिक्षु का "चन्द्र व्याकरण" बहुत लोकप्रिय हुआ।

इस काल में "पचतन्त्र"एवं "हितोपदेश" दो गल्प ग्रन्थ भी लिखे गये। पंचतन्त्रा विष्णु शर्मा द्वारा लिखा गया था। ये गल्प ग्रन्थ विभिन्न कथाओं द्वारा मनोरंजक ढंग से नीति की शिक्षा देते थे।

परस्पर वाद–विवाद तथा मनन चिंतन के फलस्वरूप ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध दर्शन का काफी विकास हुआ तथा तीनों के अनेक ग्रन्थों की रचना की गयी।

शवर स्वामी ने मीमांसा दर्शन पर "श्वरभाष्य" सन् 300 के लगभग लिखा। ईश्वर कृष्ण ने सांख्य पद्धति पर "सांख्यकारिका" ग्रन्थ लिखा। योग दर्शन पर आचार्य व्यास ने "व्यास भाष्य" की रचना की। वात्स्यायन के न्याय दर्शन पर "न्याय भाष्य" लिखा।

बौद्ध दार्शनिक साहित्य का भी खूब विकास हुआ। आर्यदेव ने "चतुःशतक", आसंग ने "योगाचार भूमि शास्त्र", "महायानसूत्रालंकार" और वसुबन्धु ने अनेक ग्रन्थ लिखे, जैसे "अभिधर्म कोप", "विंशतिका", "त्रिंशातिका"। दिग्गनाथ ने "प्रमाण समुच्च" तथा "न्याय मुख" लिखा। बुद्धघोष ने त्रिपिटकों पर अनेक भाष्य लिखे। जैन साहित्य का भी विकास हुआ। जैन आचार्य सिद्ध सेन ने न्याय दर्शन पर ग्रंथ लिखे, उनका प्रसिद्ध ग्रंथ "न्यायावतरू" है। भद्रवाहु द्वितीय ने प्राचीन जैन–ग्रन्थों पर भाष्य लिखे और नवीन शैली में दार्शनिक विचारों को प्रकट किया। आचार्य उमास्वामी, जिन चन्द्रमणि और देवनन्दगी अन्य प्रसिद्ध विद्वान थे।

हिन्दु धर्म के साहित्य को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए धार्मिक ग्रन्थों को संशोधित करके ब्राह्मण ने पुनः रचना की। इसके परिणामस्वरूप अनेक स्मृतियों और सूत्रों पर भाष्य लिखे गये। पुराण, महाभारत और रामायण आदि महाकाव्यों का अंतिम संपादन इस युग में किया गया। दक्षिण भारत में भी साहित्यिक प्रगति हुई। साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति के कारण इस युग को भारत को "आगस्टस युग" कहा जाता है।

विज्ञान– गुप्तकाली भारत में विज्ञान की विशेष प्रगति हुई। खगोलविद्या, गणित तथा चिकित्साशास्त्र में नए–नए अन्वेषण हुए। इनमें वराहमिहिर, आर्यभट्ट, नागार्जुन, वाग्भट्ट, प्रथ्म के नाम उल्लेखनीय है। वराहमिहिर खगोलविद्या के प्रकांड विद्वान थे। वृहत्संहिता और पंचसिद्धान्तिका इनके दो प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। वृहत्संहिता में ज्योतिष वास्तु और तक्षणकला का विवेचन किया गया है। पंचसिद्वांतिका में ज्योतिष के पाँच सिद्धान्तों, (पैतामह सिद्धान्त, वशिष्ठ सिद्धान्त, सूर्य सिद्धान्त, पौलिश सिद्धान्त तथा रोमन सिद्धान्त) का प्रतिपादन किया गया है। आर्यभट्ट महान् गणितज्ञ थे। उनका सुप्रसिद्धग्रन्थ आर्यभट्टीयम् है। उन्होंने दशमलव, पाई के मूल्य (वृत्त के व्यास एवं परिधि का अनुपात), ग्रहण आदि के बारे में बतलाया। उन्होंने बतलाया कि ग्रहण में राहु तथा केतु का कोई स्थान नहीं है। यह सूर्य और चन्द्रमा पर पृथ्वी की छाया का परिणाम है। उन्होंने ही सर्वप्रथम यह बतलाया कि पृथ्वी अपनी धुरी पर सूर्य की परिक्रमा करती है। नागार्जुन एक लब्ध प्रतिष्ठ चिकित्सक थे। वे रसायनशास्त्र के आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने रस–चिकित्सा नामक एक नवीन पद्धति का आविष्कार किया। उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया कि लोहा, ताँबा, सोना, चाँदी आदि धातुओं की भस्मों से असाध्य रोगों का उपचार संभव है। उन्होंने ही पारद (पारा) का आविष्कार किया। वागभट्ट उच्चकोटि के आयुर्वेदाचार्य तथा चिकित्सक थे। उन्होंने अष्टांग–संग्रह नामक ग्रन्थ की रचना की थी जिसमें चरक–संहिता तथा सुक्षूत संहिता का सारांश है।

कला– गुप्तकाल में कला की विशेष प्रगति हुई। डा॰वी॰एस॰ अग्रवाल ने कहा है, "इस काल की दृष्टिगत कलाकृतियों ने गुप्तकाल के गौरव को स्थायित्व प्रदान किया।" गुप्त कालीन कला में ओज, संयम तथा प्राविधिक सौष्ठव पाया जाता है। डा॰ रमेशचन्द्र मजूमदार के शब्दों में, "सामान्यतः उच्चकोटि का आदर्श, माधुर्य तथा उच्चकोटि की सौन्दर्य भावना गुप्तकाल की विशेषता है।" यह शुद्ध भारतीय कला के रूप में विकसित हुई। इसमें गांधार शैली की तरह न तो भारतीय विषय और न ही यूनानी हाथ है। यूनानी कुषाण, सीथियन आदि विदेशी जातियों की कला से गुप्तकालीन कला अप्रभावित है। इस युग के कला की दूसरी विशेषता इसकी सरलता है। गुप्तकालीन मूर्तियों में न तो वस्त्राभूषण का भार है, और न कोमलांड़ो का उभार ही। इसकी तीसरी विशेषता कलाकारों की सौन्दर्य प्रियता है। कलाकारों ने

पादर्शक वस्त्रों का निर्माण ऐसी कुशलता के साथ किया है कि उनमें स्वाभाविक सौन्दर्य तथा मनोहरता दृष्टि गोचर होती है। एक अन्य विशेषता आध्यात्मिकता है। सारनाथ के गुप्तकालीन अनेक बौद्ध विहारों के अवशेष पाये गये हैं। राजगीर का स्तूप, जौलियान और पुष्कलवती का बौद्ध विहार और स्तूप, साँची और बोधगया के बौद्ध मंदिर भी गुप्तकालीन माने जाते है।

उदयगिरि की पहाड़ी में वैष्णव और शैवमत की गुफायें काटकर हिन्दु देवी, देवताओं की मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गयी। अजन्ता एलोरा (महाराष्ट्र) बाघ (मध्य–प्रदेश) की गुफाएँ, बिहार, चैत्य और स्तूप पहाड़ी काटकर बनाये गये हैं। अजन्ता की गुफा नम्बर 16, 17, 19 गुप्तकाल की सर्वोत्कृष्ट कलाकृति प्रस्तुत करती है। दक्षिणी भारत की भोगलराजपुट्म् और अखन्न–मदन्न गुफाएँ भी गुप्तकाल में निर्मित की गयी। इस काल में प्रस्तर स्तम्भ और ध्वज स्तम्भ की निर्मित किये गये। दुर्भाग्यवश वास्तुकला के क्षेत्र में गुप्तों की उपलब्धियों के अधिक अवशेष प्राप्त नहीं है।

चित्रकला– गुप्तकला में चित्रकला की बड़ी प्रगति हुई। डा॰ वासुदेव अग्रवाल के शब्दों में, "गुप्तकार में चित्रकारी अपने पूर्ण विकास को पहुँच गई थी। महाकवि कालिदास ने चित्रकला की शिक्षा देने लिए 'चित्राचार्य' शब्द का प्रयोग किया हैं। वात्स्यायान ने चित्रकला की गणना 64 कलाओं में की है। अपने कामसूत्र में उन्होंने कला के रूप–भेद, प्रमाण–भाव, लावण्य, योजना, सादृश्य तथा वणिका–भंग छः अंगों का उल्लेख किया है।

अजन्ता और बाघ की चित्रकारी गुप्तकालीन चित्रकला के अनुपम उदाहरण है। डा0 अग्रवाल के अनुसार, "रेखाओं का समाश्वासन तथा उनकी कमनीयता, रंगों की शुभ्रता, अभिव्यंजना की समृद्धता के साथ–साथ उदितव्य भावनाओं और स्पंदित जीवन ने इस कला को सभी कालों के लिए सर्वोत्कृष्ट बना दिया है।" अजन्ता में चट्टान को तराश कर 29 गुफाओं में प्राचीन चित्र गुप्तकालीन है। 10वीं गुफा स्तम्भों पर पुरुषों तथा स्त्रियों के चित्र तथा वेशभूषा गांधार–कला से प्रभावित है। 16वीं और 17वीं गुफाओं में कथानक के चित्रों द्वारा प्रदर्शित किया गया था। अलंकरण के अन्तर्गत फल–पत्तियाँ, पशु–पक्षियाँ उत्कीण है। 16वीं गुफा प्राचीर चित्र में एक मरणासन्न राजकुमारी का चित्र अंकित है। यह चित्र बड़ा ही स्वाभाविक है। चतुर्दिक् खड़े उसके स्वजन अत्यन्त विवश तथा दुःखी दिखाये गये हैं। यह चित्र आख्यानात्त्मम अथवा भावात्मक चित्र का एक सुन्दर उदाहरण है। 17वीं गुफा के चित्र वर्णनात्मक हैं और इनमें विभिन्न कथाओं को चित्रों द्वारा प्रदर्शित किया गया है। ये चित्र बड़े ही ओजपूर्ण, सजीव तथा स्वाभाविक है। इसमें भगवान् बुद्ध को अत्यन्त ही निर्लिप्त मुद्रा में दिखाया गया है। इस गुफा के चित्रों में माता तथा पुत्र नामक चित्र अत्यनत प्रसिद्ध है। इस चित्र में गौतम बुद्ध की पत्नी यशोधरा अपने पुत्र राहुल को अपने पति को समर्पित करती हुई प्रदर्शित की गई है। इसमें माता की ममता तथा पुत्र–वात्सल्य दर्शनीय है। इस गुफा के अन्य चित्र में कोई सम्राट एक सुनहरे राजहंस की बातों को बड़ी ही अभिरूचि के साथ सुनता हुआ चित्रित किया गया है। 17वीं गुफा के एक दूसरे चित्र में गौतम बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण का दृश्य दिखाया गया है। यह काफी स्वाभाविक है।

बाघ की चित्रकला भी अनुपम है। बाघ ग्वालियर के समीप एक छोटा सा ग्राम है। यहाँ पर विंध्य की पहाड़ियों को तराश कर गुफायें बनाई गई हैं। इनकी भीतरी दीवारों के चित्र गुप्तकालीन हैं। अजन्ता के चित्र प्रधानतया धार्मिक विषय से संबंधित हैं, किन्तु बाघ के चित्र मनुष्य के लौकिक जीवन से लिए गए हैं। इन चित्रों से तत्कालीन वेशभूषा केस विन्यास तथा अलंकार प्रसाधन को समझने में सुविधा होती हैं। एक चित्र में महिलाओं को नृत्य–गान करते हुए दिखलाया गया है। बाघ की चित्रकला की प्रमुख विशेषता यह है कि इसके चित्रों को बनाने की कल्पना एक ही समय की गई थी। फलतः ये चित्र दर्शाकें के समक्ष समरूपता का भाव प्रकट करते हैं।

मूर्तिकला– इस युग की सबसे बड़ी देन हिन्दु, जैन और बौद्ध की कलापूर्ण प्रतिमाएं हैं। सारनाथ, मथुरा और पाटलीपुत्र में अनेक बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियाँ निर्मित की गयी। ताँबे और काँसे की भी मूर्तियाँ बनाई गयी। यहाँ अनेक प्रस्तर खण्डों पर बुद्ध के जीवन की विभिन्न घटनाएँ उत्कीर्ण की गयी।

इस काल में ब्रह्मा, विष्णु और शिव, पार्वती की मूर्तियाँ भी बनाई गई। विष्णु और शिव के अनेक अवतारों की पौराणिक गाथायें पाषाणों में उत्कीर्ण थी, जैसे– देवगढ़ के मंदिर में कृष्णलीला, कृषण का गोकुल जाना, कंस–वध, कृष्ण–सुदामा मिलन आदि। रामलीला के दृश्य, राम वनगमन आदि। बंगाल के राजशाही जिले में कृष्ण लीला संबंधी अनेक दृश्य उत्खनन में प्राप्त हुए हैं।

इस काल की मथुरा और गोरखपुर में जैन तीर्थकरों की प्रतिमायें भी उपलब्ध होती है। इस युग में पकाई हुई मिट्टी अैर मसालों की भी मूर्तियाँ बनाई जाती थी। इस युग की मूर्तियों में आकृति, मुद्रा और हाव–भाव पूर्णतयाः भारतीय है।

धातुकला– इस कला में अनेक धातुओं को गलाकर उन्हें मिश्रित कर अनेक वस्तुएँ तथा मूर्तियाँ बनायी जाती थी। ताँबे की प्रतिमायें बनाने का कार्य विशेष प्रगति पर था। सुल्तानगंज (बिहार) में बुद्ध की भव्य प्रतिमा, नालन्दा में 80 फीट ऊँची काँसे की बुद्ध प्रतिमा और महरौली का ढाला हुआ लौह स्तम्भ गुप्तयुग की धातुकला के उच्च उदाहरण है।

संगीत, नृत्य और अभिनय कला– गुप्त सम्राट स्वयं संगीत प्रेमी और इसके उदार संरक्षक थे। प्रयाग प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त वीणा बजाने में नारद और तुम्बारू से भी श्रेष्ठ था। पुरुष और स्त्रियाँ दोनों ही गाते थे, नृत्य करते थे और भेरी, झाँझ, टिपरी, बाँसुरी आदि अनेक प्रकार के वाद्य यंत्र बजाते थे। रंगमंच और नाटक कला का भी विकास हो गया था।

मुद्राकला– भारतीय ढंग के अनेक सोने और चाँदी के सिक्के इस युग में ढाले गये। इन सिक्कों पर गुप्त नरेशों की मूर्तियाँ, लक्ष्मी की मूर्ति, गरूडध्वज और सिंह की आकृतियाँ अंकित है। ये गुप्त सम्राट की गौरव कथाएं भी प्रदर्शित करते हैं।

इस तरह युग में भारतीय समाज कला, धर्म, दर्शन, साहित्य, विज्ञान, ललित–कला आदि के क्षेत्र में अभूतपूर्व विकास हुआ। यही कारण है कि इस युग को 'स्वर्ण युग' कहा जाता है।

इस काल में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक विकास हुआ और प्रजा की आध्यात्मिक मानसिक तथा भौतिक प्रगति हुई। डा0 स्मिथ का कथन है। "हिन्दु भारत के इतिहास में महान् गुप्त सम्राटों का काल किसी भी अन्य काल से अधिक सौम्य तथा संतोषजनक चित्र उपस्थित करता है। साहित्य, कला और विज्ञान की सामान्य से कहीं अधिक उन्नति हुई और बिना किसी अत्याचार के धर्म में क्रमागत परिवर्तन किये गये।" भारतीय इतिहास में गुप्तकाल को स्वर्ण युग कहे जाने के निम्नांकित मुख्य कारण हैं–

महान सम्राटों का युग– राजनीतिक दृष्टिकोण से गुप्तकाल महान् व्यक्तियों का युग था। इस युग में कई महान् एवे प्रतिभावान सम्राट पैदा हुए जिन्होंने असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया। समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय, स्कन्दगुप्त आदि वीर और सम्राट इसी युग में पैदा हुए थे, इन महान् व्यक्तियों ने साम्राज्य का निर्माण भी किया और विदेशियों को भी भारत से खदेड़ भगाया। उनके शासनकाल में भारत की भूमि पर विदेशी शक्ति को पैर जमाने का अवसर नहीं मिला और भारत इस काल में स्वतंत्र रहा। शासन और देश की सर्वांगीण उन्नति की दृष्टि से भी गुप्त वंश के राजे महान् थे। गुप्त राजाओं ने हमेशा प्रजा पर ध्यान रखा।

राजनीतिक एकता का युग– अशोक के मरणोपरांत भारत की एकता समाप्त हो गयी थी और देश छोटे–छोटे टुकड़ों में विभक्त हो गया था। इस विलुप्त राजनीतिक एकता को गुप्त राजाओं ने फिर से स्थापित किया और देश का संगठन किया। गुप्त राजाओं ने दिग्विजय की नीति अपनाकर भारत में एकछत्र और सार्वभौमिक सत्ता स्थापित की, अपने प्रचंड पराक्रम तथा अद्भुत शौर्य के बल पर लगभग संपूण भारत को एक राजनीतिक सूत्र में बांध दिया था उनका एकक्षत्र साम्राज्य गुप्त–सम्राटों की महत्ता का द्योतक है। इस प्रकार देश की राजनीतिक एकता की दृष्टि से भी गुप्त काल महान् था।

साहित्य, कला, विज्ञान के उत्कर्ष का युग–यह युग साहित्य के उत्कर्ष का युग भी था। इस युग में महान साहित्यकारों ने जन्म लिये। गुप्तकाल वैज्ञानिक प्रगति तथा कला के चरमोत्कर्ष का काल था। कला ने अपने विभिन्न रूपों को विकसित किया। इस युग में वैदिक सभ्यता तथा संस्कृति की रक्षा की गयी। धार्मिक सहिष्णुता के कारण विभिन्न धर्म फले–फूले तथा विदेशों में भी भारतीय सभ्यता संस्कृति का प्रसार हुआ। चीन, मध्य एशिया, जावा, सुमात्रा, हिन्द चीन, बोर्निया आदि में भारतीय संस्कृति का भारी प्रसार हुआ। शताब्दियों तक वहाँ हिन्दु धर्म और बौद्ध धर्म का प्रभाव रहा।

यद्यपि इस काल में साहित्य, कला, विज्ञान, धर्म, समाज, संस्कृति, व्यापार, उद्योग धंधे, कृषि, शासन व्यवस्था और विदेशों के साथ सम्पर्क आदि क्षेत्रों में भले ही काफी प्रगति हुई तथा गुप्त सम्राटों के उदार दृष्टिकोण, कला, प्रेम और संस्कृति के संरक्षण ने इसमें बहुमुखी प्रतिभा का उदय किया था। परन्तु इस काल का भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग कहना सरासर गलत होगा। ऐश्वर्य स्मृद्धि केवल राजा, महाराजाओं तथा कुलीन वर्ग के लिए ही थी। साधारण जनता

विशेष रूप से स्त्रियां शूद्र तथा अस्पृष्य की आर्थिक व सामाजिक स्थिति दयनीय थी। उनको सामाजिक आर्थिक न्याय की बात तो छोड़िए, मानवीय अधिकार भी प्राप्त नही थे। उनपर अनेकों प्रकार के प्रतिबन्ध लगे हुए थे।

किन्तु कुछ ऐसे भी तत्व हैं जो इस युग के महत्व को कम करते है। समाज, अर्थव्यवस्था, प्रशासन तथा सेना का स्वरूप सामंतवादी था। गुप्तकालीन समृद्धि केवल उत्तर भारत तक ही सीमित थी। दक्षिण में तो गुप्तोत्तर काल में प्रगति देखने को मिलती है। यह सत्य है कि गुप्त काल हिन्दु धर्म के पुनरूत्थान का काल था, किन्तु साथ ही यह बौद्ध धर्म के पतन का भी काल था। अतः गुप्त युग को स्वर्ण काल न कहकर केवल कला साहित्यक व विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति का काल कहना अधिक उचित होगा। वैसे भी स्वर्ण युग एक पौराणिक कल्पना है।

अध्याय 12
गुप्तोत्तर काल

गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद भारत अनेक छोटे–छोटे राज्यों में बँट गया। इसमें उत्तर में मौखरी, गौड और पुष्यभूति वंश प्रमुखता से उभरे। दक्षिण भारत में पल्लवों और चालुक्यों का उदय हुआ। इस अध्याय में हम पढ़ेंगे–

- *हर्षवर्धन (वर्द्धन वंश)*
- *पल्लव वंश*
- *चालुक्य वंश*

हर्षवर्धन के पूर्व भारतीय राजनीतिक व्यवस्था

गुप्त साम्राज्य के नष्ट होने के बाद उत्तर भारत छोटे–छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था। इन राज्यों में प्रमुख थे–

(क) परवर्ती गुप्त राजा

(ख) मौखरि राजा

(ग) पूष्यभूति वंश

(घ) मालवा शासक

(ड) हूण साम्राज्य

(च) गौड शासक

(छ) मैत्तक वंश

(क) **परवर्ती गुप्त शासक** ने छठी सदी के मध्य में मगध में एक नवीन गुप्त वंश की स्थापना कर ली थी। यद्यपि यह निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता कि क्या वे वास्तव में गुप्तों के वंशज थे या गुप्त शासकों के अधीन सामंत। कुमार गुप्त (540–560 ई॰) में उनकी प्रतिद्वन्द्विता मौखीर वंश के राजाओं से शुरू हुआ किन्तु इसमें गुप्तो को पराजय मिली और अंत में वे काफी दुर्बल हो गये और पूष्यभूति वंश के सामंत बनकर रह गए।

(ख) **मौखरि वंश** का राज्य आधुनिक उत्तर प्रदेश में था। उसका संस्थापक हरिवर्मन था। उसका पुत्र आदित्य वर्मन ब्राह्मण धर्म और संस्कृति का महान पोषक था। गौड़ों के आक्रमण से बचने के लिए मौखरी और गुप्त शासकों ने आपस में गठबंधन किया। इसे स्थायित्व प्रदान करने के उद्देश्य से आदित्यवर्मन की शादी गुप्त राजकुमारी हर्षगुप्ता से और ईश्वरवर्मन की शादी उपगुप्ता से हुई। ईशान वर्मन के काल में मौखरी–गुप्त गठबंधन ने गौड़ों के आक्रमण को विफल कर दिया था। परन्तु ईशान वर्मन एक सफल सेनापति और महात्वाकांक्षी शासक था। उसने कई प्रदेशों को जीतकर अपने राज्य की सीमा बढ़ायी। लेकिन इस महत्वाकांक्षा के कारण गुप्त उसे शंकित नजरों से देखने लगे और मौखरी–गुप्त संबंध बिगड़ गया। मौखरी वंश के शासकों ने मगध पर अधिकार कर लिया। मौखरी साम्राज्य विस्तार में उत्तर प्रदेश, बुदेलखंड, दक्षिण पूर्वी पंजाब और बंगाल के कुछ भाग पर था। पूष्यभूति वंश के शासक भी उनके अधीन थे।

मौखरी नरेश गृहवर्मन के काल में आंतरिक कलह से मौखरि शक्ति दुर्बल हो गई। इसी समय उनका पूष्यभूति वंश से संबंध स्थापित हुआ। गृह वर्मन का विवाह पूष्यभूति वंश के शासक प्रभाकरवर्धन की पुत्री राजश्री से हुआ। इस विवाह का बहुत बड़ा राजनैतिक महत्व था।

इधर गुप्त–मौखरी संघ के खत्म हो जाने से बंगाल के गौड़ शक्तिशाली हो गए थे। मौखरियों का गौड़े से संबंध सदैव ही खराब रहा था। इस द्वेष का परिणाम यह हुआ कि गौड़ नरेश शशांक ने मौखरी शासक गृह वर्मन के विरूद्ध मालवा के शासक देवगुप्त की सहायता की और गृह वर्मन की हत्या कर डाली। इसके साथ ही मौखरी वंश का अंत हुआ और इस पर पूष्यभूति वंश के शासकों का नियंत्रण हो गया।

(ग) **मालवा शासक–** आरंभ में मालवा गुप्त साम्राज्य का अंग था। परन्तु अंतिम गुप्त सम्राटों की शक्ति कमजोर होने के बाद यशोधर्मा ने स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। उसका शासन अल्पकालीन था। मंदसौर के दो अभिलेखों से यशोधर्मा के हूण शासक मिहिर कूल के युद्ध का उल्लेख है। वह लगभग 530 ई0 में मालवा का शासक बना था। उसने मिहिर कूल को बुरी तरह पराजित किया। ऐसी मान्यता है कि यशोधर्मा की मृत्यु के बाद परवर्ती गुप्त शासकों ने मालवा पर अधिकार कर लिया।

(घ) **हूण साम्राज्य–** छठी सदी के अंत में भारत के उत्तर पश्चिमी इलाकों में हूणों ने खुद को स्थापित कर लिया था। इन्होंने स्कंदगुप्त के काल से ही भारत में घुसने का प्रयास किया था। अब उनकी स्थिति काफी शक्तिशाली हो चुकी थी और उनका साम्राज्य अफगानिस्तान, काबुल, गंधार आदि पर फैला था। उनकी राजधनी स्यालकोट थी। तोरामन और मिहिर कूल हूणों के प्रसिद्ध शासक थे। मिहिर कूल के यशोधर्मा के हाथों पराजय के बाद उनकी शक्ति कम होने लगी।

(ड) **मैत्रक वंश–** इन्होंने सौराष्ट्र में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया और वल्लभी उनकी राजधानी थी। इन्होंने अरबों के आक्रमण तक लगभग 300 वर्षों तक शासन किया। उनके काल में वल्लभी संस्कृति और व्यापार का प्रमुख केन्द्र बन गया।

(च) **गौड़ शासक–** गौड़ बंगाल के शक्तिशाली राजवंश थे। परवर्ती गुप्त और मौखरि वंश का इनसे हमेशा खतरा रहता था।

(छ) **पूष्यभूति वंश–** गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद अंबाला के थानेश्वर नामक स्थान पर "पूष्यभूति वंश" की स्थापना हुई। यह वंश हूणों के साथ हुए अपने संघर्ष के लिए प्रसिद्ध हुआ। पूष्यभूति वंश के शासक पहले मौखरि वंश के सम्राट के अधीन थे परन्तु बाद में वे स्वतंत्र हो गए। इस वंश का संस्थापक पुष्यभूति था। आरंभ के तीन शासकों की जानकारी का आभाव है। तीसरे शासक आदित्यवर्धन ने परवर्ती गुप्त शासक महासेन गुप्त की बहन से विवाह किया। प्रभाकरवर्धन, आदित्य वर्धन का पुत्र था। इसने पूष्य मूति वंश की प्रतिष्ठा में वृद्धि की। प्रभाकर वर्धन ने पश्चिम और दक्षिण की ओर अपने साम्राज्य का विस्तार किया। उसने अपनी पुत्री का विवाह मौखरि शासक गृह वर्मन से किया था। प्रभाकर वर्धन की मृत्यु 606 ई0 में हुई। उस समय उसके पुत्र राज्यवर्धन और हर्षवर्धन हूणों से युद्ध करने गये थे।

प्रभाकर वर्धन के बाद उसका पुत्र राज्यवर्धन सिंहासन पर बैठा पर थोड़े ही समय के लिए शासन कर सका। उस समय बंगाल के गौड़ शासक शशांक ने अपनी स्थिति मजबूत कर ली थी और वह कन्नौज जीतना चाहता था। गृहवर्मन जो कन्नौज का शासक था ने प्रभाकरवर्मन की पुत्री राजश्री से विवाह कर अपनी स्थिति मजबूत कर ली थी। अतः शशांक ने मालवा के शासक देवगुप्त से संधि कर ली। इस प्रकार जब राज्यवर्धन गद्दी पर बैठा, उसी समय मालवा के शासक देवगुप्त ने कन्नौज पर आक्रमण कर दिया अैर गृहवर्मन की हत्या कर उसकी पत्नी राज्यश्री को बंदी बना लिया। इसकी सूचना मिलते ही राज्यवर्धन अपनी बहन के रक्षार्थ कन्नौज पहुँचा और देवगुप्त को बुरी तरह परास्त कर दिया। कन्नौज पर अधिकार करने के बाद राज्यवर्धन शशांक की तरफ बढ़ा। किन्तु शशांक ने उसे धोखे से मार डाला। इस प्रकार 606 ई0 में ही राज्यवर्धन की मृत्यु भी हो गई। उसकी मृत्यु के उपरांत हर्षवर्धन (राज्यवर्धन का छोटा भाई) थानेश्वर का शासक बना।

g"k.o/k.u ¼606&647½

यह न सिर्फ वर्धन वंश का सबसे शक्तिशाली और योग्य शासक था वरन् उसकी गणना भारत के महानतम् शासकों में की जाती है। यद्यपि कई इतिहासकारों का मत है कि उसका साम्राज्य विस्तार इतना नहीं था कि उसे एक महान शासक माना जाए किन्तु यह विचार उचित नहीं जान पड़ता क्योंकि सिर्फ साम्राज्य विस्तार को महानता का मानदंड

बनाना उचित नहीं। वह एक योग्य प्रशासक था और प्रजा के प्रति अपने कर्तव्यों के विषय में काफी सजग। उसने 41 वर्षों तक शासन किया और उसके साम्राज्य में शांति और खुशहाली थी। उसका साम्राज्य पूर्व में कामरूप से लेकर पश्चिम में समुद्रतट तक तथा उत्तर से कश्मीर से नर्मदा तट तक था। उसका प्रत्यक्ष नियंत्रण राजस्थान, पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार और उड़ीसा पर था किन्तु अप्रत्यक्ष नियंत्रण कश्मीर, सिंध, वल्लभी और कामरूप तक।

श्रोत– हर्ष के समय के बारे में हमें बाणभट्ट द्वारा रचित ग्रंथ "हर्षचरित" तथा हर्ष के काल में भारत आये चीनी यात्री ह्वेनसाग से मिलती हैं इस संबंध में हम कुछ जानकारी सोनीपत तथा बांसखेड़ा अभिलेखों से भी प्राप्त होता हैं हर्ष का नाम "शिलादित्य" भी था। उसने "पद्मभट्टारक" की उपाधि धारण की थी।

सिंहासनारोहण और राज्य विस्तार– 606 ई॰ में अपने बड़े भाई राज्य वर्धन की मृत्यु के उपरांत हर्षवर्धन थानेश्वर का शासक बना। उसका सबसे पहला काम शशांक से अपने भाई की मृत्यु का बदला लेना था। अतः वह सेना लेकर कन्नौज की तरफ बढ़ा। रास्ते में ही उसे यह सूचना मिली की देवगुप्त ने उसकी बहन राजश्री को कारागार से मुक्त कर दिया है और वह विंध्याचल के जंगलों में चली गई है। हर्ष ने अपनी बहन को खोजा और उसे वापस लाया। हर्ष ने कन्नौज पर उस समय शासन कर रहे सूरसेन को हराया और अपनी बहन के हाथों में राज्य दे दिया। पाँच–छः वर्षो बाद कन्नौज उसके राज्य में सम्मिलित हो गया और उसकी राजधानी बन गया।

अभी हर्ष का शशांक से बदला लेना शेष था। उसका पहला अभियान शशांक के विरुद्ध था। मार्ग में उसे कामरूप के शासक भास्कर वर्मा का एक राजदूत मिला और उसने अपने शासक भास्कर वर्मा की ओर से मैंत्री का प्रस्ताव रखा। भास्कर वर्मा और शशांक शत्रु थे अतः हर्ष ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। अब हर्ष को कामरूप का सहयोग प्राप्त हो गया। लेकिन हर्ष को इसमें कोई विशेष सफलता नहीं मिली। श्रोतों से पता चलता है कि 637 ई0 तक शशांक शांतिपूर्वक बंगाल के अधिकांश भाग और उड़ीसा पर शासन करता रहा। किन्तु बाद में हर्ष ने (शशांक की मृत्यु के बाद) बंगाल और उड़ीसा पर कब्जा कर लिया।

पश्चिमी भारत में मालवा शासक, गुर्जर और गुजरात के शासक अपने शत्रु थे। हर्ष ने गुर्जर शासक ध्रुवसेन तृतीय को पराजित किया किन्तु वह फिर से अपने को संगठित करने में सफल हो गया। ध्रुवसेन का विवाह हर्ष ने अपनी पुत्री से कर दिया और दोनों मित्र राज्य हो गए। गुजरात (वल्लभी) के शासक ने हर्ष की अधीनता स्वीकार की।

हर्ष का दक्षिण भारत का अभियान सफल नहीं रहा। उसका मुकाबला तत्कालीन चालुक्य शासक पुलकेशिन द्वितीय से नर्मदा नदी के तट पर हुआ। इसने पुलकेशिन द्वितीय ने बुरी तरह परास्त किया। इस युद्ध के समय के विषय में मतभेद है किन्तु संभवतः यह 630–634 ई० के मध्य लड़ा गया। पुलकेशिन द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त ही हर्ष ने गंजम जिले के कोंगाड़ा नामक स्थान पर अधिकार किया।

सिंध कश्मीर और कामरूप पर उसने अप्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण रखा। यद्यपि इस संबंध में भी मतभेद है।

शासन प्रबन्ध–हर्ष (अर्थात सम्राट) शासन का प्रधान था और उसकी शक्तियाँ असीमित थी। वह राज्य का सबसे बड़ा न्यायाधीश तथा सेनापति था। उसी में राज्य की समस्त कार्यकारिणी, कानून निर्माण संबंधी शक्तियाँ केन्द्रित थी। हर्ष ने निरंकुश होते भी सदैव प्रजाहित में कार्य किया। हर्ष प्रजाहित को अपना सर्वप्रथम कर्त्तव्य समझता था। हर्ष राज्यकार्यों में अत्यधिक रूचि लेता था। हर्ष स्वयं वेश बदलकर अपने राज्य में घूमता था और प्रजा की समस्याएँ जानने की कोशिश करता था।

हर्ष की सहायता के लिए एक मंत्री परिषद थी। यह शक्तिशाली थी और हर्ष का आंतरिक और विदेशी मामलों में हाथ बँटाती थी। मंत्रियों के अतिरिक्त राज्य में अनेक अधिकारी थे। बाणभट्ट ने एसे अधिकारियों की सूची हर्षचरित में दी है। इनमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार है–

(i) कुमारमात्य – ये बड़े असैनिक अधिकारी थे।

(ii) अवन्ती – ये युद्ध और शांति का सर्वोच्च अधिकारी था।

(iii) सिंहनाद – हर्ष की सेना का सेनापति।

(iv) कुन्तल – हर्ष की अश्व सेना का प्रमुख अधिकारी होता था।

(v) स्कन्दगुप्त – हर्ष की हाथी सेना का प्रमुख अधिकारी होता था।

(vi) सामंत महाराज – प्रशासकीय कार्यों का हिसाब रखता था।

(vii) महासंधिवि ग्रहाधिकृत – विदेश विभाग का प्रमुख।

(viii) दीर्घध्वज – ये राजकीय संदेशवाहक थे।

(ix) सर्वगत – ये गुप्तचर विभाग के सदस्य थे।

हर्ष के समय में अधिकारियों को वेतन, नकद और जागीर के रूप में मिलता था। ह्वेन सांग का मत है कि मंत्रियों अधिकारियों के वेतन भूमि अनुदान के रूप दिए जाते थे। इससे अनुमान लगता है कि हर्ष के समय में सामंतवादी प्रथा में वृद्धि हुई थी। ह्वेन सांग के अनुसार राजा की भूमि का 1/4 भाग अधिकारियों के वेतन के लिए तथा अन्य 1/4 भाग धार्मिक कार्यों के लिए सुरक्षित था।

संपूर्ण साम्राज्य छोटी–छोटी प्रशासनिक इकाइयों में बँटा था। साम्राज्य मुक्तियों (प्रांतों) में, भुक्ति विषयों (जिलों में) और विषय गाँवों में बँटे थे।

साम्राज्य
↓
भुक्ति (मुख्य अधिकारी उपारिक था)
↓
विषय (मुख्य अधिकारी विषयपति था)
↓
ग्राम (मुख्य अधिकारी ग्रामिक था)

हर्ष के समय में सामंत महाराज का प्रयोग उन राजाओं के लिए होता था जो उसके अधीन थे। निरीक्षक "सर्वाध्यक्ष" कहलाता था। पुस्तपाल का कार्य कागजों की देखभाल करना था। लिखने वाला अधिकारी कर्णिक कहलाता था।

राजस्व– प्रजा पट कर का भार अधिक नहीं था। राज्य की आय का अधिकांश भाग प्रजा के हित में खर्च होता था। राज्य की आय का मुख्य श्रोत भूमिकर था जो 1/6 भाग था। इसे 'भाग' कहते थे यह अन्न के रूप में देय था। बिक्री कर, चुंगी, हिरण्य और बलि आय के अन्य साधन थे। इसके अतिरिक्त उपहारों से भी आय होती थी।

सेना– हर्ष के पास एक विशाल सेना थी। सेना 4 अंगों में विभक्त थी–

(i) पैदल सेना – हर्ष के पास एक लाख से भी अधिक पैदल सैनिक थे।

(ii) अश्व सेना – हर्ष के पास 50,000 अश्वारोही सैनिक थे।

(iii) हस्ती सेना – हर्ष की हस्ती सेना की ताकत 60,000 थी। सेनापति हाथियों पर बैठकर युद्ध करता था। हाथियों को जिरह–बख्तर पहनाया जाता था और उसके सूंड में तेजधार वाले हथियारों लगा दिए जाते थे।

(iv) रथ सेना

सैनिकों को नकद वेतन मिलता था।

न्याय व्यवस्था– हर्ष की न्याय प्रणाली अत्यन्त कठोर थी। अंग विच्छेद जैसे नाक काटना, कान काटना हाथ–पैर काटना साधारण सजा माने जाते थे। इस कठोर दंड विधान के बावजूद अपराध की घटनाएँ होती थी। ह्वेन संग स्वयं कई बार लूटेरों का शिकार बना।

विदेश नीति– विदेश नीति के रूप में उसने विवाह संबंध और मित्रता की संधि को अपनाया। जहाँ एक ओर उसने कामरूप के शासक भास्करवर्मन से की गई संधि का जीवन–भर निर्वाह किया वहीं गुर्जरों से मित्रता स्थापित करने के लिए उसने अपनी पुत्री का विवाह गुर्जर शासक ध्रुवसेन से किया। उसने चीन के सम्राट के पास दूत भेजा। यह बात 641 ई0 की है। इसके प्रत्युत्तर में चीनी सम्राट ने भी 643 ई० और 646 ई० में अपने दूत हर्ष के दरबार में भेजा।

सामाजिक स्थिति– समाज चार वर्णों में बँटा था। अनेक उपजातियाँ भी उभरी थीं। यद्यपि अंतर्जातीय विवाह होते थे किन्तु इनमें थोड़ी कठोरता आ गई थी। स्त्रियों की दशा बहुत अच्छी नहीं थी। सती–प्रथा का प्रचलन बढ़ गया था। पर्दा प्रथा नहीं थी किन्तु स्त्रियों पर अनेक प्रकार के बंधन थे। समाज का नैतिक चरित्र ऊँचा था। लोग धार्मिक प्रवृत्ति के थे। उनका भोजन और विचार सात्विक था।

आर्थिक दशा– साम्राज्य में सपन्नता थी। कृषि जीवन का मुख्य आधार थी। विदेशी व्यापार अबाध गति से जारी था। पेशावर, तक्षशिला और कुछ अन्य नगर हूणों के आक्रमण से पतन की ओर उन्मुख थे किन्तु कन्नौज, बनारस, प्रयाग आदि नगर संपन्न थे। कन्नौज का विशेष महत्व था। वह हर्ष की राजधानी थी और वहाँ विद्वान, सुसभ्य लोग निवास करते थे।

धार्मिक दशा– हिन्दु, बौद्ध तथा जैन तीनों ही धर्म भारत में लोकप्रिय थे। हिन्दु धर्म की प्रगति हो रही थी और प्रयाग और बनारस उसके केन्द्र स्थान रहे। विष्णु उसके विभिन्न अवतार और शिव हिन्दुओं के लोकप्रिय देवता थे। हर्ष प्रत्येक 5 वर्ष के पश्चात प्रयाग में धार्मिक उत्सव मनाने की व्यवस्था की थी। उसने अपने समय में छः बार धार्मिक उत्सव किये उस अवसर पर वह अपनी 5 वर्षों में संचित की गयी संपूर्ण संपत्ति को दान कर दिया करता था।

बाणभट्ट बताता है कि हर्ष आरंभ में हिन्दू था और सूर्य और शिव का उपासक था। लेकिन बाद में वह बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। प्रत्येक वर्ष वह बौद्ध विद्वानों को वाद–विवाद के लिए एकत्रित करता था। उसने पशु वध पर पाबन्दी लगा दी। उसने बौद्ध मठों और स्तूपों का निर्माण किया था। ह्वेन सांग के सम्मान में उसने कन्नौज में एक धार्मिक सभा बुलाई जिसकी अध्यक्षता ह्वेन सांग ने की। किन्तु इसका अंत सुखद नहीं रहा।

इस प्रकार, पता चलता है कि वह एक धार्मिक और सहिष्णु शासक था।

साहित्य– हर्ष स्वयं एक विद्वान था उसका दरबार विद्वानों से भरा था। इस काल में संस्कृत भाषा में प्रगति की। हर्ष ने स्वयं तीन पुस्तकें लिखी– "रत्नावली", "प्रियदर्शिका" और "नागानंद"। हर्ष के शासन काल के प्रमुख विद्वान थे–

(i) बाणभट्ट – इन्होंने "हर्षचरित" और "कादंबरी" की रचनी की।

(ii) मयूर – इन्होंने "सुभाषितावली" की रचना की।

(iii) जयसेन –

(iv) हरिदत्त –

(v) दिवाकर –

उसने नालंद विश्वविद्यालय को सहायता दी। नालंदा व वल्लभी शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। भारत उस समय विश्व का सबसे शिक्षित देश था। दिवाकर मित्र का विन्ध्य वन हिन्दू शिक्षा का केन्द्र था। नालंदा विश्वविद्यालय बौद्ध धर्म की शिक्षा का केन्द्र था।

हर्ष के काल में अनेक विद्वान विदेश गए।

iYyo jktoa'k

उत्पत्ति– पल्लवों की उत्पत्ति का प्रश्न भारतीय इतिहास का एक जटिल प्रश्न है। भारत के सुदूर दक्षिण में पल्लव और चोल राजवंशों का उदय हुआ। सुदूर दक्षिण के इस प्रदेश को तमिलप्रदेश कहते हैं दक्षिण भारत की परंपरागत शक्तियाँ– चेर, पांड्य और चोल मानी जाती हैं। पल्लवों की गणना इनमें नहीं हाती अतः कुछ विद्वानों का मत है कि वे उत्तर पश्चिम भारत के पह्लवो (पल्लव) अथवा पार्थियनों (पार्थव) की शाखा है। उनका कहना है कि पुराणों के अनुसार पहल्व पतित क्षत्रिय थे जो फारस और सिंधु प्रदेश में बसते थे। सगर ने उन्हें पराजित किया था क्योंकि इनकी वैदिक धर्म में आस्था नहीं थी। किन्तु विश्वामित्र की मध्यस्थता के कारण सागर के द्वारा उनका समूल नाश नहीं किया गया। यहीं पहली सदी में भारत में घुस आए और केन्द्र दामन और वासिष्ठिपुत्र पुलभावि के समय में पार्थियन कहलाने लगे। लेकिन यह विचार ठीक नहीं है। कुछ अन्य विद्वानों ने उन्हें चोल–नाग वंश से उत्पन्न बताया

है। आधुनिक मान्यता के अनुसार वे भारत के मूल निवासी थे। उनका मूल स्थान टोण्डियार। तमिल शब्द "टोण्डियर" को संस्कृत में पल्लव कहा गया है। इसी के आधार पर यह वंश पल्लव वंश कहलाया।

इनके कुल के बारे में एक अन्य काशी प्रसाद जायसवाल का है जिन्होंने इन्हें न तो विदेशी माना है न ही द्रविड वरन् उत्तर के ऐसे ब्राह्मण जिन्होंने सैनिक वृत्ति अपना ली थी और जो वकाटकों की एक शाखा थे।

प्रमुख शासक– पल्लव वंश की स्थापना बप्पदेव ने तीसरी या चौथी सदी में की थी। उसका अधिकार क्षेत्र धान्यकर और काँची था। उसके पुत्र शिवस्कंदवर्मन ने इसका विस्तार दक्षिण की ओर किया। उसने "धर्म महाराज" की उपाधि धारण की। इसे विजय स्कन्दवर्मन भी कहते थे। प्रयाग स्तंभ लेख में हमें एक और शासक विष्णु गोप (350 ई0–375 ई0) का नाम मिलता है। जब समुद्रगुप्त ने दक्षिण भारत पर आक्रमण किया था तो विष्णुगोप काँची का शासक था। पल्लवों का उत्कर्ष छठी सदी के अंतिम चरण में सिंह विष्णु के सिंहासन पर बैठने से शुरू होता है।

1. **सिंह विष्णु (575–600 ई०)–** सिंह विष्णु ने पल्लव साम्राज्य को कावेरी तक विस्तृत कर दिया। उसने "सिंह विष्णुपोत्तारायण" की उपाधि धारण की। वह कला और साहित्य का संरक्षक था। संस्कृत के महान कवि भारवि (कीर्त्तार्जुनीयम् के रचयिता) उसके दरबार में थे। उसी के काल में महाबलीपुरम कला का केन्द्र बना। उसने वहाँ आदि वराह मंदिर बनवाया। वह विष्णु का उपासक था।

2. **महेन्द्र वर्मन प्रथम (600–630 ई०)–** इसके समय पल्लवों और चालुक्यों के बीच वर्चस्व की लड़ाई हुई। पल्लवों ने कदम्बों के साथ मिलकर चालुक्य शासक पुलकेशिन द्वितीय की शक्ति विस्तार को रोकने का प्रयास किया किन्तु सफलता नही मिली। पुलकेशिन ने पल्लव साम्राज्य के काफी अन्दर तक प्रवेश किया और उत्तरी प्रांत वेगी छीन ली। यही पर उसने चालुक्यों की एक नई शाखा की स्थापना की और अपने भाई विष्णुवर्धन को वहाँ का शासक नियुक्त किया। महेन्द्रवर्मन किसी प्रकार काँची की रक्षा कर पाया।

   महेन्द्रवर्मन प्रथम साहित्य और कला प्रेमी था। वस्तुतः वह स्वयं एक अच्छा कवि और गायक था। उसने संस्कृत में "मत्तविलास–प्रहसन" की रचना की। संगीत–विद्या पर एक प्रसिद्ध पुस्तक "कुदम्मिलयै" की रचना संभवतः उसी ने की थी।

   उसने त्रिचनापल्ली, चिंगिलपुट और अर्काट में बहुत से मंदिरों का निर्माण करवाया जो पहाड़ों की चट्टानों को काटकर बनाये गये थे। महेन्द्र वर्मन प्रथम, को ही दक्षिण भारत में प्रथम दरी–मंदिर बनवाने का श्रेय प्राप्त हैं इन मंदिरों की विशेषता उनके त्रिमुखी स्तंभ है।

   यह शुरू में जैन धर्म का अनुयायी था लेकिन संत अप्पर के प्रभाव में शैव बन गया।संत अप्पर के प्रचार से शैव धर्म का काफी प्रचार हुआ।

3. **नरसिंह वर्मन–प्रथम (630–668 ई०)–** महेन्द्र वर्मन–प्रथम का पुत्र नरसिंह वर्मन–प्रथम, पल्लव वंश का एक महान शासक था। उसके काल में भी चालुक्य–पल्लव संघर्ष हुआ किन्तु इस बार परिणाम भिन्न था। जब पुलकेशिन–प्रथम ने नरसिंह वर्मन–प्रथम के साम्राज्य पर आक्रमण किया तो नरसिंह वर्मन ने चालुक्यों पर आक्रमण किया और उनकी राजधानी बादामी (वातापी) पर अधिकार कर लिया। इन्हीं युद्धों में पुलकेशिन मारा गया और पल्लव शासक ने अपने शक्ति का प्रयोग कर चालुक्यों के राज्य के दक्षिणी भाग पर कब्जा किया और राज्य विस्तार मैसूर तक कर लिया। इसके बाद उसने "वातापीकोंड" की उपाधि धारण की। इसके पश्चात उसने चोलों, चेटो और पांड्यों को भी पराजित किया। उसने श्रीलंका के राजकुमार मानवर्मा को श्रीलंका का राजा बनाया।

   665 ई० में चालुक्य शासक विक्रमादित्य ने नरसिंह वर्मन–प्रथम को पराजित किया और चालुक्यों के प्रदेश पुनः प्राप्त कर लिया।

   उसने महाबलीपुरम में अनेक मंदिरों का निर्माण कराये है ये रथ मंदिरों के नाम से प्रसिद्ध हैं। ह्वेन सांग ने इसके शासनकाल में काँची की यात्रा की और यहाँ का सुन्दर वर्णन किया है।

इसके उपरांत इसका पुत्र महेन्द्रवर्मन–द्वितीय (668–670 ई॰) सिंहासन पर बैठा। वह दो वर्षों तक ही शासन कर सका।

4. **परमेश्वर वर्मन–द्वितीय (670 ई॰–695 ई॰)–** महेन्द्रवर्मन–द्वितीय के उपरांत उसका पुत्र परमेश्वर वर्मन–प्रथम शासक बना। उसके समय चालुक्य शासक विक्रमादित्य–प्रथम ने पल्लवों पर आक्रमण किया और काँची विजित कर लिया। किन्तु त्रिचनापल्ली के तरफ बढ़ने पर उसे परमेश्वर वर्मन–प्रथम के हाथों पराजित होना पड़ा और वह लौट गया। इस प्रकार उसने पल्लव साम्राज्य की रक्षा की। उसने "श्रीभर", "लोकादित्य" आदि उपाधि धारण किए। यह शिव उपासक था और उसने अनेक मंदिर बनवाया।

5. **नरसिंह वर्मन–द्वितीय (695–720 ई॰)–** इसका काल शांति का काल रहा। इसने राज्य को समृद्ध बनाया। उसने चीनी सम्राट के दरबार में अपना राजदूत भेजा। उसने काँची के कैलाशनाथ मंदिर का निर्माण कराया। इसी ने काँची में ही ऐरावतेश्वर मंदिर का निर्माण कराया और महाबलिपुरम का तथाकथत "शोर मंदिर" (Shore Temple) उसने "वीणा–नारद", "विद्या–विद्याधर" आदि उपाधियाँ धारण की थी।

   वह विद्वानों का संरक्षक था और प्रसिद्ध कवित दण्डिन् उसी के दरबार में थे। उन्होंने "यशकुमार चरित" की रचना की।

6. **परमेश्वर वर्मन–द्वितीय (721–730 ई॰)–** नरसिंह वर्मन– द्वितीय की मृत्यु के बाद उसका पुत्र परमेश्वरवर्मन–द्वितीय शासक बना। इसके काल के विषय में जानकारी का अभाव है। फिर भी ज्ञान श्रोतों से पता चलता है कि चालुक्य शासक विक्रमादित्य–द्वितीय ने जब काँची पर आक्रमण किया तो परमेश्वरवर्मन ने उसे धन देकर वापस किया।

7. **नंदिवर्मन–द्वितीय (730–795 ई॰)–** यह चुनाव द्वारा शासक बनाया गया था। उसने पल्लवों की स्थिति सुधारने की कोशिश की। इसके काल में पल्लव–पांड्य संघर्ष काफी लंबे समय तक चला। प्रथम पांड्य–शासक राजसिंह ने उसके राज्य पर हमला किया किन्तु नंदिवर्मन–द्वितीय ने उसे निष्फल कर दिया। इसके बाद भी यह संघर्ष जारी रहा और अंततः पांड्य शासक परांतक ने नंदिवर्मा से कोंगु छीनने में सफलता प्राप्त की। चालुक्य शासक विक्रमादित्य–द्वितीय ने भी एक बार फिर काँची पर हमला किया और उसे लूटा। विक्रमादित्य–द्वितीय पुत्र कीर्तिवर्मन ने भी पल्लव राज्य पर आक्रमण किया और उसे लूटा।

   750 ई॰ में दंतिदुर्ग (राष्ट्रकूट) ने भी पल्लवों पर आक्रमण किया और नंदिवर्मन को परास्त किया। नंदिवर्मन–द्वितीय ने अपनी पुत्री का विवाह दंतिदुर्ग से कर दिया।

   अपने शासन के अंतिम दिनों से नंदिवर्मन को ध्रुव (राष्ट्रकूट) को भी धन देकर वापस लौटाना पड़ा। इस सारे आक्रमणों से पल्लवों की शक्ति काफी कम हो गई और वे दुर्बल गए। नंदिवर्मन काँची में मुक्तेश्वर मंदिर का निर्माण किया।

8. **पल्लवों का पतन–** नंदिवर्मन–द्वितीय के पश्चात दंतिवर्मन (795–828 ई॰) शासक बना। उसके समय राष्ट्रकूटों और पांड्यों ने पल्लवों पर आक्रमण किया और कई प्रदेश छीन लिये। पांड्यों ने पल्लवों से कावेरी क्षेत्रा छीन लिया।

   दंतिवर्मन के उपरांत नंदिवर्मन–तृतीय (845–866 ई॰) ने चोल, चेरों और पांड्यों को पराजित किया। उसने अमोधवर्ष की पुत्री "शंखा" से विवाह किया।

   नंदिवर्मन–तृतीय उपरांत नृपतुंगवर्मन (866–879 ई॰) शासक बना। उसने पांड्यों से युद्ध किया परन्तु मारा गया। इसे उपरांत अपराजित (879–893 ई॰) शासक बना। यह पल्लव वंश का अंतिम शासक था। इसने 880 ई0 में पांड्यों को पराजित किया। 893 ई॰ में चोल सामंत आदित्य ने उसकी हत्या कर पल्लव–साम्राज्य पर अधिकार कर लिया।

iYyok d egRo

भारतीय इतिहास में पल्लव वंश प्रमुख स्थान रखता है। काँची को अपनी सत्ता का केन्द्र बनाकर इस वंश ने करीब 300 वर्षों तक दक्षिण भारत के विस्तृत क्षेत्र पर शासन किया। सूदूर दक्षिण में आर्य या हिन्दू सभ्यता को पहुँचाने और विकसित करने का श्रेय पल्लवों को है। दक्षिण पूर्वी एशिया में भारतीय सभ्यता के प्रसार का कार्य भी पल्लवों के समय में हुआ।

शासन– पल्लवों की शासन व्यवस्था में सम्राट राज्य का प्रधान था। सारी शक्तियाँ उसी में केन्द्रित थी किन्तु शासक निरंकुश नहीं होते थे और प्रजा के हितों का पूरा–पूरा ध्यान रखते थे। सम्राट–प्रजा की भलाई अपना प्रमुख कर्त्तव्य समझते थे। सम्राट की सहायता के लिए मंत्री और अधिकारी होते थे। राजा का पद वंशानुगत होता था। प्रशासनिक सुविधा के लिए साम्राज्य राष्ट्रों में राष्ट्र "कोट्टम" में बँटे थे। गाँव प्रशासन की सबसे छोटी इकाई थे।

साम्राज्य ⟶ राष्ट्र ⟶ कोट्टम ⟶ गाँव।

धर्म– पल्लव शासक हिन्दु धम्र के अनुयायी थे। उन्होंने दक्षिण भारत में आर्य संस्कृति का प्रसार किया। 8वीं सदी में धार्मिक आंदोलन का केन्द्र पल्लवों की राजधानी काँची ही था। काँची नगर हिन्दुओं के सात तीर्थ–नगरों में एक है। हिन्दु धर्म के अनुयायी होते हुए भी पल्लव शासक सहिष्णु थे। जैन धर्म और बौद्ध धर्म सुरक्षित रहे। पल्लवों ने अनेक हिन्दु मंदिरों का निर्माण कराया।

साहित्य– पल्लव शासकों के समय सहित्य ने प्रगति की। संस्कृत साहित्य ने विशेषरूप से प्रगति की। इसमें काँची विश्वविद्यालय का योगदान महत्वपूर्ण है। पल्लव शासक महेन्द्रवर्मन स्वयं विद्वान या और विद्वानों का संरक्षक भी। उसने स्वयं "भत्तविलास प्रहसन" लिखा जिसमें कापालिकों पाशुपतों बौद्धोंऔर अन्य संप्रदायों के धार्मिक जीवन पर व्यंग किया गया है। सिंह विष्णु के दरबाद में भारवि और नरसिंहवर्मन–द्वितीय के दरबार में दण्डिन जैसे विद्वान थे। तमिल साहित्य का विकास भी इस काल में हुआ।

कला– कला के क्षेत्र में पल्लव काल में बड़े–बड़े मंदिर, भवन, गुफा, चित्रकला आदि का विकास हमें देखने को मिलता है। इस काल में मंदिर निर्माण में पाषाण वास्तुकला की दक्षिण में शुरूआत हुई। पल्लवों के काल में अनेक मंदिर पहाड़ों की चट्टानों को काटकर बनाए गए जिसमें शिव, विष्णु आदि देवी देवताओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की गयी। पल्लव वास्तुकला में मंदिर निर्माण स्थापत्य कला में चार शैलियों का विकास हुआ– महेन्द्र शैली, मामल्ल शैली, राजसिंह शैली तथा अपराजित शैली। महाबलीपुरम का रथ मंदिर, पाँच पांडवों का मंदिर, बराह मंदिर, काँची का कैलाश मंदिर इस काल की कला के श्रेष्ठ नमूने है।

pkyD; o'k

उत्पत्ति– चालुक्यों की उत्पत्ति के विषय में भी मतभेद है। बराह मिहिर की 'बृहत्संहिता' में इन्हें शुलिक जाति का बताया गया है। पृथ्वीराज राषों के अनुसार इनकी उत्पत्ति श्री राजपूतों के समान ही आबू पर्वत के अग्निकुंड से हुई। बितहण का विक्रमांकदेवचरित इनकी उत्पत्ति भगवान् ब्रह्मा के चुत्रुक (हथेली) से मानता हैं इतिहासकार स्मिथ इन्हें विदेशी मानते हैं। आधुनिक मतानुसार इस राजवंश का नाम चल्क्य था। ये एक स्थानीय जाति थे। ये परवर्ती सातवाहनों की सेवा में थे जहाँ वे उन्नति करते गए और अंततः साम्राज्य की स्थापना कर ली।

चालुक्यों की 4 शाखाएं थी परन्तु मुख्य शाखा बादामी (वातापी) के चालुक्यों की थी। ये शाखाएँ है–

(i) बादामी के चालुक्य

(ii) बेंगी के चालुक्य

(iii) कल्याणी के चालुक्य

(iv) अति हवाड़ा के चालुक्य

बादामी के चालुक्यों ने छठी सदी के मध्य में एक विस्तृत साम्राज्य, जो विन्ध्याचल पर्वत और कृष्णा नदी के बीच स्थित था, की स्थापना की।

Áe|[k 'kkI d

(1) **जयसिंह–** कैरा ताम्रपत्र अभिलेख से ज्ञात होता है कि जयसिंह चालुक्यवंश का स्थापक था। इसके उपरांत इसका पुत्र रणराग शासक बना।

(2) **रणराग (520–550 ई॰)–** जयसिह का पुत्र रणराग 520 ई0 में सिंहासन पर बैठा। वह गदा युद्ध में निपुण था और इसी कारण "रणराग सिंह" की उपाधि धारण की।

(3) **पुलकेशिन–प्रथम (550–566 ई॰)–** यह चालुक्यों का प्रथम शक्तिशाली शासक था। यह रणराग का पुत्र था। उसे ही चालुक्यों का वास्तविक संस्थापक मानते हैं। उसने बादामी पर अधिकार किया और वहाँ एक किले का निर्माण किया। उसी ने बतापी को अपनी राजधानी बनाया। चालुक्य वंशीय अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसने कई अश्वमेघ यज्ञ किए। उसने "टण विक्रम", "सत्याश्रय", "धर्म महाराज" जैसी उपाधियाँ धारण की थी।

(4) **कीर्तिवर्मन–प्रथम (567–597 ई॰)–** यह पुलकेशिन–प्रथम का पुत्र था और यह बड़ा ही महत्वाकांक्षी शासक था। इसने बनवासी के कदम्बों, कर्णल और कोकण के मौर्यो को पराजित किया। महाकूर स्तंभ से प्रमाणित होता है कि इसने बहुसुवर्ण एवं अग्निष्टोम यज्ञ संपन्न करवाया। इसने "पुरुदण पराक्रम", "सत्याश्रय" आदि उपाधियाँ धारण की। इसकी मृत्यु (597 ई0) के समय इसके पुत्र अल्पवयस्क थे अतः इसका भाई मंगलेश शासक बना।

(5) **मंगलेश (598–609 ई॰)–** इसने भी कदम्बों पर आक्रमण किया और उन्हें समूल नष्ट कर दिया। उसने कलचूरियों को भी परास्त किया। वल्लभी नरेश ने मंगलेश द्वारा आरंभ किये गये विजय अभियान को रोकने का प्रयत्न किया। इसने "रविक्रांत", "उरु रविक्रांत" जैसी उपाधियाँ धारण की। ऐहोल अभिलेख से ज्ञात होता है कि मंगलेश अपने पुत्र को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था किन्तु कीर्तिवर्मन–प्रथम के पुत्र पुलकेशिन द्वितीय ने उसकी हत्या कर दी और सिंहासन पर कब्जा कर लिया।

(6) **पुलकेशिन–द्वितीय (609–642 ई॰)–** यह कीर्तिवर्मन–प्रथम का पुत्र था और इसने अपने चाचा मंगलेश की हत्या कर सिंहासन हासिल किया था। यह एक शक्तिशाली शासक था और उसके काल में चालुक्यों की शक्ति में काफी वृद्धि हुई। उसने दक्षिण के मैसूर के गंग और आलूप शासकों को परास्त किया और अपनी अधीनता स्वीकार करने को विवश किया। उसने कोंकण के मौर्यो को पराजित किया और उनकी राजधानी राजपुरी (ऐलिफेन्टा) पर अधिकार कर लिया। उत्तर में उसने मालवा और गुर्जर–प्रतीहार शासकों को भी अधीनता स्वीकार करने पर विवश किया। पूर्व में कलिंगों को परास्त किया और पिष्टपुर को जीत कर अपने भाई विष्णुवर्धन को वहाँ का राज्यपाल नियुक्त किया। यहीं पर विष्णुवर्धन ने वेगी के चालुक्य वंश की स्थापना की। इनकी राजधानी पिष्ट पुर थी।

पुलकेशिन का सबसे महत्वपूर्ण विजय हर्ष के विरूद्ध था। जब हर्ष ने दक्षिण की ओर राज्य विस्तार का प्रयास किया तो पुलेकेशिन–द्वितीय ने उसे नर्मदा तट पर परास्त किया। इसके उपरांत हर्ष ने दक्षिण का रूख नहीं किया।

पुलकेशिन–द्वितीय के समय में चालुक्यों और पल्लवों का संघर्ष शुरू हुआ। पुलेकेशिन ने पल्लव शासक महेन्द्रवर्मन–प्रथम पर आक्रमण किया और परास्त किया। उसने अपने सीमा से लगे पल्लव क्षेत्रों का अपने राज्य में मिला लिया। उसने चोलों, चेरों और पांड्यों से मित्रता की जिससे के पल्लवों के विरूद्ध उसके सहायक बने रहे।

लेकिन अपने शासन के अंतिम समय में उसे महेन्द्रवर्मन–प्रथम के पुत्र नरसिंह वर्मन–प्रथम के हाथों पराजय का सामना उस समय करना पड़ा जब उसने पल्लवों पर आक्रमण कर दिया। पल्लव शासक नरसिंहवर्मन–प्रथम के प्रति आक्रमण करते हुए न सिर्फ पुलकेशिन–द्वितीय को पराजित किया और उसके राजधानी बादामी पर अधिकार किया वरन् इन्हीं युद्धों में पुलकेशिन–द्वितीय मारा भी गया। इस विजय के उपरांत नरसिंह वर्मन ने "वातावीकोंड" की उपाधि धारण की।

पुलकेशिन–द्वितीय, बादामी के चालुक्यों का सर्वाधिक पराक्रमी और महान शासक था। इसने "दक्षिणा पथेश्वर" की उपाधि धारण की थी। इसके अतिरिक्त इसने "पृथ्वी वल्लभ", "सत्याश्रय", "भट्टारक" आदि उपाधियाँ भी धारण की।

पुलकेशिन–द्वितीय की मृत्यु के उपरांत चालुक्यों की शक्ति को धक्का लगाया और लगभग 13 वर्षों तक अंधेरे में रहा। इसका उत्तराधिकारी विक्रमादित्य–प्रथम ने स्थिति को संभाला। प्रसिद्ध कवि रविकीर्ति पुलकेशिन का दरबारी कवि था। उसने बादामी को शिक्षा के केन्द्र के रूप में विकसित कर दिया था। उसने फारस के शासक खुसरों के दरबार में राजदूत भेजा था।

(7) **विक्रमादित्य–प्रथम (655–680 ई.)**– यह एक योग्य शासक था और इसने पुलकेशिन की पराजय से मिले आघात से साम्राज्य को उबारा। इसने सिंहासना रूप होने के समय चोलो, पांड्यों एवं कोटो ने स्वयं को स्वाधीन घोषित कर दिया था। विक्रमादित्य ने इन्हें अपने अधीन किया। इसने पल्लव शासक नरसिंह वर्मन को पराजित किया और अपने पिता के पराजय का बदला लिया। इसने "श्रीपृथ्वी वल्लभ", "परमेश्वर", "भट्टारक" आदि विरूद्ध धारण किए।

अपने शासन के अंतिम दिनों में यह पल्लव शासक परमेश्वर वर्मन से पराजित हो गया। वैसे इस विजय के विषय में चालुक्यों और पल्लवों के अभिलेख परस्पर विरोधी जानकारी देते हैं किन्तु ऐसा प्रतीत होता है दो युद्ध लड़े गए एक में विक्रमादित्य–प्रथम काँची तक विजित करने में सफल रहा, किन्तु दूसरे में उसे पराजय का सामना करना पड़ा और चालुक्यों ने अपने प्रदेश विक्रमादित्य से छीन लिए।

(8) **विनयादित्य (680–696 ई.)**– विक्रमादित्य–प्रथम के उपरांत उसका पुत्र विनयादित्य शासक बना। मालवा शासकों के विजय के उपरांत उसने "सकलोत्तर पथबाथ" की उपाधि धारण की। इसके अतिरिक्त उसने "युद्धमल्ल", "भट्टारक", "महाराजाधिराज", "राजाश्रय" आदि उपाधियाँ भी धारण की।

(9) **विजयादित्य (696–733 ई.)**– विनयादित्य का पुत्र विजयादित्य शासक बना। उसने पल्लव शासक परमेश्वर वर्मन–द्वितीय को पराजित किया और उससे कर और हर्जाना वसूल किया। उसने पडकल में विजयेश्वर शिव मंदिर का निर्माण कराया।

(10) **विक्रमादित्य–द्वितीय (733–744 ई.)**– यह विजयादित्य का पुत्र था। पडकल अभिलेख से ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य–द्वितीय वे पल्लव शासक नेटिवमेन को पराजित किया। इसने काँची को बिना नुकसान पहुँचाये वहाँ के राजसिंहेश्वर मंदिर को अधिक आकर्षक बनाने के लिए रत्नादि भेंट किया। इसने "काँची कोंड" की उपाधि धारण की। इसने काँची पर तीन बार आक्रमण किया और उसे विजित किया।

विक्रमादित्य–द्वितीय के शासन काल में ही दक्कन में अरबो ने आक्रमण किया। इस आक्रमण का मुकाबला विक्रमादित्य के भतीजे पुलकेशी ने बड़ी कुशलता से किया। इस अभियान की सकुलता पर विक्रमादित्य–द्वितीय ने पुलकेशी को "अवनिजनाश्रय" की उपाधि प्रदान की। विक्रमादित्य–द्वितीय ने पांड्यों, चेरों और चोलों को परास्त किया। इसकी दूसरी पत्नी त्रोलोक्य महादेवी ने "त्रैलोकेश्वर मंदिर" का निर्माण करवाया। प्रथम पत्नी लोक महादेवी में पडकल में "विरूपाक्ष" महादेव मंदिर बनवाया।

(11) **कीर्तिवर्मन (744–753 ई.)**– विक्रमादित्य–द्वितीय की मृत्यु के उपरांत उसका पुत्र कीर्तिवर्मन शासक बना। वह चालुक्यों (बादामी) का अंतिम शासक था। इसने "लक्ष्मी", "पृथ्वी का प्रिय" आदि उपाधियाँ धारण की थी। पल्लव शासकों से संघर्ष ने चालुक्यों को दुर्बल बना दिया था। इसी कारण वे अपने उत्तर के राज्यपालों की ओर ध्यान न दे सके। इसी का लाभ उठाकर चालुक्यों के सामंत दंतिदुर्ग ने काफी शक्ति अर्जित कर ली और कीर्तिवर्मन को 753 ई0 में परास्त कर दिया। दंतिदुर्ग ने राष्ट्रकूट वंश की नींव रखी। दंतिदुर्ग के इस विजय के विषय में जानकारी में समनगढ़ अभिलेख से मिलती है। दंतिदुर्ग की मृत्यु के उपरांत कीर्तिवर्मन ने अपनी सत्ता पुनः प्राप्त करने की कोशिश की पर असफल रहा। दंतिदुर्ग के उत्तराधिकारी कृष्ण प्रथम ने चालुक्यों की शक्ति पूर्णतः खत्म कर दी।

कीर्तिवर्मन के अंत के साथ ही चालुक्यों की मुख्य शाखा का अंत हो गया। चालुक्यों की छोटी शाखाओं ने इसके बाद भी शासन किया। वेंगी के चालुक्यों ने 8वीं सदी से 10वीं सदी तक तथा कल्याणी के चालुक्यों ने 10वीं सदी से 12वीं सदी तक शासन किया।

महत्व– चालुक्य वंश ने दक्षिणापथ में एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया और दक्कन को लगभग 200 वर्षों तक एकता के सूत्र में बाँध कर रखा। इस वंश ने पुलकेशिन–द्वितीय, विक्रमादित्य–प्रथम, विक्रमादित्य–द्वितीय जैसे योग्य शासक दिए। इन्होंने दक्षिण भारत पर अधिकार करने के अतिरिक्त उत्तर की शक्तियों का दक्षिण में घुसने से रोके रखा। इस प्रकार, दक्षिण भारत की राजनीति में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। चालुक्य राज्य एक संपन्न राज्य था और उनके पास व्यापार के लिए अच्छे बन्दरगाह थे। इनसे वे व्यापार करते थे। इस काल में साहित्य और कला ने प्रगति की।

धार्मिक दृष्टि से भी चालुक्य शासक सहिष्णु थे। यद्यपि वे हिन्दु धर्म के अन्यायी थे तदापि उन्होंने जैन और बौद्ध धर्म के साथ सहिष्णुता पूर्वक व्यवहार किया। उन्होंने बौदिक धर्म के दक्षिण में प्रचार में मदद की। पुलकेशिन–द्वितीय ने अश्वमेघ यज्ञ किया था। इस काल में अनेक शिव और विष्णु के मंदिर बनाए गए। चालुक्यों ने जैन धर्म को भी सहायता दी। वस्तुतः दक्षिण में जैन धर्म काफी लोकप्रिय था इसलिए जनता की भावनाओं का आदर उन्होंने किया। विजयादित्य और विक्रमादित्य ने जैन विद्वानों को अनेक गाँव भेंट किए। इसके अतिरिक्त उन्होंने बंबई के थाना जिले में पारसियों को बसने की आज्ञा दी। यहाँ भी चालुक्यों की उदारता को दर्शाता है। उनके समय बौद्ध धर्म अवनति पर था परन्तु लुप्त नहीं हुआ था।

ललित कलाओं में चित्रकला और वास्तुकला ने इनके संरक्षण में प्रगति की। अजंता के भित्ति चित्रों में से कुछ का निर्माण चालुक्य–शासकों के समय में हुआ। इनमें से एक चित्र पुलकेशिन–द्वितीय के दरबार में फारस के राजपूतों के स्वागत को दर्शाता है। वास्तुकला के क्षेत्र में चालुक्यों के समय की एक विशेषता पहाड़ों और चट्टानों को काटकर बड़े–बड़े मंदिरों का निर्माण था। उनके काल में विभिन्न हिन्दु गुहा मंदिरों और चैत्यों का निर्माण हुआ। मंगलेश ने वतापी में विष्णु का गुहा मंदिर बनवाया। ऐहोल का विष्णु मंदिर अपनी सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध है। विजयादित्य द्वारा निर्मित विजयेश्वर शिव मंदिर चालुक्य कला का एक नमूना है। विक्रमादित्य–द्वितीय की दोनों पत्नियों ने त्रैलोकेश्वर मंदिर और विरूपाक्ष मंदिर का निर्माण कराया।

इस प्रकार चालुक्य–वंश ने दक्षिण भारत की राजनीति और सांस्कृतिक प्रगति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

v/;k; 13

xqIrksÙkj dky esa fL=;ksa dh fLFkfr

ऋग्वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति अत्यंत सम्मानजनक थी। किन्तु उत्तर वैदिककाल में उसने कुछ गिरावट आई यह गिरावट बाद के काल में भी जारी रही। इस अध्याय में हम स्त्रियों की स्थिति का अध्ययन करेंगे।

- *स्त्री शिक्षा*
- *स्त्री का सम्पत्ति में अधिकार*
- *स्त्री धन*
- *गणिका अथवा वेश्यावृत्ति से संबंधित स्त्रियाँ*
- *मृतभर्तृका (विधवा) का जीवन*
- *परदा (अथवा अवगुंठन) का प्रचलन*

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों का स्थान महत्वपूर्ण रहा है। हिन्दू समाज में उनका सम्मान और आदर प्राचीन काल से आदर्शात्मक और मर्यादायुक्त था। उनकी अवस्था पुरुषों के सहश थी। वे अपना मनोनुकूल आत्मविकास और उत्थान कर सकती थीं। उन्हें विवाह, शिक्षा, सम्पत्ति आदि में अधिकार प्राप्त थे। उनके प्रति समाज की स्वाभाविक निष्ठा और श्रद्धा रही है। भारतीय धर्मशास्त्र में नारी सर्व–शक्ति–सम्पन्ना मानी गई तथा विद्या, शील, ममता, यश और सम्पत्ति की प्रतीक समझी गई। गृह की साम्राज्ञी के रूप में उसे प्रतिष्ठापित किया गया तथा घर के अन्य सदस्यों को उसके शासन में रहने के लिए निर्देशित किया गया। शनैः शनैः समाज में उसका महत्त्व इतना अधिक बढ़ा कि उसके बिना अकेला पुरुष अपूर्ण और अधूरा समझा गया। स्त्री पुरुष की 'शरीरार्द्ध' और 'अर्द्धांगिनी' मानी गई तथा 'श्री' और 'लक्ष्मी' के रूप में वह मनुष्य के जीवन को सुख और समृद्धि से दीप्त करनेवाली कही गई।

स्त्रियों की दशा में युग के अनुरूप परिवर्तन होता रहा है। उनकी स्थिति में वैदिक युग से लेकर पूर्वमध्य युग तक अनेक उतार–चढ़ाव आते रहे तथा उनके अधिकारों में तदनुरूप परिवर्द्धन भी होते रहे हैं। वैदिक युग में उनकी अवस्था अत्यन्त उन्नत और परिष्कृत थी। किन्तु परवर्ती काल से उनकी स्थिति में अवनति हुई। पुरुषों की तुलना स्त्रियों को समाज में निम्न स्थान ही प्राप्त हुआ। किन्तु भारतीय विचारकों ने स्त्रियों के प्रति आदर ही व्यक्त किया है तथा इन्हें देवी का प्रतीक माना है।

हिन्दू जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह समान रूप से आध्त और प्रतिष्ठित थी। शिक्षा, धर्म, व्यतित्व और सामाजिक विकास में उसका महान् योग था। पारिवारिक और सामाजिक सभी कर्तव्यों का वह निष्ठापूर्वक पालन करती थी। वह पति के साथ मिलकर गृह के याज्ञिक कार्य सम्पन्न करती थी। वस्तुतः स्त्री और पुरुष दोनों यज्ञ–रूपी रथ के जुड़े हुए दो बैल थे। अतः यज्ञ में उसकी उपस्थिति की अनिवार्यता उसकी 'पत्नी' संज्ञा चरितार्थ करती। वैदिक युगीन शिक्षा के क्षेत्र में उसका स्थान पुरुषों के समकक्ष था। पुरुषों की ही तरह वह भी ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करती हुई शिक्षा ग्रहण करती थी और अपने को विदुषी बनाती थी। ऐसी भी स्त्रियाँ थीं जो एक निष्ठता के साथ जीवन पर्यन्त विद्याध्ययन में लगी रहती थी और ब्रह्मवादिनी कही जाती थी।

किन्तु इस युग में वैदिक कर्मकांड की जटिलता बढ़ती गई और याज्ञिक कार्यों में शुद्धता और पवित्रता के नाम पर आडम्बर बढ़ता गया। फलस्वरूप कालान्तर में आकर स्त्रियों को याज्ञिक कार्यों से अलग रखने का उपक्रम किया जाने लगा तथा उन्हें वैदिक मंत्रों के उच्चारण के उपयुक्त नहीं माना गया। इसका कारण यह लगता है कि इस युग तक हिन्दू समाज में अंतर्जातीय विवाह का प्रचलन हो चुका था, जिसमें दूसरे वर्ण की ऐसी स्त्रियाँ भी होती थीं,

जिनका वैदिक वाङ्मय और आचार से कोई परिचय नहीं होता था और जो वैदिक मन्त्रों का भ्रष्ट उच्चारण करती थीं। सूत्रों और स्मृतियों के काल में आकर स्त्रियों की स्थिति और भी निम्न और दयनीय हो गई जिससे वे निःसहाय, परतन्त्र और निर्बल बन गई। उनपर अनेक प्रकार के बंधन और अवरोध लगा गए। धर्मशास्त्रकारों ने उनकी राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और वैयक्तिक सभी स्थितियों पर प्रतिबंध लगाए। जन्म से मृत्यु तक उन्हें पुरुष के नियंत्रण में रखने के लिए निर्देशित किया गया। कन्या, पत्नी और माता जैसी स्थितियों में वे क्रमशः पिता, पति और पुत्र द्वारा नियंत्रित और संरक्षित मानी गई।

गुप्त युग तक कन्या 'शक्ति' के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। शाक्त धर्म के प्रभाव के कारण उसे 'गौरी' और 'भवानी' का रूप प्रदान किया गया किन्तु उसके शक्ति रूप को समझकर भी पिता उसके प्रति अपने दायित्व के भाव से बोझिल और संतप्त होता रहा।

L=h&f'k{kk

वैदिक युग में स्त्री की शिक्षा अपनी उच्चतम सीमा पर थी। वह पुरुषों के समकक्ष बिना भेद–भाव के शिक्षा प्राप्त करती थी। वह बुद्धि और ज्ञान के क्षेत्र में अग्रणी थी। इस युग में पुत्र की तरह पुत्री का भी उपनयन संस्कार सम्पन्न किया जाता था तथा वह भी ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई विभिन्न विषयों की शिक्षा ग्रहण करती थी। दर्शन और तर्कशास्त्र में भी स्त्रियाँ निपुण थीं। ऋग्वेद में उल्लिखित है कि कतिपय विदुषी स्त्रियों ने ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं के प्रणयन में योग प्रदान किया था। रोमशा, अपाला, उर्वशी, विश्ववारा, सिकता, निबावरी, घोषा, लोपामुद्रा आदि पंडिता स्त्रियाँ इनमें अधिक प्रसिद्ध हैं। वे यज्ञ में सहयोग करती थीं। महाभारत से ज्ञात होता है कि पांडवों की माँ कुन्ती अथर्ववेद में पारंगत थी। इससे स्पष्ट है कि उस युग की स्त्रियाँ मंत्रवित् और पंडिता होती थीं तथा ब्रह्मचर्य का अनुगमन करती हुई उपनयन संस्कार भी कराती थीं। कन्या के लिए उपनयन का विधान मनु ने भी किया है। **सद्योवधू** वे छात्राएँ थीं जो विवाह के पूर्व तक कुछ वेद–मंत्रों और याज्ञिक प्रार्थनाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेती थीं तथा **ब्रह्मवादिनी** वे थीं जो अपनी शिक्षा पूर्ण करने में जीवन लगा देती थीं। ऋषि कुशध्वज की कन्या वेदवती ऐसी ही थी। वे दर्शन, तर्क, मीमांसा, साहित्य आदि विभिन्न विषयों की पंडिता होती थीं। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी विख्यात दार्शनिका थी जिसकी रुचि अलंकारों में न होकर दर्शनशास्त्र में थी। यही नहीं, उसने अपने पति की सम्पत्ति में अपने अधिकार को अपने पति याज्ञवल्क्य की दूसरी पत्नी के हित में त्यागकर केवल ज्ञान प्राप्त करने की याचना की थी। गार्गी ने अपनी उद्भुत तर्कशक्ति से याज्ञवल्क्य जैसे महर्षि को चौंका दिया। वाल्मीकि और अगस्त्य जैसे ब्रह्मर्षियों से वेदान्त की शिक्षा ग्रहण करके मैत्रेयी ने ख्याति प्राप्त की थी। कौशल्या और तारा दोनों मन्त्रविद् थीं तथा सीता नित्य वैदिक प्रार्थनाएँ किया करती थीं। द्रौपदी 'पंडिता' थी।

बौद्ध युग में भी स्त्रियाँ प्रायः शिक्षित और विद्वान् हुआ करती थीं। विद्या, धर्म और दर्शन के प्रति उनकी अगाध रुचि होती थी। थेरीगाथा की कवयित्रियों में 32 आजीवन ब्रह्मचारिणी और 18 विवाहित भिक्षुणियाँ थीं। उनमें शुभा, समेधा और अनोपमा उच्च वंश की कन्याएँ थीं, जिनसे विवाह करने के लिए राजकुमार और सपंत्तिशाली सेठों के पुत्र उत्सुक थे। उस युग में साधारणतः स्त्रियाँ ज्ञान–पिपासु थीं तथा उसके अन्वेषण और प्राप्ति में तल्लीन रहती थीं। ब्रह्मचर्य का जीवन–यापन करके वे अत्यन्त मनोनिवेशपूर्वक ज्ञानार्जन करती थीं। जैन साहित्य से भी विदुषी स्त्रियों के उदाहरण प्राप्त होते हैं। कौशाम्बी–शासक की पुत्री जयन्ता ज्ञान और दर्शन में अग्रणी थी।

अनेक महिलाएँ अध्यापिकाओं का जीवन व्यतीत करती थीं, जो अपना शिक्षणकार्य उत्साह और लगन के साथ निष्ठापूर्वक सम्पन्न करती थीं। ऐसी स्त्रियाँ **'उपाध्याया'** कही जाती थीं। ये उपाध्याया छात्राओं को पढ़ाया करती थी तथा उन्हें अन्यान्य विषयों का ज्ञान प्राप्त कराती थीं।

पुराणों से विदित होता है कि नारी–शिक्षा के दो रूप थे, एक अध्यात्मिक और दूसरा व्यावहारिक। आध्यात्मिक ज्ञान में बृहस्पति–भागिनी भुवना, अपर्णा, एकपर्णा, एकपाटला, मेना, धारिणी, संनति, शतरूपा आदि कन्याओं का उल्लेख हुआ है जो ब्रह्मवादिनी थीं। इनके अतिरिक्त ऐसी कन्याओं का भी सन्दर्भ मिलता है, जिन्होंने अपनी तपश्चर्या से अभीष्ट की प्राप्ति की थी। उमा, पीवरी, धर्मव्रता जैसी कन्याओं ने अपनी तपस्या के बल पर मनोनुकूल वर पाया था। वैदिकयुगीन

अपाला नामक कन्या अपने पिता के कृषि–कार्य में सहयोग प्रदान करती थी। उस युग में अधिकांश कन्याएँ गाय दुहना भी जानती थीं, इसलिए कन्याओं को 'दुहिता' भी कहा जाता था।

उत्तरवैदिककालीन व्यावहारिक शिक्षा में वे नृत्य, संगीत, गान, चित्रकला आदि की भी शिक्षा ग्रहण करती थीं। प्रमदाओं की कमनीय भाव–भंगिमा और अप्सराओं की आकर्षक नृत्यकला शोभा और सुन्दरता का केन्द्र–बिन्दु थी।

दूसरी सदी ई० पू० तक स्त्री का उपनयन व्यवहारतः बन्द हो चुका था। विवाह के अवसर पर ही उसका उपनयन संस्कार सम्पन्न कर दिया जाता था। पति ही कन्या का आचार्य, विवाह ही उसका उपनयन संस्कार, पति की सेवा ही उसका आश्रम–निवास और गृहस्थी के कार्य ही दैनिक धार्मिक अनुष्ठान थे। स्मृतिकारों ने व्यवस्था दी कि बलिकाओं के उपनयन में वैदिक मंत्र नहीं पढ़ना चाहिए। कालांतर में शूद्रों की ही तरह वेदों के पठन–पाठन और यज्ञों में सम्मिलित होने के अधिकार से भी वह वंचित कर दी गई। मेधातिथि, विश्वरूप और अपरार्क की भी यही व्यवस्था दी है। पूर्वमध्य युग तक आकर नारी–शिक्षा का प्रसार अवरुद्ध हो चुका था, किन्तु अभिजात वर्ग में सुसंस्कृत और सुबोध स्त्रियों की कमी नहीं थी। कविवर राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी उत्कृष्ट कवयित्री और टीकाकार थी। मंडन मिश्र और शंकर के बीच हुए शास्त्रार्थ की निर्णायिका मंडन मिश्र की विदुषी पत्नी थी, जो तर्क, मीमांसा, वेदांत और साहित्य में पूर्ण पारंगत थी।

ऐसी भी स्त्रियाँ हुई हैं जो शासन–व्यवस्था और राज्य प्रबन्ध में दक्ष होती थीं। यूनानी आक्रामक सिकन्दर के आक्रमण का प्रतिरोध पति की मृत्यु के पश्चात् मत्संग की महारानी ने किया था। इन सभी विवरणों से प्रकट है कि महिलाएँ समय पड़ने पर राज्य के संचालन में भी अग्रणी रहती थीं तथा अपनी अनुपम बुद्धिमता और कुशलता से अपने राज्य का प्रशासन करती थीं।

L=h dk lEifÙk esa vf/kdkj

स्त्रियों की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखकर हिन्दू समाज में उनका सम्पत्ति–विषयक अधिकार स्वीकार किया गया है तथा उन विशेष परिस्थितियों का भी विश्लेषण किया गया है, जिनके कारण सम्पत्ति में वे अपना हिस्सा प्राप्त करती थीं। वैसे, वैदिक कालीन कुछ ऐसे विवरण हैं, जो उसके उत्तराधिकार पर आक्षेप करते हैं, किन्तु ये अपवाद ही हैं। सम्पत्ति में प्रायः उसका हिस्सा रहता रहा है। परिवार में वह पुत्र से किसी प्रकार कम नहीं समझी जाती रही। दत्तक पुत्र से श्रेष्ठ पुत्री समझी जाती थी। भ्राता के न रहने पर वह उत्तराधिकारी मानी जाती थी। अतः वैदिक युग में स्त्री सम्पत्ति में अधिकार स्वीकार किया जाता था। चौथी सदी ई० पू० तक यह व्यवस्था समााज में प्रचलित थी।

किन्तु दूसरी सदी ई० पू० में आकर सत्री–शिक्षा पर अनेक प्रतिबन्ध लग गए जिनके कारण स्त्री का सम्पत्ति विषयक अधिकार भी क्षतिग्रस्त हुआ। इस युग में भाई के न रहने पर भी स्त्री के उत्तराधिकार को नहीं स्वीकार किया। आपस्तम्ब ने यह व्यवस्था दी कि उत्तराधिकारी के अभाव में जब सपिण्ड, या गुरु या शिष्य कोई न हो तब पुत्री उत्तराधिकारी हो सकती है। वशिष्ट, गौतम और मनु ने भी उत्तराधिकारिणी के रूप में पुत्री का कहीं नाम नहीं लिया है। इन व्यवस्थाकारों ने सम्पत्ति में पुत्री के अधिकार और उसके उत्तराधिकारी के अधिकार को नहीं स्वीकार किया है। परन्तु इसके विपरीत दूसरे शास्त्रकारों ने अत्यन्त उदारतापूर्वक पुत्री के उत्तराधिकारी होने के मत को प्रतिपादन किया है। कौटिल्य ने भी पुत्री के प्रति सदाशयता दर्शित करते हुए अभ्रात् कन्या को उत्तराधिकारिणी घोषित किया, चाहे उसे कम ही हिस्सा क्यों न मिले। याज्ञवल्क्य ने दृढ़तापूर्वक पुत्री के हित में अपना विचार प्रकट किया है तथा यह निद्रेश दिया है कि पुत्र और विधवा के अभाव में पुत्री ही उत्तराधिकारिणी है। बृहस्पति और नारद ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि क्या पुत्री अपने पिता की पुत्र के समान सन्तान नहीं। फिर पुत्र के न होने पर उनके उत्तराधिकार को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है। इस आधार पर कात्यायन जैसे व्यवस्थाकरों ने अपने विचारों का विकास किया तथा पुत्र के अभा वमें पुत्री के उत्तराधिकारी होने का मत प्रतिपादित किया। अलबीरूनी ने भी पुत्र के अभाव में पुत्री के उत्तराधिकारी होने के नियम की पुष्टि की है। कन्या को पुत्र के हिस्से का चौथाई पाने की संस्तुति जीमूतवाहन और विज्ञानेश्वर दोनों शास्त्रकारों ने की है तथा यह स्पष्ट कर दिया है कि कन्या का परिवार में अधिकारी स्थान है।

निश्चय ही पुत्र के रहते हुए कन्या का सम्पत्ति में अधिकार वैदिक काल से रहा है। परवर्ती धर्मशास्त्रकारों ने भी इसे स्वीकार किया है। पिता के दिवंगत हो जाने पर कन्या का विवाह करना पुत्र का परम कर्त्तव्य था तथा अपने हिस्से का

एक चौथाई विवाह–कार्य में व्यय कर सकता था। अगर बहन के विवाह में किसी प्रकार की कठिनाई थी तो यह भाई का कर्त्तव्य था कि वह अपने ही हिस्से जितना बहन के विवाह में व्यय करता अथवा अपनी सम्पत्ति में से विवाह का समस्त व्यय करता। इसके साथ ही यह भी निर्देश किया गया था कि अगर परिवार की सम्पत्ति अधिक है तथा विवाह में कम व्यय हुआ तो शेष सम्पत्ति को कन्या अपने साथ नहीं ले जा सकती थी।

विधवा का सम्पत्ति में अधिकार माना गया है, यद्यपि वैदिक साक्ष्य इसके विरुद्ध है। संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों में पति की मृत्यु पर विधवा के अधिकार को नहीं स्वीकार किया गया है। परवर्ती काल में विधवा के अधिकार को समाज में स्वीकृति मिली तथा पति की मृत्यु के बाद प्रायः विधवा ही उत्तराधिकारिणी होती थी। तीसरी सदी ई० पू० तक विधवा के सम्पत्ति विषयक अधिकार को मान्यता नहीं मिली थी। आपस्तम्ब ने विधवा के सम्पति संबंधी अधिकार को नहीं स्वीकार किया है तथा यह मत व्यक्त किया गया है कि व्यक्ति की मृत्यु के बाद पुत्र के अभाव में उसका उत्तराधिकारी सपिण्ड व्यक्ति होता था, इसके न रहने पर मृत व्यक्ति का आचार्य या उसके न रहने पर उसका अन्तेवासी संपत्ति का अधिकारी होता था। मनु के अनुसार पुत्र के अभाव में पुरुष के धन का भागी पिता या भाई था। अगर ऐसा कोई उत्तराधिकारी नहीं था तो सपिंडों में निकट सम्बन्धी मृत व्यक्ति कि धन का भागी था तथा इसके अभाव में क्रमशः समानोदक (सजातीय), आचार्य तथा शिष्य मृत व्यक्ति के धन का भागीदार था। पहली सदी ईसवी तक आकर व्यवस्थाकारों ने यह विमर्श किया कि अगर विधवा पुनर्विवाह नहीं करती हैं अथवा नियोग द्वारा पुत्र नहीं उत्पन्न करती है तो उसके भरण–पोषण के लिए कुछ न कुछ प्रबन्ध अवश्य होना चाहिए। ऐसी स्थिति में विधवा को पति की सम्पत्ति में हिस्सा प्रदान किया गया। कौटिल्य ने सम्पत्ति में विधवा के भाग को स्वीकार किया है। गौतम ने सपिंडों, गोत्रियों और सम्बन्धियों के साथ विधवा के समान भाग को माना है। इन मतों के विपरीत कुछ ऐसे अनुदार धर्मशास्त्रकार हुए जिन्होंने मृत पति की सम्पत्ति में विधवा के भाग को नहीं स्वीकार किया। नारद, कात्यायन और भोज ऐसे ही धर्मशास्त्रकार हैं। किंतु दायभाग और मिताक्षरा के अनुसार मृत पति के सम्पूर्ण धन को पुत्र के अभाव में विधवा प्राप्त करती रही है। इस प्रकार ऐसे विचारकों का वर्ग विकसित हुआ जिसने नारी के अधिकार का प्रतिपादन तथा उसकी आर्थिक स्थिति का आकलन किया। नारी के समान अधिकार की संपुष्टि करनेवाले ऐसे शास्त्रकारों ने नारी के प्रति अत्यन्त उदार और संवेदनशील मत की अभिव्यंजना की। पूर्वमध्य युग में निश्चय ही स्त्री के प्रति सहानुभूति और स्नेह का वातावरण निर्मित दीखता है। विशेषकर उसके आर्थिक जीवन को अधिक सुगम और सुधर बनाने के विचार से शास्त्रकारों ने सम्पत्ति में उसके अधिकार को स्वीकार किया। स्त्रियों में विधवा का जीवन कठोरता और निर्ममता पर आधृत था, इसलिए उदार विचारकों ने उसके सम्पत्ति–विषयक भाग को स्वीकार किया और तत्संबंधी तर्क प्रस्तुत किया।

L=h&/ku ¼L=h dh lEifÙk½

अधिकांश हिन्दू व्यवस्थाकारों ने स्त्री–धन के अन्तर्गत नारी की विभिन्न सम्पत्ति का उल्लेख किया है। स्त्री की अपनी स्वयं की सम्पत्ति, जिसपर उसका पूर्ण स्वत्व होता है, वह स्त्री–धन कहा जाता है। मनु के मतानुसार वैवाहिक अग्नि के सम्मुख जो कुछ कन्या को दिया जाता है, जो कन्या को पति–गृह जाते समय मिलता है, जो स्नेहवश उसे दिया जाता है, जो माता–पिता और भाई से मिलता है, वह सब स्त्री–धन है, जिसके छह प्रकार हैं। यही नहीं, विवाह होने के पश्चात् प्रीतिपूर्वक सास, श्वसुर आदि से पादवन्दनादि प्रथा में स्त्री को जो प्राप्त होता था, वह भी स्त्री–धन था। सम्पत्ति–विभाजन के समय पत्नी या माता का पुत्र के समान अंश, भाइयों के अंश के चतुर्थांश आदि को भी अपरार्क ने स्त्री–धन के अन्तर्गत उल्लिखित किया है। वस्तुतः पति द्वारा स्त्री को दी गयी, उत्तराधिकार में उसे मिली हुई, आदि सम्पत्ति स्त्री का धन थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि परिवार की सम्पूर्ण सम्पत्ति में स्त्री का भाग होता था और वह अपनी इच्छानुसार उसमें से अपने पास रख सकती थी। यही नहीं, पति के मरने के पश्चात् नारी को उसके स्त्री–धन से वंचित न करने का मनु द्वारा निर्देश दिया गया है। स्त्री–धन के अन्तर्गत परिवार की भूमि के अतिरिक्त उसके मूल्यवान वस्त्राभूषण भी होते थे, जिनका वह स्वयं उपयोग करती थी। कात्यायन ने स्त्री के स्वामित्व और उसके स्वत्व का प्रतिपादन किया है और यह मत अभिव्यक्त किया है कि स्त्री अपने स्त्री–धन के साथ अचल सम्पत्ति को बंधक रख सकती थी अथवा बेच सकती थी। धर्मशास्त्रकारों ने स्त्री–धन के उपयोग पर प्रायः प्रतिबन्ध लगाया है तथा किन्हीं विशेष स्थितियों में ही पति द्वारा उसके उपयोग पर अनुमति दी है। पति स्त्री–धन का केवल उसी अवस्था में उपयोग

कर सकता था जब वह दुर्भिक्ष, धर्मकार्य, व्याधि अथवा जेल जाने की स्थिति में होता था। वैसे, नारद ने स्त्री को केवल चल सम्पत्ति ही बेचने की अनुमति दी है, जिसे अन्य मध्यकालीन भाष्यकारों ने भी स्वीकार किया है। किन्तु दोषपूर्ण और अवगुणयुक्त कन्याओं को स्त्री–धन न देने का विधान शास्त्रकारों ने किया है। अपचार–क्रिया–युक्ता, निर्लज्जा, अर्थनाशिनी तथा व्यभिचारिणी स्त्री का स्त्री–धन पर अधिकार नहीं होता था। हिन्दू समाज में स्त्री–धन नारी की सामाजिक और आर्थिक दशा की ओर इंगित करता है, जो उसकी विभिन्न अवस्थाओं से आबद्ध है। यह सही है कि स्त्री के अधिकार को लेकर धर्मशास्त्रकारों में मतभेद रहा है, परिणामस्वरूप उनके दो वर्ग बन गए, एक उदार और दूसरा अनुदार। प्राचीन की अपेक्षा पूर्वमध्ययुगीन शास्त्रकार इस सम्बन्ध में अधिक तर्कशील और उदार थे, जिन्होंने नारी के अन्यान्य अधिकारों को अत्यन्त सहज भाव से स्वीकार किया।

xf.kdk vFkok os';kofÙk ls lacf/kr fL=;k

प्राचीन काल में वेश्या वृत्ति अपनानेवाली गणिकाओं का स्थान समाज में अन्य साधारण लोगों से श्रेष्ठ था। गणिका का जीवन संगीत और ललित कला का सम्मिश्रित स्वरूप था, जो उसका प्रधान व्यवसाय भी था। आज की तुलना में उस युग में गणिका आदर और प्रशंसा की पात्र थी। राज्य और समाज में उसे उच्च स्थान प्राप्त था। अपने आगमन, सौन्दर्य और संगीत–प्रदर्शन से वह लोगों को आकृष्ट करती थी तथा श्रेष्ठ जनों के मानस में स्थायी प्रभाव स्थापित कर सकने में समर्थ होती थी। अतः जन–जीवन के सांस्कृतिक कार्य–कलाप तथा विलासमय जीवन की वह महत्वपूर्ण अंग बन चुकी थी। महाकाव्य–काल में वेश्याएँ समाज और परिवार में प्रतिष्ठित स्थान ग्रहण कर चुकी थीं। कभी–कभी सेनाओं के साथ भी वेश्याएँ चलती थीं। संघर्ष के लिए सन्नद्ध पाण्डवों की सेना में वश्याएँ भी रहा करती थी।

विभिन्न प्रकार की वेश्याओं के अतिरिक्त **देवदासियों** का भी एक वर्ग उत्पन्न हो गया था जो मन्दिरों की सेवा से सम्बद्ध था। भारत में जब देवमन्दिरों का निर्माण प्रारम्भ हुआ तो उनके वैभव और ऐश्वर्य को प्रभायुक्त करने के लिए अनेक योजनाएँ हुई। लोगों ने यह सोचा कि आराध्य देव के सम्मुख नृत्य और गान करनेवाली सुन्दरियाँ हों, जो अपने आकर्षक और सुन्दर कार्यक्रम से देवमन्दिर को गंजायमान किये रहें। पूजन और स्तवन के समय सुमधुर वाणी में देवस्तुति होती रहे। जो सुन्दरियाँ देवमन्दिर के निमित्त नियुक्त की जाती थीं, वे देवदासी कही गई। इनका मुख्य कार्य था देवमन्दिर में नृत्य, गान तथा संगीत का चित्ताकर्षक कार्यक्रम प्रस्तुत करना। इस प्रकार की देवदासी गणिकाओं का जातकों में कोई उल्लेख नहीं है। स्पष्ट है कि देवदासी प्रथा का उद्‌भव बौद्ध–युग के बाद, तीसरी ई० पूर्व में किसी समय हुआ। ग्रीक लेखकों ने देवदासी का उल्लेख किया है। अर्थशास्त्र में वेश्याओं का वर्णन तो है, किन्तु देवदासी का नहीं। मेघदूत तथा अनेक पुराणों में इसका उल्लेख है। उज्जयिनी में महाकाल–मन्दिर में अनेक देवदासियाँ नृत्य–गान में व्यस्त रहा करती थी। पुराणों में यह निर्देश दिया है कि मन्दिर सेवा के लिए अनेक सुंदरियों को क्रय करके प्रदान करना चाहिए। यह भी कह ागया है कि सूर्यलोक की प्राप्ति के लिए सूर्यमन्दिर को वेश्याकंदव अर्पित करना चाहिए। कभी–कभी निःसन्तान व्यक्ति अपनी अपनी पहली सन्तान मन्दिर को दान देते थे, जिससे यह प्रथा और विकसित हुई। अलबीरूनी सहित अनेक अरब लेखकों ने देवदासियों के विषय में लिखा है। राजतरंगिणी, प्रबन्धचिन्तामणि कुट्टनीमतम् आदि अनेक उत्तर–प्राचीन–कालीन ग्रन्थों में इस प्रथा का विशद वर्णन है। पूर्वमध्ययुगीन अभिलेखों में भी देवदासियों का यत्र–तत्र सन्दर्भ मिलता है। चाहमान वंशी जोजाल्लदेव अपने राजदरबारियों के साथ सोत्साह देव–मन्दिर के उत्सव में सम्मिलित होता था, जहाँ देव–दासियाँ नृत्य–गान करती रहती थीं। इससे स्पष्ट है कि राजाओं का भी समर्थन इस प्रथा को प्राप्त था।

e`rHkr`dk ¼fo/kok½ dk thou

हिन्दू समाज में पति की मृत्यु के बाद स्त्री के लिए दो मुख्य कर्तव्य निर्देशित थे जिनमें से किसी एक का विधवा के लिए अनुसरण करना वांछनीय था, एक पति के साथ सहमरण या अनुमरण करना (सती होना) और दूसरे ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए शेष जीवन व्यतीत करना। शास्त्रकारों ने ऐसी व्यवस्था इसलिए की कि विधवा का चरित्र और आचरण शुद्ध रह सके तथा समाज का नैतिक और सामाजिक स्तर ऊँचा रहे। इसीलिए विधवा–विवाह के लिए स्मृतिकारों ने अनुज्ञा दी है।

(1) **ब्रह्मचर्य का जीवन**—हिन्दू समाज में विधवा के लिए शुद्ध और पवित्र जीवन जीने के लिए व्यवस्थित किया गया था तथा उसके लिए अनेक नियम बनाए गए थे, जिनका अनुपालन करना आवश्यक बताया गया था। इस सम्बंध में हारीत का मत है कि स्त्री जिह्वा, हस्त, पाद इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर, स्वाचारवती होकर दिन–रात पति का अनुशोचन करती हुई, शांत रहकर जीवन के अन्त में पतिलोक का विजय करती और पुनः पति–वियोग को प्राप्त नहीं होती। बृहस्पति के अनुसार, "पति के मरने पर जो पतिव्रता साध्वी निष्ठा (ब्रह्मचर्य) का पालन करती है वह सब पापों को छोड़कर पतिलोक को प्राप्त होती है। नित्य व्रत–उपवास में निरत, ब्रह्मचर्य में व्यवस्थित, दम और दान में रत स्त्री अपुत्रा होते हुए भी स्वर्ग की ओर प्रस्थान करती है।

मनु का कथन है कि पति के मर जाने पर विधवा पुष्प, कन्द और फल के आहार से अपना शरीर क्षीण करे तथा दूसरे पुरुष का नाम भी न ले। धर्मशास्त्रकारों ने उसके लिए अनेक नियम बताए और यह व्यवस्था दी कि वह न बाल सज्जित करे, न पान खाए, न सुगन्धित द्रव्य, फूल, अलंकार का व्यवहार करे और न दिन में दो बार खाए। पुराणों में भी विधवा के लिए कठोर जीवन अपनाने के लिए कहा गया है। भूमि पर शयन करना, क्रोध से दूर रहना, धूर्तता न करना, श्वेत वस्त्र धारण करना तथा जितेन्द्रिय रहना उसका परम कर्तव्य था। आभूषण का त्याग, मलीन वस्त्र और केश न रखना भी उसके लिए निर्देशित किया गया। कुछ भारतीय शास्त्रकारों ने उसके लिए और भी कठोर नियम पालन करने का निर्देश दिया। उसे इतनी बड़ी अभागिन गया कि अगर वह दिख जाय तो अमंगल है और उसका आशीर्वाद साँप के विष के समान है, इसलिए बुद्धिमान ग्रहण न करें। निश्चय ही इस प्रकार की व्यवस्था विधवा स्त्री के लिए अत्यधिक कष्टप्रद और दुःखद थी। गुप्तकालीन अनेक स्मृतियों में जीवित विधवा के लिए ब्रह्मचर्य व्रत, सच्चरित्रता और आचरण सम्बन्धी नियम आदि का पालन करना आवश्यक बताया गया है। उपनयन, विवाह आदि जैसे शुभ अवसर पर केवल सधवाएँ ही वधू का प्रसाधन कर सकती थीं, विधवाओं का वहाँ जाना तक निषिद्ध किया गया था। इस प्रकार अगर देखा जाए तो विधवा की स्थिति समाज में बहुत अधिक दयनीय, नियंत्रित और दुःखद थी।

(2) **सती (अन्वारोहण)**—विधवा के लिए दूसरा विकल्प था, अपने मृत पति के साथ चिता में जल मरना। 'सती' का शाब्दिक अर्थ 'अमर' अथवा 'सत्य पर स्थिर रहनेवाली' है, जो पति–पत्नी का अटूट और अविच्छेद्य सम्बन्ध भी व्यक्त करता है। **'सती'** शब्द की अभिव्यक्ति के लिए प्राचीन साहित्य में **'अन्वारोहन'** (मृत पति के साथ चिता पर चढ़ना), **सहगमन** (मृत पति का अनुगमन करना), **सहमरण** (मृत पति के साथ मरना) और **अनुमरण** (यदि पति की मृत्यु विदेश–प्रवास काल में हो गई हो तो उसका समाचार जानने के बाद, उसकी पीछे मरना) आदि अनेक शब्द प्रचलित हैं। इन शब्दों के व्यवहार से स्पष्ट होता है कि विवाहोपरान्त पति–पत्नी का सम्बन्ध जीवितावस्था में अत्यन्त प्रगाढ़, अटूट और पावन होता था तथा पति के मरने के बाद परलोक और जन्मांतर में भी तद्वत् अटूट बना रहता था। अतः 'सती' शब्द की व्यंजना उसके ऐतिहासिक विकास, प्रचलन और प्रसार से है, जिसमें मृत पति के प्रति विधवा स्त्री का अनुपम अनुराग, त्याग और बलिदान परिलक्षित होता है। मृत पति के साथ जीवित ही प्राण–त्याग करना भारत की ही अनोखी और अंधविश्वसनीय प्रथा नहीं थी, बल्कि इस प्रकार की प्रथा विश्व के अनेक प्राचीन देशों में भी प्रचलित थी।

सती प्रथा का भारत में कब से प्रारम्भ हुआ, यह विवादास्पद है। पूर्ववैदिक और उत्तर–वैदिक साहित्य के कुछ उद्धरणों के आधार पर यह कहा गया है कि सती प्रथा का प्रारम्भ आर्यों के प्रारम्भिक जीवन–काल से हुआ। किन्तु सती प्रथा के सम्बन्ध में जो उद्धरण मिलते हैं, वे अत्यधिक संदिगध हैं। अथर्ववेद में उल्लिखित है कि अपने मृत पति के शव के साथ विधवा नारी चिता पर आरोहण करती है और उसके बाद उसे चिता से उतर आने के लिए निर्देशित किया जाता है। अतः कहा जाता है कि उस युग में सती–प्रथा का व्यवहार था जिसकी परम्परा उक्त उद्धरण में झलकती है। तैत्तिरीय आरण्यक के उद्धरण में मृत पति के साथ विधवा स्त्री दर्शित की गई है, जिसका आगामी जीवन सुखमय होने की इच्छा व्यक्त कि गई है। किंतु किसी गृह्यसूत्र में सती प्रथा का उल्लेख नहीं मिलता; केवल आपस्तम्ब धर्मसूत्र में यह उल्लेख है कि मृत पति का भाई या उसका शिष्य या कोई दास विधवा स्त्री को श्मशान से घर ले आता था। इससे यह व्यक्त होता है कि मृत पति के साथ उसकी विधवा पत्नी किसी न किसी रूप से संबंधित की गई। ऐसा लगता है कि पुरुष की सर्वाधिक प्रिय पत्नी ही रही है, इसलिए प्राचीन व्यवस्थाकारों ने मृत पति के साथ उसकी पत्नी को सहगमित करने के लिए निर्देशित किया।

भारत में सती प्रथा का पुनः प्रचलन चौथी सदी ई० पू० के पश्चात् किसी समय व्यवहार में आया। इसका उल्लेख रामायण और महाभारत महाकाव्य में भी हुआ है। ग्रीक इतिहासकारों ने भी सती प्रथा का संकेत दिया है। स्ट्रैबो ने तक्षशिला की स्त्रियों के लिए लिखा है कि वे मृत पति के साथ चिता में जल मरती थी। पंजाब की कठ जाति में सती प्रथा का व्यवहार था। अतः सती प्रथा के ऐतिहासिक उदाहरण चौथी सदी ई० पू० से ही मिलते हैं, जिसका उल्लेख यूनानी लेखकों ने किया है। बृहस्पति की दृष्टि में वैधव्य के ब्रह्मचर्य की स्थिति से सती होना अच्छा था। सती होने के सम्बन्ध में गुप्तकालीन अभिलेखीय प्रमाण भी मिलता है।

एक ओर जहाँ कुछ शास्त्रकारों ने सती प्रथा का समर्थन किया है, वहीं कुछ ने इसका घोर विरोध किया है। कुछ व्यवस्थाकारों द्वारा सती प्रथा के विरोध के बावजूद समाज में इसका प्रभाव बराबर बना रहा। बल्कि, यह कहना अत्युक्ति न होगा कि मध्यकाल तक आते–आते हिन्दू समाज में अभिजात वर्ग में इसका प्रभाव स्थायी होता गया। पूर्वमध्ययुगीन अरब लेखकों ने सती प्रथा के सम्बन्ध में विवरण दिया है तथा उनके अनुसार राजपूत और योद्धा वर्ग ने सती प्रथा का विशेष अनुपालन किया। धर्मशास्त्रकारों ने भी इस प्रथा का अनुसरण करने के लिए क्षत्रिय वर्ग को ही अधिक उपर्युक्त बताया है।

ऊपर के विश्लेषण से स्पष्ट है कि सती प्रथा हिन्दू समाज की अत्यन्त क्रूर, जधन्य, कृतघ्न और निन्दनीय प्रथा थी। सच्चरित्रता और सदाचरण के अनुपालन के लिए धर्म के नाम पर जीते जी स्त्री का जल मरना अथवा जबरन सती होने के लिए उसे बाध्य करना अमानुषिक और घृणित कार्य था।

ijnk ¼vFkok voxqBu½ dk ipyu

भारत में स्त्रियों के लिए परदा का प्रचलन कब से हुआ, इसको लेकर विद्वानों में गम्भीर चर्चा है। वैदिक युग से पहली सदी ई० पू० तक हिन्दू समाज में स्त्रियों के लिए परदा अथवा अवगुंठन का कोई प्रचलन नहीं था। स्त्रियाँ बिना परदे के स्वच्छन्दतापूर्वक आ जा सकती थीं तथा पुरुषों के साथ हिल मिल सकती थीं। पूर्ववैदिक काल में वधू सभी आगतों को दिखायी जाती थी तथा यह आशा की जाती थी कि वह अपनी वृद्धावस्था तथा जनसभाओं में बोल पाएगी। उस युग में स्त्रियाँ विदथ (सभा और समिति) तथा समन (उत्सव और मेला) में स्वच्छंदतापूर्वक सम्मिलित होती थीं। स्त्री के लिए 'सभावती' शब्द का भी व्यवहार हुआ है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि स्त्रियों पर परदा नहीं था। उस युग की प्रायः प्रत्येक सभा और गोष्ठी में स्त्री हिस्सा लेती थी, वार्ता करती थी और विचारों का आदान–प्रदान करती थी। कभी–कभी स्त्री अपने सम्पत्ति–विषयक अधिकार के लिए न्यायालय में भी जाती थी। अतः परदा जैसे व्यवहार का स्पष्ट संकेत वैदिक युग में नहीं मिलता। राज–परिवारों और अभिजात वर्ग की स्त्रियाँ सम्मान और गरिमा को व्यक्त करने के लिए लज्जा भाव से अपने मुख पर अवगुंठन डाल लिया करती थीं ताकि लोगों की दृष्टि उनपर न पड़े।

अनेक साहित्यिक ग्रंथों से भी परदा–प्रथा पर प्रकाश पड़ता है। भास (दूसरी सदी ईस्वी) के नाटकों में परदे का वर्णन हुआ है। प्राचीन काल में रानियाँ जहाँ रहती थीं उसे 'अन्तःपुर', 'अवरोध' अथवा 'शुद्धान्त' कहा जाता था। प्रायः स्त्रियाँ जब श्रेष्ठ लोगों के सम्मुख जाती थीं तो आदर और सम्मान व्यक्त करने के लिए अवगुंठन कर लेती थीं। किन्तु साधारण जनता में परदे का कोई रिवाज नहीं था। गुप्त–युग की स्त्री–प्रतिमाओं तथा अजन्ता, एलोरा, साँची, भरहुत आदि के चित्रों और मूर्तियों में अवगुंठन का कहीं भी चित्रण नहीं है। सम्राट हर्ष ने लिखा है कि कन्या के लिए परदे की कोई आवश्यकता नहीं है। विवाह के बाद ही इसकी अपेक्षा की जाती है। भवभूति ने विवृत किया है कि जब राम सीता के साथ परशुराम के निकट आदर व्यक्त करने गए तो उन्होंने सीता को अवगुंठन की सलाह दी।

ऐसा प्रतीत होता है कि परदा–प्रथा का प्रचलन बारहवीं सदी के बाद ही हुआ, जब देश और समाज विदेशी आक्रामकों से रह–रहकर आक्रान्त होने लगा था और भारतीय स्त्रियों के लिए सुरक्षा का प्रश्न महत्वपूर्ण बन चुका था। परिणामस्वरूप व्यवस्थाकारों ने हिन्दू समाज में अपनी स्त्रियों की रक्षा के लिए परदा जैसा प्रतिबन्ध लगाया, क्योंकि आक्रामकों की लोलुप दृष्टि सुन्दर स्त्रियों पर अधिक पड़ती थी। सुन्दर स्त्रियों को वे न देख सकें, इसलिए आवरण की व्यवस्था की गई। बाद में आकर परदा हिन्दू–समाज का प्रधान अंग बन गया। परदे का अधिक प्रचलन उत्तर भारत में ही हुआ; दक्षिण भारत में इस प्रथा से अछूता ही रहा।

v/;k; 14

jktiır dky

750 ई०–1200 ई० तक का काल राजपूत काल के नाम से जाना जाता है। इस काल में अनेक राजपूत राजवंशों ने भारत में अपने राज्य स्थापित किए। इस अध्याय में हम पढ़ेंगे

राजपूतों की उत्पत्ति और प्रशासन

पाल वंश

प्रतिहार वंश

राष्ट्रकूट वंश

jktiır dky ¼750–1200 ई०)

राजपूतों के उत्पत्ति के संबंध में विभिन्न मत– 647 में हर्ष की मृत्यु के उपरांत सारा भारत एक बार फिर छोटे–छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। और यह स्थिति बारहवीं सदी तक बनी रही। बारहवीं सदी में दिल्ली सल्तनत की स्थापना के बाद भारत एक बार फिर एकीकृत हुआ। सातवीं सदी में पश्चिम भारत में अनेक राजवंशों का उदय हुआ। इन सभी राजवंशों को राजपूत राजवंश कहा गया है। किन्तु विद्वानों में इनके उत्पति को लेकर गहरे मतभेद हैं। इस संबंध में प्रतिपादित किये गये कुछ प्रमुख सिद्धान्त निम्न हैं।

(i) **विदेशी उत्पति का सिद्धान्त**– प्राचीन भारतीय साहित्य में राजपूत शब्द का प्रयोग कहीं नहीं हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि ये प्राचीन काल में उदति नहीं हुए। और इनका उदय बाद के काल में हुआ। कुछ इतिहासकारों का विश्वास है कि राजपूत कुछ विदेशी जातियों जैसे– हूण, कुशान, शक आदि की संतान है। उनका मत है कि इन विदेशी जातियों ने कालक्रम में भारतीय संस्कृति को अपना लिया और यहाँ कि स्त्रियों से विवाह करने लगे। इनमें से जो शक्तिशाली और प्रमुख व्यक्ति थे तथाजिनके पास सत्ता थी उन्होंने अपना एक अलग समूह बना लिया, और स्वयं को राजपूत कहने लगे। शेष लोग जो सत्ता विहिन थे वे गुर्जर, जाट और अहीर कहलाये। इस मत के प्रमुख प्रतिपादक कर्नल टॉड हैं और इस मत के समर्थकों में डॉ0 भंडाकर और क्रुक्स शामिल है। अपने तथ्य की पुष्टि के लिये वे निम्नलिखित कारण अद्धत करते हैं।

  (क) राजपूतों का प्राचीन भारत के इतिहास में कहीं उल्लेख नहीं है।

  (ख) राजपूतों में अग्नि पूजा की प्रथा है, जो शकों और हुणों के समान हैं।

  (ग) राजपूतों में बलि देने, अवश्मेघ करने आदि की प्रथा है, जो संभवतः इन्हीं जातियों से संबंधित है।

  (घ) राजपूतों के अनेक गुण तथा शारीरिक बनावट भी इस मत का समर्थन करते है।

(ii) **क्षत्रिय नायकों से उत्पत्ति का सिद्धान्त**– इस सिद्धान्त के अनुसार राजपूतों की उत्पत्ति सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी राजपूतों से हुई। उनका कहना है कि मानव जाति विज्ञान, प्रथायें तथा अन्य तत्व इस बात की ओर इशारा करते हैं कि राजपूत विदेशी न होकर भारतीय मूल के ही हैं। अपने इस दावे के समर्थन में वे निम्नलिखित तत्वों को आधार बनाते हैं।

  (क) राजपूतों की प्रथायें आर्यो की प्रथाओं से मेल खाती है।

  (ख) राजपूतों की शारीरिक बनावट भी आर्यो जैसी है।

  (ग) भेवाड, जयपुर, बीकानेर आदि के शासक अपने को सूर्यवंशी यानि राम का वंशज मानते हैं।

(घ) अग्नि पूजा प्रथा आर्यों में भी प्रचलित थी।

अतः यह मत कि अग्नि पूजा के कारण राजपूत विदेशी उत्पति के हैं मान लेना उचित नहीं जान पड़ता है।

(ङ.) यज्ञ, बलि प्रथायें भी आर्यों में काफी प्रचलित थीं।

इन सिद्धान्त के मुख्य समर्थक वेदव्यास और गौरी शंकर ओझा हैं।

(iii) **भारतीय जाति के उत्पति का सिद्धान्त**– इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों का मत है कि राजपूतों की कुछ जातियाँ मुख्यतः वे जो विन्ध्याचल पर्वत के पास रहती है उनकी उत्पत्ति भारत के मूल जातियों से हुई है। इस संबंध में वे कहते हैं कि बुन्देलखंड के राजपूतों की उत्पति गोंड जाति से हुई है।

(iv) **अग्निकुंड सिद्धान्त**– कुछ राजपूत स्वयं की उत्पत्ति अग्निकुंड से मानते हैं। उनका विश्वास है कि उनके पूर्वजों की उत्पति आबू पर्वत पर प्रज्वलित अग्नि से हुई थी। इस सिद्धान्त का उल्लेख हमें 'चन्दरबदाई' की कृति 'पृथ्वीराजरासो' में मिलता है। इसके अनुसार जब परशुराम ने समस्त क्षत्रियों को नाश कर दिया तो पृथ्वी पर ब्राह्मणों का कोई रक्षक न रहा। अतएव ब्राह्मणों ने आबू पर्वत पर पवित्र अग्नि प्रज्वलित की और 40 दिनों तक यज्ञ किया। उन्होंने प्रभु से प्रार्थना की कि वह उनकी रक्षा के लिये एक वीर गति की उत्पति करें। भगवान ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और (चार) 4 वीर जातियों का जन्म हुआ। वे हैं– परमार, प्रतिहार, चालुक्य और चौहान। लेकिन आधुनिक इतिहासकार इस सिद्धान्त को स्वीकृति नहीं प्रदान करते हैं।

(v) **सर्वमान्य सिद्धान्त**– उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सभी सिद्धान्त अंशतः सत्य है, किन्तु कोई भी पूर्ण नहीं है। इन सभी सिद्धान्तों के अध्ययन के उपरांत स्मिथ इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि राजपूत एक मिश्रित जाति हैं। उनका मानना है कि कुछ राजपूत जाति विदेशी आक्रमणकारी जातियों जैसे– शक, हूण, कुशान आदि की संताने थी। जबकि कुछ अन्य प्राचीन क्षत्रिय वर्ग की। परन्तु पूर्व मध्ययुग में राजपूतों की उत्पत्ति के प्रश्न का मात्र 'विदेशी अथवा स्वदेशी की श्रेणियों में बांधकर देखना तर्कसंगत नही होगा। इनकी उत्पत्ति को एक व्यापक सामाजिक–आर्थिक–राजनीतिक प्रक्रिया के रूप में देखना होगा। उत्पत्ति के प्रथमचरण में तो मुख्य रूप से एक राजनीतिक प्रक्रिया थी। जिसमें राजनीति शक्ति प्राप्त करने के इच्छक विभिन्न वर्ग – देशी, विदेशी, कबीले जो कि शारीरिक बल पर राजनीतिक सत्ता प्राप्त करचुके थे तथा अब भारतीय वर्णव्यवस्था का अंग बनने हेतु 'राजपूत ढांचे' में प्रवेश पाना चाहते थे – तत्कालीन राजनीतिक सिद्धान्तों पर छाए हुए थे तथा राजपूत ढांचे में प्रवेश राजनीतिक शक्ति के माध्यम से ही होता था। इसी कारण इनमें से अनेक पौराणिक काल के क्षत्रियों वंशों से सम्बनध स्थापित कर वैधता प्राप्त करना चाहते थे जैसे सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी कहलाकर अपने उच्च कुल का होने का दावा करते थे। किन्तु दूसरे चरण में (11वीं शताब्दी) राजपूतों की उत्पत्ति एक व्यापक सामाजिक घटनाक्रम भी बन गया। डॉ० स्मिथ ने राजपूत शब्द का प्रयोग उस सामाजिक समूह के लिये किया है जो युद्ध–प्रेमी थे, जिनके पास सत्ता सुख था और जिन्हें ब्राह्मण क्षत्रिय के रूप में देखते थे। इस प्रकार राजपूत का खत संबंधों और जाति से कोई सरोकार नहीं था।

jktiwr lH;rk] laLd`fr o jktuhfr

भारत पर अनेक राजपूत राजवंशों ने शासन किया और भारतीय राजनीति को नयी दिशा दी। उनकी शासन पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं–

(i) **राजपूतों का प्रशासन**– राजपूतों की प्रशासन व्यवस्था प्रशसनीय थी। साधारण प्रजा उनके शासन से खुश थी क्योंकि उन पर करो का बोझ कम था तथा उनका जीवन सुरक्षित था। राजपूत शासक अपने प्रजा की हर प्रकार से मदद व सेवा के लिए तत्पर रहते थे। राजा न सिर्फ उनकी रक्षा बाहरी आक्रमणों से करता था वरन् आन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था भी बनाये रखता था। राजा की सहायता के लिए मंत्री और युवराज होते थे। राजा का पद वंशानुगत होता था और साधारणतः ज्येष्ठ पुत्र उत्तराधिकारी नियुक्त होता था। युवराज प्रान्तों का शासन देखता था। राजा को परामर्श देने के लिये गठित मंत्रीमंडल का प्रधान महामंत्री होता था। मंत्रियों के अतिरिक्त अन्य अधिकारी राजा की सहायता के लिये होते थे। राजपुरोहित को उच्च स्थान प्राप्त था।

प्रशासन की सुविधा के लिये राज्य को कई प्रान्तों (मंडलों) में बाँटा गया था तथा इसका प्रशासक मंडलिक होता था। मंडलों के अन्तर्गत विषय आता था। इनका अधिकारी विषयपति होता था। ब्राह्मणों को दान किये गये गाँव अग्रहार कहलाते थे। इसका अधिकारी तंत्रपाल कहलाता था। प्रशासन की छोटी इकाई ग्राम होती थी। इसका प्रशासन पंचकुल या पाँच व्यक्तियों का समूह करता था। ये न्याय का काम भी करते थे। ग्राम विकास के कार्यों के लिये अनेक समितियाँ गठित थी। संक्षेप में कहा जाए तो ग्राम प्रशासन जनतंत्र पर आधारित थी। उपज का 1/6 भाग भूमिकर के रूप में लिया जाता था

साम्राज्य
↓
मंडल
↓
विषय
↓
ग्राम

(ii) **सामंत प्रथा**– राजपूतों का राजनीतिक संगठन सामंत व्यवस्था पर आधारित था। इस व्यवस्था के अन्तर्गत राजा विभिन्न जमींदारों को भूमि दे देता था जो उसे वार्षिक भूमि कर और आवश्यकता पड़ने पर सैन्य सहायता मुहैया कराता है। राजा द्वारा प्रदत्त इस भूमि को 'जागीर' कहा जाता था। वास्तव में यह एक अच्छी प्रणाली थी जिससे सत्ता का विकेन्द्रीकरण संभव था। लेकिन कालान्तर में सामंत अत्यंत अत्याचारी हो गये और प्रजा पर जुल्म करने लगे। सामंतवाद के अन्तर्गत सामंत को सेना निश्चित संख्या में रखनी होती थी। लेकिन वे नियमित प्रशिक्षित सेना नहीं रखते थे और इस कारण युद्ध के समय वे अफरा–तफरी में सैनिकों की नियुक्ति करते थे। इन सैनिकों की निष्ठा जमींदारों या सामन्तों के प्रति होती थी न कि केन्द्रीय शासन के प्रति। इससे राजा की स्थिति कमजोर होती थी और एकता की भावना का उदय नहीं हो पाता था। राजपूतों की यह शासन व्यवस्था उनके लिये अभिशाप सिद्ध हुई।

(iii) **सामाजिक स्थिति**– राजपूत काल में समाज वर्ण व्यवस्था पर आधारित थी। ब्राह्मण एवं राजपूतों को समाज में सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। राजनीतिक सत्ता राजपूतों के पास थी तथा ब्राह्मण उनके सलाहकार थे। वैश्यों का कार्य व्यापार करना था यानि सारी अर्थव्यवस्था उन्हीं के हाथों में केन्द्रित थी। इस काल में जाति प्रथा काफी कठोर हो गयी थी और छुआछुत की भावना चरम पर थी। इन चारों जातियों में राजपूत ही युद्ध में भाग लेते थे।

स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में गिरावट आयी थी लेकिन फिर भी उनकी स्थिति सम्मानजनक बनी हुई थी। माँ, बहन व पत्नी के रूप में वे आदर के पात्र थी। वे शिक्षा ग्रहण करती थी और उन्हें पति चुनने का अधिकार था। स्त्रियों की साहस व बहादुरी की गाथा हमें सुनने को मिलती है। स्त्रियाँ अपने पति के प्रति समर्पित होती थी और अपने आत्मसम्मान व प्रतिष्ठा के लिये आपत्तिकाल में अपने प्राण त्याग देती थी। राजपूत रानियों की जौहर की गाथा काफी प्रचलित है। विधवा विवाह का रिवाज नहीं था। उच्च कूलों में बहु विवाह प्रथा थी और स्त्रियाँ पर्दे में रहती थी। इस काल की कुछ स्त्रियाँ बड़ी विदुषी थी। स्त्रियों को संपति का अधिकार नहीं था।

साधारणतः लोग ईमानदार व विश्वसनीय थे। नैतिक चरित्र बहुत ऊँचा था इसलिये वे संपूर्ण भारत में विख्यात थे। अमीर लोग विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। लेकिन सार्वजनिक जीवन भी खुशहाल व संपन्न था।

(iv) **कला व धर्म**– राजपूत युग कला की दृष्टिसे अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। इस काल में अनेक बड़े–बड़े मंदिरों का निर्माण हुआ जो कला के श्रेष्ठ उदाहरण है। इस काल की कला इतनी श्रेष्ठ थी कि मुहम्मद गजनवी जो मूर्ति भंजक था वह भी मथुरा की सुन्दर मंदिरों व मूर्तियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाया। स्थापत्य कला में उनके द्वारा निर्मित अनेक इमारतों को तुर्क आक्रमणकारियों ने नष्ट कर दिया है फिर भी आज जो शेष हैं वे तात्कालीन वास्तुकला की उत्कृष्टता का परिचय देते हैं। ग्वालियर, चितौड़गढ़, रणथम्भौर, कलिंजर के विशाल किले तथा मथुरा, सोमनाथ, पुष्कर, नाथदूवारा आदि के मंदिर तत्कालीन कला के महत्वपूर्ण उदाहरण हैं।

राजपूत काल में मंदिरों का निर्माण तीन शैलियों में हुआ– (1) आर्यशैली या नागर शैली (2) द्रविड शैली या दक्षिण शैली तथा (3) माध्यमिक अथवा चालुक्य शैली। उत्तर भारत के अधिकांश मंदिर नागर शैली में बने हैं। जबकि दक्षिण भारत के द्रविड शैली में। उत्तर भारत व दक्षिण भारत के मंदिरों में मुख्य अंतर शिखर का है। भुवनेश्वर का लिंगराज मंदिर, कोणार्क का सूर्य मंदिर, जगन्नाथ जी का मंदिर, खजूराहो का विश्वनाथ मंदिर आदि श्रेष्ठ वास्तुकला के नमूने है।

कुमारस्वामी ने अपने 'राजस्थान पेंटिग' में राजस्थानी चित्रकला के महत्व का उल्लेख किया है। राजस्थान में कई शैलियों के चित्रकला का विकास हुआ है। जैसे–मेवाड़ शैली, बूँदी शैली, अजमेर शैली आदि। ये सभी स्थानीय चित्रकला है लेकिन कलात्मक दृष्टि से अत्यंत उच्च कोटि के हैं। इस चित्र शैली में नारी सुन्दरता का बखूबी चित्रण किया गया है। पशु, पक्षी, वनस्पति आदि के चित्र भी आकर्षक है।

मूर्तिकला में गुप्तकाल में जो श्रेष्ठता प्राप्त कर ली गयी थी इस काल में उसका अभाव था। इस काल में बनी मूर्तियों में सौंदर्य तथा कलात्मकता दोनों का अभाव था किन्तु इसी काल में बनी गोमतेश्वर की मूर्ति काफी प्रसिद्ध है। इस मूर्ति की गंभीर मुद्रा इसका विशेष गुण है। यह 57 फीट ऊँची और 26 फीट चौड़ी है।

राजपूत काल में धार्मिक स्थिति में अनेक परिवर्तन हुए। हिन्दु, बौद्ध व जैन धर्म प्रमुख धर्म थे। हिन्दु धर्म की प्रगति इस काल में हुई जबकि जैन व बौद्ध धर्म अवनति की ओर थे। हिन्दु धर्म के अन्तर्गत एक नवीन ब्राह्मण धर्म का विकास हुआ। इसमें प्राकृतिक शक्तियों की पूजा के स्थान पर ब्रह्मा, विष्णु व महेश की स्तुति की जाने माँ दुर्गा की स्तुती अधिक की जाने लगी वे शक्ति की प्रतीक मानी जाती थी। राजपूत शासक लडाकू प्रवृति के थे और वे बौद्ध व जैन धर्म के अहिंसा कि नीति के विरुद्ध थे। अतएव राजपूत काल में बौद्ध व जैन धर्मो का ह्यस हुआ।

रामानुजाचार्य, माधवाचार्य, निम्बाकाचार्य, शंकराचार्य, कुमारिल भट्ट अनेक हिन्दु संत इस काल में हुए।

iky o'k

पाल वं ा की स्थापना 8वी भाताब्दी में हुई। इनकी भाक्ति का केंद्र बंगाल था। गौड़ वं ा के भाासक भा ांक की मृत्यु के उपरांत बंगाल में अराजकता फैल गई। इसी का लाभ उठाकर गोपाल बंगाल का भाासक बन गया और पाल वं ा की स्थापना की। इस वं ा ने 400 वर्शों तक भाासन किया।

श्रोत– पाल वं ा की जानकारी हमें मंख्य रूप से अभिलेखो और साहित्यक लेखों से प्राप्त होता है। इन अभिलेखों में धर्म पाल का खालिमपुर अभिलेख, नारायणपाल का भागलपुर अभिलेख, भोज का ग्वालियर अभिलेख, विजयसेन का देवपाड़ा अभिलेख, भोजन वर्मन का बेलाव अभिलेख प्रमुख है। खालिमपुर अभिलेख से हमे ज्ञात होता है कि गोपाल ने 750ई० पाल वं ा की स्थापना की। इसी अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि गोपाल के पिता का नाम बप्यर तथा दादा का नाम दयति विशु था। भोज की ग्वालियर प्र ास्ति में धर्मपाल के अभियानों की जानकारी प्राप्त होती है। जोघपुर अभिलेख के अनुसार धर्मपाल और नागभट्ट की लड़ाई मुंगेर में हुई। धर्मपाल के अभियानों की जानकारी हमें खालिमपुर अभिलेख तथा नारायणपाल के भागलपुर अभिलेख से होती है।

इस काल के बारे में जानकारी हमें संध्याकर नंदी द्वारा रचित 'रामचरित' से भी मिलती है।

प्रशासक– मौर्य काल में बंगाल, मगध का हिस्सा था। नंदों के समय भी बंगाल उन्हीं के अधीन था किंतु गुप्त साम्राज्य के पतन के समय बंगाल गुप्त साम्राज्य से प्रथृक हो गया। भां ााक नामक एक भाक्ति ाली भाासन का उदय बंगाल में हुआ। भां ांक हर्शवर्धन का समकालीन था और उसी ने हर्शवर्धन के बहनोई गृहवर्मन का युद्ध में मार डाली था। किंतु बाद में हर्श ने भां ााक को पराजित कर दिया था। भा ांक के काल में बंगाल भाक्ति ाली था। किंतु उसके मृत्यु से वहाँ अराजकता छा गई। आठवीं भाताब्दी के प्रारंभ में भौल वंभीय भाासक राजा पैण्डू ने उत्तरी बंगाल पर कब्जा कर लिया। कत्तौज भाासक य ोवर्मन ने भी बंगाल पर आक्रमण से जनता क्षुब्ध थी। अतः उन्होंने गोपाल नामक एक व्यक्ति को अपना राजा चुन लिया। इसके साथ ही बंगाल में पाल वं ा की स्थापना हुई।

1. **गोपाल (750–770ई०)**– यह पालवं ा का संस्थापनक था। उसने बंगाल में व्याप्त अराजकता को दूर किया और पुश्ड्र, बंग और मगध पर अपना आधिपत्य कायम किया। वह बौध धर्म का अनुयायी था। उसने नालंदा के समीप उदंतपुर नामक स्थान में एक बौद्ध महाबिहार की स्थापना की।

2. **धर्मपाल (770–815ई०)**– गोपाल की मृत्यु के उपरांत उसका पुत्र धर्मपाल भाासक बना। वह एक योग्य भाासक था और उसने अपने साम्राज्य का विस्तार किया और पालवं ा को सुदृढ़ बनाया। जिस समय वह सिंहासन पर बैठा, उस समय प्रतिहार शासक कन्नौज विजित करना चाहते थे। इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत के राष्ट्रकूट भी कनौज पर अपना अधिपत्य जमाना चाहते थे। धर्मपाल भी अपना साम्राज्य विस्तार करना चाहता था। अतः जब उसनें पश्चिम की ओर विस्तार का प्रयास किया तो उसका प्रतिहार और राष्ट्रकूट दोनों से संघर्ष हुआ। सर्वप्रथम धर्मपाल का मुकाबला प्रतिहार शासक वत्सराज से हुआ। गंगा–यमुना दोआब के इस युद्ध में धर्मपाल पराजित हुआ। इस समय धर्मपाल का भाग्य ने उसका साथ दिया क्योंकि इस युद्ध के पश्चात राष्ट्रकूट शासक ध्रूव ने वत्सराज पर आक्रमण कर दिया और उसे परास्त कर दिया। इसके उपरांत राष्ट्रकूट ध्रूव ने धर्मपाल को भी पराजित किया किंतु वह शीध्र ही वापस लौट गया और इस कारण एक बार फिर धर्मपाल किसी बड़ी हानि से बच गया। वस्तुतः धर्मपाल को इस युद्ध से यह लाभ हुआ कि ध्रुव के हाथों वत्सराज बुरी तरह पराजित हो गया था और उसकी शक्ति काफी क्षीण हो गई थी।

   प्रतिहारों की दुर्बलता का फायदा उठाकर धर्मपाल ने अपनी शक्ति को सुदृढ़ किया और उत्तर भारत में एक बड़े साम्राज्य की स्थापना कर ली।

   इतिहासकार तारानाथ (तिब्बत) के अनुसार उसके राज्य का विस्तार पूर्व में बंगाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम में जालंधर और उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में विध्य पर्वत तक था। पाल लेखों में भी इस बात का उल्लेख है कि उससे इंद्रायुद्ध (कन्नौज के शासक वत्सराज के बाद) को हरा दिया और गद्दी से उतार दिया और उसके पुत्र चक्रायुद्ध को अपनें प्रतिनिध के रूप में कन्नौज में बिण दिया। इस दरबार में भोज, मरस्य, कुरू, पवन, अवंति, गांधार और कीर के शासक धर्मपाल की सत्ता स्वीकार करने के लिए उपस्थित हुए थे।

   किंतु नागभट्ट के नेतृत्व में प्रतिहारों ने अपनी शक्ति संगठित की और अपनी खोई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त की । नागभट्ट ने धर्मपाल के प्रतिनिधि चक्रायुद्ध को कन्नौज से खदेड़ दिया और कन्नौज पर अधिकार कर लिया। अतएवं, धर्मपाल और नागभट्ट के मध्य संधर्ष अवश्यभावी हो गया। दोनों के बीच मुगेर में युद्ध हुआ किंतु धर्मपाल पराजित हुआ। परंतु एक बार फिर भाग्य ने धर्मपाल का साथ दिया और एक बाद फिर राष्ट्रकूटों का उतरी भारत पर आक्रमण उसके लिए लाभप्रद साबित हुआ। जब राष्ट्रकूट शासक गोविंद–**III** ने उत्तरी भारत पर आक्रमण कर दिया तो धर्मपाल ने बिना युद्ध किए उसके आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी मुंगेर पराजय के बाद धर्मपाल ने ही स्वीकार कर लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी मुंगेर पराजय के बाद धर्मपाल ने ही ही गोविंद–**III** ने नागभट्ट (प्रतिहार शासक) के विरूद्ध सहायता मांगी। गोविन्द ने नागाभट्ट को परास्त को परास्त कर प्रतिहारों की बढ़ी हुए शक्ति को एक बार फिर कम कर दिया और प्रतिहार दुर्बल हो गए। उनकी इस कमजोरी का लाभ उठाते हुए धर्मपाल ने उत्तर भारत के अपने पूर्व के अधिकृत क्षेत्रों को पुनः जीत लिया। अपनी मृत्यु से पूर्व उसे उत्तरी भारत में एक विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया था।

   डा०आर०सी मजुमदार ने धर्मपाल की बड़ी प्रशंसा की है। वे कहते है "धर्मपाल एक सौ युद्धों का नायक था। कठिनाइयों के सामनें वह कभी विचलित नहीं हुआ और बड़े धैर्य से काम लिया। उसके अधीन बंगाल उत्तरी भारत का सर्वधिक शक्तिशाली राज्य बन गया। इस प्रकार धर्मपाल ने शशांक का महान गौड़ साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न पूरा किया।"

   धर्मपाल ने "परमेश्वर", "परम भट्टारक" और "महाराजाधिराज" आदि उपाधियाँ धारण की। धर्मपाल बौद्ध धर्म का अनुयायी था और उसने बौद्ध धर्म को आश्रय प्रदान किया। धर्मपाल ने विक्रमशिला विश्वविधालय की स्थापना की। व्रिकमशिला विश्वविद्यालय बाद के वर्षो में बौद्ध ज्ञान और संस्कृति का मुख्य केंद्र बन गया। उसने कला को भी संरक्षण प्रदान किया।

अपनी वृद्धावस्था में धर्मपाल ने एक राष्ट्रकूट राजकुमारी से विवाह किया जिसका उद्देश्य निश्चय ही राजनीतिक रहा होगा। देवपाल का जन्म इसी विवाह का परिणाम था।

3. **देवपाल (810–850ई०)**– धर्मपाल की मृत्यु के उपरांत उसका पुत्र देवपाल पाल वंश का शासक बना। वह एक योग्य पिता का योग्य पुत्र था। वह पालवंश का सबसे शक्तिशाली शासक था। उसने न सिर्फ अपने पिता से उत्तरधिकार में प्राप्त बड़े साम्राज्य को सुरक्षित रखा वरन् उसका विस्तार भी किया। बादल स्तंभ लेख के अनुसार उसने उड़ीसा को अपने राज्य में मिला लिया। हूणों, द्रविड़ तथा प्रतिहारों को परास्त किया। उसने आसाम को अपने भाई जयपाल के सेनापतित्व में जीतकर उसे भी अपने साम्राज्य में मिला लिया।

   देवपाल का मुख्य मुकाबला प्रतिहारों से था। प्रतिहार शासक एक बार फिर शक्तिशाली हो गया था और नागभट्ट–II ने पूर्व में अपने राज्य का विस्तार करते हुए कन्नौज तक बढ़ आया था। देवपाल ने उसके बढ़ने को प्रभावी ढ़ग से रोका और उत्तरी भारत में अपने विजय अभियान प्रारंभ किया। उसने उत्तर पश्चिम में कंबोज और पंजाब पर आक्रमण किया। मुंगेर दानपत्र के अनुसार उसने हिमालय और विन्ध्य पर्वत की सारी भूमि जीत ली और रामेश्वरम् तक अपना आधिपत्य स्थापित किया। दक्षिण की प्रमुख शक्ति राष्ट्रकूटों से भी युद्ध किया ओर संभवतः सफल भी रहा। प्रतिहार शासक मिहिर भोज से भी उसका युद्ध हुआ और देवपाल ने मिहिर भोज को पराजित किया। उसनें मिहिर भोज की शक्ति पर अपने जीवन भर अंकुश लगाए रखा और देवपाल की मृत्यु के पश्चात ही मिहिर भोज कन्नौज तथा उत्तरी भारत में प्रतिहारों की शक्ति और प्रतिष्ठा स्थापित करने में सफल हो सका।

   इस प्रकार हम देखतें है कि देवपाल भी अपने पिता के समान ही अनेक युद्धों का नायक था। यद्यपि उसका प्रत्यक्ष नियंत्रण बंगाल, बिहार, उड़ीसा आदि कुछ समीपवर्ती इलाकों तक ही था किंतु उसका आधिपत्य उत्तर भारत के अनेक शासक स्वीकार करते थे। देवपाल ने न सिर्फ देश में प्रतिष्ठा प्राप्त की वरन् उसकी ख्याति विदेशों में भी थी। दक्षिण–पूर्वी एशिया के शैलेंद्र साम्राज्य के शासक ने उससे नालदा विश्वविद्यालय को पाँच गाँव दान देने का आग्रह किया था जिसे देवपाल ने स्वीकार कर लिया। उसके राजनैतिक संबंध वर्मा, सुमात्रा आदि पूर्वी देशों से थे। वह उत्तरी भारत का पहला शासक था जिसने सुदूर दक्षिण के पांड्य शासकों के विरूद्ध दक्षिण के अन्य शासकों को सैनिक सहायता प्रदान की थी।

   वही भी बौद्ध धर्म का अनुयायी था और उसने बहुत से चैत्यों, महाबिहारों का निर्माण कराया। उसने कला को भी प्रोत्साहन दिया। अरब यात्री सुलेमान ने उसे प्रतिहार और शष्ट्रकूट शासकों से अधिक शक्तिशाली बताया है। देवपाल के उपरांत विग्रहपाल–I शासक बना किंतु वह थोड़े दिनों तक शासन कर सका।

4. **नारायण पाल (855–908ई०)**– देवपाल के पुत्र नारायणपाल, विग्रहपाल– I के उपरांत शासक बना। वह चेदिराज कोकल्ल प्रथम की पुत्री लज्जा का पुत्र था। उसके समथ पालों की शक्ति का गहरा धक्का लगा। प्रतिहार राजा महेन्द्रपाल– I ने मगध और उत्तर बंगाल पर कब्जा कर लिया। इसी प्रकार चेदि नरेश ने पूर्वी बंगाल पर कब्जा कर लिया। प्रतिहारों और चेदियों के आक्रमण का मुख्य कारण नारायणपाल के शांतिप्रिय नीति थी। उसकी इसी नीति के कारण बंगाल की प्रतिष्ठा को और झटका लगा और कामरूप और कामरूप और उड़ीसा की बंगाल से स्वतंत्र हो गए। इस प्रकार, नारायणपाल के काल में पाल साम्राज्य काफी छोटा हो गया। पर ऐसा मालूम होता है कि अपने शासन के अंतिम दिनों मे नारायणपाल ने प्रतिहारों से उत्तरी बंगाल और मग्ध छीनने से सफलता प्राप्त की।

   नारायणपाल एक शैव था और इसनें हजारों शिव–मंदिरों का निर्माण कराया। नारायणपाल के पश्चात राज्यपाल, गोपाल–II, विग्रहपाल–II, शासक बने और इन्होंने करीब 80 वर्षो तक शासन किया। ये सभी दुर्बल शासक थे। उनके समय चंदेलो, कलचुरि और कंबोजों ने पाल राज्य पर आक्रमण किए और उनसे कई प्रदेश छीन लिए। पूर्वी और दक्षिणी बंगाल में चंद्रवंश का उदय हुआ।

5. **महीपाल–I (988–1038ई०)**– विग्रहपाल द्वितीय का उत्तराधिकारी महीपाल प्रथम 988 ई० में शासक बना। उसनें वंश की खोई प्रतिष्ठा प्राप्त करने की कोशिश की। उसने कम्बोजों से उत्तरी बंगाल जीत लिया और बिहार पर

भी अपनी सत्ता स्थापित की। उसने अपने पश्चिमी सीमा बनारस तक विस्तृत कर ली। परंतु महीपाल–I की शक्ति को एक बड़ी क्षति 1012–1023ई० में हुए चोल आक्रमण ने पहुँाई। चोल शासक राजेंद्र–I की सेना ने बंगाल पर आक्रमण कर महीपाल को पराजित कर दिया। चोलों का बंगाल पर आधिपत्य स्थापित करने का कोई इरादा नहीं था और इस कारण वे यहाँ टिके नहीं किंतु इन आक्रमणों का कुपरिणाम महीपाल को भुगतना पड़ा। उसके सामंतों ने उसके विरूद्ध विद्रोह कर दिया। इसी अराजकता का लाभ उठाकर 1026 ई० में गांगेयदेव कलचूरि ने बंगाल पर आक्रमण कर दिया और महीपाल से कुछ प्रदेश छीन लिए। परंतु इन असफलताओं के बावजूद महीपाल बंगाल और बिहार के बड़े भू–भाग को अपने अधिकार में रखनें में सफल रहा और पाल–वंश की बहुत छोटी हो चुके साम्राज्य को विस्तृत किया।

महीपाल भी बौद्ध था। उसने तिब्बत में धर्म प्रचारक भेजे। सारनाथ में उसनें कई मंदिर बनवाये और स्तूप तथा धर्मचक्र का जीर्णोदार कराया। इसने कई नगरों और तलाबों का भी निर्माण किया। उसनें नालंदा और बनारस के अनेक बौद्ध विहारों को धन दिया।

6. **जयपाल (1038–1055ई०)**– महीपाल के बाद उसका पुत्र जयपाल शासक बना। जयपाल के समय की मुख्य धटना कलचूरि–पाल युद्ध है। पालों और कलचूरियों के बीच हुए इस युद्ध की भीषणता से चिंतित होकर तत्कालीन बौद्ध विद्वान दीपांकर सृजनन को हस्तक्षेप करना पड़ा और कलचूरि शासक कर्ण और जयपाल में युद्ध विराम और संधि हुई जिसके अनुसार दोनों ने एक–दूसरें के विजित प्रदेश वापस कर दिये।

7. **विग्रहपाल–III (1055–1070ई०)– ज**यपाल के उपरांत विग्रहपाल–III शासक बना। इसके समय में एक बाद पुनः पाल–कलचूरि संधर्ष शुरू हो गया। कलचूरि शासक कर्ण ने जयपाल के साथ हुई संधि को ठुकरा दिया और बंगाल पर आक्रमण कर दिया किंतु विग्रहपाल–III ने उसे पराजित कर दिया। एक बार फिर पालों और कलचूरियों में संधि हुई और कर्ण ने अपनी पुत्री यौवनश्री का विवाह विग्रहपाल–III से कर दिया।

   किंतु विग्रहपाल की समस्याएँ यहीं समाप्त नहीं हुई। चालुक्य शासक विक्रमादित्य–VI और उसके बाद कौशल नरेश ययाति ने बंगाल पर आक्रमण किया। इन आक्रमणों ने विग्रहपाल की शक्ति और प्रतिष्ठा को गहरा ठेस पहुँचाया। पूर्वी बंगाल और कई अन्य भाग स्वतंत्र हो गए। विग्रहपाल बड़ी कठिनाई से गौड़ और मगध पर अपना नियंत्रण रख सका।

8. **महीपाल–II** विग्रहपाल–II के उपरांत महीपाल–II शासक बना किंतु वह एक अयोग्य शासक था और अनेक विद्रोहों का दमन नहीं कर सका और मारा गया।

9. **रामपाल (1077–1120ई०)**– महीपाल–II ने शासक बनते ही अपने दो भाइयों रामपाल और शूटपाल को बंदी बना लिया था। महीपाल की मृत्यु और तत्कालीन अव्यवस्था का लाभ उठाकर दोनों भाई कैद से भाग निकले और मगध में शूरपाल ने कुछ दिन तक शासन किया। शूरपाल की मृत्यु के पश्चात रामपाल ने मगध पर शासन किया। वह पालवंश का अंतिम योग्य शासक था। उसने पालवंश की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित की और बंगाल पर अधिकार कर लिया। रामपाल ने असम के शासक को परास्त कर उसे भी अपनें अधिकार में ले लिया। उसने उड़ीसा के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप कर कलिंग के बढ़ते प्रभाव को रोकनें में सफलता पाई। उसनें कन्नौज के शासक गोविन्दचंद्र से वैवाहिक संबंध स्थापित किया और उसे पूर्व की ओर बढ़ने से रोका। उसने सेन वंश और उत्तरी बिहार के शासक के प्रभाव को बढ़ने से रोका। इस प्रकार रामपाल ने मगध को सत्ता का केन्द्र बनाया और आसपास की शक्तियों को अपनी ओर बढ़ने से रोका। 1120 ई० में रामपाल की मृत्यु हो गई और उसकी मृत्यु के उपरांत पाल वंश का पतन तेजी से हो गया।

   रामपाल के उपरांत कुमारपाल, गोपाल–III और मदनपाल ने 30 वर्षो तक शासन किया। ये सभी दुर्बल राजा थे और ये पाल वंश के पतन को रोकने में असमर्थ थे। कुमारपाल के शासन काल में कामरूप स्वतंत्र हो गया और पूर्वी बंगाल भी पालों के हाथ से निकल गया। वहाँ के सामंत ने खुद को स्वतंत्र घोषित कर दिया। कलिंग के शासक अनतवर्मा तथा कन्नौज के शासक गोविद चंद्र ने अपनी–अपनी सीमाओं के समीपवर्ती पाल इलाके जीत

लिए। मदनपाल के समय गौड़ भी पालों से विजयसेन ने छीन लिया। और 12वीं सदी के मध्य तक पाल वंश, मदनपाल की मृत्यु के साथ ही समाप्त हो गया।

पाल वंश का महत्व– पाल वंश का भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। डा० आर० सी मजूमदार ने लिखा है "बंगाल के इतिहास में सबसे यशस्वी अध्याय धर्मपाल और देवपाल का शासन काल है। उससे पहले और उसके पश्चात अंग्रेजों के आगमन तक बंगाल ने भारतीय राजनीति में इतना अधिक महत्वपूर्ण रूप से भाग नहीं लिया।" 400वर्षो के अपने शासक काल में पालों ने बंगाल को शक्ति समृद्धि और वैभव प्रदान किया। इन वंश के शासक महान् विजेता, विद्वानों व कवियों के संरक्षक तथा कला प्रेमी थे। अतएवं, भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विकास में उन्होंने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

कला– पालकला का भारतीय कलाओं में महत्वपूर्ण स्थान है। देवपाल के समय के दो महत्वपूर्ण कलाकार धीमन और वी० पाल थे। चित्रकला, मूर्तिकला और धातुओं कों ढालने में अपनी निपुणता के कारण पाल कला ने ख्याती पाई। स्थापत्य और मुर्तिकला को भी पाल–शासकों ने प्रश्रय दिया और उन्होंने अनेक बौद्ध विहारों, चैत्यों और मूर्तियों का निर्माण करवाया। पाल काल में पत्थर की मूर्तिया काफी संख्या में निर्मित हुई। पाल कला ने बाद के अन्य कला शैलियों को प्रभावित किया ही उनका प्रभाव दक्षिण–पूर्वी एशिया के कला पर भी पड़ा। तिब्बत का प्रथम बिहार उदन्तपुरी की स्थापत्यकला के आधार पर बना था।

चित्रकला ने इस काल मे काफी प्रगति की। पाल कालीन चित्रकला के अवशेष ब्रिटिश म्युजियम और कैम्ब्रिज लाइब्रेरी में सुरक्षित है। यही से चित्रकला का प्रसार तिब्बत में हुआ।

साहित्य– पाल काल में साहित्य ने भी प्रगति की। संस्कृत साहित्य की "गौडीय रीति" का विकास इसी काल में हुआ। संध्याकर नदी ने रामचरित की रचना की। चक्रपाणि दत ने वैधक–ग्रन्थ की रचना की। भवदेवभट नामक एक विद्वान पाल दरबार की शोभा थे। हरिभट भी पालकाल के ही है। हिंदू कानून पुस्तक दयाभाग के रचयिता जिमूतवाहन इसी काल के है।

बौद्ध विद्वानों में मकलशील, राहुलभट, कल्याण रक्षित, धर्मपाल प्रमुख है। इस समय के सर्वश्रेष्ठ विद्वानों दीपंकर श्री ज्ञान अतीश थे। जिन्हें तिब्बत बुलाया गया था और जहाँ उन्होंने 70 ग्रंथों की रचना की। बौद्ध कवि वज्रदत्त ने "लोकेश्वर शतक" नामक काव्य की रचना की। विक्रमशीला विश्वविद्यालय के सभी आचार्य प्रकांड पंडित थे और वह बौद्ध–धर्म का केंद्र था।

इसी युग में बंगाल भाषा का भी विकास हुआ। बंगाल लिपि का विकास इसी काल में हुआ।

धर्म– पाल शासक मुख्य रूप से बौद्ध धर्म के अनूयायी थे। अतः उन्होंने बौद्ध धर्म को प्रश्रय दिया किंतु वे अन्य धर्मो के प्रति सहिष्णुता रखते थे। बौद्ध धर्म का तांत्रिका रूप का विकास और व्रजयान का विकास इसी युग में हुआ। उन्होंने ब्राहम्णों को मुक्त हस्त दान दिया और अनेक हिंदू मंदिरों का निर्माण किया। वे विष्णु और शिव भक्तों के प्रति उदार थे।

पालवंश का सांस्कृतिक दृष्टि से भी महत्व है। ये अंतिम हिंदू सम्राट थे, जिनका आदेश–पत्र पाटलिपुत्र से जारी होता था।

शिक्षा– शिक्षा के विकास के लिए पालों ने सोमपुर, उदन्तपुरी तथा विक्रमशिला विश्वविद्यालयों की स्थापना की । भागलपुर के समीप स्थित विक्रमशिला विश्वविद्यालय विश्व ख्याति प्राप्त था। अनेक विदेशी–छात्र यहाँ पढ़ने आते थे। इनका महत्व नालंदा विश्वविद्यालय के जैसा था। विक्रमशिला विश्वविद्यालय के सुविख्यात शिक्षक श्री ज्ञान अतीश, को तिब्बत और जावा निमंत्रण प्राप्त हुआ था। देवपाल के समय, जावा के शासक बलपुत्रदेव के आग्रह पर एक छात्रावास का निर्माण किया गया था। देवपाल ने नालंदा विश्वविद्यालय को 5 गाँव भी दान में दिया था।

çfrgkj oa'k

प्रतीहारों की उत्पत्ति– प्रतिहारों की उत्पत्ति के संबंध में इतिहासकारों के बीच गहरा मतभेद है। इतिहासकार टॉड के अनुसार प्रतिहार विदेशी थे जो हूणों के साथ भारत आए और पंजाब, राजपूताना और गुजरात में फैल गए। किंतु

आधुनिक इतिहासकारों का मत है कि प्रतीहार विदेशी न होकर भारत के मूल निवासी है। उनका मत है कि सौराष्ट्र, कच्छ, काठियावाड़ तथा गुजरात के प्रदेश छठी शताब्दी में गुर्जर प्रदेश के नाम से विख्यात थे और यहीं के निवासी गुर्जर कहलाए। गुर्जर शब्द की उत्पत्ति गुरूजन शब्द से लगाया जाता है।

प्रतीहार शब्द का मतलब होता है द्वारपाल। कहते है कि राम के भ्राता लक्ष्मण वंशजों को प्रतीहार कहतें है। ऐसा इसलिए कि राम के बनवास के समय लक्ष्मण द्वारपाल का कार्य करते थे। गुर्जर जाति के लोगों ने भी भारत की रक्षा की और अरबों को परास्त किया। इससे उनकी प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई और ये 'रक्षक' हो गए। इसके पश्चात उन्हें गुर्जर–प्रतिहार कहा जाने लगा।

प्रारंभ में गुर्जर–प्रतिहार मुख्यतः गुजरात और दक्षिण–पश्चिम राजस्थान तक ही सीमित थे। परंतु धीरे–धीरे उन्होंने अपनी शक्ति का विस्तार कर लिया और मालवा पर विजय प्राप्त की। इसके उपरांत वे एक शक्ति बन कर उभरे और कन्नौज की त्रिपक्षीय संघर्ष में भाग लिया और अंततः कन्नौज जीत लिया और उसे अपनी राजधानी बनाई।

प्रमुख शासक

1. **नागभट्ट प्रथम (730–756ई०)**– प्रतीहार वंश का वास्तविक संस्थापक नागभट्ट था। कहते है कि हरिचंद्र नामक एक व्यक्ति ने आधुनिक जोधपुर के निकट इस वंश की नींव डाली। उसके चार पुत्र थे जिन्होंने अलग–अलग स्थानों पर शासन किया। इन्हीं में से एक ने उज्जैन पर शासक किया। नागभट्ट उज्जैन का शासक था। नागभट्ट ने अपने अन्य भाइयों को संगठित किया और प्रतीहारों की श्रेष्ठता स्थापित की। उसने अरबों द्वारा किए गए आक्रमण को सफलतापूर्वक विफल कर दिया और इससे उसकी प्रतिष्ठा में भारी वृद्धि हुई। उसने गुजरात से लेकर ग्वालियर तक एक बड़ा राज्य स्थापित किया। नागभट्ट प्रथम के बारे में हमें जानकारी ग्वालियर अभिलेख से मिलती है।

2. **वत्सराज (783–985ई०)**– नागभट्ट के बाद उसके दो भतीजे कक्कुक एवं देवराज गद्दी पर बैठे किंतु उनके विषय में कोई जानकारी उपलब्ध नही है। इनके बाद देवराज का पुत्र वत्सराज सिंहासन पर बैठा। उसने अपने वंश का यश बढ़ाया और उसकी शक्ति में वृद्धि की। उसका मुकाबला पाल–वंश के शक्तिशाली शासक धर्मपाल से हुआ जिसमें वत्सराज विजयी रहा। किंतु इस युद्ध के तुरंत बाद ही शक्तिशाली राष्ट्रकूट शासक ध्रुव ने प्रतिहारों पर आक्रमण किया । इस युद्ध में वत्सराज पराजित हुआ।

3. **नागभट्ट द्वितीय (795–833ई०)**– वत्सराज की मृत्यु के बाद उसका पुत्र नागभट्ट द्वितीय शासक बना। वस्तुतः ध्रुव के हाथों पराजित होने से गुर्जर–प्रतीहारों की शक्ति को गहरा आधात लगा था। इसका लाभ पाल शासक धर्मपाल ने उठाया और उसने कन्नौज के शासक इंद्रायुद्ध को हटाकर उसके पुत्र चक्रयुद्ध धर्मपाल के अधीन सामंत के रूप में कन्नौज का शासन चला रहा था। नागभट्ट ने शासक बनते ही अपने वंश की गौरव और शक्ति को संगठित किया और राष्ट्रकूट से बदला लेने के लिए उन पर आक्रमण कर दिया। लेकिन उसे सफलता नही मिली और उसे शक्तिशाली राष्ट्रकूट शासक गोविंद–III ने परास्त कर दिया। इस प्रकार नागभट्ट दक्षिण की ओर अपने साम्राज्य का विस्तार नहीं कर सका। अब उसने कन्नौज के शासक चक्रायुद्ध को पराजित कर दिया। चक्रायुद्ध को कन्नौज से खदेड़ दिया। अतः धर्ममाल से उसका युद्ध अवश्यंभावी हो गया। नागभट्ट और धर्मपाल की सेनाओ में मुगेर (नामक) स्थान पर युद्ध हुआ। इस युद्ध में

   नागभट्ट ने धर्मपाल को पराजित किया। इससे नागभट्ट की शक्ति बढ़ गई और इसका परिणाम यह हुआ कि आंध्र, सिन्धु, विदर्भ तथा कलिंग के शासकों ने उससे मैत्री की। ग्वालियर अभिलेख से ये ज्ञात होता है कि उसने उत्तरी कठियावाड़,कम्बोज पूर्वी राजपूताना आादि प्रदेशों का विजित किया।

   इस प्रकार नागभट्ट ने प्रतीहारों की शक्ति में प्रभावकारी वृद्धि कर दी और उन्हें उत्तर भारत की प्रमुख शक्ति बना दिया लेकिन इसका उत्तराधिकारी, इसका पुत्र रामभद्र एक अयोग्य शासक था। इसके काल में प्रतीहारों की शक्ति का ह्यास होने लगा। सौभाग्यवशं, रामभद्र ने कुछ ही वर्षों तक शासन किया। रामभद्र को पालों ने हराया था।

4. **मिहिर भोज (836–889ई०)**– रामभद्र की मृत्यु के उपरांत उसका योग्य पुत्र मिहिर भोज शासक बना। उसने पिता के काल में दुर्बल हो चुके प्रतीहारों में जीवन का संचार किया। वह एक पराक्रमी और योग्य शासक था। उसने शासक बनने के बाद बुंदेलखंड पर अपनी सत्ता पुनः स्थापित की। यह रामभद्र के काल में प्रतीहारों के हाथ से निकल गई थी। उस समय पूर्व बंगाल पर पालवंश के शक्तिशाली शासक देवपाल का शासन था। उसने मिहिर भोज को अपने जीवन काल में पूर्व की ओर विस्तार करने से रोके रखा। देवपाल ने उसे पराजित किया।

   दक्षिण में राष्ट्रकूट नर्मदा पार करके उत्तर की ओर बढ़ना चाहतें थे। राष्ट्रकूट शासक ध्रुव से यद्यपि वह पराजित हुआ किंतु उसे कोई विशेष क्षति नहीं पहुँची। वास्तव में वह राष्ट्रकूटों के उत्तर भारत में साम्राज्य फैलाने की नीति में बाधक सिद्ध होता रहा।

   देवपाल की मृत्यु 850 ई० में हो गई। इसके उपरांत मिहिर भोज ने अपनी शक्ति का खूब विस्तार किया और पालों के साम्राज्य का एक बहुत बड़ा हिस्सा उनसे छीन लिया। मिहिर भोज का साम्राज्य काठियावाड़, पंजाब, मालवा तथा मध्य प्रदेश तक फैला था।

   उसके शासनकाल में 851 ई० में अरब यात्री सुलेमान भारत आया था। उसने मिहिर भोज के शासन प्रबंध की खूब सराहना की है। इसके अतिरिक्त उसने मिहिर भोज के सैन्य शक्ति, विशेषकर उसकी अश्वसेना की सराहना की हैं। उसने मिहिर भोज को "अरबों का शत्रु" और "इस्लाम का सबसे बड़ा शत्रु" माना है। मिहिर भोज ने "आदिवराह" की उपाधि धारण की थी।

5. **महेंद्रपाल (890–910 ई०)**– मिहिर भोज के उपरांत उसका पुत्र महेंद्रपाल, जिसे निर्भयराज भी कहते है शासक बना। उसने अपने राज्य का विस्तार मगध और उत्तरी बंगाल तक किया। उनके अभिलेखों से ज्ञात होता है कि 893 ई० में उसका प्रभुत्व सौराष्ट्र तक मान्य था जहाँ उसके अधीनस्थ शासक राज्य किया करते थे। किंतु उत्तर पश्चिम में उसकी शक्ति क्षीण हुई थी। कश्मीर के शासक शंकरवर्मन ने उसे पराजित किया था और पंजाब के कुछ हिस्से उससे छीन लिया था। इसकी जानकारी हमें "राजतरंगिणी" से मिलती है। लेकिन जैसा कि पेहोआ अभिलेख से ज्ञात होता है, करनाल जिला उसके पूर्ववर्ती शासकों की भांति उसके अधीन रहा। इस प्रकार, महेंद्रपाल ने मिहिर भोज से प्राप्त साम्राज्य को सुरक्षित ही नहीं रखा वरन् उसकी सीमा में वृद्धि की।

   महेंद्रपाल साहित्यिकारों का संरक्षण था। उसके दरबार में राजशेखर थे जिन्होंने कमूर्रमंजरी, बाल रामायण, बाल भारत और काव्य मीमांसा के लिए प्रसिद्धि पाई।

6. **महीपाल (912–944 ई०)**– महेन्द्रपाल के पश्चात उसका पुत्र भोज द्वितीय सिंहासन पर बैठा। परंतु शीध्र ही महीपाल ने हर्षवेद चंदेल की मदद से सिंहासन छीन लिया। महीपाल के समय, 915–917 ई०, में एक बार फिर राष्ट्रकूट सम्राट इंद्र तृतीय ने उत्तरी भारत पर आक्रमण किया। इस युद्ध में भी राष्ट्रकूटों की ही विजय हुई। इंद्र तृतीय ने महीपाल को बुरी तरह पराजित किया। इंद्र ने कन्नौज को बुरी तरह लुटा और उसे पूरी तरह नष्ट कर दिया। लेकिन इस लूटपाट के बाद इंद्र वापस लौट गया। महीपाल ने पुनः अपनी स्थिति को सुदढ़ किया और अपने साम्राज्य को संगठित करने का प्रयत्न किया। वह अपने साम्राज्य के अधिकांश हिस्सों पर अपना अधिकार फिर से जमाने में कामयाब हो गया। किंतु वह पूर्वी हिस्से हासिल न कर सका जिसपर पालों ने उसकी दुर्बलता का लाभ उठाकर जीत लिया था। 940 ई० के आसपास राष्ट्रकूटों ने एक बार उत्तर भारत पर आक्रमण हमलों से प्रतीहार शक्ति कमजोर हो रही थी और उसके सम्मान को धक्का पहुँच रहा था। इन आक्रमणें ने प्रतीहारों के पतन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। प्रतीहारों के अधीनस्थ कई सामंतों जैसी चंदेल, परमार, चंदि, कच्छपधात, चौहान आदि। क्षेत्रीय स्तर पर स्वतंत्र हो गए। 915–196 ई० में बगदाद का यात्री अलमसूदी गुजरात आया था।

7. **महीपाल के उत्तराधिकारी और प्रतीहारों का पतन (944–1036 ई०)**– महीपाल के पश्चात उसका पुत्र महेंद्रपाल–II सिंहासन पर बैठा जिसने 945–946 ई० तक शासन किया। इसके पश्चात देवपाल, विनायकपाल–II, महीपाल द्वितीय तथा विजयपाल नाम के चार शासकों के कन्नौज पर शासन किया। किंतु ये

सभी अयोग्य थे और पहले से ही लड़खड़ा रही प्रतीहारों की शक्ति को सहारा देने में असमर्थ थे। विजयपाल के समय यह साम्राज्य ने राज्यों में बँट गया–

(क) अन्हिलवाड़ के चालुक्य

(ख) जेजाक मुक्ति के चंदेल

(ग) ग्वालियर के कच्छपधात

(घ) छेदि के कलचूरि

(ङ०) मालवा के परमार

(च) दक्षिणी राजपूताना के गुहिल

(छ) शाकम्भरी के चौहान

इन प्रकार, 10वीं सदीं में जब राज्यपाल कन्नौज का शासक बना तो उसका राज्य काफी छोटा था। इसी के काल में तुर्की आक्रमण भारत पर हुआ। जब सुबुक्तगीन ने 991 ई० उत्तर पश्चिम के हिंदूशाही वंश पर आक्रमण कर भारत में प्रवेश करना चाहा तो, राज्यपाल ने हिंदूशाही वंश के तत्कालीन शासक जयपाल को सहायता प्रदान की। उसी प्रकार, 1008 ई० में जब महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण किया तो राज्यपाल ने इसके विरूद्ध भी हिंदूशाही शासक आनंदपाल को सहायता प्रदान की। किंतु हिंदूशाही वंश महमूद के आक्रमण को नहीं रोक सका और महमूद भारत में प्रवेश कर गया। 1018 ई० में उसने कन्नौज पर आक्रमण किया किंतु तब राज्यपाल ने उसका मुकाबला करने का साहस नहीं दिखाया और भाग खड़ा हुआ। जब महमूद कन्नौज को लूट कर लौट गया तों चंदेल शासक ने राज्पाल को इस कायरता की सजा देने के लिए कन्नौज पर आक्रमण किया और राज्यपाल को गद्दी पर बिठाया किंतु महमूद ने 1019 ई० में उसे (त्रिलोचनपाल) परास्त कर दिया। त्रिलोचनपाल के बाद यशपाल शासक बना जो 1027 ई० में शासक बना वह नाममात्र का शासक था। वह गुर्जर प्रतीहार वंश का अंतिम शासक था।

çfrgkj oa'k dk egRo

प्रतिहार वंश के महत्व पर प्रकाश डालते हुए डा० आर० सी० मजूमदार कहने है कि हर्ष को अंतिम साम्राज्य निर्णाता का श्रेय देना एक बड़ी मूल है। उनके अनुसार इसका वास्तविक श्रेय प्रतीहार सम्राटों को दिया जाना चाहिए क्योंकि प्रतीहारों ने 100 वर्ष तक उत्तरी भारत में हर्ष से कहीं बड़े साम्राज्य की स्थापना की। प्रतीहार वंश में वत्सराज, नागभट्ट द्वितीय, मिहिर भोज और महेन्द्रपाल जैसे योग्य शासक हुए। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि राष्ट्रकूटों और पालों से हुए कन्नौज की त्रिपक्षीय संघर्ष में वे सफल हुए और कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया।

प्रतिहारों को भारत की रक्षा करने का श्रेय जाता है। ये प्रतीहार ही थे जिन्होंने मुसलमानों का भारत में प्रवेश करनें से रोका। जब तक उनकी शक्ति कायम रही अरबों के सारे आक्रमण विफल हो गए किंतु उनके पतन के बाद बने छोटे–छोटे राज्य इस कार्य को नही कर सकते थे। इस संबंध में एलफिस्टन ने इस बात पर आश्चर्य व्यक्त किया है कि अपने विशाल साम्राज्य और शक्ति के बावजूद अरब भारत में क्यों नही धुस पाए। इसका उत्तर हमें स्वयं अरब के यात्री–सलेमान के विवरणों से प्राप्त होता जिसमें उसनें कहा है कि मिहिर भोज "अरबों का शत्रु था तथा इस्लाम का सबसे बड़ा दुश्मन"। इस कटुता के बावजूद सुलेमान उसके प्रशासन व्यवस्था और सैन्य शक्ति की सराहना किए बिना न रह सका। बाद के वर्षों में भी जब प्रतीहार अपने पतन की ओर उन्मुख थे और वे भारत की कोई शक्ति नहीं रह गए थे तब भी उन्होंने (प्रतीहार शासक राज्यपाल) ने सुबुक्तगीन तथा गजनवी के विरूद्ध हिंदूशाही वंश को मदद दी और अरबों को रोकने का पूरा प्रयत्न किया।

जैसा कि सुलेमान के विवरण से ज्ञात होता है उनकी शासन व्यवस्था चुस्त थी और साम्राज्य में सुख और शांति। इस वंश के संरक्षण में राजशेखर जैसे विद्वान का होना यह सिद्ध करता है कि प्रतीहार शासक कला प्रेमी और साहित्य प्रेमी होंगे।

rF; ,d nf"V e&

I गुर्जर–प्रतिहार वंशावली–

1. नागभट्ट प्रथम (730–756 ई०)
2. वत्सराज (783–795 ई०)
3. नागभट्ट–**II** (795–833 ई०)
4. रामचंद्र (833–836 ई०)
5. मिहिर भोज (836–889 ई०)
6. महेन्द्रपाल (890–910 ई०)
7. महिपाल (912–944 ई०)

II राष्ट्रकूट वंशावली–

1. दंन्तिदुर्ग (752–)
2. कृष्ण प्रथम
3. गोविंद
4. ध्रुव (779–973 ई०)
5. गोविंद तृतीय (793–814 ई०)
6. अमोध वर्ष (878–914 ई०)
7. कृष्ण द्वितीय (878–914 ई०)
8. इंद्रतृवीय (914–927 ई०)
9. गोविंद चतुर्थ (927–936 ई०)
10. अमोधवर्ष तृतीय (936–939 ई०)
11. कृष्ण तृतीय (939–967 ई०)

III पाल वंशावली

1. गोपाल (750–770 ई०)
2. धर्मपाल (770–815 ई०)
3. देवपाल (810–850 ई०)
4. विग्रहपाल–**I**
5. नारायण पाल (855–908 ई०)
6. महीपाल–**I** (988–1038 ई०)
7. जयपाल (1038–1055 ई०)
8. विग्रहपाल–**III** (1055–1070 ई०)
9. महीपाल–**II**
10. रामपाल (1077–1120 ई०)

jk"V'dV

उत्पत्ति– राष्ट्रकूटों के उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतभेद है, यद्यपि ज्यादातर विद्वानों का मत है कि राष्ट्रकूट किसी कुल या कबीले का नाम न होकर, एक पद का नाम था। चालुक्यों के समय में राज्य राष्ट्रों में विभक्त था। राष्ट्र वर्तमान जिलों के समान थे। इन जिलों (राष्ट्रों) के अधिकारी राष्ट्रकूट कहलाए। ऐसा माना जाता है कि राष्ट्रकूट बादामी के चालुक्यों के अधिकारी थे, जिन्होंने शक्ति कमजोर होने पर स्वयं अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया।

इस वंश के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उनके पूर्वज का नाम रट्ट था जिसके पुत्र "राष्ट्रकूट"ने इस कुल की स्थापना की। किंतु इतिहासकार "राष्ट्रपति" को काल्पनिक व्यक्ति बताते है। कुछ इतिहासकार राष्ट्रकूटों को राठौरो का वंशज मानते है किंतु यह सहीं प्रतीत नहीं होता। बरनेल के अनुसार राष्ट्रकूट आंध्र प्रदेश के रेड्डियों से संबंधित थे। इन सब में स्वाधिक उचति सही जान पड़ता है कि मान्यखेट के राष्ट्रकूट रष्टिकों या रठिकों के वंशज थे जो तीसरी सदी के मध्य में काफी शक्तिशाली थे और जिनका वर्णन अशोक के अभिलेखों में भी है।

राष्ट्रकूटों के मूल स्थान के संबंध में भी मतभेद है। डा० अल्तेकर उनका मूल स्थान कर्नाटक बताते है क्योंकि वे कन्नड़ भाषा तथा लिपि का प्रयोग करते थे। अनेक अभिलेखों में उनको "लट्टलूर का स्वामी" लिखा हुआ है। कुछ विद्वाान उन्हें महाराष्ट्र का मूल निवासी मानते है।

प्रमुख शासक– सातवीं सदी में राष्ट्रकूट, चालुक्यों के अधीन सामंत थे। उनके वंश में से इन्द्र ने औरंगाबाद में एक दृढ़ राज्य की स्थापना की। उसने एक चालुक्य राजकुमारी से विवाह कर अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली।

1. **दंतिदुर्ग (733–758 ई०)–** यह चालुक्य राजकुमारी भवनागा और इंद्र राज का पुत्र था। जब 733 ई० में उसनें सिंहासन ग्रहण किया और तब वह चालुक्य शासक को अपना अधिपति मनता था। वह एक कुशल कूटनीतिज्ञ और पराक्रमी व्यक्ति था। उसने चालुक्य शासक विक्रमादित्य द्वितीय की ओर से अनेक युद्धों में भाग लिया। इसनें कच्ची के पल्लव शासक, कलिंग के शासक, दक्षिण गुजरात के शासक, मालवा के प्रतीहार शासक और कुर्नूल के अधिपति को युद्धों में पराजित किया। 744 ई० विक्रमादित्य की मृत्यु के बाद ही उसने कलिंग, मालवा आदि पर आक्रमण किया था और विजय प्राप्त की थी। इस प्रकार, उसके राज्य का विस्तार होता देख चालुक्य शासक कीर्तिवर्मन को चिंता हुई और उसनें उसकी शक्ति को कम करने के उद्देश्य से उसपर आक्रमण कर दिया। दंतिदुर्ग में कीर्तिवमन–**II**, को बुरी तरह पराजित किया और इस प्रकार मध्य भारत, गुजरात और महाराष्ट्र का शासक बन गया। इस प्रकार, 753 ई० में दंतिदुर्ग ने चालुक्यों (बादमी) को पराजित कर राष्ट्रकूट वंश की स्थापना की।

   वह एक धार्मिक स्वभाव का व्यक्ति था। यह त्योंहारों और अन्य अवसरों पर ब्राह्मण को भारी दान देता था। उसनें उज्जैन में हिरण्यगर्भा यज्ञ किया था। इसका कोई पुत्र न था। अतः इसकी मृत्यु के उपरांत उसका चाचा कृष्ण प्रथम गद्दी पर बैठा।

2. **कृष्ण प्रथम (758–733 ई०)–**इसके शासन काल में कीर्तिवर्मन–II ने अपनी खोई हुई शक्ति को संगठित कर अपनी खोई हुई सत्ता प्राप्त करने की कोशिश की परंतु कृष्ण प्रथम ने उसे सफल ना होने दिया। उसने कोंकण को जीतकर शीलाहार सांमतों को नियुक्त किया। 768 ई० में गंगराजा श्री पुरूष को जीतकर अपनी शक्ति को और विस्तृत किया। उसने वेंगी के पूर्वी चालुक्य शासक विष्णुवर्द्धन–IV को भी पराजित किया और उसके राज्य (हैदराबाद) पर कब्जा कर लिया।

   वह एक महान निर्माता था और उसी ने ऐलारा का प्रसिद्ध कैलाश मंदिर बनवाया। इस मंदिर के बारे में विंसेंट–स्मिथ ने कहा है कि ठोस चट्टान काटकर बनाया हुआ यह अद्‌भुत मंदिर "भारत के वास्तु आश्चर्यो में सर्वाधिक विस्मयजनक है।"

3. **गोविंद द्वितीय (773–780 ई०)–** कृष्ण प्रथम की मृत्यु के बाद उसका पुत्र गोविंद द्वितीय शासक बना। यद्यपि युवराज की हैसियत से उसने अपने पिता कों वेंगी नरेश विष्णुवर्धन– को परास्त किया था, पंरतु सिंहासनारूढ होने के बाद उसकी कोई खास उपलब्धि नहीं रही। वह भोग विलास में डूब गया और शासन का सारा

उत्तरदायित्व अपने छोटे भाई ध्रुव को सौप दिया। अवसर का लाभ उठाकर ध्रुव ने विद्रोह कर दिया और 780 में ध्रुव स्वयं सिंहासन पर बैठ गया।

4. **ध्रुव (780–793 ई०)–** ध्रुव एक महान सम्राट था। उसनें पल्लव शासक दंतिवर्मा और वंगी के चालुक्य शासक विष्णुवर्धन चतुर्थ को परास्त करने दक्षिण भारत में अपनी श्रेष्ठता को स्थापित किया। विष्णुवर्धन को उससे अपना कुछ क्षेत्र देने को विवश किया और उसकी पुत्री शीलमहादेवी से विवाह किया। उसने गंग राज्य (मैसूर) को अपने अधीन कर लिया और उसके युवराज को कैद कर लिया। उसी प्रकार उसने पल्लवों को भी पराजित किया। उसनें पल्लव, गंग, पूर्वी चालुक्य और मालवा के राजाओं के एक संध को परास्त किया। उसनें अपनें सभी विरोधियों से बदला लिया–पल्लवों से धन और हाथी हर्जाने के रूप में लिया, मालवा के राजा को उसनें परास्त कर राजपूताना मे शरण लेने का बाध्य कर दिया। मालवा का शासक वत्सराज था। उसने बंगाल के पाल शासक थे। ध्रुव ने इन दोनों को पराजित किया। कन्नौज के अधिकार के लिए राष्ट्रकूटों के प्रतिद्वंदी ये ही दोनों शासक थे। ध्रुव ने इन दोनों को पराजित तो कर दिया लेकिन अपनी उत्तर विजय को संगठित नही किया और वापस दक्षिण लौट आया। इसका लाभ धर्मपाल ने उठाया और उत्तर में साम्राज्य विस्तार कर लिया। इस प्रकार उसनें उत्तर भारत की राजनीति में हस्तक्षेप किया और इसमें सक्रिय रूप से भाग लिया। तत्कालीन भारतीय शासकों में कोई भी ध्रुव जितना शक्तिशाली नहीं था।

5. **गोविंद तृतीय (793–814 ई०)–** ध्रुव के बाद उसका पुत्र गोविंद तृतीय शासक बना। संभवतः उसका राज्याभिषेक ध्रुव ने ही कर दिया था। वह एक योग्य पिता का योग्य पुत्र था। वह एक महान सम्राट और यशस्वी शासक था। ध्रुव को मृत्यु से पूर्व ही यह आभास हो गया था कि उसकी मृत्यु के उपरांत उत्तराधिकार के लिए संघर्ष हो सकता है अतः उसने अपने शासन काल में ही गोविंद–III का राज्याभिषेक कर दिया था। किंतु इसको विशेष लाभ नहीं हुआ क्योंकि ध्रुव की मृत्यु के उपरांत उसके बड़े पुत्र स्तंभ ने गोविंद के विरूद्ध विद्रोह कर दिया। गोविंद ने इसे कुचल दिया और स्तंभ को गंग राज्य में अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया। इस विद्रोह के दमन में गोविंद को अपने भाई इंद्र का सहयोग प्राप्त हुआ। इंद्र को गुजरात का प्रोतपति नियुक्त किया गया।

   गोविंद ने गंगराज शिवमार को मुक्त कर दिया किंतु जब इसने पुनः विद्रोह किया तो उसे पुनः कारावास में डाल दिया। इसके बाद गोविंद ने पल्लव शासक पर आक्रमण किया और उसे फिर परास्त किया। गोविंद–IV ने वेगी के चालुक्य शासक विज्यदित्य को हराया और उसे अपमानित भी किया।

   अपने पिता के नीतियों का अनुसरण करते हुए उसने भी उत्तर भारत की राजनीति में हस्तक्षेप किया। गोविंद ने उत्तर भारत में राष्ट्रकूटों के सम्मान को पुनः स्थापित किया। ध्रुव के वापस दक्षिण लौट आने के बाद वत्सराज का पुत्र नागभट्ट–II का एक योग्य शासक के रूप में प्रतीहारों की शक्ति का संगठन कर रहा था। उधर धर्मपाल के कन्नौज के शासक इंद्रायुद्ध को सत्ता से हटाकर उसके पुत्र चक्रायुद्ध को अपने प्रतिनिधि के रूप में कन्नौज के शासक इंद्रायुद्ध को सत्ता से हटाकर उसके पुत्र चक्रायुद्ध को अपने प्रतिनिधि के रूप में कन्नौज में स्थापित कर दिया था। इस प्रकार धर्मपाल और प्रतीहार शासक नागभट्ट ने स्वयं को उत्तर भारत की महत्वपूर्ण शक्ति बना लिया था और राष्ट्रकूटों का प्रभाव लगभग समाप्त हो गया था।

   गोविंद ने उत्तर भारत पर आक्रमण किया और नागभट्ट की बुरी तरह पराजित किया। उसने चक्रायुद्ध को भी परास्त किया धर्मपाल को अपनी अधीनता स्वीकार करने पर बाध्य किया। एक बार पुनः सर्वाधिक शक्तिशाली शासक के रूप में उभरे। गोविंद भी उत्तर भारत में नही रूका और दक्षिण लौट आया। उसके वापस आने के बाद नागभट्ट–II ने अपनी शक्ति का विस्तार कर लिया और कन्नौज विजित कर लिया। परंतु मालवा और गुजरात पर राष्ट्रकूटों का अधिकार रहा।

   दक्षिण भारत में गोविंद ने वेंगी में अपने समर्थक भीम को विक्रमादित्य–II के विरूद्ध शासक बनाने में सफलता पाई। उसने पल्लव, पांड्य, चेर शासकों को परास्त किया और अपने राज्य का विस्तार कांची तक कर लिया। श्रीलंका के राजा ने आंतकित होकर उससे मित्रता कर ली।

इस प्रकार, गोविंद–III ने अपने वंश के यश और कीर्ति में वृद्धि करके भारत का सबसे शक्तिशाली वंश बना दिया। गोविंद–III एक महान विजेता ही नहीं था वरन् एक कुशल प्रशासक भी था। कर्ण के बडौदा अभिलेख में उसकी तुलना पार्थ से की गई है।

6. **अमोघवर्ष (814–878 ई०)–** गोविंद–III के बाद अमोधवर्ष शासक बना। वह भी एक शक्तिशाली शासक था। उसने 62 वर्षो तक शासन किया। यद्यपि स्वयं अमोधवर्ष एक बहुत योग्य सेनापति नहीं था किंतु अपने कुशल सेनापरितयों की मदद से उसने प्रतीहार शासक भोज को दक्षिण की ओर बढ़ने से रोका और वेंगी की चालुक्य शासक को भी परास्त किया। वह एक कुशल शासक था और उसने अपने राज्य में शांति व्यवस्था स्थापित की। 851 ई० में अरबी यात्री सुलेमान ने उसके राज्य का भ्रमण किया और उससे बहुत प्रभावित हुआ। सुलेमान ने उसे भारत का सबसे बड़ा शासक तथा संसार के चार महानतम् राजाओं में से एक था। उसनें मान्यखेत बसाया और उसे राजधानी बनाया।

   अमोधवर्ष जैन धर्म का अनुयायी था। जिनसेन उसके गुरू थे। वह जैन संस्थाओं को मुक्त हस्त दान देता था। वह एक साहित्य प्रेमी था और धर्मों के प्रति सहिष्णु था। वह स्वयं एक विद्वान था। उसने "कविराज मार्ग" की रचना की।

7. **कृष्णा द्वितीय (875–914 ई०)–** इसके काल में चालुक्य–राष्ट्रकूट संघर्ष होता रहा। उसने वेंगी की चालुक्य शासकों को तो हरा दिया किंतु प्रतीहार शासक भोज ने उसे पराजित किया और उससे मालवा और कठियावाड़ जीत लिया। उसे चोल शासक ने भी पराजित किया। उसकी मृत्यु 914 ई० में हुई।

8. **इंद्र तृतीय (914–927 ई०)–**इसनें प्रतिहार शासक महिपाल को पराजित किया और कन्नौज को लूटा। पूर्वी चालुक्य शासक विक्रमादित्य–V भी उसके साथ युद्ध में मारा गया। इसके बाद गोविंद–IV (927–936 ई०) और अमोधवर्ष–III (936–393 ई०) शासक बने किंतु इनमें गृह युद्ध चलताा रहा।

9. **कृष्ण तृतीय (939–965 ई०)–** यह राष्ट्रकूटों का आखरी महान शासक था। उसने राष्ट्रकूटों की प्रतिष्ठा को स्थापित किया। उसने गंग राजा की सहायता से चोल राज्य का आक्रमण किया और काँची और तंजौर को अपने अधिकार में ले लिया। उसनें वेंगी को विजित किया और उत्तर भारत के परमार शासक सीयक को परास्त कर दिया। इस प्रकार इसने दक्षिण भारत में एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की। इसकी मृत्यु 965 ई० में हुई। कृष्ण तृतीय का उत्तराधिकारी खो ट्टिग बना। उसने 972 ई० तक शासन किया। खोटिट्य के शासन काल में परमार शासक सीमक ने राष्ट्रकूट की राजधानी मान्यखेट को खूब लूटा। खोट्टिग की मृत्यु के उपरांत कर्क–II (972–975 ई०) शासक बना। किंतु यह एक अयोग्य शासक था। इसका लाभ उठाकर तैलप ने 973 ई० में राष्ट्रकूटों के साम्राज्य पर अधिकार कर लिया और कल्याणी के चालुक्य वंश की स्थापना की।

jk"VªdwVksa dk egRo

राष्ट्रकूटों को दक्षिण भारत के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। बादामी के चालुक्यों को नष्ट करके इन्होंने 223 वर्षो तक शासन किया और बड़े ही सशक्त तरीके से उत्तर भारत की राजनीति में हस्तक्षेप किया। ध्रुव, गोबिंद तृतीय और अमोधवर्ष अपने काल के सर्वाधिक शक्तिशाली शासक थे। राष्ट्रकूटों ने अरबों के साथ सद्भाव बनाये रखा और उन्हें व्यापार संबंधी सुविधाएँ दी और धार्मिक अधिकार भी। गुर्जर–प्रतिहारों पर और उन्हें व्यापार संबंधी सुविधाएँ दी और धर्मिक अधिकार भी। गुर्जर–प्रतिहारों पर दबाव डालने के उद्देश्य से उन्होंने अरबों से मित्रता की थी। यह एक अटूटदर्शी नीति थी।

प्रशासन– राजा शासन के शीर्ष पर होता था और राजा का पद अनुवंशिक होता था। राजा "युवराज" की घोषणा करता था और उसे शासन कार्यो में संबद्ध कर अनुभव प्रदान करते थे। राजा मंत्रियों के सहयोग से शासन चलाते थे। मंत्रिपरिषद में प्रधानमंत्री, विदेशमंत्री, राजस्वमंत्री, कोषाध्यक्ष, प्रधान न्यायधीश, सेनापति और पुरोहित होते थे। मंत्रियों में सैन्य योग्यता होती थी।

राज्य "राष्ट्रों" (कमिश्नरी) और राष्ट्र, "विषयों" (जिलों) में विभक्त थे। विषय भुक्तियों में बँटे थे। गाँव शासन की सबसे छोटी ईकाई थी।

समाज– समाज चार वर्णो में बँटा था। ब्राह्मणों को ऊँचा स्थान प्राप्त था। वैश्यों को शूद्रों के बराबर दर्जा प्राप्त था। स्त्रियों की स्थिति अच्छी थी। सती प्रथा नही था। पर्दा प्रथा के संकेत नहीं मिलते। बाल विवाहों का प्रचलन था। विधवा विवाह का प्रचलन तो न था लेकिन विधवाओं की स्थिति दयनीय नही थी। संपत्ति में विधवा के अधिकार को मान्यता मिलने लगी थी।

धर्म– राष्ट्रकूट लोग ब्राह्मण धर्म मानते थे। बौद्ध धर्म को कोई संरक्षण न मिला और यह अवनति की ओर अग्रसर थी। राष्ट्रकूट शासकों ने जैन धर्म को संरक्षण दिया। अमोधवर्ष, इंद्र–II , कृष्ण–III और इंद्र–III ने जैन धर्म को संरक्षण प्रधान किया। राष्ट्रकूट राज्य में शिव और विष्णु की पूजा लोकप्रिय थी। राष्ट्रकूट मुद्राओं पर विष्णु के वाहन गरूड़ था योग मुद्रा में बैठे शिव चित्र अंकित है। दंति दुर्ग ने उज्जैनी में "हिरण्यगर्मा" यज्ञ किया था। "तुलादान" का उल्लेख मिलता है।

कला– इस काल और विशेषकर स्थापत्यकला, चित्रकला और मूर्तिकला का भारी विकास हुआ। ऐलोरा का कृष्णा–द्वारा निर्मित कैलाश मंदिर एक अद्वितीय कृति है। पहाड़ों चट्टानों को काट कर बनाया गया यह विशाल मंदिर वास्तुकला का श्रेष्ठ नमूना है। इस मंदिर के भित्ति–चित्रों में "गंगावतरण" और रावण द्वारा कैलाश पर्वत के उठाये जाने का चित्र अत्यंत आकर्षक है।

शिक्षा और साहित्य– राष्ट्रकूट शासक शिक्षा और साहित्य के संरक्षक थे और दोनों ने इस काल में प्रगति की। इस काल में कन्हेरी का बौद्ध बिहार शिक्षा का प्रमुख केंद्र था। कन्नड़ साहित्य ने इस काल में काफी तरक्की की। कन्नड़ साहित्य के उपलब्ध गंथ्रों में सबसें पुराना अमोधवर्ष रचित "कविराज मार्ग" है। कन्नड़ भाषा का सर्वश्रेष्ट कवि पम्मा इसी काल में हुआ। उसने "आदि पुराण" और "विक्रमाजुर्नविजय" की रचना की थी। पोत्ता और रन्ना भी इसी काल के थे। कृष्णा तृतीय ने पोत्रा को उभयकवि चक्रवर्त्ति की उपाधि दी थी। इनकी रचना "शांति पुराण" है। रन्ना की प्रमुख रचनाएँ है– "अजितपुराण" और "गद्यपुराण"।

v/;k; 15

Hkkjr ij rqdhZ vkØe.k

यह अध्याय निम्न भीर्शको में बँटा है–

- *तुर्को के आगमन पर भारत की स्थिति*
- *गजनवी के आक्रमण का उद्दे य और परिणाम*
- *गजनवी के मुख्य आक्रमण*
- *गोरी के आक्रमण का उद्दे य और परिणाम*
- *तुर्को की सफलता के कारण*

इस अध्याय में हम भारत पर तुर्को के आक्रमण, उनके आक्रमण के उद्दे यों तथा भारत पर पड़ने वाले इसके परिणाम का जायजा लेगें। तुर्को से पूर्व भी कई बार विदे ी आक्रांताओं ने भारत पर आक्रमण किया और यहाँ साम्राज्य स्थापित की किंतु कोई भी अपनी अलग पहचान बनाकर नहीं रख सका और वे इस दे । की संस्कृति में धूल मिल गए।

तुर्को ने भारत पर आक्रमण किया और इसकी राजनीतिक दुर्बलता तथा केंद्रीय सत्ता के आभाव का पूरा लाभ उठाया। उन्होंने यहाँ एक ऐसी सत्ता स्थापित की जिसने 300 वर्शो से भी अधिक समय तक लगभग संपूर्ण भारत पर भासन किया।

Hkkjr ij rqdksa dk vkØe.k

तुर्क आक्रमणों के पूर्व उत्तरी–भारत की राजनीतिक स्थिति– उत्तरी भारत के इतिहास में हर्शवर्धन की मृत्यु (647ई०) के प चात् केन्द्रीय सत्ता का युग समाप्त हो गया। कुछ समय के लिए उत्तरी भारत पर सता के प्रभुत्व के लिए त्रिपक्षीय संघर्श हुआ, जिसमें कन्नोज पर अधिकार करने के लिए पाल, प्रतिहार और राश्ट्रकूट भासकों के बीच युद्ध हुआ। परिणामस्वरूप इन तीनों भासकों की भाक्ति का ह्रास हुआ और प्रतिहार वं । के स्थान पर राजपूत भासकों का उत्कर्श हुआ। तुर्क आक्रमण के दोनों चरण अर्थात महमूद गजनवी के आक्रमण और मुहम्मद गौरी के आक्रमण के समय उतरी भारत के अधिकां । भाग पर राजपूत भासकों का अधिपत्य था। चूँकि इन दो आक्रमणों के बीच लगभग डेढ़ भाताब्दी का अन्तर था, इस अवधि के बीच उतर भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति में कोई मौलिक परिर्वतन नही आया था बल्कि निंरतर गिरावट की ओर उन्मुख था। 8वीं सदी से लेकर 11वीं सदी के प्रथम चरण तक भारत पतन की ओर इस तरह उन्मुख था कि इस काल में कोई भी विदे ी आक्रमणकारी उसे परास्त कर सकता था।

राजनीतिक दृश्टि से भारत की स्थिति दयनीय थी। उसकी केन्द्रीय भाक्ति हर्शवर्धन की मृत्यु के प चात ही कमजोर हो गयी थी और छोटे–छोटे राज्य अपने अस्तित्व में आ चुके थे। इन राज्यों में भी पारस्परिक एकता एवं सहयोग का आभाव था। कन्नोज में प्रतिहार, बंगाल में पाल, गुजरात में चालुक्य, बुन्देलखंड में चन्देल, मालवा में परमार तथा क मीर में दीदा नामक स्त्री भासन कर रहें थे। दक्षिण भारत में चोलों का राज्य था। इन सभी राज्यों में पारस्परिक एकता एवं सहयोग का आभाव था जिसके कारण ये एक गुट होकर मुस्लिम आक्रमण का सामना करने में असमर्थ थे।

भारतीय समाज भी सामाजिक कुरीतियों के ि ाकार हो चुकी थी। जाति व्यवस्था बड़ी कठोर थी। ब्राहणों के व्यवहार से निम्नवर्गीय जातियों के लोग बहुत क्षुब्ध थे। नारियों की स्थिति काफी दयनीय ? थी। इनका समाज में कोई सम्मान

नही थी। उन्हें केवल भोग–विलास की वस्तु समझा जाता था। देवदासियों, विधवाओं और सतियों के कारण कई सामाजिक बुराइयाँ समाज में जन्म ले चुकी थी।

धार्मिक दृश्टि से भी भारत की स्थिति अच्छी नही थी। हिन्दु धर्म कि स्थिति अच्छी नही थी। ब्राहमण और धर्म–पुरूश विलासिता के ि ाकार थे। मंदिरों और मठों में अपार धन था, जिसके कारण वहाँ विलासिता का वातावरण बन गया था। देवदासियों के कारण मंदिर भ्रश्टाचार के केन्द्र बन गये थे। अध्यात्मिकता का लोप हो रहा था।

महमूद के आक्रमण के समय उतरी भारत के प्रमुख राज्य एवं उसकी स्थिति निम्नलिखित रूप में थी।

(i) **मुलतान और सिन्ध के राज्य–** 8वीं भाताब्दी के आरंभ में ही मुलतान और सिन्ध के राज्य अरबों द्वारा जीत लिये गये थे। परंतु 817 ई० के आस–पास इन्होंने खलीफा की सत्ता का परित्याग कर दिया था। यहाँ करामिता मुसलमानों का भाासन था और मुलतान का भाासक फतद दाउद था।

(ii) **हिन्दु–शाही राज्य–** उतरी भारत का यह एक वि ााल राज्य था जो क मीर की सीमा से मुलतान की सीमा तक तथा चिनाब नदी से लेकर हिन्दुकु ा पर्वतमाला तक फैला हुआ था। इसकी राजधानी वैदिन्द में अवस्थित थी तथा महमूद के आक्रमण के समय वहाँ का राजा जयपाल था।

(iii) **कश्मीर का राज्य–** उतर भारत में अवस्थित क मीर का राज्य महमूद गजनवी के आक्रमण के समाय राजनीति अव्यवस्था का ि ाकार था। क्योकि यहाँ क्षेत्र गुप्त नामक भाासक का राज्य था परंतु उसकी पत्नी दीदा के हाथों में वास्तविक सता थी। 1003 ई० में दीदा की मृत्यु के बाद यहाँ संग्राम राज ने सता संभाल ली थी।

(iv) **राजपूत राज्य–** राजपूतों की सता का उत्कर्श 8वीं भाताब्दी में हुआ। आरंभ में ये प्रतिहार भाासकों के अधीनस्थ सामन्तों के रूप में रहें। लेकिन प्रतिहारों की भाक्ति के पतन से लाभ उठाकर इन्होंने स्वतंत्र राज्यों की स्थापना कर ली थी। दिल्ली पर तोमर वं ा का भाासन, कन्नौज और का ी पर प्रतिहार वं ा का भाासन, बुन्देलखण्ड पर चन्देलों का भाासन, आधुनिक जबलपुर के समीपवर्त्ती क्षेत्रों में स्थित छेदी राज्य पर कुलाचुड़ि वं ा का ाासन, मालवा में परमार वं ा का भाासन, गुजरात में सोंलंकी राजपूतों का भाासन, राजस्थान के क्षेत्र में अजमेर पर चौहान वं ा का भाासन जबकि चितौड़ पर गुहिलों का भाासन था।

भारत पर महमूद गजनवी के आक्रमण के कारण या उद्देश्य

बारथोल्ड के अनुसार ग़ज़नीकाल में, विशेष रूप से महमूद के समय में, साम्राज्य का सर्वोत्तम रूप प्रकट हुआ। अपने पिता का उत्तराधिकारी होने के बाद महमूद ने खलीफा क़ादिर के पास प्रार्थनापत्र भेजा कि नए स्थापित किए हुए राज्यों को विधि द्वारा प्रतिष्ठा मिले और उनके अधिकार न्यायोचित माने जाएँ। खलीफा क़ादिर ने उसको नियुक्ति–पत्र द्वारा राजसत्ता का अधिकारी बनाया और यमीनुद्दौला (साम्राज्य का दाहिना हाथ) की उपाधि दी। इसके अतिरिक्त उसको अमीन–उल–मिल्लत (मुसलमानों का संरक्षक) का खिताब भी दिया । महमूद ने आदेश दिया कि खलीफा का नाम उसके समस्त राज्य के ख़ुतबा में शामिल किया जाए। इस प्रकार खलीफा का प्रभाव तब तक प्रतीक के रूप में बना ही रहा जब तक कि इस प्रप्ति को 1258 ई० में हलाकू ख़ान ने समाप्त नहीं कर दिया।

ग़ज़नी राज्य के उत्थान के समय भारत की उत्तर–पश्चिमी सीमा पर तुर्कों का प्रभाव बढ़ गया। मध्य एशिया में ग़ज़नवी राज्य एक नए साम्राज्यवादी आंदोलन का केंद्र बन गया जिसका उद्देश्य था तुर्क एवं फारस पर अधिकार। ग़ज़नी और लाहौर ग़ज़नी सम्राज्य के महत्वपूर्ण प्रशासन केंद्र बन गए।

सन् 1000 और 1026 के बीच महमूद ने भारत पर सत्रह बार आक्रमण किए। महमूद के कुछ प्रमुख आक्रमण पंजाब के हिंदू शाही राजाओं में जयपाल और आनंदपाल, मुल्तान, भटिंडा (1004 ई०); नारायणपुर (1009 ई०); थानेश्वर (1014 ई०); कन्नौज और मथुरा (1018, 1029 ई०); कालिंजर (1019 ई० तथा 1022–23ई०) तथा जादों (1027 ई०) के विरुद्ध हुए हैं। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण सोमनाथ मंदिर वाला आक्रमण (1024–26 ई०) था। उन दिनों सोमनाथ का मंदिर अपनी अपार संपत्ति के लिए प्रसिद्ध था। भारत में पंजाब के बाहर यह उसका अंतिम अभियान था। 1030 ई० में ग़ज़नी में महमूद की मृत्यु हो गई।

egen d: vkØe.k dk mnns';

हमें महमूद के भारतीय आक्रमणों के उद्देश्य की व्याख्या सावधानी से करनी चाहिए। महमूद को इस्लाम का योद्धा माना जाता है और यह कहा जाता है कि उसने भारी धार्मिक कट्टरता का परिचय दिया किंतु यह विचारधारा सही नहीं है। वास्तव में महमूद एक मूर्तिभंजक आक्रमणकारी था। उसके आक्रमणों का उद्देश्य धन–प्राप्ति था जिससे मध्य एशिया में एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया जा सके। प्राचीन काल से ही भारत में मंदिर हिंदुओं के सामजिक और आर्थिक गतिविधियों के केंद्र थे। मूर्तियों के साथ–साथ इन्हीं मंदिरों में सोना, चाँदी, हीरा–जवाहरात और खजाना आदि रखा जाता था। महमूद ने इन मंदिरों का धन–संबंधी महत्व अच्छी तरह समझ लिया था। यह सच है कि मंदिरों के धन ने ही उसकी वित्तीय व्यवस्था को सुरक्षित किया और यही धन सेना को सुगठित और शक्तिशाली बनाने में लाभदायक सिद्ध हुआ। प्रोफेसर हबीब के मतानुसार "यह आश्चर्य की बात नहीं है कि यूरोप के कैथोलिक चर्च के समान हिंदू मंदिर भी कभी–न–कभी किसी शक्तिशाली और अत्याचारी को कोई अपवित्र कार्य करने के लिए अवश्य आकर्षित करते थे।" किंतु महमूद के आक्रमण को धर्मयुद्ध कहना एक बुनियादी भूल होगी। बल्कि यह कहना ठीक होगा कि उसने खजाना लूटने के लिए भारी हमले किए। इस तथ्य की पुष्टि इस बात से होती है कि शांति के समय मंदिरो पर किसी प्रकार का आक्रमण न हुआ। केवल लड़ाई के समय अपने मुस्लिम भाइयों की सहानूभूति और सहायता प्राप्त करने के लिए महमूद ने मंदिरों को तहस–नहस किया तथा धन लूटकर ले गया। प्रोफेसर हबीब तथा निज़ामी ने पुष्ट प्रमाणों से यह सिद्ध किय है कि इस्लामी कानून में भी ऐसा कोई सिद्धांत नहीं है, जो विध्वंस के कार्य को उचित समझे या उसे बढ़ावा ही दे।

इस प्रकार महमूद के भारतीय हमले धन प्राप्त करने के लिए एक साधनमात्र थे, जिनका उद्देश्य था मध्य एशिया में तुर्की–फ़ारसी साम्राज्य की स्थापना। यह सिद्ध हो चुका है कि महमूद ने भारत में कोई स्थायी राज्य बनाने का लक्ष्य नहीं रखा क्योंकि वह लगातार ग़ज़नी लौटता रहा। उसने ध्यानपूर्वक विजयी इलाकों का बंदोबस्त कभी नहीं किया। साथ ही उसने जीते हुए इलाकों को अपने राज्यों में नहीं मिलाया। पंजाब तक का संपन्न राज्य उसने अपने राज्य में देर से (सन् 1021–1022 में) मिलाया। मध्य एशिया का विशाल साम्राज्य भारतीय धन से संगठित हो सकता था। इस भाँति भारत पर किए गए महमूद के आक्रमण आर्थिक और राजनीतिक दृष्टिकोण से अत्यधिक महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं।

सन् 1000 से पहले ही भारत पर अनेक आक्रमण किए जा चुके थे, जैसे यूनानियों, कुषाणों, शकों, हूणों, अरबों आदि में खपा लिया। किंतु अनेक कारणों से महमूद के आक्रमण अत्यंत महत्वपूर्ण थे। इसका प्रधान कारण यह है कि इन्हीं के द्वारा मुस्लिम राज्य की स्थापना के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ। पंजाब एवं मुल्तान विजय से भारतीय राजनीतिक स्थिति में बड़ा परिवर्तन हुआ। अब इन क्षेत्रों पर तुर्कों का स्थायाी अधिकार था। पंजाब के सीमांत प्रदेश की महत्व–प्रतिष्ठा भारत के इतिहास पर अधिक थी। इन आक्रमणों से भावी विजेताओं, विशेषकर मुहम्मद ग़ोरी का कार्य सुगम हो गया।

इस्लाम धर्म का प्रतिनिधित्व करने वाले तुर्क थे। आगे चलकर यह धर्म भारतीय राजनीति और समाज के लिए प्रभावशाली सिद्ध हुआ। महमूद के आक्रमण के समय एक बहुत बड़ा विद्वान अलबरूनी भारत आया, जिसकी पुस्तक **किताबुलहिंद** तत्कालीन इतिहास को जानने का एक महत्वपूर्ण साधन है। इसमें भारतीय गणित, इतिहास, भूगोल, खगोल, दर्शन आदि की समीक्षा की गई है। धीरे–धीरे लाहौर फ़ारसी संस्कृत का केंद्र बन गया। पंजाब प्रांत से अनेक धर्मप्रचारक, व्यापरी, विद्यार्थी भारत में फैलने लगे। भारत में तुर्क–फ़ारसी प्रशासनिक संस्थाओं का गठन हुआ। महमूद और उसके उत्तराधिकारी मसूद ने हिंदूओं को बड़ी संख्या में रोजगार दिया। मसूद की आधी सेना में हिंदू ही थे। इनमें सेवंद राय और तिलक के नाम प्रमुख है जो उच्च पदों पर थे। भारत से वह अनेक कारीगर ले गया जिन्होने अपनी कला–कृतियों द्वारा महमूद के नाम को तत्कालीन मुस्लिम जगत में प्रतिष्ठित कर दिया और मध्य एशिया को भारत की सांस्कृतिक देन से लाभन्वित किया।

egen x tuoh d vkØe.kk d ifj.kke

महमूद के आक्रमण के आर्थिक, धार्मिक तथा राजनीतिक प्रभाव अच्छे न रहे। पतोन्मुख भारत को उसके आक्रमणों ने दे ा के पतन की गति को और भी तेज कर दिया। महमूद के आक्रमणों के परिणाम विभिन्न स्तरों पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूपों में देखें जा सकतें है।

राजनीतिक प्रभाव– राजनीतिक क्षेत्र में महमूद के आक्रमणों का परिणाम महत्वपूर्ण नही माने जा सकते। महमूद का न तो भारत में साम्राज्य निर्माण का उद्दे य था, न उसने भरत में कोई स्थायी राज बनाने का प्रयास किया। उसने विजित क्षेत्रों के प्र ासनिक बन्दोंवस्त पर भी कभी ध्यान नही दिया। उसने पंजाब का क्षेत्र भी अपने क्षेत्र में देर से मिलाया और इसका उद्दे य प्राप्ति था वहाँ से उतरी भारत के दूर स्थित प्रान्तों पर आक्रमण किया जा सके और उसका धन लूटा जा सकें। महमूद ने उतर भारत की राजनीतिक परिस्थितियों में कोई मौलिक परिर्वतन नही किया। राज्यों की बाहुल्य, केन्द्रीय सता का आभाव, भाासकों की आपसी प्रतिद्वन्द्वता आदि समस्याएँ पूर्ववत् बनी रही।

राजनीतिक दृश्टि से महमूद के भारत आक्रमण का महत्व यह है कि भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना के लिए अग्रदूत का काम किया। इन आक्रमणों के पूर्व उतरी भारत और तुर्को द्वारा अधिकृत मध्य–एि ाया के क्षेत्र के बीच हिन्दकु ा पर्वतमाला एक भौगोलिक विभाजन–रेखा के रूप में थी परन्तु आक्रमण के बाद तुर्कों की सता उतरी भारत में पंजाब के राज्य तक स्थापित हो गयी। उतरी भारत का सीमान्त क्षेत्र पहले की भाँति सुरक्षित नही रहा और किसी भावी आक्रमणकारी के लिए उतरी भारत की विजय का काम आसान हो गया। करीब 150 वर्श बाद महमूद गोरी ने महमूद गजनवी द्वारा निर्दिश्ट मार्ग पर चलकर भारत की वि ाल राजनीतिक भाासन को धरा ाायी कर दिया और भारत में मुस्लिम सता की स्थापना की। अतः यह कहना उचित नही होगा कि महमूद का भारत आक्रमण वि ुद्ध प्रभाव– ुन्य था।

आर्थिक प्रभाव– महमूद के आक्रमण के आर्थिक प्रभाव को ठुकराया नही जा सकता । महमूद के आक्रमण के आर्थिक परिणाम भी महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। महमूद भारत से काफी मात्रा में धन लूट कर ले गया जिसका उपयोग उसने मध्य–एि ाया में साम्राज्य निर्माण में किया। इतना ही नहीं, महमूद ने अपनी राजधानी गजनी के नगर को एक सुन्दर और समृद्ध नगर का रूप प्रदान किया और उस क्षेत्र में सांस्कृतिक गतिविधियों कों पश्रय दिया जिस कारण गजनी नगर की ख्याति सर्वत्र फैली। अतः केवल साम्राज्य निर्माण के लिए ही नहीं बल्कि अपने राज्य के गौरव में वृद्धि के लिए भी महमूद ने भारत के धन का उपयोग किया।

दूसरी ओर भारत के लिये ये आक्रमण आर्थिक क्षति का कारण सिद्ध हुए क्योंकि महमूद ने धन लूटकर भारत के नगरों को खोखला बनाया। मंदिरों, भवनों, मूर्तियों आदि कों तोड़ कर उसनें अपार धनराि ा नश्ट कर दी। महमूद के आक्रमणों ने लगभग तीस वर्शो तक उतरी–भारत में अस्थिरता का वातावारण बनाए रखा जिससे इस क्षेत्र में आर्थिक गतिविधियों में अवरोध प्रस्तुत हुआ। उसके आक्रमण का न केवल भारत पर बल्कि गजनी पर भी बुरा प्रभाव पड़ा। गजनी में दासों की संख्या बढ़ गयी जिससे लोग अनैतिक आचारण करने लगे और विलासी हो गये। गजनी के सैनिक भी अकर्मण्य हो गये फलस्वरूप गजनी साम्राज्य का पतन आरंभ हो गया।

सैन्य प्रभाव– महमूद के आक्रमणों के सैनिक परिणाम भी महत्वपूर्ण साबित हुए। महमूद को भारत से युद्ध के लिए हाथियों की उपयोगिता का ज्ञान हुआ और उसनें मध्य–एि ाया के युद्धों में इनका सफलतापूर्वक प्रयोग किया। मगर दुर्भाग्यव ा भारतीय भाासक इस प्रकार का लाभ उठानें में असमर्थ रहें।

सांस्कृतिक प्रभाव– महमूद के आक्रमणों के परिणाम सांस्कृतिक जीवन पर भी देखें जा सकते है। चूँकि प्रत्यक्ष रूप से इनका कोई वि ोश परिणाम नहीं निकला परंतु अप्रत्यक्ष तथा दूरगामी प्रभाव काफी महत्वपूर्ण थे। प्रत्यक्ष रूप से महमूद के कार्यो का रूप नकारात्मक था। उसमें मन्दिरों को लूटा, मूर्तियों का विना ा किया, नगरों को नश्ट किया, बड़े पैमाने पर हत्या की और यदा–कदा बलपूर्वक धर्म–परिवर्त्तन भी किया। परन्तु इन कार्यो से न तो हिन्दु धर्म का विना ा हुआ और न ही भारत में इस्लाम धर्म की स्थापना।

अप्रत्यक्ष रूप से महमूद के आक्रमणों ने इस्लामी और हिन्दु संस्कृति के बीच संपर्क में योगदान किया। महमूद द्वारा भारत में एक मध्य–एि ायाई विद्वान अलबरनी को भारत लाया गया, जिसने भारतीय संस्कृति का अध्ययन किया। उसने एक ओर भारतीय संस्कृति का अध्ययन किया तो दुसरी और उसने एक जन साधारण के जीवन को देखकर अपनी प्रसिद्ध कृति, "तहकीकात–ए–हिन्द" की रचना की। इस रचना ने बौद्धिक स्तर पर इस्लामी और हिन्दु संस्कृति के बीच संपर्क को बनाया। इसी के साथ महमूद के आक्रमणों ने पंजाब तक मध्य–एि ाया से आनेवाले यात्रियों का मार्ग सुगम बना दिया और अनेक सूफी–संतों का भारत में प्रवे ा हुआ। इस सांस्कृतिक संपर्क ने आगे चलकर एक नई समन्वित सांस्कृतिक परंपरा का विकास संभव बनाया।

Hkkjr ij egen xtuoh d: çe|[k vkØe.k

998 ई० में महमूद गजनी का भाासक बना। एक महत्वकांक्षी भाासक होने के नाते वह गजनी को एक विस्तृत साम्राज्य का रूप देना चाहता था। साम्राज्य विस्तार के लिए अनेक युद्ध लड़ना आव यक था और इन युद्धों के लिए पर्याप्त आर्थिक साधन जुटानें के लिए महमूद ने अपने 32 वर्शीय भाासन के अर्न्तगत 17 बार भारत पर आक्रमण किये और प्रत्येक आक्रमण में उसे कुछ ने कुछ सफलता मिली।

महमूद का प्रथम आक्रमण 1000 ई० में हुआ परन्तु हिन्दु– ाही राज्य के सीमावर्ती क्षेत्रों के कुछ दुर्गो पर अधिकार कर और धन इक्ट्ठा करके वह वापस लौट गया। अगलें वर्श यानि 1001–1002 ई० में महमूद ने पे ावर और वैदिन्द पर आक्रमण कर उसने जयपाल को पराजित कर बन्दी बना लिया। यद्यपि महमूद ने धन लेकर जयपाल को मुक्त कर दिया परंतु उसने अपना राज्य आनन्दपाल को सौंपकर अपमानित होने को कारण अपने को अग्नि की भेंट चढ़ा दी।

1004–05 ई० में महमूद ने मूल्तान पर चढ़ाई की परन्तु वहाँ के भाासक दाऊद ने आक्रमण से बचने के लिए हिन्दु– ाही भाासक आनन्दपाल से सहायता मांगी। इस कारण महमूद ने सर्वप्रथम आनन्दपाल को ही पराजित किया। दाउद ने भी बाद में आत्मसमर्पण किया और 20 हजार दिरहम कर देने का वादा किया। अगले वर्श यानि 1006–07 में महमूद ने भेडा के भाासन बीजीराय को पराजित किया जो बन्दी होने के अपमान से बचने के लिए आत्महत्या कर ली।

1008–09 ई० में महमूद ने महत्वपूर्ण संधर्श में हिन्दु– ाही भाासक आनन्दपाल को पराजित किया आौर नगरकोट पर चढ़ाई करके वहाँ के मन्दिरों से अपार धन लूटा। पंजाब पर अधिकार जमाने में और अपार संपति हथियाने में महमूद को सफलता मिली। तीसरे आक्रमण में झेलम तट पर स्थित भेड़ा के राजा तथा चौथे आक्रमण में मुल्तान के भाासक फतह दाउद को पराजित करने में महमूद को सफलता मिली। इस सफलता के बाद महमूद गजनी लौट गया।

1011–12 में महमूद ने भारत के प्रसिद्ध व्यापारिक नगर थाने वर पर चढ़ाई की और चक्रस्वामी के मंदिर से धन लूटा। भारत पर महमूद का यह 9वां आक्रमण था। अपने 10वें आक्रमण में उसने लाहौर को पस्त किया और उसके भाासक आनन्दपाल के पुत्र त्रिलोचनपाल को परास्त कर निनदुना के दुर्ग पर अधिकार कर लिया। त्रिलोचनपाल का पुत्र भीमपाल भी भाग कर क मीर चला गया। भीमपाल को पकड़ने के लिए महमूद ने 1015–16 में क मीर पर आक्रमण कर प्रवे ा करने का प्रयास किया परन्तु भौगोलिक बाधाओं के कारण लेहकोट से आगे नही बढ़ सका। यह उसका 11वां आक्रमण था। इस आक्रमण के बाद व पुनः गजनी लौट गया।

1018 ई० में महमूद ने पहली बार गंगा नदी की धाटी में प्रवे ा किया। इस आक्रमण में बुलन्द ाहर, मथुरा और कन्नौज की लूट की गई। कन्नौज की मूतियों और मंदिरों को तोड़ डाला गया। महमूद का यह 12वां आक्रमण था। उसका 13वां आक्रमण 1022–23 में कालिजंर के भाासक चन्देल राजा नंद पर हुआ। नन्द हतोत्साहित होकर युद्ध के मैदान से भाग गया फलस्वरूप कालिंजर को मुस्लिम आक्रान्ताओं ने जमकर लूटा। इसके बाद महमूद ने गजनी वापस लौटनें का नि चय किया।

1025–26 में सौराश्ट्र के सोमनाथ मंदिर पर 16वां आक्रमण हुआ जो अन्य आक्रमणों से अधिक भयंकर था। उसनें सोमनाथ की मंदिर से अपार धन–रािा इकट्ठा की और उस मंदिर को ध्वस्त कर दिया। कहा जाता है कि मंदिर में 200 मन की स्वर्ण जंजीर थी जिसे महमूद ने लूट लिया। वापसी में महमूद को राजपुताना के मार्ग से गुजरना पड़ा जहाँ जाटों ने उसे लूटनें का प्रयास किया परन्तु महमूद सफलतापूर्वक वापस लौट गया। प्रति ाोधात्मक कारवाई में

महमूद ने 1027ई० में जाटों पर चढ़ाई की और अन्ततः उन्हें पराजित कर दिया। यह महमूद का अन्तिम भारतीय अभियान था। गजनी वापस आकर 4 वर्श बाद यानि 1030 ई० में महमूद की मृत्यु हो गयी।

इस प्रकार 17 अभियानों में महमूद ने उतरी भारत के एक वि ााल क्षेत्र में अपने सैनिक पराक्रम का परिचय दिया। महमूद के इन अभियानों का उद्दे य साम्राज्य निर्माण करना नही था और इसलिए इन सफलताओं के बाद भी उसने उतरी–भारत में अपनी सता की स्थापना नहीं की। वह धन लूटने के उद्दे य से ही भारत आया था और इस उद्दे य की प्राप्ति में वह पूरी तरह सफल भी रहा। उसके लूट–मार और हिंसा की आलोचना की जाती है परन्तु विजेता के रूप में उसकी उपलब्धि की इतिहासकारों ने प्र ांसा की।

Hkkjr ij egEen xkSjh dk vkØe.k ,oa dkj.k

महमूद गजनवी के आक्रमणों के लगभग डेढ़ भाताब्दी के बार तुर्कों के आक्रमण का दूसरा चरण उतरी भारत में आरंभ हो गया। इन आक्रमणों का नेतृत्व मुहम्मद गौरी ने किया। मुहम्मद गौरी गियासुद्दीन का अनुज था और जो गौर का भाासक था। गियासुद्दीन ने गजनी राज्य को जीतकर मुहम्मद गौरी को ही इसका भाासक बना दिया था। 1110ई० में मुहम्मद गौरी ने गौर पर अधिकार किया था और वहाँ का भाासक बना था। गौर के भाासक के रूप में ही मुहम्मद गौरी ने भारत पर आक्रमण किया।

मुहम्मद गौरी के भारतीय आक्रमण का मुख्य उद्दे य राजनीतिक था और उतर भारत में साम्राज्य–विस्तार की इच्छा मुहम्मद गौरी के आक्रमण का मूल कारण थी। मुहम्मद गौरी के आक्रमण का एक अन्य कारण अथवा तात्कालीन कारण पंजाब पर अधिकार का संधर्श था। पंजाब का यह क्षेत्र महमूद के वं ाजों की सता के अधीन था, जो लाहौर पर भाासन कर रहे थे। चूँकि महमूद के वं ाजों के साथ गौर के ि ासवानी वं ा की प्रतिद्वन्द्विता थी इसलिए लाहौर पर अधिकार और उतर कालीन गजनवी भाासकों की सता का विना ा मुहम्मद गौरी का उद्दे य था। साथ ही वह मुलतान के राज्य पर भी अधिकार करना चाहता था क्योंकि मुलतान और पंजाब पर नियंत्रण किये बिना वह उतर भारत में साम्राज्य का विस्तार नहीं कर सकता था।

मुहम्मद गौरी ने अपना भारतीय अभियान 1175 ई० में आरंभ किया। सर्वप्रथम मुहम्मद ने झेलम और सिंध के संगम पर स्थित उच्छ राज्य तथा मुलतान पर आक्रमण किया। यह क्षेत्र सामरिक दृश्टिकोण से महत्वपूर्ण था क्योंकि इस पर अधिकार के प चात् एक ओर पंजाब तथा दुसरी ओर सिंध पर चढाई करना आसान हो जाता है। 1178ई० में मुहम्मद गौरी का दूसरा आक्रमण गुजरात के भाासक मूलराज पर हुआ किन्तु मुलराज ने उसे बुरी तरह पराजित किया।

मुहम्मद गौरी ने अब पंजाब के मार्ग से भारत में प्रवेष करने का फैसला किया। 1179 ई० में उसनें पेशावर पर अधिकार किया। 1181 ई० से 1184 ई० बीच तीन महत्वपूर्ण अभियानों द्वारा उसनें सियालकोट तक अधिकार कर लिया और 1186 ई० में उसने लाहौर को जीत कर वहाँ के शासक खुसरू मलिक को बंदी बना लिया।

भारत में मुहम्मद गौरी की पृथ्वीराज पर की गयी विजय ऐतिहासिक महत्व की मानी जाती है। लाहौर के बाद महमूद ने सरहिन्द पर अधिकार कर लिया। सरहिन्द पृथ्वीराज का अंग था। पृथ्वीराज ने यह सहन नही किया और उसने थानेश्वर से 14 मील दूर तराईन के मैदान में 1191ई० में मुहम्मद गौरी की सेना का सामना किया। यह ऐतिहासिक युद्ध तराईन के प्रथम युद्ध के रूप मे जाना जाता है जिसमें मुहम्मद गौरी बुरी तरह पराजित हुआ और वह बडी कठिनाई से गजनी वापस लौट सका। इस तरह सरहिनद को वापस लेने में पृथ्वीराज को सफलता मिली। गजनी पहुँचने पर उसने युद्ध के लिए पुनः तैयारी की और 1192 ई० में उसने तराइन के मैदान में पृथ्वीराज के साथ दुबारा युद्ध किया और उन्हें पराजित किया। यह तराईन का दुसरा युद्ध था।

तराईन का युद्ध निर्णायक सिद्ध हुआ जिसनें भारत में मुसलमानों की सफलता निश्चित कर दी। यह निश्चित हो गया कि मुसलमानों का शासन होगा। मुहम्मद गौरी ही भारत का वास्तविक संस्थापक कहा जा सकता है।

राजपूत शक्ति को पराजित करने के बाद गौरी ने अजमेर पर अधिकार किया और पृथ्वीराज के पुत्र गोविन्दराज को वहाँ का शासक बना दिया। उसने दिल्ली में तोमर वंश के एक राजकुमार को शासक बनाया। दिल्ली के समीप उसने कुतुबुद्दीन ऐबक को भारतीय शासकों पर नजर रखनें के लिए नियुक्त किया। दों वर्श पश्चात् 1194 ई० में गौरी ने

चंदावर की लड़ाई में कन्नौज के शासक जयचन्द को पराजित किया और इस तरह पूर्वी उतर प्रदेश में बनारस तक तुर्को का अधिकार हो गया।

मुहम्मद गौरी का गुलाम कुतुबुद्दीन पश्चिमी भागों को जीतनें में लगा था और उसका दूसरा गुलाम बख्तियार खिलजी पूर्वी भागों को विजय करने में व्यस्त था। उसने बिहार के कई नगरों पर आक्रमण किया। ओदन्तपुरी और नालन्दा के विश्वविद्यालय उसके आक्रमण से नष्ट हुए। बंगाल के शासक लक्ष्मण सेन को पराजित करने में मुहम्मद गौरी को सफलता मिली। लखनौती पर अधिकार हो गया और आक्रमणकारी को अपार संपदा हाथ लगी। बख्तियार खिलजी ने तिब्बत पर भी आक्रमण किया, परन्तु भयंकर ठंड के कारण उसके सैनिकों को सफलता नहीं मिली।

पंजाब में खोखरों ने विद्रोह किया था। जब विद्रोह का दमन कर मुहम्मद गौरी वापस जाने लगा तब किसी खोखर ने दम्यक नामक स्थान पर 1206 ई० में उसकी हत्या कर दी। अतः 1206 ई० में जब मुहम्मद गौरी की मृत्यु हुई तब उतरी भारत का मुख्य भाग तुर्को की सता के अधीन आ चुका था।

egEen xkjh d: Hkkjrh; vkØe.k d: ifj.kke

मुहम्मद गौरी के भारतीय आक्रमण के फलस्वरूप राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक, प्र ासनिक तथा प्रोधोगिक क्षेत्र में प्रभाव देखे जा सकते है। मुहम्मद गौरी के आक्रमण के परिणाम तात्कालीन एवं दीर्धकालिक दोनों ही रूप में प्रस्तुत हुए। तात्कालीन प्रभाव राजनीतिक, प्र ासनिक, आर्थिक क्षेत्र में प्रकट हुए जबकि दीर्धकालीन परिणाम सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में प्रकट हुए।

राजनीतिक परिणाम– राजनीतिक क्षेत्र में इन आक्रमणों के फलस्वरूप भारत में एक नए राज्य की स्थापना संभव हुई जो दिल्ली सल्तनत के नाम से विख्यात हुआ। इस राज्य ने उतरी–भारत में पुनः राजनीतिक एकता की स्थापना में योगदान दिया। इस आक्रमण से राजपूतों की सता का अन्त हुआ तथा तुर्को की सता उतरी भारत में स्थापति हुई। तुर्क भाासकों ने कुछ नई परंपराए और कुछ राजनीतिक संस्थाएं भारत में विकसित की जिनसे कि भारत के राजनीतिक जीवन में मौलिक परिर्वतन आया।

आर्थिक परिणाम– आर्थिक क्षेत्र में कुछ परिणाम धीरे–धीरें प्रकट हुए, वि ोशकार व्यापार के विकास और नगरों के पुनरोद्वार के रूप में। तुर्को द्वारा उतरी भारत में नगरों का पुनरूत्थान, व्यापार में प्रोन्नति, हस्ति ाल्प उत्पादन के विकास और नई मुद्रा प्रणाली के प्रचलन से उतर–भारत के आर्थिक जीवन कों नया रूप प्राप्त हुआ। नगरों के पुनरोद्वार के कारण ही मुहम्मद हबीब ने तुर्को के आगमन को उतरी भारत में एक नगरीय क्रन्ति का नाम दिया।

प्रशासनिक परिणाम– प्र ासनिक क्षेत्रों में तुर्क भाासन की स्थापना से एक नया अध्याय भाुरू हुआ। राजपूत काल की विकेन्द्रीकृत भाासन–प्रणाली के स्थान पर एक केन्द्रीय भाासन प्रणाली का विकास हुआ। कर–वसूली प्रथा में भी केन्द्रीयकरण का प्रभाव पड़ा और भू–राजस्व से प्राप्त आर्थिक साधन अब प्रत्यक्ष रूप से भाासक के हाथ में केन्द्रित हो गया।

प्रौधोगिक परिणाम– इरफान हबीब ने र्तुक आक्रमणों के फलस्वरूप उतरी–भारत में नई प्रौधोगिकी के विकास की ओर ध्यान आकर्शित किया है। इनके अनुसार कृशि, हस्ति ाल्प उत्पादन, सैनिक साम्रागी के उत्पादन और कागज के उत्पादन जैसे क्षेत्रों में तुर्की ने उत्पादन के नए साधन विकसित किए।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिणाम– सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के क्षेत्र में तुर्क आक्रमण के परिणाम तात्कालिक रूप में प्रस्तुत नहीं हुए बल्कि उनका प्रभाव धीरे–धीरे प्रकट हुआ। सर्वप्रथम भारत में तुर्क भाासन की स्थापना से इस्लाम का विस्तार विस्तृत रूप में दूसरें अन्य क्षेत्रों में भी हुआ। हिन्दु धर्म में जाति–प्रथा के कारण समाज में निम्न वर्गो की स्थिति दयनीय थी परंतु इस्लाम में उनकी स्थिति इतनी दयनीय नही थी, जिसके कारण हिन्दु समाज की निम्न जातियों का इस्लाम में धर्म परिर्वतन होने लगा। इसके अतिरिक्त सुफियों के विचारों का प्रभाव भक्त संतों पर और भक्ति के सिद्धांतों का प्रभाव सूफी–संतों पर पड़ा। तुर्क भाासकों के द्वारा भारत की क्षेत्रीय भाशाओं के विकास में भी योगदान दिया गया। इसके अलावा उन्होंने भारत में एक नई स्थापत्य भौली के विकास में भी योगदान दिया जिससे की भारत का सांस्कृतिक जीवन और भी संपन्न बना।

अतः मुहम्मद गौरी के आक्रमण ने उतरी भारत की परिस्थितियों में अमुल्य परिर्वतन लाया और यह परिणाम रचनात्मक और लाभदायक सिद्ध हुआ जिससे कि उतरी भारत के इतिहास में एक नये युग का आरंभ संभव हुआ।

Hkkjr e: r|dk: dh lQyrk d: dkj.k

समकालीन इतिहासकारों द्वारा भारत में तुर्की की सफलता के कारणों के बारे में कुछ भी नहीं लिखा गया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो लिखा है उसका सार इस प्रकार है "खुदा ने इस्लाम को विजय प्रदान की या भीमदेव के पास अगणित सेना तथा असंख्य हाथी थे और जब युद्ध हुआ तो हिन्दू सेना पराजित हुई और उसे नश्ट कर दिया गया।" किन्तु इन वाक्यों का हमारे लिए कोई महत्व नहीं है। क्योंकि इनसे तुर्कों की सफलता के कारणों पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। फखेमुदब्बिर नामक एक अन्य समकालीन इतिहासकार ने अपनी पुस्तक आदाबुलहर्ब में तुर्कों की विजय का जो विवरण दिया है वह भी हसन निजामी और मिनहाज से ही मिलता जुलता है। किंतु उसने तुर्की सेना के घोड़ों का जो उनकी सेना के महत्वपूर्ण अंग थे, विस्तृत विवेचन किया है और भारतीय सामन्ती सेना की जो कटु आलोचना की है उससे तुर्कों की सैनिक शक्ति और भारतीय सेनाओं की सामरिक दृष्टि से दुर्बलता अवश्य स्पष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त तुर्कों की सफलता के कारणों के बारे में विस्तार से जानकारी देने वाला कोई समकालीन ग्रंथ हमें प्राप्त नहीं है।

किन्तु कुछ आधुनिक अंग्रेज इतिहासकारों जैसे–एल्फिन्स्टन, लेनपूल, विंसेण्ट स्मिथ आदि ने तुर्कों की भारतीयों के खिलाफ सफलता के कारणों की विस्तृत विवेचना की है और उन्होंने तुर्कों की सफलता का प्रमुख कारण यह बताया है कि भारतीयों की तुलना में तुर्क कहीं अधिक अच्छे सैनिक थे क्योंकि वे शीत प्रदेशों के निवासी थे, माँस खाते थे और युद्ध प्रिय थे। किंतु ये कारण हमें उचित प्रतीत नहीं होते क्योंकि राजपूत जाति जिससे तुर्कों को भारत में युद्ध करना पड़ा, साहस, सामरिक उत्साह और वीरता में किसी भी प्रकार तुर्कों से कम नहीं थी। इसके अतिरिक्त यह भी नहीं भूलना चाहिए कि मुहम्मद गौरी के इन्हीं माँसाहारी सैनिकों को भारतीयों ने कई बार युद्ध में पराजित भी किया था। अतः ये कारण तुर्कों की सफलता के वास्तविक कारण नहीं माने जा सकते।

वास्तव मे ंतुर्कों को भारत में जिन कारणों से सफलता मिली उनको हम मोटे तौर से निम्नलिखित भागों में बाँट सकते हैं–

सैनिक कारण

भारतीयों का सैनिक संगठन पुराने तथा पिछड़े सिद्धांतों पर आधारित था और उनके अस्त्र–शस्त्र भी समय के अनुकूल नहीं थे। मध्य एशिया में रणनीति में जो विकास हो चुका था, उससे भारतीय सेनापति परिचित न थे। इस प्रकार अस्त्र–शस्त्रों तथा रणनीति दोनों की दृष्टि से तुर्क आक्रमणकारी भारतीयों से अधिक श्रेष्ठ थे। भारतीय निस्सन्देह वीर थे और युद्धक्षेत्र में मरने से कभी नहीं घबराते थे किन्तु उनमें शत्रु की कमजोरियों का लाभ उठाकर युद्ध में विभिन्न दाँव–पेचों का प्रयोग करने की योग्यता न थीं।

तुर्कों की सेना में प्रधानतः घुड़सवास रहते थे जो अपनी गतिशीलता के लिए प्रसिद्ध थे। इसके विपरीत भारतीय सेना में पैदल सैनिकों की संख्या अधिक रहती थी जो गतिशीलता में घुड़सवारों का मुकाबला नहीं कर सकते थे और जिनको घुड़सवार सेना केवल गति के प्रभाव से अस्तव्यस्त कर सकती थी। सर जदुनाथ सरकार लिखते हैं, "इन सीमान्त आक्रमणकारियों के हथियारों और घोड़ों ने उन्हें भारतीयों पर निस्सन्देह सामरिक श्रेष्ठता प्रदान की। उनकी साजसज्जा भी द्रुतगामी ऊँटों पर ले जाती थी जिन्हें अपने लिए किसी चारे की आवश्यकता नहीं होती थी। वे मार्ग में उपलब्ध पत्तियों और जड़ों से पेट भर लेते थे जबकि भारतीय सेनाओं को रसद पहँचाने वाले बंजारों के लद्दू बैल मन्दगति से चलते थे।"

आर. सी. स्मेल के अनुसार, "गतिशीलता के बार तुर्कों की सामरिक चालों की दूसरी विशेषता उनकी धनुर्विद्या थी। तुर्क सैनिक धनुर्विद्या में इतने दक्ष होते थे कि वे दौड़ते हुए घोड़ों की काठी पर बैठकर धनुष का प्रयोग करते थे। इससे उन्हें भारतीयों की भारी भरकम और मन्दगति से चलने वाली सेनाओं की तुलना में अधिक लाभ रहता था।

तुर्कों ने रिजर्व सेना का भी उपयोग किया जो उनके लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हुई। जब शत्रु की सेना थककर चूर हो जाती थी तब तुर्क अपनी सुरक्षित सेना को युद्ध में झोंक देते थे जिसका मुकाबला थकी हुई भारतीय सेना नहीं कर पाती थी और बिखर जाती थी। तराइन की दूसरी लड़ाई में मुहम्मद गौरी ने अपनी चुनी हुई रिजर्व सेना का उस समय प्रयोग किया जबकि पृथ्वीराज की सेनायें दिनभर के भीषण युद्ध से थक चुकी थी और तरोताजा सेना के प्रहार को सहन नहीं कर सकी तथा बिखर गयी।

सामाजिक कारण

तुर्कों के खिलाफ भारतीयों की असफलता का दूसरा कारण था उनकी सामाजिक व्यवस्था और जातिगत भेदभाव जिसने हमारे सम्पूर्ण सैनिक संगठन को कमजोर और जरीर्ण बना दिया था। जातिगत भेदभाव और अवरोधों ने सम्पूर्ण सामाजिक और राजनीति एकता की भावना को समक्ष कर दिया था। हिन्दू व्यवस्था के अनुसार कार्यों का विभाजन व्यक्तिगत रुचि एवं क्षमता के अनुसार न होकर प्रायः वंश एवं जाति के आधार पर किया जाता था। इस व्यवस्था में हिन्दू समाज का आधे से अधिक भाग देश रक्षा के कार्य से विमुख एवं विरक्त कर दिया गया था। साधारण जनता को न शासन में हाथ बँटाने का अधिकार था और न बुद्ध में भाग लेने का। इस कारण राजा और प्रजा में घनिष्ठ सम्पर्क नहीं रहता था। जनता राजनीतिक मामलों की ओर उदासीनता का भाव रखने लगी थी। जनता समझती थी कि शासन संचालन एवं देश की रक्षा उसका कर्त्तव्य नहीं है। इस राजनीतिक उदासीनता ने तुर्क विजेताओं का कार्य काफी सरल बना दिया। तुर्कों को समस्त भारतीयों के स्थान पर केवल कुछ राजवंशों से युद्ध करना पड़ा। अगर भारतीय शासक वर्ग तुर्कों के विरुद्ध संघर्ष में जना का सहयोग प्राप्त करनले में सफल हो जाता तो शायद तुर्क यहाँ आसानी से सफलता प्राप्त नहीं कर पाते और इस स्थिति में उनको भीषण विरोध का सामना करना पड़ता।

राजनैतिक कारण

भारतीय शासकों की पराजय का एक अन्य मुख्य कारण उनमें राजनीतिक एकता का अभाव था। जिस समय भारत पर तुर्कों के आक्रमण हुए उस समय समस्त भारत किसी एक सत्ता के अधीन नहीं था बल्कि कई छोटे–छोटे राज्यों में बँटा हुआ था। यही नहीं इन राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध भी मधुर नहीं थे और इनमें अपने राज्यों की सीमा विस्तार को लेकर आपस में संघर्ष चलता रहता था। यही कारण था कि जब किसी एक राज्य पर तुर्कों का आक्रमण हुआ तो उस राजा को अकेले ही तुर्कों से युद्ध करना पड़ा था। इस घोर संकट के समय में भी भारतीय शासक अपनी सुरक्षा के लिए आक्रमणकारियों के विरुद्ध संगठित होकर युद्ध न कर सके और उन्होंने एक एक करके भारतीय शासकों को पराजित करके उनके राज्यों पर अधिकार कर लिया।

व्यत्तिगत कारण

युद्धों में सेनानायकों के व्यत्तिगत का भी बहुत प्रभाव पड़ता है। महमूद गजनवी, मुहम्मद गौरी और कुतुबुद्दीन ऐबक निर्विवाद रूप से महान् सेनानायक थे और उनको अनेकों युद्ध लड़ने का अनुभव प्राप्त था। भारतीय शासकों में भी यद्यपि, जयपाल, आनन्दपाल, पृथ्वीराज चौहान, जयचन्द गहड़वाल आदि कुशल सेनानायक थे किन्तु अगर हम उनकी तुलना महमूद गजनवी और मुहम्मद गौरी से करें तो हम पाते हैं कि उनके समान अनुभवी, दूरदर्शी और बुद्धिमान् नहीं थे और अवसर का फायदा उठाना नहीं जानते थे। यही कारण था कि वे तुर्कों के विरुद्ध संघर्ष के दौरान कोई न कोई ऐसी गलतियाँ कर बैठते थे जिसका लाभ उठाकर तुर्क उनको पराजित करने में सफल हो जाते थे। अतएव तुर्कों की भारतीयों पर विजय का कारण तुर्कों का भारतीयों से सैनिक दृष्टि से श्रेष्ठ होना नहीं है बल्कि सम्बन्धित तुर्क सेनानायकों का राजपूत सेनानायकों से अधिक योग्य होना था। इस प्रकार तुर्क सेनानायकों का भारतीय सेनानायकों से श्रेष्ठ होना भी तुर्कों की सफलता का एक महत्वपूर्ण कारण सिद्ध हुआ।

आकस्मिक कारण

तुर्कों की विजय में उपर्युक्त अन्य कारणों के साथ साथ सौभाग्यपूर्ण संयोग का भी बहुत बड़ा हाथ रहा। उदाहरण के लिए जब 986 ई० में जयपाल ने सुबुक्तगीन के राज्य पर आक्रमण किया तब कई दिनों तक युद्ध चलने के बाद भी युद्ध का निर्णय नहीं हुआ। किंतु उसी समय अचानक ऐसा भीषण हिमपात हुआ कि जयपाल के अनेकों सैनिक ठण्ड से ठिठुर कर मर गये और जयपाल को मजबूर होकर सुबुक्तगीन के साथ अपमानजनक सन्धि करनी पड़ी। इसी प्रकार

युद्ध के दौरान अचानक आनन्दपाल के हाथी का बिगड़ जाना, जयचन्द की आँख में तीर लग जाना आदि ऐसे उदाहरण हमें देखने को मिलते हैं जहाँ आकस्मिक घटनाओं ने युद्ध का परिणाम तुर्कों के पक्ष में बदल दिया।

r|d! fot; dk çHkko

ग़ोरियों की उत्तर भारत विजय ने देश के राजनीतिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में धीरे धीरे किंतु अवश्यंभावी परिर्वतन किए। ग्यारहवीं तथा बाहरवीं शताब्दी के भारतवर्ष से जो अनेकदेशीय प्रणालियां थीं उनके विलयन के लिए मार्ग बन गया। असीमित शक्तियों से विभूषित राजा द्वारा संचालित एक केंद्रीय राजनीतिक संगठन प्रारंभिक तुर्क सुल्तानों का राजनीतिक आदर्श था। सामंतवाद के लिए अपने दो मूल सिद्धांतों अर्थात शासन में स्थानियता तथा सामंतों पर वैधिक नियंत्रण में कोई स्थान नहीं था और उसे नष्ट करने के लए प्रभावशाली प्रयत्न किए गए। विभिन्न क्षेत्रों में सामंतवादी परंपराएं तोड़ने और साम्राज्य के सुदुर प्रदेशों को केंद्रीय व्यवस्था में जोड़ने के लिए 'इक़्ता' प्रणाली का सहारा लिया गया।

गत अनेक शताब्दियों से भारतीय राय एक दूसरे से शरद ऋतु में युद्ध किया करते थे। युद्ध में शत्रु का वध करने का यश या मारे जाने की शुभ कामना के अतिरिक्त इस निरंतर 'धन और रक्त के विनाश' का एकमात्र तर्कसंगत औचित्य देश का प्रशासनीक एकीकरण हो सकता था। किंतु हर्ष के शासन के पश्चात कोई भारतीय शासन उत्तर भारत का प्रशासनीक एकीकरण करने में सफल नहीं हुआ था। अब विदेशियों के एक दल ने एक ही पीढ़ी में वह उपलब्धि प्राप्त कर ली जिसे किसी भी भारतीय शासक को पांच या छः शताब्दी पहले प्राप्त कर लेना चाहिए था। उन्होंने भारतवर्ष के अंतःस्थल में ही, जो ऐसा क्षेत्र था जिसकी जलवायु की प्रशंसा नहीं की जा सकती, राजधानी स्थापित कर वहां एक मीनार का निर्माण कर उसे सुशोभित किया था। उन्होंने दिल्ली शासन के अंतर्गत मुख्य मुख्य नगर और विशाल मार्ग बनाकर देश में एक अखिल भारतीय शासन के लिए एक प्रशासनिक प्रणाली भी प्रदान की थी। ग़ोरियों और तुर्कों की श्रेष्ठता इसी तथ्य में निहित थी कि जिन बड़े–बड़े रायों का स्थान उन्होंने ग्रहण किया उनके विपरीत वे एक साम्राज्यवादी या बड़े पैमाने पर शासन करने के मूल सिद्धांत जानते थे। राजा के उच्चपदीय अधिकारियों के लिए एक अखिल भारतीय सेवा तथा अपनी इच्छानुसार उनकी नियुक्ति, तैनाती, स्थानांतरण, पदोन्नति और पदच्युति, जिसे सतर्क विचार विमर्श और अपने उच्चाधिकारियों के परामर्श से किया जाता था, की अवधारणा पृथ्वीराय तृतीय के लिए अपने अधीनस्थ राज्यों के विषय में संभव न रही होगी।

उत्तर भारत में एक केंद्रीय राजतंत्र के उदय के साथ राजनीतिक क्षितिज में भी एक विशिष्ट परिवर्तन हुआ। राजनीतिक दृष्टिकोण विस्तृत होता गया और अलगाव की स्थिति कम होने लगी। सर जदुनाथ सरकार लिखते हैंः

"भारतवर्ष तथा सीमोत्तर एशियाई विश्व के बीच आदि बौद्धकालीन युग में जो घनिष्ठ संबंध स्थापित हुआ था वह उस समय टूट चुका था जब लगभग आठवीं शती ईसवी में भारतीय समाज का पुनर्गठन हुआ और सीमेंट में निर्मित एक सुदृढ़ भवन की भांति कठोर हो गया। फलस्वरूप भारतवर्ष पुनः स्वकेंद्रित और अपनी प्राकृतिक सीमाओं के बाहर स्थित प्रगतिशील विश्व के कट गया। एशिया तथा अफ्रीका के निकटतम प्रदेशों से यह संबंध बारहवीं शताब्दी के अंत में मुस्लिम विजय ने स्थापित किया।"

उत्तरी भारतवर्ष पर तुर्कों की विजय का एक महत्वपूर्ण पहलू वह था जिसे प्रोफेसर हबीब 'नगरीय क्रांति' कहते हैं।[171] राजपूत युग के प्राचीन 'कुलीन नगरों' के द्वार ऊंच–नीच के भेद–भाव बिना प्रत्येक वर्ग के लोगों, मजदूरों और कारीगरों, हिंदुओं और मुसलमानों, चांडालों और ब्राहमणों सबके लिए खोल दिए गए। तुर्क शासन ने सामाजिक भेदभावों और उस नागरिक जीवन का आधार वर्ण व्यवस्था को मानना अस्वीकार कर दिया। मज़दूर वर्ग, श्रमिक, दस्तकार तथा अवर्ण तथा विशेषाधिकारहीन प्रजा ने तत्परता से नए नगरों के निर्माण में नई सरकार का हाथ बटाया। वास्तव में आरंभिक तुर्क सुल्तानों की मुख्य शक्ति इन्हीं नगरों पर आधारित थी। जिन्होंने अपना समस्त अतिरिक्त श्रमिक वर्ग शासन की सेवा के लिए समर्पित कर दिया।

सैनिक दृष्टि से तुर्क विजय का प्रभाव भारतीय सेनाओं के स्वरूप और संगठन तथा सैनिक भर्ती और उसकी व्यवस्था के परिर्वतन में दृष्टिगत होता है। युद्ध केवल एक वर्ण अथवा वर्ग विशेष का एकाधिकार नहीं रह गया और सेना में भर्ती के द्वार सभी उचित प्रशिक्षण प्राप्त सैनिकों के लिए, जो युद्ध की कठिनाइयां सहन कर सकते थे, खोल दिए गए।

इस प्रकार ऐसी भारतीय सेनाओं का गठन हुआ जिनमें सामरिक कुशलता समस्त साधनों से वर्ण, धर्म या रंग के भेदभाव बिना ली जाती थी। सामंती सेनाओं की परंपरा त्याग दी गई और उनके स्थान पर शक्तिशाली स्थाई सेनाओं का संगठन किया गया, जिनकी भर्ती, वितरण और व्यवस्था केवल केंद्रीय शासन द्वारा की जाती थी। इसी प्रकार सामरिक चालों के क्षेत्र में भी तुर्कों ने सैनिक दृष्टि से भारतवर्ष को तत्काल मध्येशियाई शक्तियों के समानांतर बना दिया। पयाक (पदाति सैनिक) 'सवारने मुक़ातला' (अश्वारोही लड़ाकू सैनिक) में बदल दिए गए और भारी भरकम सेनाओं और उनकी दलन शक्ति के स्थान पर गतिशीलता तथा आक्रामक क्षमता सैन्य संगठन के सिद्धांत बन गए।[172] वास्तव में यही पुनर्गठित सेनाएं देश पर मंगोल आक्रमण रोकने में सफल हुई।

बाह्य विश्व से संपर्क स्थापित होने और नए 'श्रमिक वर्गीय' नगरों के उदय के साथ ही व्यापार को नया प्रोत्साहन मिला। वैधिक प्रणाली की एकरूपता, कर संबंधी नियम और मुद्रा ने व्यापारियों का क्षेत्र बढ़ा दिया और एक स्थान से दूसरे स्थान तक गतिशीलता में सुविधा की व्यवस्था की।

एक अन्य अत्यंत महत्वपूर्ण क्षेत्र, जिसमें तुर्क विजय का प्रभाव पड़ा था वह प्रशासकीय भाषा थी। राजपूत युग में प्रशासन तथा अन्रू कार्यो में उपयुक्त बोलियां और भाषाएँ प्रत्येक प्रदेश में भिन्न भिन्न थीं। भारतवर्ष में ग़ोरियों के अधिकृत समस्त प्रदेशों में उच्चवर्गीय प्रशासन में फारसी भाषा के प्रचलन से प्रशासकीय भाषा में एकरूपता आई। तुर्कों के योगदान का यह पक्ष ध्यान में रखते हुए अमीर खुसरों लिखते हैः

''किंतु भारतवर्ष में दृफारसी बोली (गुफ्तार) सिंध नदी के तट से समुद्र तक एक समान है। इतनी महान भाषा हमारी बोलचाल का माध्यम है और हमारी यह फारसी भाषा मूल फ़ारसी भाषा (दरी) है। प्रत्येक सौ कोस पर भारतीय बोलियां बदल जाती है किंतु लगभग चार हजार फ़र्सग के क्षेत्र में फ़ारसी भाषा वही है''। यह वह फ़ारसी भाषा है जिसमें शब्दों का उच्चारण उनके वर्ण विन्याम के समोचित है। जब मालिक काफूर के नेतृत्व में अलाउद्दीन ख़ल्जी की सेना ने राय वीर पांड्या के राज्य पर आक्रमण किया तो जो मुसलमान उसकी सेवा में थे वे आक्रमणकारियों से लड़े किंतु जब राय ने भाग जाने का निश्चय किया तो उसके मुसलमान सैनिकों को आत्मसमर्पण करना पड़ा।[174] उत्तर भारत के मुसलमानों के विषय में कुछ ज्ञान नहीं। यदि वे विजेताओं के विरोध में लड़े होते या उनकी सहायता की होती तो इसका अवश्य उल्लेख किया गया होता । चूंकि भारतीय मुसलमान शासकों की सेवा में नहीं थें इसलिए उनके विषय में हमारे आधारों के मौन से दो तथ्य स्पष्ट हैं। एक यह कि उन्होंने संघर्ष में किसी पक्ष की ओर से कोई भाग नहीं लिया और दूसरे यह कि वे किसी महत्वपूर्ण पद के लिए योग्य नहीं समझे गए। आरंभिक तुर्क सुल्तानों के अंतर्गत इस नियम का एकमात्र अपवाद इमादुद्दीन रैहान था और उसकी अल्पकालीन जीवनचर्या तथा पतन इस बात का प्रमाण है कि तुर्क दास अधिकारी 'भारत की जाति' के व्यक्तियों से कितनी घृणा करते थे। फिर भी दिल्ली के शासक उनकी सहायता के बिना कुछ नहीं कर सकते थे। उन समुदायों का, जिनसे सैनिकों और अश्वारोहियों की भर्ती होती थी अर्थात 'हिंदुस्तानियों' का स्पष्ट उल्लेख मिलता है और इस संज्ञा में हिंदुसतानी मुसलमान अवश्य ही सम्मिलित रहे होंगे।

हम भाषा की समस्या की भी अवहेलना नहीं कर सकते। उत्तर भारत की सभी 'प्रांतीय भाषाएं' मध्य युग में उत्पन्न हुई। इल्तुलमिश के समय में वे भाषाएं जो बोली जाती थीं किंतु लिपिबद्ध नहीं थीं, प्रत्येक तीन या चार ज़िलों के बाद बदल जाती थीं। तुर्की भाषा परिपक्व नहीं थी और अरबी बहुत कम लोग जानते थे। संपूर्ण भारत के हिंदू एक दूसरे की बात संस्कृत के ही माध्यम से समझ सकते थे। दिल्ली शासन के समक्ष फ़ारसी शासकीय भाषा के रूप में प्रयोग करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं था। किंतु भारतवर्ष की स्थानीय भाषाएं केवल वही लोग जानते थे जिन्होने उन्हें मातृभाषा के रूप में सीखा था या जो उस क्षेत्र में रहते थे।

v/;k; 16

fnYyh lYrur dk foLrkj

तुर्कों के विजय के उपरांत दिल्ली सल्तनत की स्थापना हुई। इसमे गुलाम वं ा खिलजी वं ा, तुगलक वं ा, सैयद वं ा और लोदी वं ाों का भाासन रहा। इस अध्याय में हम सल्तनत काल के प्रमुख भाासकों के बारे में विस्तार से पढ़ेगे–

- *इल्तुतमि ा*
- *बलबन*
- *अलाउद्दीन खिलजी*
- *मुहम्मद बिन तुगलक*

bYrrfe'k ¼1211&1236½

इल्लुतमि ा इलबरी जाति का तुर्क था। इल्तुतमि ा का पिता ईलम खाँ एक कबायली सरदार था। इसका राजनीतिक जीवन ऐबक के दास के रूप में आरंभ हुआ। परंतु मूहम्मद गौरी की अनु ंसा पर कुतुबुद्दीन ऐबक ने इल्लुतमि ा को दासता से मुक्त कर दिया। बाद में ऐबक ने अपनी एक बेटी का विवाह इल्तुतमि ा के साथ कर दिया। दिल्ली का भाासक बनने पर एलेकु ने इल्तुतमि ा को बढायूँ का सूबेदार नियुक्त किया। अकस्मात मृत्यु के कारण कुतुबद्दीन ऐबक अपने किसी उत्तराधिकारी का चंनाव नहीं कर सका था। जिसके कारण लाहौर के तुर्क अधिकारियों ने ऐबक के विवादित पुत्र आराम ाह को लाहौर की गद्दी पर बैठाया। परन्तु दिल्ली के तुर्की सरदारों सब नागरिकों के विरोध के फलस्वरूप ऐबक के दामाद यानि इल्तुतमि ा के दिल्ली आमंत्रित कर राज्यसिंहासन पर बैठाया गया। आराम ाह एवं इल्लुतमि ा के बीच संघर्श हुआ जिसमें आरामशाह को बन्दी बनाकर हत्या की दी गयी और इस तरह ऐबक वं ा के बाद इल्बरी वं ा का भाासन प्रारंभ हुआ।

दिल्ली के सल्तनत के आरंभिक तुर्क सुल्तानों में इल्तुतवि ा का व्यक्तित्व महत्वपूर्ण और प्रभाव ााली है। अपनी योग्यता और प्रतिभा प्राप्त के बल पर उसने दिल्ली सल्तनत को सुदृढ़ एवं भाक्ति ााली रूप प्रदान किया। सुल्तान का पद करने के बाद इल्तुमि ा को अत्यंत कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। इल्तुतमि ा के भाासन से पूर्व ऐबक ने अपने संक्षिप्त भाासनकाल में दिल्ली सल्तनन की स्थापना का काम आरंभ किया था परंतु अपनी आकस्मिक मृत्यु के कारण पूरा करने मे ंअसमर्थ रहा। अतः इल्तुतमि ा के लिये यह बहुत जरूरी था कि वह इस नवस्थापित राज्य को सुदृढ़ता प्रदान करे और इसके लिए कु ाल प्र ाासनिक व्यवस्था का निर्माण करें। किन्तु इन कामों से पहले इल्तुतमि ा के लिये आव यक सामने जो निम्नलिखित समस्याएं थी उसका समाधान करें।

विरोधी सामन्तों, वि ोशकर कुत्बी और मुइज्जी सामन्तों का दमन

अपने प्रतिद्विन्द्वियों यलदोज और कुबाचा का दमन

राजपूताना और बंगाल के उपद्रवों और विद्रोहों का दमन

मंगोल आक्रमण से सल्तनत्त कर रक्षा और

सल्तनत के लिए प्र ाासनिक व्यवस्था का निर्माण।

इल्तुतमि ा ने अपने 25 वर्शीय भाासन का काल में इन सभी समस्याओं को समाधान किया। इस काल को तीन चरणों में विभक्त किया जा सकता है।

प्रथम चरण 1210 से 1220 तक रहा जिसके अन्तर्गत इल्तुतमि ा ने सर्वप्रथम कुतुबी अर्थात कुतुबुद्दीन के समय के सरदार, मुइज्जी अर्थात गोरी के समय के सरदारों के विद्रोह का दमन किया। इल्तुतमि ा ने इन विद्रोही सरदारों पर वि वास न करते हुए अपने गुलाम सरदारों का एक नया दल या संगठन संगठित किया जिसे तुर्कान–ए–चहलगानी का नाम दिया। 1215 ई० से 1217 ई० के बीच इल्तुतमि ा ने अपने–अपने दो प्रबल प्रतिद्वन्द्वी 1215 ई० से 1217 ई० के बीच इल्तुतमि ा ने अपने दो प्रबल प्रतिद्वन्द्वी एलदौज और कुबाचा से संघर्श किया। 1215 ई० में इल्तुतमि ा ने एल्दौज को तराइन के मैदान में परजित किया और 1217 ई० में नासिरूद्दीन कुबाचा ने इल्तुतमि ा की अधीनता स्वीकार कर ली। इस तरह प्रथम चरण के अन्तर्गत प्रथम दो समस्याओं का अन्त हुआ।

दूसरा चरण चंगेज खाँ के आक्रमण का रहा।

चँगेज खाँ के आक्रमण का भय (1221 ई०)

इसी समय जबकि इल्तुतमिश अपने विरोधियों की शक्ति का दमन करने में लगा हुआ था भारत की उत्तर–पश्चिमी सीमाओं पर 1221 ई० में तिमूजिन के नेतृत्व में जो चंगेज खाँ के नाम से प्रसिद्ध है , मंगोलों के आक्रमण का प्रबल खतरा उपस्थित हो गया। चंगेज खाँ के नेतृत्व में तारतारी के पठारों से निकलकर मंगोलों ने ख्वारिज्म के राज्य को तहस नहस कर डाला तथा उस पर अधिकार कर लिया। ख्वारिज्म के शाह ने तो भागकर कैस्पियन तट में शरण ली किंतु उसका युवराज जलालुद्दीन मंगबरनी भागकर पंजाब की तरफ आया। मंगोल भी उसका पीछा करते हुए सिन्धु नदी के उस पार तक आ पहुँचे। जलालुद्दीन मंगबरनी ने इल्तुतमिश के पास अपना दूत भेजकर उससे शरण मांगी। किंतु इल्तुतमिश यथार्थवादी था और वह जानता था कि जलालुद्दीन मंगबरनी को शरण देने का अभिप्राय था चंगेज खाँ को आक्रमण करने के लिए आमंत्रित करना। दूसरा, वह दिल्ली राज्य को मध्य एशिया की राजनीति में भी नहीं फँसने देना चाहता था। अतः उसने बड़ी नम्रतापूर्वक मंगबरनी को शरण देने से इन्कार कर दिया। यही नहीं वह जैसा मिनहाजुस्सिराज लिखता है, स्वयं सेना लेकर मंगबरनी के विरुद्ध गया और उसको पंजाब से निकालकर बाहर कर दिया। मंगबरनी यहां से मुल्तान चला गया और कुबाचा से उसने मुल्तान छीनने की कोशिश की। 1224 ई० तक मंगबरनी यहाँ रहा और इस समय में उसने कुबाचा से लगातार संघर्ष करके उसके राज्य के बहुत बड़े भाग पर अधिकार कर लिया। 1224 ई० में मंगबरनी भारत से चला गया। मंगोल पहले ही यहां भीषण गर्मी से परेशान होकर वापस लौट गये थे। इसके बाद भी 1227 ई० तब जब तब चंगेज खाँ जीवित रहा इल्तुतमिश ने सिन्धु घाटी में सत्ता प्रसार का कोई प्रयत्न नहीं किया। इस प्रकार इल्तुतमिश ने बुद्धिमत्ता का प्रयोग करके नवस्थापित दिल्ली सल्तनत को चंगेज खाँ कें संभावित आक्रमण से बचा लिया, जो उसकी एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी।

d|ckpk dh 'kfä dk neu

जलालुद्दीन मंगबरनी के भारत में तीन–चार वर्ष के प्रवास के दौरान उसके आक्रमण का भार और परिणाम कुवाचा को ही सहना पड़ा था जिससे उसकी शक्ति काफी क्षीण हो गयी थी। इल्तुतमिश ने इस स्थिति का पूरा फायदा उठाया। 1217 ई० में चंगेज खाँ की मृत्यु हो जोने से अब भारत पर मंगोल आक्रमण का भय भी समाप्त हो गया था। अतः इल्तुतमिश ने कुवाचा की शक्ति का पूर्ण रुप से दमन करके उच्छ और मुल्तान पर अधिकार करने की योजना बनायी। उच्छ और मुल्तान पर आक्रमण करने के पूर्व उसने भटिण्डा, कुहराम, सरसुती और फिर लाहौर को जीतकर उस पर अधिकार स्थापित कर लिया। उसके बाद उसने 1228 ई० में उच्छ तथा मुल्तान पर एक साथ आक्रमण करने का निश्चय किया। उसने स्वयं उच्छ की ओर कूच किया और लाहौर के गर्वनर नासिरुद्दीन ऐतमार को मुल्तान पर आक्रमण करने का आदेश दिया। कुबाचा इस स्थिति में घबरा गया और उच्छ में एक रक्षक सेना छोड़कर वह भक्कर के किले में भाग गया। कुवाचा के पलायन का फल यह हुआ कि मुल्तान ने आत्मसर्पण कर दिया और तीन महीने के घेरे के बाद उच्छ पर भी इल्तुतमिश का अधिकार हो गया। अब इल्तुतमिश ने वजीर जुनैदी के नेतृत्व में एक सेना भक्कर पर आक्रमण करने के लिए भेजी। इससे कुबाचा इतना घबरा गया कि उसने अपने पुत्र को इल्तुतमिश के पास सन्धि वार्ता करने को भेजा। इल्तुतमिश ने बिना शर्त आत्म–समर्पण की मांग की। किंतु कुबाचा ऐसा करने के लिए तैयार नहीं हुआ और जब इल्तुतमिश की सेनाओं ने भक्कर के किले पर हमला किया तो वह डर के मारे सिन्ध नदी में कूद पड़ा और डूबकर मर गया। मुल्तान और उच्छ दिल्ली सल्तनत् में मिला लिये गये और वहाँ सूबेदार नियुक्त कर दिये

गये। देवल और सिन्ध के सुम्र शासक सिनानुद्दीन चानीसार ने भी इल्तुतमिश की अधीनता स्वीकार कर ली। इस प्रकार सिन्ध और मुल्तान पर भी दिल्ली सल्तनत का अधिकार स्थापित हो गया।

cxky rFkk fcgkj dh iqufoZt;

कुतुबद्दीन ऐबक की मृत्यु के बाद बंगाल के शासक अलीमुर्दान खलजी ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी थी और इस प्रकार बंगाल भी दिल्ली सल्तनत के प्रभुत्व से मुक्त हो गया था। परंतु दो वर्ष बाद ही 1212 ई० के लगभग अलीमर्दान के अत्याचारों से तंग आकर स्थानीय खलजी सरदारों ने उसका वध कर दिया और हुसामुद्दीन एवाज को अपना शासक चुना जिसने सुल्तान गयासुद्दीन की उपाधि धारण की और एक स्वतन्त्र शासक की भांति शासन करने लगा। इल्तुतमिश की व्यस्तता और समस्याओं का लाभ उठाते हुए उसने बिहार को भी जीतकर अपने राज्य में मिला दिया और जैसा कि मिनहाजुस्सिराज लिखता है, उसने जाजनगर, तिरहुत, बंग और कामरूप के राजाओं को भी हारकर उनसे वार्षिक कर वसूल किया।"

किन्तु जैसे ही मंगोल आक्रमण का भय समाप्त हुआ और जलालुद्दीन मंगबरनी अपने देश वापस लौट गया, इल्तुतमिश ने बंगाल की तरफ अपना ध्यान घुमाया। बिहार पर आक्रमण करके उस पर अधिकार कर दिया और वहाँ के एक सूबेदार नियुक्त कर दिया। इसके बाद 1225 ई० में बंगाल पर अधिकार करने के उद्देश्य से लखनौती की ओर कूच किया। उसके आक्रमण का मुकाबला करने के लिए एवाज भी अपनी राजधानी से आगे बढ़ा किन्तु इल्तुतमिश की शक्ति से घबराकर अंत में उसने आत्मसमर्पण कर दिया और इल्तुतमिश की आधीनता स्वीकार कर ली तथा युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में बहुत बड़ी रकम उसको दी तथा बिहार पर उसका अधिकार स्वीकार कर लिया। इल्तुतमिश बिहार में मलिक जानी को अपना हाकिम नियुक्त करनके वापस दिल्ली लौट गया। किन्तु इल्तुतमिश के लौटते ही एवाज ने मलिक जानी को निकालकर बिहार पर पुनः अपना अधिकार कर लिया और अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। इल्तुतमिश ने एवाज के विरुद्ध तुरंत कोई सैनिक कार्यवाही नहीं की और अपने ज्येष्ठ पुत्र नासिरुद्दीन महमूद को जो इस समय अवध का सूबेदार था, यह आदेश दिया कि वह लखनौती पर निगरानी रखे और ज्योंही मौका मिले आक्रमण करने लखनौती पर अधिकार कर ले। सौभाग्य से यह अवसर भी 1226–27 ई० में शीघ्र ही आ गया जबकि एवाज पूर्वी बंगाल की तरफ एक अभियान पर गया हुआ था। नासिरुद्दीन महमूद ने उसकी अनुपस्थिति का लाभ उठाकर अचानक लखनौती पर आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया। सूचना मिलते ही एवाज अपनी राजधानी की रक्षा करने के लिए लौटा किंतु पराजित हुआ और मारा गया।

इस प्रकार बंगाल पर अंत में इल्तुतमिश का अधिकार स्थापित हो गया और उसने नासिरुद्दीन महमूद को वहाँ का सूबेदार नियुक्त कर दिया। किंतु 1229 ई० में नासिरुद्दीन की मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु होते ही बंगाल में बल्का खलजी ने विद्रोह कर दिया और वहाँ का स्वतंत्र शासक बन बैठा। बंगाल पर पुनः अधिकार करने के उद्देश्य से अबकी बार स्वयं इल्तुतमिश 1230 ई० में सेना लेकर गया और बल्का को युद्ध में हराकर मार डाला तथा बंगाल पर पुनः अधिकार कर लिया। इसके बाद उसने प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से बिहार को बंगाल से पृथक करके एक स्वतंत्र प्रांत बना दिया और दोनों प्रांतों में दो अलग–अलग गवर्नर नियुक्त कर दिये।

तीसरा चरण 1229 ई० से आरंभ हुआ और 1236 ई० में समाप्त हुआ। इसमें इल्तुतमि ा ने राजपूताना की समस्या का समाधान किया और प्र ाासन तंत्र को सुव्यवस्थित किया। राजपुताना का क्षेत्र ऐबक के भाासनकाल से ही विद्रोहों और उपद्रवों का केन्द्र बना हुआ था, जहाँ राजपूत सरदार तुर्कों का अन्त करने के लिए संघर्श छेड़े हुए थे। अतः इल्तुतमिश ने राजपूताना में कारवाई आरंभ की । उसका पहला अभियान 1226 ई० में रणथम्बौर पर अधिकार के साथ पूरा हुआ। अगले पाँच वर्षों में इल्तुतमिश ने इस क्षेत्र में कई अभियान किया और अजमेर, नागौर थंगनीर इत्यादि क्षेत्रों को जीता। 1231 ई० में इल्तुतमिश ने ग्वालियर के किले पर घेरा डालकर वहां के शासक मंगल देव को पराजित किया। इस प्रकार इल्तुतमिश ने उत्तरी और मध्य भारत के राजपूत शासकों को अपने नियंत्रण में रखा। 1233 ई० चंदेलों के विरूद्ध एवं 1234–35 ई० में उज्जैन एवं भिलसा के विरूद्ध इल्तुतमिश का अभियान सफल रहा।

दिल्ली सल्तनत के आरंभिक सुदृढ़ीकरण का काम इल्तुतमिश द्वारा संपन्न हुआ परंतु इल्तुतमिश मात्र एक विजेता ही नहीं था बल्कि एक योग्य प्रशासक भी था। उसी ने दिल्ली सल्तनत की प्रशासनिक व्यवस्था के निर्माण का काम आरंभ

किया। इसके लिए सर्वप्रथम फरवरी 1229 में बगदाद के अब्बासी खलीफा इल्तुतमिश को सम्मान दे 'खिलाअत ' एवं प्रंमाण पत्र मिला। प्रमाण पत्र प्राप्त होने के बाद इल्तुतमिश वैद्य सुल्तान एवं दिल्ली सल्तनत एक वैद्य स्वतंत्र राज्य बन गया। 'खिलाअत' मिलने के बाद इल्तुमिश ने नासिर अमीरी उल मोमिनीज की उपाधि ग्रहण की।

बयाना पर आक्रमण करने के लिए जाते समय मार्ग में इल्तुतमिश बीमार हो गया। अन्ततः 29 अप्रेल 1236 को मृत्यु हो गयी।

आन्तरिक प्रशासन के क्षेत्र में इल्तुतमिश का योगदान तीन क्षेत्रों में उल्लेखनीय हैं जो निम्नलिखित है–

(i) इकतादारी व्यवस्था

(ii) मुद्रा प्रणाली तथा

(iii) सैन्य संगठन

(i) **इकतादारी व्यवस्था–** इल्तुतमिश ने "इकता व्यवस्था" का प्रचलन किया। इल्तुतमिश ने अपने राज्य का प्रचालन किया। इल्तुतमिश ने अपने राज्य को अनेक छोटे–बड़े भूखण्डों में विभक्त कर दिया जिन्हें इक्ता कहते थे तथा इनके अधिकारी इक्तादार कहलाते थे। बड़े क्षेत्रों के इक्तादार प्रान्तीय गर्वनर के रूप में था जो कानून और व्यवस्था की देख–रेख, लगान की वसूली, मुकदमों की सुनवाई और सैनिक सेवा प्रदान करने का कार्य करते थे। छोटे क्षेत्रों के इक्तादार केवल सैनिक सेवा प्रदान करते थे। इल्तुतमिश ने इस व्यवस्थ का उपयोग उत्तर भारत की सामन्तवादी प्रथा को समाप्त करने एवं केन्द्री प्रशासन को मजबूत बनाने के लिए किया। सामन्तवादी प्रथा के विपरीत इल्तुतमिश ने समय–समय पर इक्तादारों का स्थानन्तरण करके उन्हें कन्द्रीय प्रशासन के नियंत्रण में रखने का सकल प्रयास किया।

(ii) **मुद्रा प्रणाली–** इल्तुतमिश पहला तुर्क सुल्तान था जिसने शुद्ध अरबी सिक्के चलवाये। इसने सल्तनतकालीन दो महत्वपूर्ण सिक्के चाँदी का टंका (लगभग 175 ग्रेन का) तथ तंबे का जीतल चलवाया। इन सिक्कों पर इल्तुतमिश का नाम अरबी लिपि में अंकित था। इन नए सिक्को का प्रचालन भारत में तुर्कों की सत्ता की सुदृढ़ता का प्रतीक था।

(iii) **सैन्य संगठन–** इल्तुतमिश के अधीन एक केन्द्रीय सेना का प्रमाण नहीं मिलता। उसने शाही अंगरक्षको का एक दल बनाया जो युद्ध के समय शादी सेना के रूप में भी कार्य करता था। इस व्यस्थ से वह सैन्य शक्ति के मामले में इक्तादारों के ऊपर पूरी तरह निर्भर रहने से मुक्त हो गया।

इल्तुतमिश विजेता और प्रशासन के रूप में महान तो था ही, कला और संस्कृति का पोषक भी था। उसके शासन काल में दिल्ली नगर एक प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में विकसित हुआ जहाँ मध्य एशिया से आने वाले शरणार्थी, कलाकारों, शिल्पकारों और विद्वानों को पश्रय मिला। इल्तुतमिश के दरबार में प्रसिद्ध इतिहासकार मिनहाजे सिराज को पश्रय मिला जिसकी रचना तबकात–ए–नासिरी से भारत में तुर्की शासन के निर्माण और आरंभिक इतिहास का पता चलता है। स्थापत्य कला के अन्तर्गत इल्तुतमिश ने 'कुतुबमीनार' के निर्माण कार्य को पूरा करवाया। भारत में संभवतः पहला मकबरा निर्मित करवाने का श्रेय भी इल्तुतमिश को दिया जाता है। 'अजमेर की मस्जिद' का निर्माण इल्तुतमिश ने ही करवाया था।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकाता है कि उत्तर भारत में तुर्कों की सत्ता के विकास में इल्तुतमिश का उल्लेखनीय योगदान है। उसने दिल्ली सल्तनत को न केवल विघटन से बचाया बल्कि उसे एक सुदृढ़ अस्तित्व प्रदान किया और उसके क्षेत्रों का विस्तार किया। उसने मंगोल आक्रमण के भीषण संकट से दिल्ली सल्तनत को बचाया। उसने दिल्ली सल्तनत की स्वतन्त्रता को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता उपलब्ध कराई और उसके लिए एक कुशल प्रशासनिक व्यवस्था का निर्माण किया।

fx;klíhu cycu ¼1266&1287 bå½

प्रारम्भिक जीवन और राज्यारोहण – बलबन मध्य एशिया के इल्बरी कबीले के तुर्क माता पिता से उत्पन्न हुआ था। उसका पिता इल्बरी तुर्कों के दस हजार परिवारों का प्रधान था। इस प्रकार बलबन का जन्म एक उच्च परिवार में हुआ

था। किंतु युवावस्था में वह मंगोलों द्वारा बन्दी बना लिया गया था जिन्होंने बाद में उसे बसरा के ख्वाजा जमालुद्दीन को बेच दिया। कुछ समय बाद ख्वाजा जमालुद्दीन उसे दिल्ली लाया जहाँ 1232 ई० में सुल्तान इल्तुतमिश ने उसे खरीद लिया तथा किसी साधारण पद पर नियुक्त कर दिया। बलबन होनहार था अतः रजिया के समय में वह अपनी बुद्धि, योग्यता तथा स्वामिभक्ति के कारण उन्नति करके अमीर–ए–शिकार के पद पर पहुँच गया। रजिया के बाद बहरामशाह के शासनकाल मे उसे अमीर–ए–आखूर का पद प्राप्त हुआ। मसूदशाह के शासकाल में वह और प्रगति करके अमीर–ए–हाजिब के महत्वपूर्ण पद पर पहुँच गया। 1246 ई० में मसूदशाह को हटाकर उसके स्थान पर नासिरुद्दीन महमूद को शासक बनाने में बलबन की महत्वपूर्ण भूमिका रही थी अतः नासिरुद्दीन महमूद के सुल्तान बनने पर वह उसका मुख्य परामर्शदाता और नाइब–ए–ममालिकात नियुक्त हुआ और 1266 ई० में नासिरुद्दीन महमूद की मृत्यु तक वह उसी पद पर बना रहा। नासिरुद्दीन महमूद के शासनकाल में राज्य की सम्पूर्ण शक्ति बलबन के हाथ में ही रही क्योंकि सुल्तान एक संत प्रकृति का व्यक्ति था तथा राज्यकार्य में उसकी कोई रुचि नहीं थी। नासिरुद्दीन महमूद के कोई पुत्र नहीं था अतः 1266 ई० में उसकी मृत्यु के बाद बलबन ही जिसका राजसत्ता पर पहले से ही अधिकार था, सुल्तान के पद पर आसीन हो गया।

सुल्तान के पद की प्रतिष्ठा में वृद्धि तथा राजस्व सिद्धांत– सिंहासन पर बैठने के बाद बलबन के सामने प्रथम और मुख्य काम सुल्तान के पद की प्रतिष्ठा और शक्ति को पुनः स्थापित करना था। जियाउद्दीन बरनी लिखता है कि सुल्तान नासिरुद्दीन के शासन के अंतिम दिनों में सुल्तान की प्रतिष्ठा पूर्ण रूप से नष्ट हो चुकी थी। जनता के हृदय में न उसका भय था, न उसके प्रति श्रद्धा। सरकार का भय जो सुशासन का आधार और राज्य के यश भय था, न उसके प्रति श्रद्धा। सरकार का भय जो सुशासन का आधार और राज्य के यश तथा वैभव का स्रोत है, लोगों के हृदय से जाता रहा था और देश दुर्दशा का शिकार था। बलबन ने इस दुर्दशा का अंत तथा सुल्तान की शक्ति और प्रतिष्ठा में वृद्धि करने का निश्चय किया जिससे जनता के हृदय में उसका आतंक कायम हो सके। बलबन जानता था कि सिंहासन पर उसका पैतृक अधिकार नहीं है इसलिए फिरदौसी के शहनामा में उल्लिखित पौराणिक तुर्की योद्धा अफ्रेसियाब का अपने को वंशज बताकर उसने अपने निजी गौरव में वृद्धि करने का प्रयास किया। वह सुल्तान के व्यक्तित्व की पवित्रता पर तथा राजत्व की निरंकुशता पर निरंतर बल देता था। उसने अपने पुत्र बुगरा खाँ से कहा था कि, "राजत्व निरंकुशता का मूर्तिमान रुप है। राजा का हृदय ईश्वरीय कृपा का विशेष भण्डार होता है और इस बात में कोई भी दूसरा व्यक्ति उसकी समानता नहीं कर सकता।" एक दूसरे अवसर पर उसने कहा था कि, "राजा का अतिमानवीय भय और स्थिति ही लोगों की आज्ञाकारिता को सुनिश्चित बना सकती है।" अपने राज्य के वैभव को प्रकट करने के लिए उसने अपने दरबार की रस्मों को ईरानी पद्धति पर ढालने का प्रयत्न किया और दरबार में मध्य एशिया के सल्जूक तथा ख्वारिजी सुल्तानों कें ढंग का शिष्टाचार प्रचलित किया। उसने भयंकर दिखने वालो हब्सी सैनिकों को अपना अंगरक्षक नियुक्त किया जो सदैव नंगी तलवारें लिए उसके चारों ओर खड़े रहते थे जिनको देखकर लोगों की आँखे चौधिंया जाती थीं। दरबार में सुल्तान का अभिवादन करने के लिए उसने 'सिजदा' (घुटनों के बल बैठकर सिर नवाना) और 'पायबोस' (चरण स्पर्श) की प्रथा शुरु की।

दिखावटी मान–मर्यादा और प्रतिष्ठा राजत्व के लिए महत्वपूर्ण बनायी गयी। उसने साधारण लोगों से बात करना बन्द कर दिया तथा अत्यंत गम्भीर रहना शुरु कर दिया। सिंहासन पर बैठते ही उसने शराब पीना तथा दावतों में जाना बन्द कर दिया। वह दरबार में अपने सम्पूर्ण राजसी वैभव के बिना कभी उपस्थित नहीं होता था। वह निम्न जाति के लोगों से घृणा करता था और शासन के उच्च पदों पर नियुक्ति के लिए उनको अयोग्य मानता था। यहाँ तक कि उसने निम्न कुल में उत्पन्न सभी व्यक्तियों की जाँच करवाकर उनके पदों से हटा दिया था। वह निष्पक्ष न्याय करना शासक का सर्वोच्च दायित्व समझता था। इस प्रकार कठोर नियमों तथा परम्पराओं द्वारा बलबन सुल्तान के पद की प्रतिष्ठा तथा शक्ति को पुनः प्राप्त करने में कामयाब रहा।

हिन्दू विद्रोहों का दमन– जिस समय बलबन सिंहासन पर बैठा देश में बड़ी संख्या में हिन्दूओं के विद्रोह हो रहे थे। जिससे कानून और व्यवस्था पूरी तरह भंग हो गयी थी। बरनी ने चार स्थानों का विशेष रुप से उल्लेख किया है जहां हिन्दू विद्रोहों ने भयंकर रुप धारण कर लिया था। ये चार प्रदेश थे–मेवात (दिल्ली का निकटवर्ती प्रदेश), गंगा यमुना का दोआब, अवध और कटेहर (आधुनिक रुहेलखण्ड)। इन प्रदेशों में विद्रोहियों ने काफी फैला रखा था। दोआब और

अवध में हिन्दू किसान निरंतर विद्रोह किया करते थे तथा यहां की सड़के डाकुओं से भरी हुई थी जिनके कारण पूर्वी प्रदेशों से आवागमन लगभग समाप्त हो गया था। दिल्ली के निकटवर्ती प्रदेशों में मेव बड़े शक्तिशाली हो गये थे तथा उनका आतंक काफी बढ़ गया था। उनका साहस यहां तक बढ़ गया था कि वे राजधानी में भी दिन दहाड़े घुसकर नागरिकों को लूट लेते थे। कटेहर में भी राजपूत काफी शक्तिशाली हो गये थे और बदायूँ तथा अमरोहा तक बढ़कर लूटमार करने लगे थे।

इस प्रकार बलबन के सिंहासनारोहण के समय हिन्दू विद्रोहों ने बड़ा भयंकर रुप धारण कर लिया था। किंतु बलबन ने जैसा कि बरनी हमें बताता है, इन विद्रोहियों के खिलाफ अपने शासन के प्रथम वर्ष में ही सैनिक कार्यवाही करके उनके विद्रोहों को बड़ी कठोरता से दमन कर दिया। हजारों की संख्या में विद्रोहियों को मौत के घाट उतार दिया गया, उनकी स्त्रियों और बच्चों को दास बना लिया गया और जंगलों को साफ करवाकर वहां अनेक किलों का निर्माण करवाकर उनमें दुर्धर्ष अफगान सैनिकों को रख दिया गया ताकि भविष्य में इन प्रदेशों में फिर कोई विद्रोह नहीं हो। इस भांति उपर्युक्त प्रदेशों में विद्रोहों का दमन करके वहाँ बलबन ने शीघ्र ही शांति और व्यवस्था स्थापित कर दी तथा समस्त विद्रोही तत्वों को नष्ट कर दिया।

'चालीस' के दल का नाश– बलबन ने स्वयं अपनी आँखों से देखा था कि 'चालीस' गुलामों के दल ने जिसका वह स्वयं एक सदस्य रह चुका था, किस प्रकार इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों की निर्बलता का लाभ उठाकर शासन पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया था तथा सुल्तान को अपने हाथ की कठपुतली बना लिया था। अतः बलबन ने सिंहासन पर बैठने के बाद इस दल की शक्ति को नष्ट करने का प्रयत्न किया क्योंकि वह इस बात को भलीभांति जानता था कि जब तक इस दल के सदस्य शक्तिशाली रहेंगे वे उसको शान्ति से शासन नहीं करने देंगे और उसकी निरंकुशता में सबसे बड़े बाधक बनेंगे। अतएव उसने इस दल की शक्ति पर घातक प्रहार किया और उसके प्रमुख सदस्यों को विष या अन्य साधनों से मरवाकर इस दल की शक्ति का पूर्णतः अंत कर दिया। उसने अपने चचेरे भाई शेरखाँ तक कि जो इस दल का एक शक्तिशाली सदस्य था जहर देकर हत्या करवा दी थी। इसी प्रकार अवध के गर्वनर अमीन खाँ को जो इस दल का एक अन्य शक्तिशाली सदस्य था, बंगाल के गर्वनर तुगरिल खाँ के विद्रोह को दबाने में असफल होने पर अवध के फाटक पर जीवित ही सूली पर लटकवा दिया था। किन्तु बलबन का यह कार्य हिन्दुस्तन में तुर्की सत्ता के लिए बड़ा घातक सिद्ध हुआ। प्रो० खलिफ अहमद निजामी लिखते हैं, "चूंकि बलबन अपने तथा अपने वंश के निजी हितों की रक्षा करने के लिए उत्सुक था इसलिए उसने तुर्क शासक वर्ग के हितों की लेशमात्र भी परवाह नहीं की और उसने योग्य तुर्की अमीरों को इतनी निर्दयता से नष्ट कर दिया कि जब खल्जी अमीर उनके विरुद्ध सिंहासन के लिए प्रतिस्पर्धी के रूप में राजनीतिक क्षेत्र में उतरे तो वे आसानी से पराजित हो गये। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारतवर्ष में तुर्क सत्ता के पतन के लिए बलबन उत्तरदायी था।"

सेना का पुनर्गठन– अपने दीर्घ राजनीतिक अनुभव से बलबन ने यह सीखा था कि सेना शासन का मूल आधार है। अतः एक शक्तिशाली सेना का गठन करना उसके लिए बहुत आवश्यक है। इल्तुतमिश द्वारा प्रचलित परम्परायें अब तक शिथिल पड़ गयी थी। अतएव सेना का पूर्ण रुप से पुनर्गठन करना और भी आवश्यक हो गया था। इसके लिए बलबन ने सर्वप्रथम सेना की संख्या में वृद्धि की और केन्द्रीय सेना में जो दीवाने अर्ज (रक्षा मंत्री) की अध्यक्षता में रखी गयी थी, बड़ी संख्या में योग्य और स्वामिभक्त सैनिक अधिकारी नियुक्त किए और जैसा कि बरनी लिखता है उनके वेतन बढ़ा दिये और नकद वेतन के बदले उनको कुछ गाँव जागरी में दे दिये गये। सैनिकों को सदैव सतर्क और फुर्तीला बनाये रखने के लिए वह बार बार सैनिक अभ्यास पर बल देता था। दीवाने अर्ज के पद पर इमादलमुल्क को नियुक्त किया गया जो सुल्तान का विश्वासपात्र था। उसे वजीर के आर्थिक नियंत्रण से मुक्त कर दिया गया। इमादुलमुल्क एक योग्य और ईमानदार व्यक्ति था। वे सैनिकों की भरती, अनुशासन और सज्जा पर अत्यधिक ध्यान देता था। अतएव सेना में नवजीवन का संचार हो गया। यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि सैन्य संगठन में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं किया गया था तथापि सुधारों और विस्तार के कारण सेना की युद्ध करने की शक्ति में निस्सन्देह काफी वृद्धि हो गयी थी।

प्रशासनिक उपाय और शासन संगठन– जिस समय बलबन सिंहासन पर बैठा समस्त नौकरशाही वर्ग स्वेच्छाचारी हो गया था और सुल्तान का उन पर कोई नियंत्रण नहीं रहा था तथा शासन व्यवस्था पूरी तरह से अस्तव्यस्त हो गयी

थी। किंतु सिंहासन पर बैठने के बाद बलबन ने कठोर नियमों को लागू करके एवं दृढ़ संकल्प से इस वर्ग पर अपना पूर्ण नियंत्रण स्थापित कर दिया तथा उसको सुल्तान के प्रति निष्ठावान और आज्ञाकारी बना दिया। राजनीतिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अव्यवस्था उत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियों का उसने दृढ़ता से दमन कर दिया। वह राजनीतिक सत्ता के केन्द्रीयकरण में विश्वास रखता था। अतएव अधिकाशं सरकारी नियुक्तियां या तो वह स्वयं करता था या उसकी अनुमति से की जाती थीं। यह तथ्य कि अमरोहा में मुन्शी (क्लर्क) के एक साधारण पद पर की गयी एक भारतीय मुसलमान की नियुक्ति उसका ध्यान आकर्षित कर सकती थी, यह सिद्ध करता है कि समस्त नौकरशाही–व्यवस्था पर वह कड़ी दृष्टि रखता था। प्रान्तीय गर्वनरों को अपने प्रांतों में घटने वाली घटनाओं की विस्तृत रिपोर्ट नियमित रूप से सुल्तान को भेजनी पड़ती थी। गवर्नरों के आर्थिक मामलों पर वजीर के विभाग (वजारत) का पूर्ण नियंत्रण रहता था। उसने इस बात का सदैव ध्यान रखा कि उसके अधिकारी के हाथ में बहुत अधिक शक्ति न आ जाये। इसलिए उसने वजीर से उसके सैनिक और आर्थिक अधिकार छीनकर उसके पद का महत्व कम कर दिया।

गुप्तचर विभाग का गठन– बलबन ने एक विश्वसनीय और निष्ठावान गुप्तचर का गठन किया और प्रत्येक सरकारी विभाग और प्रांतों में विश्वसनीय गुप्तचर (बरीद) नियुक्त कर दिये जो प्रान्तों में होने वाली घटनाओं और अमीरों तथा राज्यकर्मचारियों के कार्यकलापों के बारें में नियमित रुप से सूचनायें सुल्तान के पास भेजते रहते थे। बलबन इन गुप्तचरों की नियुक्ति में बड़ी सावधानी बरतता था और उनके चरित्र, ईमानदारी और स्वामिभक्ति की जाँच के पश्चात् ही उन्हें गुप्तचर के पद पर नियुक्त किया करता था। यदि कोई गुप्तचर अपने कर्तव्य का उचित रुप से पालन नहीं करता था तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता था। उदाहरण के लिए बदायूँ के बरीद को इसलिए सूली पर लटकवा दिया था क्योंकि उसने वहाँ के गवर्नर मलिक बकबक द्वारा अपने नौकर को पीट पीटकर मार दिये जाने की घटना का समाचार सुल्तान को नहीं भेजा था। इन गुप्तचरों के भय से सरकारी अधिकारी और कर्मचारी अपना कार्य कुशलता और ईमानदारी के साथ करते रहते थे। इस प्रकार बलबन की शासन व्यवस्था सुचारु रुप से चल सकी इसका मुख्य श्रेय उसके गुप्तचर विभाग को ही था। साथ ही वह गुप्तचर व्यवस्था बहुत हद तक बलबन के निरंकुश शासन का एक शक्तिशाली साधन भी बनी।

इस प्रकार बलबन ने एक दृढ़ और कुशल शासन प्रणाली का निर्माण किया तथा जनता को वह शांति और न्याय दिया जिसकी वह लम्बे समय से इंतजार कर रही थी। बरनी द्वारा लिखित बलबन के शासनकाल की घटनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहां बलबन अपने अमीरों और मलिकों के प्रति कठोर था वहां वह साधारण नागरिकों के प्रति बड़ा दयालु था और उनके हितों का सदैव ध्यान रखता था।

तुगरिल के विद्रोह का दमन– बलबन के शासनकाल की एक मुख्य घटना लखनौती (बंगाल) के राज्यपाल तुगरिल का विद्रोह था। तुगरिल जो तातार खाँ की मृत्यु के पश्चात् लखनौती का राज्यपाल नियुक्त हुआ, बलबन का दास था। इसामी के अनुसार बलबन के विरुद्ध तुगरिल का विद्रोह 1279 ई० में हुआ। सम्भवतः यह सोचकर कि सुल्तान बहुत वृद्ध हो गया है और मंगोलों की समस्या में इतना व्यस्त है कि वह उसके विद्रोह को दबाने के लिए लखनौती नहीं आ सकेगा, तुगरिल ने मुगीसुद्दीन की उपधि धारण कर अपने को लखनौती का स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया था। तुगरिल के इस विद्रोह की खबर सुनकर बलबन क्रोध से पागल हो गया और उसने अवध के हाकिम अमीन खाँ को एक शक्तिशाली सेना के साथ तुगरिल के विद्रोह का दमन करने भेजा। किंतु तुगरिल ने इस शाही सेना को घाघरा के पास युद्ध में परास्त करके भगा दिया। अपनी सेना की इस असफलता से सुल्तान इतना क्रोधित हुआ कि उसने अमीन खाँ को अवध के फाटक पर फाँसी पर लटकवा दिया। उसके बाद तिरमिती और शहाबुद्दीन के नेतृत्व में दो अलग अलग सेनायें तुगरिल के विरुद्ध और भेजी गयीं किंतु वे भी तुगरिल द्वारा पराजित कर दी गयीं। अपनी सेनाओं की इन पराजयों तथा अपनी प्रभुता की निरंतर अवज्ञा से बलबन अपना धैर्य खो बैठा और 1280–81 ई० में उसने तुगरिल के विद्रोह का दमन करने के लिए स्वयं जाने का निश्चय किया। अंत में दिल्ली के कोतवाल फखरुद्दीन को अपनी अनुपस्थिति में राजधानी का प्रबन्धक नियुक्त करके और दो लाख सैनिक तथा अपने द्वितीय पुत्र बुगराखां को साथ लेकर लखनौती की ओर कूच किया तथा अवध होता हुआ शीघ्र ही लखनौती जा पहुँचा। सुल्तान के आगमन की खबर सुनकर तुगरिल अपने साथियों के साथ पूर्वी बंगाल की तरफ भाग गया। किंतु सुल्तान ने अपनी सेना के साथ बड़ी तेजी से उसका पीछा किया और अंत में उसके एक सेनापति बेकतर्स द्वारा हाजीनगर की सीमा के पास विद्रोह

तुगरिल को पकड़ लिया गया और वहीं उसका वध कर दिया गया। वहाँ से सुल्तान वापस लखनौती आया जहाँ उसके आदेश से तुगरिल के समस्त मित्रों, समर्थकों और सम्बन्धियों को लखनौती के बाजार के दोनों ओर स्थापित किये गये फाँसी के तख्तों पर लटका दिया गया।

तुगरिल और उसके साथियों को इस प्रकार दण्डित करने के पश्चात् सुल्तान ने बुगरा खाँ को लखनौती का सूबेदार नियुक्त किया और उसको दिल्ली के विरुद्ध कभी विद्रोह न करने और अपने कर्तव्य के विषय में सलाह देकर वह अपनी वापसी यात्रा पर रवाना हुआ और तीन वर्ष की अनुपस्थिति के पश्चात् दिल्ली लौट आया। बरनी लिखता है कि 'तुगरिल के दमन के पश्चात् सुलतान की प्रभुता लोगों के दिलों पर स्थापित हो गयी और राज्य के कोने कोने में शांति और सुव्यवस्था स्थापित हो गयी।'

मंगोल नीति– बलबन के शासनकाल में सल्तनत की उत्तर पश्चिमी सीमाओं पर मंगोलों के आक्रमण का निरंतर भय बना रहता था। उसके राज्यारोहण के समय मुल्तान, उच्छ, दीपालपुर और लाहौर सल्तनत के अन्तर्गत थे किन्तु सिन्धु नदी के पश्चिम की ओर मंगोलों का अधिकार था और पंजाब का अधिकांश भाग भी उन्हीं के अधीन था। बरनी के वर्णन से ज्ञात होता है कि व्यास नदी सल्तनत की पश्चिमी सीमा थी और उसके पार का सम्पूर्ण प्रदेश मंगोलों के शासन में था। इस समय तक मंगोल मध्य एशिया के समस्त मुस्लिम राज्यों पर अपना अधिकार कर चुके थे और दिल्ली सल्तनत ही एकमात्र ऐसा मुस्लिम राज्य बचा था जो मंगोलों के निरंतर आक्रमणों के बावजूद अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये हुआ था। मंगोल इसका भी अस्तित्व नष्ट कर इस पर भी अपना अधिकार कर लेना चाहते थे। अतः मंगोल अक्सर सिन्धु नदी को पार करके भारतीय प्रदेशों पर आक्रमण करते रहते थे। बलबन ने मंगोलों के आक्रमण से सीमान्त प्रदेशों की सुरक्षा की समुचित व्यवस्था की। सर्वप्रथम उसने सीमान्त प्रदेशों में अनेक किलों का निर्माण करवाया और उनकी रक्षा के लिए बड़ी संख्या में वहा सैनिक नियुक्त कर दिये। अपने चचेरे भाई शेर खाँ को सीमान्त प्रदेशों का हाकिम नियुक्त किया। शेर खाँ एक बहादुर योद्धा था और उसने बड़ी सफलतापूर्वक 1270 ई० तक जब कि उसकी मृत्यु हो गयी, मंगोल आक्रमणों से सीमाओं की रक्षा की। शेर खाँ की मृत्यु के बाद उसने सीमान्त प्रदेशों को दो भागों में बाँट दिया और उनकी सुरक्षा का भार अपने पुत्रों मुहम्मद खाँ और बुगरा खाँ को सौंपा। मुल्तान, उच्छ और लाहौर का गवर्नर उसने अपने बड़े पुत्र मुहम्मद खाँ को तथा समाना और सुनम का गवर्नर उसने अपने छोटे पुत्र बुगरा खाँ को नियुक्त किया। उन दोनों के पास शक्तिशाली सेनायें रख दी गयी और उनको हिदायत दी गयी कि अगर कोई मंगोल आक्रमण हो तो वे संयुक्त रुप से उसका मुकाबला करें और सल्तनत की सीमाओं से बाहर निकाल दें। इसके अलावा राजधानी में बलबन स्वयं और मालिक बेकतर्स तीस हजार सुसज्जित सेना के साथ सदा तैयार रहते थे ताकि आवश्यकता पड़ने पर वे तुरंत राजकुमारों की सहायता के लिए पहुँच जाये। जब बुगरा खाँ को 1281 ई० में लखनौती का गवर्नर नियुक्त कर दिया गया तब समस्त उत्तर पश्चिमी सीमान्त प्रदेश मुहम्मद खाँ के अधिकार में रख दिये गये।

बलबन ने मंगोल आक्रमणों से उत्तर–पश्चिमी प्रदेशों की सुरक्षा की जो उपर्युक्त व्यवस्था की उसमें उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। जैसा कि बरनी हमें बताता है कि मंगोलों ने जब भी व्यास नदी को पार करके भारतीय सीमाओं में घुसने का प्रयत्न किया उनको हर बार बलबन की सेनाओं द्वारा हराकर वापस भगा दिया गया। बलबन के शासनकाल के अंतिम दिनों में 1285 ई० में अफगानिस्तान के मंगोल शासक तैमूर खाँ के नेतृत्व में मंगोलों का भारत पर एक प्रबल आक्रमण हुआ यद्यपि इस आक्रमण के दौरान मंगोलों के साथ युद्ध में राजकुमार मुहम्मद खाँ मारा गया किंतु फिर भी मंगोल सल्तनत के किसी भाग पर अपना अधिकार स्थापित नहीं कर सके और उनको बलबन की सेनाओं द्वारा हराकर भारतीय प्रदेशों से बाहर कर दिया गया। इस प्रकार बलबन की सीमान्त नीति पूर्णरूप से सफल रही और मंगोल उसके शासनकाल में सल्तनत का कोई नया भाग अपने अधिकार में करने में सफल नहीं हुए।

बलबन की मृत्यु– मंगोलों के साथ युद्ध करते हुए फरवरी 1286 ई० में बलबन के ज्येष्ठ पुत्र मुहम्मद की मृत्यु हो गयी। अपने इस योग्य एवं प्रिय पुत्र की मृत्यु से वृद्ध सुल्तान को बहुत आघात पहुँचा क्योंकि शाहजादा मुहम्मद उसकी सांसारिक आशाओं का एकमात्र सहारा था। उसके निधन में बलबन को अपनी नीति एवं वंश का विनाश स्पष्ट दिखाई देने लगा क्योंकि उसका दूसरा पुत्र बुगरा खाँ आराम पसन्द और साधारण योग्यता का व्यक्ति था। बरनी ने वृद्ध सुल्तान के दारुण दुख का वर्णन करते हुए लिखा है, "दिन में वह अपने दुःख को प्रकट नहीं होने देता था परंतु

रात्रि के समय अपने निवास कक्ष में वह फूट–फूट कर रोया करता था। वास्तव में इस वज्रघात से वह कभी संभल न सका। अपना अन्त समय निकट समझकर उसने लखनौती से बुगरा खाँ को अपने साथ रहने के लिए बुलाया। किंतु बुगरा खाँ उत्तरदायित्वहीन और आरामपसन्द व्यक्ति था। इसलिए तीन महीने दिल्ली में रहने के बाद वह चुपचाप लखनौती चला गया। बुगरा खाँ की इस उत्तरदायित्वहीनता से वृद्ध सुल्तान को बड़ा दुःख पहुँचा और अंत में मजबूर होकर उसने मुहम्मद के पुत्र कैखुसरों को अपना उत्तराधिकारी नामजद किया। इसके बाद कुछ दिनों के अन्दर ही सन् 1287 ई० के मध्य के लगभग उसका देहान्त हो गया।

बलबन के कार्यो एवं उपलब्धियों का मूल्यांकन– यदि हम शासन के रुप में बलबन के कार्यों एवं उपलब्धियों को एक वाक्य में व्यक्त करना चाहें तो वह वाक्य है 'हिन्दुस्तान में नवस्थापित तुर्की सल्तनत का सुदृढ़ीकरण करना।' सल्तनत को सृदृढ़ करने के लिए उसे जो कुछ उपयोगी प्रतीत हुआ उसने वही किया। उसने सुल्तान के पद की प्रतिष्ठा और शक्ति को जो उसके पूर्ववर्ती सुल्तानों के समय में बहुत गिर गयी थी, पुनः स्थापित किया। हिन्दू विद्रोहों का कठोरता से दमन करके देश में शान्ति और व्यवस्था की पुनः स्थापना की। यही नहीं सल्तनत की उत्तर–पश्चिमी सीमाओं की रक्षा की उचित व्यवस्था करके उसने उस समय मंगोल आक्रमणों से दिल्ली सल्तनत की रक्षा की जबकि मध्य एशिया के समस्त मुस्लिम राज्य उनके सामने धराशायी हो चुके थे। उसने शासन को व्यवस्थित किया और जिन संस्थाओं की शक्तिहिल गई थी या नष्ट हो गई थी उनको उसने पुनः निपुणता प्रदान की। वास्तव में यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि यदि बलबन के समान दृढसंकल्प, अनुभवी एवं नीति निपुण शासक उस समय जबकि दिल्ली सल्तनत को आन्तरिक विद्रोहों और मंगोल आक्रमणों का सामना करना पड़ रहा था, दिल्ली सल्तनत की गद्दी पर नही बैठता, तो सल्तनत का अस्तित्व सम्भवतः नष्ट हो जाता। यही कारण है कि दास वंश के सुल्तानों में बलबन को एक विशेष स्थान प्राप्त है। डॉ० हबीबुल्ला ने बलबन के कार्यो का मूल्यांकन करते हुए ठीक ही लिखा है कि "ऐबक और इल्तुतमिश के नाम को जारी रखने में उसने ऐसी शक्ति और विवेकशीलता से काम लिया था जिसकी उसके शत्रु भी प्रशंसा करते हैं। निस्संदेह ऐसे समय में राज्य के संगठन का श्रेय उसे दिया जाना चाहिए जब उसके असीमित विस्तार के कारण उसका अस्तित्व संकटमय हो जाता। विजित क्षेत्रों का संगठन करके और अराजकता की शक्तियों को नष्ट करके उसने एक ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति की थी; अर्थात् विकास के अगले सोपान के रुप में सल्तनत को और अधिक राज्य–विस्तार के लिए उसने तैयार किया था।"

परंतु बलबन की उपलब्धियों का मूल्यांकन करते समय हमें यह तथ्य नहीं भुला देना चाहिए कि उसकी नीति के एक पहलू में राजनीतिक दूरदर्शिता का शोचनीय अभाव था। उसने तुर्की जाति की सर्वोच्चता को जो अत्यधिक महत्व दिया उसने सल्तनत को एकान्तिक तुर्की संस्था बना दिया था और उसके आधार का काफी संकुचित कर दिया था जो अंत में उसके वंश और तुर्की सल्तनत के पतन का कारा सिद्ध हुई।

vykmíhu f[kyth ¼1296&1316 bå½

अलाउद्दीन, खिलजी वंश का महानतम शासक था। अलाउद्दीन का बचपन का नाम अली गुरशास्प था। जलालुद्दीन के दिल्ली तख्त पर बैठने के बाद इसे अमीर–ए–तुजुक का पद मिला। मलिक छज्जू के विद्रोह को दबाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के कारण जलालुद्दीन ने इसे कड़ा–मानिकपुर की सुबेदारी सौंप दी। उत्कर्ष पर पहुँचे अलाउद्दीन ने अपने चाचा जलालुद्दीन की हत्या कर 22 अक्टूबर 1296 ई० को दिल्ली में स्थित बलबन के लाल महल में अपन राज्यभिषेक संपन्न करवाया। राज्यभिषेक के बाद उत्पन्न कठिनाइयों का सफलतापूर्वक सामना करते हुए अलाउद्दीन ने कठोर शासन व्यवस्था के अन्तर्गत अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार करना प्रारंभ किया। अपनी प्रारंभिक सफलताओं से प्रोत्साहित होकर अलाउद्दीन ने सिकन्दर द्वितीय (सानी) की उपाधि ग्रहण कर इसका उल्लेख अपने सिक्कों पर करवाया। अलाउद्दीन ने खलीफा की सत्ता को मान्यता प्रदान करते हुए 'यामिन–उलखिलाफत–नासिरी–अमीर–उल–मोमिनीन' की उपाधि ग्रहण की। अलाउद्दीन का 20 वर्षीय शासनकाल महत्वपूर्ण उपलब्धियों का काल था। उसने राजत्व को एक नया रूप प्रदान किया, महत्वपूर्ण राजनीतिक सुधार लागू किए, लगान प्रशासन और व्यापार वाणिज्य में उल्लेखनीय परिवर्तन लाया तथा सल्तनत को एक विशाल साम्राज्य का रूप प्रदान किया।

साम्राज्य विस्तार– अलाउद्दीन साम्राज्यवादी प्रवृति का था। अलाउद्दीन की गणना दिल्ली के सिंहासन पर बैठने वाले उन शासकों में होती है जो अत्याधिक महत्वाकांक्षी थे। अपने राज्य की आन्तरिक व्यवस्था सुदृढ़ करने की पश्चात् उसने साम्राज्यवादी नीति अपनायी। इसने उत्तर भारत के राज्यों को जीत कर उस पर प्रत्यक्ष शासन किया। उसने दिल्ली सल्तनत की सीमाओं के बाहर स्थित स्वतंत्र हिन्दू राज्यों को जीतने की एक विशाल योजना तैयार की। अलाउद्दीन के समकालीन इतिहासकार अमीर खुसरों के अनुसार अलाउद्दीन का यह विश्वास था कि शासक का अनिवार्य कर्त्तव्य है कि वह साम्राज्य का विस्तार निरंतर करता रहे, नहीं तो उसके विरोधी राज्य शक्तिशाली हो जायेंगे और उस पर आक्रमण कर बैठेंगे।

सर्वप्रथम अलाउद्दीन ने अपनी स्थित सुदृढ़ करने का प्रयास किया। उसने दिल्ली पर अधिकार कर लिया था परंतु जलालुद्दीन के बेटे मुलतान में सुरक्षित थे। इसलिए 1296 ई० में अलाउद्दीन ने मुलतान पर चढ़ाई की और जलालुद्दीन के बेटों को गिरफ्तार कर लिया। अलाउद्दीन के राज्याभिषेक यानि दिल्ली सल्तनत की गद्दी संभालने के समय कई राज्य सल्तनत के क्षेत्र से बाहर थे। गुजरात पर बघेल राजपूतों का राज्य था। राजपुताना के विभिन्न राज्य आपस मे एक दूसरे से लड़ रहे थे ओर दिल्ली सल्तनत से स्वतंत्र थे। चितौड़ ओर रणथम्भौर जैसे राज्यों का अस्तित्व सल्तनत की शक्ति को खुली चुनौती थी। मध्य भारत में मालवा, धार, उज्जैन और बुन्देलखण्ड का विस्तृत प्रदेश पूर्णरूप से स्वतंत्र था। आधुनिक बिहार, बंगाल, उड़ीसा का सारा प्रदेश हिन्दू राजाओं या स्वतन्त्र मुसलमानों के हाथ में थ। दोअब, अवध वाराणसी और गोरखपुर के प्रदेशों पर भी दिल्ली का राज नहीं था। विन्धयाचल पर्वतों के दक्षिण में भी स्वतन्त्र राज्य थे। इसके अतिरिक्त मंगोलों के आक्रमण की संभावना बनी हुई थी तथा अलाउद्दीन के शासन–काल के आरंभ मे ही मंगोलों के आक्रमण दिल्ली पर हुए थ। सबसे पहले मंगोल सरदार 'कदर' ने 1297–98 में चढ़ाई की परन्तु अलाउद्दीन की सेना ने उन्हें पराजित कर दिया। 1299 के अन्त में उसने मंगोलों के एक महत्वपूर्ण आक्रमण को विफल कर दिया, जिसका नेतृत्व "कुतलूग ख्याजा" ने किया था। अलाउद्दीन ने साम्राज्य विस्तार की दिशा में पहला महत्वपूर्ण कदम उठाया जब उसने गुजरात के राज्य को जीत लिया।

गुजरात विजय– तुर्क शासकों के लिए गुजरात को अपने अधीन करने के कई महत्वपूर्ण कारण थे। ये क्षेत्र न केवल घनी आबादी के और उर्वर थे, बल्कि पश्चिमी तट के बन्दरगाहों के व्यापार मार्ग पर उनका पूरा नियंत्रण था। गुजरात विजय का एक और महत्वपूर्ण कारण था। घोड़ो के व्यापर पर अधिक प्रभावशाली नियंत्रण। 1299 ई० में अलाउद्दीन ने उलुग खाँ एवं नुसरत खाँ को गजरात विजय के लिए भेजा। उस समय गुजरात की राजधानी आन्हिलवाड़ा थी और बघेल राजा कर्ण (राज करन) उस पर शासन करता था। अहमदाबाद के निकट 'बघेल राजा कर्ण' और अलाउद्दीन की सेना में संघर्ष हुआ। राजा कर्ण पराजित होकर अपनी पुत्री 'देवल देवी' के साथ भाग कर देवगिरी के शासक रामचन्द्र देव के यहां शरण लिया। खिलजी सेना कर्ण की संपत्ति एवं उसकी पत्नी कमला देवी को साथ लेकर वापस दिल्ली आया। कालान्तर में अलाउद्दीन ने कमला देवी को साथ लेकर वापस दिल्ली आयी। कालान्तर में अलाउद्दीन ने कमला देवी से विवाह कर उसे अपनी सबसे प्रिय रानी बनाया। यहीं पर नुसरत खाँ ने हिन्दु हिजड़े 'मलिक काफूर' को एक हजार दीनार में खरीदा। इस तरह गुजरात से अपार धन–राशि अतिरिक्त मलिक काफूर जैसा दास अलाउद्दीन को प्राप्त हुआ जो आगे चलकर दक्षिण भारत में अलाउद्दीन के सैनिक अभियानों का संचालंक बना।

जैसलमेर पर विजय– सुल्तान की सेना के कुछ घोड़े चुराने के कारण सुल्तान ने यहां के शासक हुदा एवं उसके सहयोगी तिलक सिंह को 1299 ई० में पराजित किया।

रणथम्भौर पर विजय– रणयम्भौर का शासक हम्मीर देव अपनी योग्यता और साहस के लिए प्रसिद्ध था। अलाउद्दीन के लिए रणथम्भौर को जीतना इसलिए भी आवश्यक था क्योंकि रणथम्भौर के जीते बिना पूरे राजस्थान को जीतना कठिन था। साथ ही राणा हम्भीर देव ने विद्रोही मंगोल नेता मुहम्मद शाद एवं केहबा को अपने यहां शरण दे रखी थी इसलिए भी अलाउद्दीन रणथम्भौर को जीतना चाहता था। अतः जुलाई 1301 में अलाउद्दीन ने रणथम्भौर के किले को अपने कब्जे में कर लिया। हम्मीरदेव वीगति को प्राप्त हुआ। "तारीख–ए–अलाई एवं हम्मीर महाकाव्य में हम्मीरदेव एवं उसके परिवार के लोगों का जौहार द्वारा मृत्यु प्राप्त होने का वर्णन है। राजपूताना में अलाउद्दीन की यह पहली सफलता थी (1300–1301 ई०)।

चित्तौड़ पर आक्रमण एवं मेवाड़ विजय– मेवाड़ की राजधानी चितौड़ थी एवं मेवाड़ का शास राणारतन सिंह था। कुछ इतिहासकारों का विचार है कि चितौड़ की रानी पद्मिनी की सुन्दरता के संबंध में चर्चा सुनकर उसे हासिल करने के लिए अलाउद्दीन ने चितौड़ पर चढ़ाई की। परंतु यह विवरण काल्पनिक कथाओं पर आधारित है क्योंकि इसका कोई ठोस ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नही है। मलिक मुहम्मद जायसी की रचना पद्मावत से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि पद्मिनी की कहानी वास्तविक नही है। चितौड़ का किला सामरिक दृष्टिकोण से बहुत ही सुरक्षित स्थान पर बना था, इसलिए अलाउद्दीन की निगाह में चढ़ा हुआ था। इसलिए अन्ततः 28 जनवरी 1305 ई० में अलाउद्दीन ने चितौड़ पर आक्रमण कर दिया और 7 महीने के कठिन संघर्ष के बाद 26 अगस्त 1303 ई० में चितौड़ के किले पर अधिकार करने में सफल हुआ। राणा रतन सिंह युद्ध में शहीद हुआ और उसकी पत्नी रानी पद्मिनी ने अन्य स्त्रियों के साथ जौहर कर लिया। किले पर अधिकार के बाद सुल्तान ने करीब 30,000 राजपूत वीरों को कत्ल करवा दिया। उसने चितौड़ का नाम अपने पुत्र खिज्र खां के नाम पर खिज्रबाद रखा और उसे खिज्रखाँ को वहां का शासक नियुक्त कर दिल्ली वापस आ गया।

मालवा विजय– अलाउद्दीन ने मध्य भारत में स्थित राजपूत राज्यों की विजय की ओर ध्यान दिया। मालवा पर शासन करने वाला 'महलक देव' एवं उसका सेनापति 'हरनन्द (कोका प्रधान) बहादुर योद्धा थे। 1305 ई० में अलाउद्दीन ने मुल्तान के जुबेदार 'आईल–उल–मुल्क' के नेतृत्व में एक सेना को मालवा पर अधिकार करने के लिए भेजा। मालवा पर विजय आसानी से प्राप्त हुई और मदलक देव ने मांडु में शरण ली। तुर्क सेना ने उसक पीछा किया और मांडू पर भी अधिकार कर लिया (1305)। नवम्बर 1305 ई० को किले पर अधिकार के साथ ही उज्जैन, धारानगरी, चंदेरी आदि को जीत कर मालवा समेत दिल्ली सल्तनत में मिला लिया गया। मध्य भारत का एक अन्य महत्वपूर्ण राज्य सिवाना था, जहां का शासक शीतलदेव अत्यंत शक्तिशाली था। अलाउद्दीन ने उसके विरूद्ध स्वयं चढ़ाई की और 1308 ई० में सिवाना को जीत लिया। शीतलदेव मारा गया और कमालुद्दीन को सिवाना का शासक किया गया।

जालौर विजय– अलाउद्दीन की अगली विजय जालौर के राज्य पर हुई। यहां के शासक 'कन्हणदेव' ने 1304 ई० में अलाउद्दीनके अधीनता स्वीकार कर लिया था पर धीरे–धीरे उसने अपने के पुनः स्वतंत्र कर लिया। 1305 ई० में कमालुद्दीन गुर्ग के नेतृत्व मे सुल्तान की सेना ने कान्हणदेव को युद्ध में पराजित कर उसकी हत्या कर दी। इस प्रकार जालौर पर अधिकार के साथ ही अलाउद्दीन की राजस्थान विजय का कठिन कार्य पूरा हुआ (1311 ई०)। इस अवधि में अलाउद्दीन ने और कई छोटे राज्यों को जीत जिनमें बूँदी, मन्दोर, टोंक, जोधपुर और मारवाड़ के नाम उल्लेखनीय है। इस तरह दिल्ली सल्तनत की सत्ता उत्तर भारत के मुख्य भाग, मध्य भारत, एवं पश्चिमी भारत तक विकसित हो गयी। अतः 1311 तक उत्तर भारत मे सिर्फ नेपाल, कश्मीर, असम और पूर्व में बंगाल ही ऐसे शेष भाग बचे थे जिन पर अलाउद्दीन अधिकार नहीं कर सका था। उत्तर भारत की विजय के बाद अलाउद्दीन ने दक्षिण भारत की ओर अपना रूख किया।

अलाउद्दीन की दक्षिण विजय– अलाउद्दीन ने दक्षिण भारत को भी जीतने का संकल्प लिया। वह दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसने विन्ध्याचल पर्वतों को पार करके दक्षिणी प्रायद्वीप को जीतने का प्रयत्न किया। अलाउद्दीन की समकालीन दक्षिण भारत की चार महत्वपूर्ण शक्तियां थी–

(i) पश्चिमी में देवगिरी का यादव राज्य जिसमें महाराष्ट्र सम्मिलित था ओर देवगिरी (आधुनिक दौलताबाद) जिसकी राजधानी थी।

(ii) दक्षिण पूर्व में तैलंगाना का काकतीय राज्य, जिसकी राजधानी वारंगल थी।

(iii) दक्षिण पश्चिम यानि कृष्णा नदी के दक्षिण में स्थित होयसल राज्य जिसमें आधुनिक मैसूर तथा कुछ अन्य जिले सम्मिलित थे और जिसकी राजधानी "द्वार समुद्र" थी।

(iv) सुदूर दक्षिण का पाण्ड्य राज्य, जिसकी राजधानी मदुरा थी।

अलाउद्दीन द्वारा दक्षिण भारत के राज्यों को जीतने का उद्देश्य के पीछे धन की चाह एवं विजय लालसा थी। वह इन राज्यों को अपने अधीन कर वार्षिक कर वसूल करना चाहता था। दक्षिण भारत की विजय का मुख्य श्रेय "मलिक काफूर" को ही जाता है।

जहां राजपूताना के प्रति अलाउद्दीन ने किसी निश्चित नीति का निर्धारण नहीं किया वहां दक्षिण और सुदूर दक्षिण के चार राज्यों से संबंधित उसकी नीति पूर्णतः स्पष्ट है। वह दक्षिण में किसी भी क्षेत्र को सल्तनत में शामिल नही करना चाहता था। वह अधिराजत्व (Suzerainty) में विश्वास करता था न कि प्रभुसत्ता (Sovereignty) में। वह वार्षिक कर वसूल लेने के पश्चात् उनके आन्तरिक शासन में कोई हस्तक्षेप करना पसन्द नहीं करता था। वह केवल यह चाहता था कि दक्षिण के शासक उसकी अधीनता स्वीकार कर ले और वार्षिक कर दें। अलाउद्दीन की यही नीति 'दक्षिण नीति' के रूप में जानी जाती है।

देवगिरी– अलाउद्दीन द्वारा सुल्तान बनने से पूर्व 1296 ई० में देवगिरी के विरूद्ध किये गये अभियान की सफलता पर वहां के शासक रामचन्द्र देव ने प्रति वर्ष कर देने का वायदा किया था परंतु रामचन्द्रदेव के पुत्र शंकर देव (सिंहन देव) के हस्तक्षेप से वार्षिक कर का भुगतान रोक दिया गया। इसके अतिरिक्त उसने गुजरात के भगोड़े शासक कर्णदेव एवं उसकी पुत्री को भी अपने यहां शरण दी थी। इसलिए उनका दमन करने के लिए 1306–07 ई० में एक सेना सल्तनत के नाइब मलिक काफूर के नेतृत्व में भेजी गयी। रास्ते में ही काफूर ने राजा कर्ण को युद्ध में परास्त कर उसकी पुत्री देवलदेवी जो कमलादेवी एवं कर्ण की पुत्री थी, को दिल्ली भेज दिया जहां पर उसका विवाह खिज्र खां से कर दिया गया। रास्ते भर लूट पाट करता हुआ काफूर देवगिरी पहुँचा और पहुँचते ही उसने देवगिरी पर आक्रमण कर दिया। भयानक लूट–पाट के बाद रामचन्द्र देव ने आम्समर्पण कर दिया। काफूर ने अपार संपत्ति, ढ़ेर सारे हाथियों एवं राजा रामचन्द्र देव के साथ दिल्ली आया। रामचन्द्र देव के सुल्तान के समक्ष प्रस्तुत होने पर सुल्तान ने उसके साथ उदारता का व्यहार करते हुए 'रामयरायान' की उपाधि प्रदान की। उसका राज्य उसके अधिकार में रहने दिया और इसके अतिरिक्त गुजरात की नवसारी का जिला भी निजी जागीर एवं एक लाख स्वर्ण रंक देकर वापस भेज दिया। राय रामचन्द्र के साथ की मित्रता आलउद्दीन के दक्कन के अभियानों में बड़ी सहायक सिद्ध हुई।

परंतु इस विजय से देवगिरी की समस्या पूर्णतः हल नहीं हुई। रामचन्द्रदेव का पुत्र शंकरदेव बड़ा ही वीर था जो राजा बनते ही वार्षिक कर भेजना बंद कर दिया तथा साथ ही सुल्तान की सेना के होयसल राज्य पर आक्रमण के समय उसने सुल्तन की सहायता भी नहीं की थी। इसलिए अलाउद्दीन खिलजी ने 1313 ई० में पुनः मलिक काफूर को शंकरदेव को दंडित करने के उद्देश्य से देवगिरी भेजा। शंकरदेव युद्ध करता हुआ मारा गया। सुल्तान की सेना ने गुलबर्गा, कृपणा तथा तुंग भद्रा नदियों के बीच के प्रदेश दमौल तथा चौल, बन्दरगाह इत्यादि पर कब्जा कर लिया।

तेलंगाना– तेलंगाना में काकतीय वंश के राजा प्रताप रूद्रदेव द्वितीय का शासन था जिसकी राजधानी वारांगल थी। 1303 ई० में जब पहली बार सुल्तान की सेना ने वारंगल पर आक्रमण किया था। तो रूद्रदेव ने उसे परजित कर वापस लौट जाने पर बाध्य किया था। नवंबर 1309 में काफूर तेलंगाना के लिए रवाना हुआ। रास्ते में रामचन्द्र देव ने काफूर की सहायता की। 1310 ई० में काफूर अपनी सेना के साथ वारंगल पहुँचा। काफूर ने वारंगल को घेरकर भीतर की रक्षक सेना को भारी क्षति पहुँचायी। अतः राजा ने आत्मसर्मपण कर दिया। उसने 300 हाथी, 7000 घोड़े तथा भारी संख्या में नगद धन और रत्न युद्ध क्षति की पूर्ति के लिए आक्रमणकारी को भेंट किए और वार्षिक कर देने का वचन दिया। संभवतः इसी समय संसार का प्रसिद्ध "कोहिनूर" हीरा को प्रताप रूद्र देव काफूर को दिया। काफूर ने इसे सुल्तान अलाउद्दीन को सौंप दिया।

होयसल– होयसल का शासक वीर बल्लाल तृतीय बड़ी ही वीर एवं प्रतापी शासक था तथा इसकी राजधानी द्वारा समुद्र थी। 1310 ई० में काफूर पूनः द्वार समुद्र की विजय निकला। काफूर की गति इतनी तीव्र थी कि वीर बल्लाव III के उनके आने की पूर्व सूचना भी न मिल सकी और वह सहसा घिर गया। काफूर ने नगर के मन्दिरों को लूटा। होयसल राज्य को बाध्य होकर भारी हर्जाना चुकाना पड़ा तथा दिल्ली सुल्तान की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। इसने 'माबर ' (मालाबार) के अभियान में काफूर की सहायता की थी। सुल्तान अलाउद्दीन ने बल्लादेव को 'खिलअत', एक मुकूट, 'छत्र' एतं दस लाख टंके की थौली भेंट किया।

पाण्ड्य– इसे 'माबर' (मालाबार) के नाम से भी जाना जाता है। यहां के शासक सुन्दर एवं वीर पाण्ड्य दोनों भाई थे। दोनों में हुए सत्ता संघर्ष में सुन्दर पराजित होकर दिल्ली चला गया था और अलाउद्दीन से अपना सिंहासन प्राप्त करने के लिए प्रार्थना की थी। सुन्दर पाण्ड्य द्वारा सहायता मांगने पर काफूर ने 1311 ई० में पाण्ड्यों के महत्वपूर्ण केन्द्र 'वीरधूल' पर आक्रमण कर दिया पर मलिक काफूर के आगमन की खबर सुनकर वीर पाण्ड्य भाग खड़ा हुआ। काफूर

ने बरमत पत्ती में स्थित 'लिंग महादेव' के सोने के मंदिर में खूब लूट पाट की। इसके अतिरिक्त ढेर सारे मंदिर इसके द्वारा लूटे एवं तोड़ गयेध। 1311 ई० में काफूर विपुल धन संपत्ति के साथ दिल्ली पहुँचा परन्तु उसे वीर पाण्ड्य को पकड़ने में सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। इससे पहले दिल्ली में इतना लूटा हुआ माल कोई नहीं लाया था। अतः संभवतः धन की दृष्टिकोण से यह काफूर का सर्वाधिक अभियान था।

इस प्रकार दक्षिण की विजय पूर्ण हो गई और लगभग समस्त दक्षिण भारत पर दिल्ली का प्रभुत्व स्थापित हो गया। अलाउद्दीन की सफलता के पीछे एक मात्र निर्णायक तत्व था दक्षिण राजाओं की पारस्परिक शत्रुता। उत्तर की राजपूत रियासतों के समान दक्षिण में देवगिरि, तेलगाना, होयसल और पांड्य राज्य निरंतर परस्पर युद्धों में लगे रहते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि वे विदेशी आक्रमण के समय एकजुट नहीं हुए और उन्होंने एक दूसरे की सहायता नहीं की। अलाउद्दीन के साम्राज्य विस्तार की सर्वोच्च उपलब्धि यह भी थी कि दक्षिणी प्रदेशों को साम्राज्य में विलीन किए बिना ही उसकी महत्वाकांक्षा पूरी हो गयी।

अलाउद्दीन की सफलताएँ अलपकालीन सिद्ध हुई क्योंकि जब सुल्तान का स्वास्थय गिरने लगा तो उसकी शक्ति भी कमजोर पड़ने लगी। फलतः विजित राज्यों को अपना सिर उठाने का मौका मिल गया। देवगिरी, वारंगल, द्वारसमुद्र एवं माबर की संपत्ति को लूट लिया गया था मगर सन्धि की शर्ती द्वारा जैसे ही काफूर की विजयी सेनाएँ दक्षिण की पराजित राज्यों से कूच करती थी, दक्षिण के राज्य सल्तनत की सत्ता की अवहेलना करने लगते थे। अतः जब तक अलाउद्दीन शक्तिशाली रहा, उसकी व्यवस्थ कारगर रही परन्तु उसके वृद्ध होते ही उसकी सारी व्यवस्था विफल हा गयी। फिर भी इतना तो कहा जा सकता है अपनी विस्तारवादी नीति के फलस्वरूप वह लगभग संपूर्ण भारत का स्वामी बन गया। 1316 ई० में अलाउद्दीन की मृत्यु हो गई। इस तरह अलाउद्दीन का साम्राज्य विस्तार पश्चिमोतर भाग में सिन्धु नदी से लोकर दक्षिण में मदुरा तक, पूर्व में वाराणसी एवं अवध से लेकर पश्चिम में गुजरात तक विस्तृत था।

मंगोल आक्रमण– अलाउद्दीन की सैनिक उपलब्धियों का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू मंगोलों के विरूद्ध संघर्ष था। 1297–98 में मंगोल सेना ने अपने नेता कादर के नेतृत्व में पंजाब एवं लाहौर पर आक्रमण किया। जालंधर के निकट इन आक्रमणकारियों को सुल्तान की सेना जिनका नेतृत्व जफर खाँ, एवं उलुग खाँ ने किया था, को पराजित किया। मंगोलों का दूसरा आक्रमण 'सलदी' के नेतृत्व में 1298 ई० में सेहवान पर हुआ। 1299 ई० में 'कतलुग ख्वाजा' ने नेतृत्व में मंगोल सेना के आक्रमण को जफर खाँ ने पुनः असफल कर दिया। आरंभिक आक्रमण के अतिरिक्त 1303 ई० में मंगोल सेना का चौथा आक्रमण 'तार्गी' के नेतृत्व में हुआ। लगभग 2 महीने तक सीरी के किले को घेरे रहने के बाद भी इसे सफलता ने मिलने पर दिल्ली के समीप के क्षेत्रों में लूट–पाट कर तार्गी वापस चला गया। 1305 ई० में 'अलीबेग' 'तार्ताक' एवं 'तार्गी' के नेतृत्व में मंगोलों ने अमरोह पर आक्रमण किया, परन्तु मलिक काफूर एवं गाजी मलिक ने मंगोलों को बुरी तरह पराजित किया। 1306 ई० में मंगोल सेना का नेतृत्व करने वाला इकबालमन्द गाजीमलिक यानि गयासुद्दीन तुगलक रावी नदी के किनारे परास्त किया गया। इस प्रकार अलाउद्दीन ने अपने शासन काल में मंगोलो के सबसे अधिक एवं सबसे भयानक आक्रमण का सामना करते हुए सफलता प्राप्त की।

सैन्य सुधार– इसके अतिरिक्त अलाउद्दीन ने महत्वपूण सैनिक सुधार भी लागू किए। इन सुधारों के अन्तर्गत अलाउद्दीन ने एक स्थायी केन्द्रीय सेना का गठन किया। सैनिकों को भूमि प्रदान करने के बदले नकद वेतन देने की प्रथा लागू की और "दाग एवं हुलिया" की प्रथा चलाई। इसके अन्तर्गत शाही सेना के घोड़ों पर मोहर का निशाण लगा दिया जाता था ताकि सैनिको द्वारा उन्हें बदल कर मामूली घोड़े नहीं खरीद लिये जाय। साथ–ही–साथ सैनिकों का हुलिया अथवा रूप वितरण लिख लिया जाता था ताकि वे अपने स्थान पर दूसरे सैनिक को युद्ध में नहीं भेजे। इस प्रकार अलाउद्दीन ने सेना की कार्य–कुशलता में उल्लेखनीय सुधार लाया जिससे कि साम्राज्य विस्तार ओर मंगोलों के साथ संघर्ष में उसे सफलता प्राप्त हुई।

सैनिक प्रबंध– अलाउद्दीन खिलजी ने आन्तरिक विद्रोहों को दबाने, बाह्मय आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना करने के लिए एवं साम्राज्य विस्तार हेतु एक विशाल सुदृढ़ एवं स्थायी सेना का गठन किया। स्थायी सेना को गठित करने वाला अलाउद्दीन पहला सुल्तान था। इसने सेना का केन्द्रीयकरण किया तथा सीधी भरती एवे नकद वेतन देने की प्रथा को प्रारंभ किया। अलाउद्दीन ने घोड़ों को दागने एवं सैनिकों के हुलिया लिखे जाने के विषय में नवीनतम् नियम बनाये। अलाउद्दीन की सेना में घुड़सवार पैदल सैनिक एवं हाथी सैनिक थे। इनमें घुड़सवार सैनिक सबसे अधिक महत्वपूर्ण थे।

दीवान–ए–आरिज प्रत्येक सैनिक की नामावली एवं हुलिया रखता था। फरिश्ता के अनुसार अलाउद्दीन के पास लगभग 4 लाख 75 हजार सुसज्जित एवं वर्दीधारी सैनिक थे। जॉच–परख कर भरती किये जाने वाले सैनिक को 'मुर्रतब' कहा जाता है। 'एक अस्पा' यानि एक घोड़े वाले सैनिक को प्रतिवर्ष 234 टंका वेतन मिलता था तथा 'दो अस्पा 234 टंका वेतन मिलता था तथा दो अस्था को प्रतिवर्ष 378 टंका वेतन के रूप में मिलता था।

आर्थिक सुधार– अलाउद्दीन खिलजी की आर्थिक नीति के विषय में हमें व्यापक जानकारी जियाउद्दीन बरनी की कृति तारीखे–फिरोजशाही से मिलती है। अलाउद्दीन के आर्थिक सुधारों के अन्तर्गत मूल्य–नियंत्रण के बारे में थोड़ी बहुत जानकारी अमीर खुसरों की कृति 'रवजाइनुल–फतूह', इब्बबतूता की कृति 'रिहल्ला' एवं इमामी की कृति फुतूहस्सलातीन से भी मिलती हैं अलाउद्दीन का मूल्य नियत्रण संबंधी नीति केवल दिल्ली में लागू था या फिर पूरी सल्तनत में यह प्रश्न काफी विवादस्वपद है। अलाउद्दीन के आर्थिक सुधारों से सेना की भूमिका महत्वपूर्ण थी।

अलाउद्दीन खिलजी ने अपने शासनकाल में आर्थिक जीवन के दो महत्वपूर्ण क्षेत्रों में सुधार लागू किए, वे थे 'कृषि' और 'व्यापार'। 'कृषि–क्षेत्र' में सुधारों का संबंध लगान–व्यवस्था से था। लगान तथा भू–राजस्व राज्य की आमदनी का प्रमुख साधन था। इसके अलावे वह मध्यस्थ, भूमिपति वर्ग का दमन भी करना चाहता था क्योंकि ये राज्य में विद्रोहों के प्रमुख कारण थे। इस प्रकार अलाउद्दीन के राजस्व सुधार दो उद्देश्यों से प्रेरित था। पहला, राज्य की आमदनी में पर्याप्त वृद्धि, जिससे कि साम्राज्य–विस्तार के लिए विशाल सेना का निर्माण किया जा सके तथा दूसरा, मध्यस्थ भूमिपति का दमन और उसका धन छीनना ताकि इस वर्ग द्वारा विद्रोह एंव उपद्रव को बढ़ावा न दिया जा सके।

प्रथम उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अलाउद्दीन ने तीन महत्वपूर्ण उपाय किया। प्रथम, उसे दोआब क्षेत्र (गंगा और यमुना नदियों के बीच के क्षेत्र) में लगान की दर में वृद्धि के आदेश दिये। किसानों को उपज के 1/3 अथवा 33% के स्थान पर 1/2 अथवा 50% लगान के रूप में उपज देने के आदेश दिये। अलाउद्दीन ने दोआबा क्षेत्र में कर–मुक्त भूमि पर केन्द्रीय नियंत्रण स्थापित कर दिया और सारे भूमि जो अनुदान में दिये गये थे वापस ले लिए गये। इक्त, इनमा, मिल्क, वक्क आदि के रूप में सामन्तों अधिकारियों और ऊलेमा के पास जो भूमि थी उसे 'खालसा भूमि यानि सुल्तान के प्रत्यक्ष शासन के अधीन भूमि में परिवर्तित करने के आदेश दिये गये। इस प्रकार राज्य की आमदनी में और अधिक वृद्धि संभव हुई। द्वितीय अलाउद्दीन ने सम्भ्वतः लगान निर्धारण की पद्दति में भी सुधार लाया। बरनी के अनुसार, उसने भूमि की मान के आधार पर लगान के निर्धारण के आदेश दिये। उसे इस पद्धति के लिये 'मसाहत' के शब्द का प्रयोग किया। बरनी ने इस पद्धति के बारे में मात्र इतना ही लिखा कि अलाउद्दीन ने प्रति 'बीस्टा' में उपज के आधार पर लगान निर्धारित करने के आदेश दिया। तृतीय, लगान वसूली के कार्य में व्याप्त दोषों को दूर करने के लिए अलाउद्दीन ने एक नये विभाग 'दीवान मुस्तखराज' की स्थापना की। इस विभाग द्वारा लगान वसूलने वाला अधिकारियों और कर्मचारियों द्वारा बकाया राशि की वसूली के लिये कठोर उपाय किये गये।

मध्यस्थ भूमिपति वर्ग के दमन के लिए भी अलाउद्दीन ने कई उपाय किये। इस वर्ग के लिए बरनी ने 'खूत', 'मुकद्दम' एवं 'चौधरी' शब्द का प्रयोग किया है। ये विभिन्न श्रेणियों के भूमिपति थे जिनका मुख्य कार्य किसान द्वारा लगान वसूली कर राज्य को पहुंचाना था। इस सेवा के बदले में राज्य द्वारा इन्हें कुछ सेवाएं दी जाती थी जैसे–अपनी भूमि का ये रियायती दर पर लगान देते थे और किसानों से ये राज्य के लिए लगान के अतिरिक्त अपने लिए भी कर आदि वसूल सकते थे। राज्य को दिया जाने वाला लगान था कर सामान्य रूप से 'खिराज' तथा भूमिपतियों द्वारा लिये जाने वाला कर "हुकूक" कहलाते थे। ऐसा देखा गया था कि इस वर्ग के लोग अपने इस अधिकारों का दुरूपयोग करत थे। किसानों से अधिक लगान और अपने कर वसूल कर राज्य को दिया जाने वाला लगान की पूर्ण राशि भूगतान नहीं करते थे। जिससे ये धनी हो गये थे और अपने निजी सेना भर्ती कर उसके माध्यम से विद्रोह एवं उपद्रव खड़ा करते रहते थे।

अलाउद्दीन ने इस वर्ग को कमजोर करने के लिए सर्वप्रथम इन भूमिपतियों को लगान वसूली के काम से मुक्त क दिया। द्वितीय, उसने इन्हें रियायती दर पर लगान देने की सुविधा से वंचित कर दिया। तृतीय, उसने इनके सभी 'हुकूक' अवैध घोषित कर दिये। इन उपयों से इस वर्ग की आर्थिक स्थिति पर आघात पहुँचा। बरनी के अनुसार अब इस वर्ग के लिये घुड़सवारी, करना, हथियार रखना, महंगे वस्त्र पहना इत्यादि चीज संभव न रहा। जिसके कारण इनकी स्थिति काफी कमजोर दो गयी और इनकी उद्दण्ता समाप्त हो गयी।

अलाउद्दीन ने कर–प्रणाली में भी सुधार किये। अलाउद्दीन द्वारा लगाये दो नवीन कर थे–'घरी', जो घरों एवं झोपड़ी पर लगाया था तथा 'चराई' जो दुधारू पशुओं के लिए चारागाह पर लगने वाला कर था। 'जाजिया' कर गैर मुस्लिमों से लिया जाता था 'जंकात' केवल मुसलमानों से लिया जाने वाला धार्मिक कर था जो संपत्ति का 40वॉ हिस्सा होता था। 'जजिया' तथा 'जकात' पूर्वकाल से प्रचलित कर था। 'खम्स' (युद्ध में लूटे गये धन) कर 4/5 भाग राज्य के हिस्से में तथा 1/5 हिस्सा यानि पाँचवा हिस्सा सैनिकों को मिलता था।

इन सभी उपायों से अलाउद्दीन अपने दोनों लक्ष्यों को प्राप्त करने में सफल रहा।

ckt kj fu;=.k lac/kh uhfr

अलाउद्दीन के सुधारों में सबसे अधिक महत्व उसकी मूल्य निर्धारण योजना अथवा बाजार नियंत्रण की नीति का है। इतिहासकारों में इस योजना के उद्देश्य, क्षेत्र एवं प्रभाव के संबंध में मतभेद है।

इसके उद्देश्यों के संबंध में के०एस० लाल ने बरनी के विचार से सहमति व्यक्त की और कहा कि यह योजना कम खर्च पर विशाल सेना को बनाए रखने के लिए लागू की गयी। इनके अनुसार अलाउद्दीन ने साम्राज्य विस्तार एवं मंगोल आक्रमण का सामना करने के लिए एक विशाल सेना का गठन किया जिसके लिये राज्य को अत्यधिक धन खर्च करन पड़ता। इसलिए अलाउद्दीन ने सैनिकों का वेतन निर्धारित कर दिया। 234 टंका प्रतिवर्ष वेतन तथा 78 टंका भते के रूप में सैनिकों को दिया जाता था। इसके लिये यह अनिवार्य हो जाता था कि उसी निर्धारित वेतन तथा भते में ही सैनिकों को सभी आवश्यक वस्तुएं उपलब्ध करायी जाय अन्यथा असंतोष फैल जाता। बाजार नियंत्रण की योजना इसलिए लागू की गयी थी। सवसेना, हबीब और निवासी इस विचार से सहमत नहीं है। उनके अनुसार अलाउद्दीन ने यह योजना केवल सैनिकों के लिए नहीं बल्कि सारी प्रजा के लिये लागू की। उसने आम लोगों की आवश्यकता की वस्तुओं के मूल्यों को भी निर्धारित किया। इसके अतिरिक्त बरनी की एक दूसरी कृति 'फतवा–ए–जहांदारी' में यह वर्णित है कि जन कल्याण के लिए मूल्य निर्धारित करना अनिवार्य है। इन सब प्रमाणो के आधार पर यह माना जाता है कि अलाउद्दीन का इस नीति का उद्देश्य जनता के राहत पहुँचाना था।

अलाउद्दीन ने एक अधिनियम द्वारा दैनिक उपयगो की वस्तुओं का मूल्य निश्चित कर दिया। कुछ महत्वपूर्ण अनाजों का मूल्य इस प्रकार था। गेंहू 7.5 जीतल, चावल 5 जीतल, जौ 4 जीतल, उड़द 5 जीतल मक्खन या घी 2.5 किलो 1 जीतल। मूल्यों की स्थिरता अलाउद्दीन की महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। इसने राजधानी की बिक्री हेतु 'शहना–ए–मंडी' नामक बाजार की स्थपना की। प्राकृतिक विपदा से बचने के लिए अलाउद्दीन ने 'शासकीय अन्न भंडारों' की व्यवस्था की। अपनी 'राशन व्यवस्थ' के अन्तर्गत को पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध करवाने के लिए सुल्तान ने दोआब क्षेत्र से लगान अनाज के रूप में वसूल किया पर पूर्वी राजस्थान के छाईन क्षेत्र से आधी मालागुजारी अनाज में और आधी नगद रूप में वसूली जाती थी। अकाल या बाढ़ के समय प्रत्येक घर को प्रतिदिन आधा मन अनाज देता था। राशनिंग व्यवस्था अलाउद्दीन की नवीन सोच थी।

'सराय–ए–अदल' ऐसा बाजार होता था जहां पर वस्त्र, शक्कर, जड़ी, बूटी, मेवा, दीपक जलाने का तेल एवं अन्य निर्मित वस्तुएं बिकने के लिये आती थी। सराए–ए–अदल का निर्माण बदायूँ द्वार के समीन एक बड़ मैदान में किया गया था। इस बाजार में एक टंके से लेकर 10,000 टंके मूल्य की वस्तुएं बिकने के लिये आती थी। अलाउद्दीन ने कपड़े का व्यापार करने वाले व्यापारी को खाद्यान्न व्यापारियों की तुलना में अधिक से अधिक प्रोत्साहन दिया।

बाजार नियंत्रण संबंधी योजना कार्यान्वित करने के लिए अलाउद्दीन ने एक नये विभाग का गठन किया जिसे 'दीवान–ए–रियासत' नाम दिया गया। यह वाणिज्य विभाग था तथा इसका प्रधान 'सद्रे–रियासत' कहा जाता था। इस विभाग के अधीन प्रत्येक बाजार के लिए निरीक्षक को नियुक्त किया गया, जिन्हें 'शहना–ए–मंडी' कहा जाता था तथा ये योजना कार्यान्वियन के लिये उत्तरदायी थे। दिल्ली में आकर व्यापार करने वाले प्रत्येक व्यापारी को दीवान–ए–रियासत में अपना नाम लिखवाना पड़ता था। 'शहना–ए–मंडी' के अधीन गुप्तचर या बरीद होते थे जो बाजार के अन्दर घूम कर कार्य करते थे। बरीद के नीचे 'मुनहियग्न' व गुप्तचर कार्य करते थे। अधिकारियों का क्रम इस प्रकार था–दिवान–ए–रियासत, शहना–ए–रियासत नियुक्त किया था। अलाउद्दीन ने 'परवाना–नवीस' नामक अधिकारी की नियुक्ति की, जिसका कार्य होता या तरबीहस तबरेज, कंज माबरी, सुनहरी जरी, देवगिरी रेशम, खुज्जे

दिल्ली एवं कमरवाद जेसे वस्तुाओं को बेचने के लिए 'परवाना–नवीस' (परमिट) जारी करना। इसके अतिरिक्त अलाउद्दीन स्वयं भी अपने दासों ओर अन्य व्यक्तियों द्वार समय–समय पर बाजार से सामान मंगा कर अपी संतुश्टि करता थां आदेशों के उल्लंघन करने वाले व्यापारियों के लिए कठोर दंड का प्रावधान था, अधिक मूल्य लेने पर कोड़े मारने की सजा थी, तथ कम तौलने पर उसी अनुपात में मांस उस व्यापारी के शरीर से काट लिया जाता था। अतः कठोर दण्ड एवं कुशल गुप्तचर व्यवस्था के माध्यम से अलाउद्दीन ने अपनी योजना को कड़ाई से लागू किया।

दासों, घोड़ो और मवेशियों के बाजार में मूल्य वृद्धि की समस्या दलालो द्वारा उत्पन्न की जाती थी जो व्यापारी एवं ग्राहक दोनो से कमीशन वसूलते थे। अतः अलाउद्दीन ने इन दलालों को बाजार से निष्कासित कर दिया एवं राज्य द्वारा व्यापारियों के लिये कुछ नियम निर्धारित किये जो निम्नलिखित है–

(i) किस्म के अनुसार मूल्य का निर्धारण

(ii) व्यापारियों एव पूँजीपतियों का बहिष्कार

(iii) दलाली करने वाले लोगों पर कठोर अंकुश तथा

(iv) सुल्तान द्वारा बार–बार जाँच पड़ताल

हर व्यापारी को अपना सामान सरकारी अधिकारियों द्वारा निरीक्षत करना पड़ता था। इस आधार पर उनकी श्रेणियां निर्धारित कर दी जाती थी। प्रत्येक श्रेणी के निर्धारित मूल्य के अनुसार ही उन्हें अपना सामान बेचना पड़ता था।

अलाउद्दीन ने उपरोक्त उपायों से सभी आवश्यक वस्तुओं का मूल्य निर्धारित कर दिया और अपने शासनकाल की पूरी अवधि में इनमें किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होने दी। इसमें कोई संदेह नहीं कि मूल्य निर्धारण की योजना अलाउद्दीन खिलजी की एक विशिष्ट उपलब्धि थी जो उसकी असधारण प्रतिभा का व्यापक प्रमाण प्रस्तुत करती है। लेकिन दुर्भाग्यवश वह सारी उपलब्धि एक व्यक्ति की प्रतिभा पर आधारित थी और उस व्यक्ति अर्थात अलाउद्दीन की 5 जनवरी 1316 ई० में मृत्यु के पश्चात् इस योजना का कार्यान्वयन कारागार रूप से जारी नहीं रहा।

e|gEen fcu r|xyd ¼1325&1351 bå½

राज्यारोहण– अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् उलुग खाँ (जूना खाँ) फरवरी अथवा मार्च 1325 ई० में मुहम्मद बिन तुगलक के नाम से सिंहासन पर बैठा। चूंकि गयासुद्दीन तुगलक पहले ही उलुग खाँ को अपना युवराज घोषित कर चुका था इसलिए उसका सिंहासनारोहण बिना किसी विरोध के सम्पन्न हो गया। जनता ने उसके राज्यारोहण का स्वागत किया।

सम्भवतः मध्यकालीन भारत के शासको में चरित्र और नीतियों की दृष्टि से कोई शासक इतना विवादपूर्ण नहीं रहा जितना मुहम्मद बिन तुगलक रहा है। उसका छब्बीस वर्षीय शासन उचित ढ़ंग से निर्मित किन्तु गलत ढंग से क्रियान्वित की गयी विनाशकारी योजनाओं और कार्यो की एक रोचक दुखद कहानी है। उसका मस्तिष्क नयी नयी योजानायें बनाने में जितना तेज था उतना ही जनता की मनोवृत्ति समझने में मन्द था। वह जनता से ऐसी घनिष्ठता तथा पारस्परिक सहानुभूति कभी स्थापित नहीं कर सका जो उसकी योजनाओं के सफलतापूर्णक क्रियान्वित किये जाने के लिए अत्यंत आवश्यक थी। उसकी समस्त योजनायें और कार्य भयंकर रूप से असफल सिद्ध हुए और उनके अत्यंत विनाशकारी परिणाम निकले फलस्वरूप पूरे साम्राज्य में उसके विरूद्ध असंतोष और शत्रुता का वातावरण उत्पन्न हो गया।

इन सबके बावजूद भी मुहम्मद बिन तुगलक का शासनकाल दिल्ली सल्तनत के इतिहास में एक युगान्तरकारी घटना है क्योंकि उसके समय में ही वह विस्तार के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गयी। किन्तु साथ ही उसके समय में ही विद्रोहों की एक ऐसी श्रृंखला प्रारम्भ हुई जिन्होंने सल्तनत की नींव को हिलाकर रख दिया। यद्यपि मुहम्मद तुगलक ने अपने शासनकाल में देश में राजनीतिक तथा प्रशासनिक एकता स्थापित करने के लिए निरंतर प्रयत्न किये किन्तु वह अपने प्रयत्नों में असफल रहा और उसकी मृत्यु के समय तक बहुत सारा प्रदेश दिल्ली सल्तनत के आधिपत्य से मुक्त हो गया और अनेक स्वंतत्र राज्य स्थापित हो गये।

fofHké ;kstuk,¡

मुहम्मद बिन तुगलक अत्यधिक परिश्रमी और नवीन अन्वेषण करने वाला एक महत्वकांक्षी सुल्तान था। उसे नयी–नयी योजनाओं को बनाने का बड़ा शौक था और यही कारण है कि उसने सिंहासन पर बैठने के बाद शासन के क्षेत्र में निम्नलिखित अनेक नवीन योजनाओं को जन्म दिया–

दोआब में कर वृद्धि– मुहम्मद बिन तुगलक ने जो राज्य नीति निर्धारित की उसका प्रमुख अंग था राजस्व में वृद्धि करना। किन्तु राजस्व में यह वृद्धि साम्राज्य के सभी भागों में न करके केवल दोआब में की गयी क्योंकि दोआब इस प्रकार के प्रयोग के लिए सबसे उपयुक्त प्रदेश था। यहाँ उत्पादन अच्छा होता था अतः यहाँ के किसान बढ़ी हुई कर की मात्रा का भार उठा सकते थे। बरनी के अनुसार दोआब में दस से बीस गुना करों में वृद्धि की गयी। किन्तु बरनी का यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण है और मोरलैड, डॉ० ईश्वरी प्रसाद, डॉ० आर० पी० त्रिपाठी आदि सभी इतिहासकार इसे स्वीकार नही करते। डॉ० आर० पी० त्रिपाठी का मानना है कि करों में यह वृद्धि सम्भवतः पाँच से दस प्रतिशत तक की गयी। डॉ० त्रिपाठी आगे लिखते है कि चूंकि भूमिकर की दर पहले से ही बहुत अधिक थी अतः भूमिकर में और अधिक वृद्धि करना उचित नहीं समझा गया। इसके लिए या तो कुछ पुराने करों को पुनः लागू किया या नये कर लगाये गये। किन्तु बरनी ने इस प्रकार के करों की कोई सूची नहीं दी है जिसके बिना यह पता लगाना सम्भव नहीं है कि सुल्तान ने कौन–कौन से नये कर लगाये। किन्तु इस विषय में तारीखे मुबारकशाही का लेखक हमारी मदद करता है और सुल्तान द्वारा लगाये गये गृह कर और चरागाह करों का उल्लेख करता है और लिखता है कि इसके लिए जानवरों को दागा गया और रैयत के घरों पर नम्बर लगाये गये।

इन बढ़े हुए करों को दोआब की जनता ने निश्चित रूप से पसन्द नहीं किया और दुर्भाग्यवश इसी समय दोआब में भयंकर अकाल पड़ गया। जिसके फलस्वरूप किसानों की दशा अत्यंत दयनीय हो गयी। नये लगाये हुए करों को चुकाना तो दूर रहा वे भूमिकर चुकाने की भी स्थिति में भी नहीं रहे और जब ऐसी स्थिति में भी राजस्व कर्मचारियों ने करों को वसूल करने में कठोरता बरती तो किसान राज्य कर्मचारियों के अत्याचार से बचने के लिए अपने खेत व गाँव छोड़कर जंगलों में भाग गये। जब सुल्तान को इस बात की सूचना दी गयी कि दोआब की जनता विद्रोही हो गयी है और किसी प्रकार के करों को चुकाना नहीं चाहती तो सुल्तान सेना लेकर दोआब गया और जनता को कड़ा दण्ड दिया। किन्तु जब उसकों वास्तविक स्थिति का पता चला और उसने जाना कि दोआब में भयंकर आकाल पड़ गया है और सारी फसल चौपट हो गयी है तथा जनता करों को देने में असमर्थ है तो उसने किसानों के कष्टों को दूर करने का प्रयास किया। उनको हल, बीज और बैल खरीदने के लिए लगभग दो करोड़ टके की धनराशि तकाबी के रूप में दी गयी जो फिर कभी वापस वसूल नहीं की जा सकी। बढ़ाये हुए करों को भी उसने वापस ले लिया। इस प्रकार दोआब में कर वृद्धि की यह योजना पूर्णतः असफल रही। सरकार को इससे बहुत बड़ा आर्थिक नुकसान उठाना पड़ा तथा इससे सुल्तान की बदनामी भी हुई।

कृषि विभाग का निर्माण (दीवाने कोही)– मुहम्मद तुगलक ने सरकारी देखरेख के अन्तर्गत और राज्य की ओर से सीधी आर्थिक सहायता देकर कृषि के योग्य भूमि का विस्तार करने की योजना बनायी। यह कृषि में उसका एक विलक्षण प्रयोग था। इस हेतु उसने 'दिवाने कोही' (कृषि विभाग) नामक एक नये विभाग का निर्माण किया। इस कार्य के लिए पहले 60 वर्ग मील भूमि का एक विशाल भू–क्षेत्र चुना गया और उसको उपजाऊ बनाकर उसमें विभिन्न फसलें बदल–बदल कर बोने का निश्चय किया गया। यह भूमि कृषि के लिए गरीब और उत्सुक लोगों को दी गयी। दो वर्षो में उन लोगों को राजकोष से सत्तर लाख टके ऋण के रूप में दिये गये। उनकी देखरेख के लिए सौ शिकदारों और एक हजार सवारों की नियुक्ति की गयी। इस योजना के लिए तीन वर्ष का समय निर्धारित किया गया।

किन्तु सुल्तान का यह प्रयोग पूर्णतः असफल रहा। बरनी लिखता है कि तीन वर्षो में कृषि के अन्तर्गत ऊपर वर्णित भूमि का सवा या हजारवाँ भाग कृषि योग्य नहीं बनाया जा सका। इस प्रयोग की असफलता के मुख्य कारण निम्नलिखित थे–प्रथम, इस प्रयोग के लिए चुनी गई भूमि उपजाऊ नहीं थी। दूसरा, तीन वर्ष का समय इस प्रयोग के लिए बहुत कम था और इतने कम समय में आशातीत परिणाम प्राप्त करना सम्भव नहीं था। तीसरा, इस योजना के लिए जो रूपया अग्रिम रूप से दिया गया था उसका कुछ भाग तो सरकारी अधिकारियों की बेईमानी के कारण और

कुछ किसानों द्वारा इस रूपये को दूसरे कार्यो में खर्च कर देने के कारण सही उपयोग नहीं हो सका। अंत में सुल्तान इन वर्षो में पूरी तरह से दिल्ली से बाहर रहा और वह इस योजना पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान नहीं दे सका।

राजधानी परिर्वतन– मुहम्मद तुगलक ने अपनी दूसरी योजना के अन्तर्गत राजधानी को दिल्ली से देवगिरी को स्थान्तरित किया लेकिन यह योजना अल्पकालीन सिद्ध हुआ। उसने अपनी नई राजधानी का नाम दौलताबाद रखा। मुहम्मद तुगलक द्वारा राजधानी परिवर्तन के कारणों पर इतिहासकारों में बड़ा विवाद है फिर भी निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि देवगिरी का दिल्ली सल्तनत ने राजधानी परिवर्तित करने की बात सोची। लेकिन दौलताबाद की तात्कालीन परिस्थितियों ने उसे फिर दिल्ली लौट जाने के लिये बाध्य किया। मुहम्मद तुगलक की यह योजना भी पूर्णतः असफल रही और उसने 1335 ई० में दौलताबाद से लोगों को दिल्ली वापस होने की अनुमति दी दी। इस प्रकार राजधानी परिवर्तन के द्वारा दक्षिण भारत पर प्रशासनिक नियंत्रण का प्रयास असफल रहा। सुल्तान को इस कार्य के लिये बहुत बदनामी मिली और प्रजा में इस कारण काफी असंतोष फैला।

सांकेतिक मुद्रा– मुहम्मद–बिन–तुगलक ने अपने शासनकाल में मुद्रा प्रणाली में महत्वपूर्ण सुधार लाए। तीसरी योजना के अन्तर्गत मुहम्मद तुगलक ने सांकेतिक व प्रतीकात्मक सिक्कों पर प्रचलन करवाया। बरनी के अनुसार संभवतः सुल्तान ने राजकोष की रिक्तता के कारण एवं अपनी साम्राज्य विस्तार की नीति को सफल बनाने हेतु सांकेतिक मुद्रा का प्रचलन करवाया। सांकेतिक मुद्रा के अन्तर्गत सुल्तान ने संभवतः पीतल (फरिश्ता के अनुसार) तांबा (बरनी के अनुसार) के धातुओं के सिक्के चलाये जिसका मूल्य चांदी के रूपये टंका के बराबर होता था।

आधुनिक इतिहासकारों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में चाँदी के अभाव के कारण इस धातु का मूल्य निरंतर बढ़ रहा था जिस कारण मुद्रा प्रणाली में असंतुलन की संभावना थी। इसलिए चाँदी के भंडार को सुरक्षित रखने और उसके स्थान पर सांकेतिक मुद्रा जारी करने के आदेश सुल्तान द्वारा दिये गय। लेकिन इस योजना का अन्त भी असफलता में हुआ क्योंकि बाजार में जाली सिक्के काफी अधिक प्रचलित हो गये थे। कुछ बेईमान लोगों ने फायदे के उद्देश्य से सिक्कों की नकल आरंभ कर दी थी जिससे स्थिति काफी गंभीर हो गयी। लोगों ने चाँदी के सिक्के जमा करने शुरू कर दिये और प्रतीक मुद्रा में ही भुगतान पर जोर दिया। परन्तु जारी सिक्कों के कारण प्रतीक मुद्रा में लोगों का विश्वास ही नहीं रहा। विदेशी यात्रियों ने इन सिक्कों को लेने से इंकार कर दिया। अन्ततः मुहम्मद–बिन–तुगलक को यह योजना वापस लेनी पड़ी। सुल्तान को अपनी इस योजना की असफलता पर भयानक आर्थिक क्षति का सामना करना पड़ा।

कुछ इहिासकारों ने मुहम्मद–बिन–तुगलक को इस बात के लिए दोषी ठहराया है कि उसने सांकेतिक मुद्रा के प्रचलन के समय इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि सिक्कों की नकल करना आम व्यक्तियों के लिए कठिन हो जाये और यहीं उसकी असफलता का मुख्य कारण बना। प्रशासनिक योजना के अतिरिक्त मुहम्मद–बिन–तुगलक ने कुछ सैनिक योजनाएं भी बनायी। चौथी योजना के अन्तर्गत मुहम्मद तुगलक के खुरासान का अभियान का उल्लेख किया जाता है। खुरासान अभियान के लिये सुल्तान ने 3,7,000 सैनिकों को भर्ती किये तथा इस विषाल सेना को एक वर्ष का अग्रिम वेतन दे दिया, परंतु राजनीतिक परिर्वतन के कारण दोनों देशों के मध्य समझौता हो गया। जिससे यह अभियान पूरा नहीं हो पाया और खर्च करने के लिए सेना भंग कर दी गयी। इससे विद्रोह और अशान्ति फैली। सुल्तान की यह योजना असफल रही और उसे आर्थिक रूप से हानि उठानी पड़ी। बरनी ने इस योजना को अव्यहारिक बताया है और सुल्तान को दोषी ठहराया है। परन्तु आधुनिक इतिहासकारों ने इस योजना के मूल में मुहम्मद–बिन–तुगलक की इस इच्छा को व्यक्त किया है कि वह मध्य एशिया में उत्पन्न राजनीतिक शून्य का लाभ उठाना चाहता था। इसके अतिरिक्त यह अनुमान भी लगाया जाता है कि खुरासान के व्यापारिक महत्व को देखते हुए मुहम्मद–बिन–तुगलक उसे जीतने का इच्छुक थां

कराचील (कराजिला) अभियान के अन्तर्गत सुल्तान के खुसरों मलिक के नेतृत्व में एक विशाल सेना को पहाड़ी राज्यों को जीतने के लिए भेजा। उसकी पूरी सेना दुर्गम जंगली रास्तों में भटक गयी। इब्न बतूता के अनुसार अन्ततः केवल तीन अधिकारी ही बचकर वापस आ सके। परन्तु मुहम्मद– बिन–तुगलक यह कराचील का अभियान भी असफल रही।

संभवतः 1328–29 के मध्य मंगोल आक्रमणकारी तरमाशरीन–चगताई एक विशाल सेना के साथ भारत पर आक्रमण कर मुल्तान, लाहौर से लेकर दिल्ली तक के प्रदेशों को रौंद डाला। ऐसा माना जाता है कि सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने

मंगोल नेता को घूस देकर वापस कर दिया। अपनी इस नीति के कारण सुल्तान को आलोचना का शिकार बनना पड़ा।

मुहम्मद–बिन–तुगलक की असफलता के संबंध में कोई मतभेद नही है। सभी इतिहासकार शासक के रूप में उसकी असफलता को स्वीकार करते हैं। विवाद इस बात को लेकर है कि सुल्तान की असफलता उसके तथाकथित पागलपन एवं व्यक्तिगत दोषों का परिणाम थी अथवा इस असफलता के मूल में प्रतिकूल परिस्थितियों का दोष था। जहां एलफिन्सटन और स्मिथ जैसे इतिहासकारों ने मुहम्मद–बिन–तुगलक को व्यक्तिगत रूप से उसकी असफलता के लिये उत्तरदायी माना है, वहीं मेंहंदी हुसैन और निवासी ने प्रतिकूल परिस्थितियों की ओर ध्यान आकर्षित किया है।

मुहम्मद–बिन–तुगलक एक सजग एवं सचेत शासक था उसने राज्य प्रशासन एवं धर्म के क्षेत्र में भी वांछनीय सुधार लाया। न्याय–व्यवस्था को सुसंगठित किया, कड़े दण्ड को प्रावधान तथा न्याय में समरूपता लाने की कोशिश की। जिसके कारण न्याय निष्पक्ष और शीघ्र होने लगा। मुहम्मद– बिन–तुगलक ने अमीरों के प्रति कठोर नियंत्रण की नीति का पालन किया। उसने प्रशासन में योग्यता को आधार मानकर बहाली शुरू कर दी। जिसके कारण सुल्तान को तुर्क सामन्तों एवं कुछ समकालीन इतिहासकारों जैसे–बरनी इत्यादि के द्वारा आलोचना का शिकार होना पड़ा। धर्म के क्षेत्र में मुहम्मद–बिन–तुगलक ने सामान्यतः उदारता एवं सहिष्णुता की नीति अपनायी। ऊलेमा वर्ग के प्रभुत्व में कटौती की गयी। अतः कट्टर मुसलमान एवं रूढिवादी ऊलेमा तुर्क अमीरों के साथ–साथ सुल्तान के घोर शत्रु बन बैठे। उसके समय में साम्राज्य विस्तार चरम सीमा पर था। उस समय की परिस्थितियों में उस पर नियंत्रण करना कठिन था। उसे बराबर आन्तरिक विद्रोह में उलझा रहना पड़ा। प्राकृतिक प्रकोप उसकी असफलताओं के लिये महत्वपूर्ण कारण थे। अकाल, महामारी बहुत वर्षों तक लगातार जारी रही। सरकारी कर्मचारियों ने नीति–कानून के कार्यान्वयन सुल्तान का सहयोग नहीं दिया। सरकारी कर्मचारी बेइमान एवं लालची थे। वे ज्यादातर समय ज्यादा–से–ज्यादा पैसा कमाने में लगे थे, जिसके कारण वे सुल्तान की कल्याणकारी योजनाओं के कार्यान्वयन में सहयोग नहीं देते थे। इसलिए मुहम्मद–बिन–तुगलक की योजनाएं असफल सिद्ध हुई।

egEen&fcu&rqxyd d 'kklu e g, egRoi.k fonkg

सुल्तान मुहम्मद–बिन–तुगलक के शासनकाल में प्रथम विद्रोह 1327 ई० में उसके चचेरे भाई 'गुशरास्प' ने किया जो गुलबर्ग के निकट सागर का सुबेदार था। वह सुल्तान द्वारा बुरी तरह परास्त किया गया। 1327–28 में सिंध तथा मुल्तान के जुबेदार बहराम आईबा का विद्रोह, 1335 में सैय्यद जलालुद्दीन हसन द्वारा माबट में किया गया विद्रोह, लाहौर के सुबेदार अमरी हुलाजू का विद्रोह, 1330–31 में बंगाल का विद्रोह जिसे प्रारंभ में सुल्तान ने दबा दिया परंतु 1340–41 के करीब शम्सुद्दीन के नेतृत्व में बंगाल, दिल्ली सल्तनत से अलग हो गया, 1337–38 में कड़ा के जुबेराद निजाम भाई का विद्रोह, 1338–39 में बीदी के जुबेदार नुसरत खाँ के विद्रोह, 1339–40 में गुलबर्गा के अलीशाह का विद्रोह, अवध के सूबेदार आईन–उल–मुल्क मुल्तान का 1340–41 का विद्रोह आदि। इस तरह के विद्रोहों का सुल्तान ने सफलता पूर्वक दमन किया। मुहम्मद–बिन–तुगलक के शासन काल में ही दक्षिण में 1336 ई० में 'हरिहर एवं बुक्का' नायक दो भाइयों ने स्वतन्त्र विजयानगर' की स्थापना की। 1347 ई० में महाराष्ट्र में 'अलाउद्दीन बहमन शाह' ने स्वतंत्र 'बहमनी राज्य' की स्थापना की। अफ्रीकी यात्री इब्न बतूता लगभग 1333 ई० में भारत आया। सुल्तान ने इबन बतूता को दिल्ली का काजी नियुक्त किया और लगभग 1342 ई० में मुहम्मद तुगलक ने इसे अपने राजदूत के रूप में चीन भेजा।

अपने शासनकाल के अन्तिम समय में जब सुल्तान मुहम्मद तुगलक गुजरात में विद्रोह को कुचल कर तागी को समाप्त करने के लिए सिन्ध की ओर बढ़ा तो मार्ग में थट्टा के नकिट गोंडाल पहुँचकर वह गंभीर रूप से बीमार हो गया। यही पर सुल्तान मुहम्मद–बिन–तुगलक की 20 मार्च 1351 ई० को मृत्यु हो गयी।

v/;k; 17

fnYyh lYrur dk fo?kVu ,oa iru

- *फिरोजशाह तुगलक (1351–1388)*
- *दिल्ली सल्तनत के पतन के कारण*
- *दिल्ली सल्तनत का विघटन और पतन*
- *फिरोज तुगलक के उत्तराधिकारी*
- *तैमूर लंग का आक्रमण (1398 ई०)*

fQjkst'kkg rqxyd ¼1351&1388½

फिरोजशाह तुगलक, मुहम्मद–बिन–तुगलक का चचेरा भाई एवं सिपहसालार रजब का पुत्र था। इसकी माँ 'बीबी जैला' राजपूत सरदार रणमल की पुत्री थी। मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के बाद 20 मार्च 1351 ई० को फिरोजशाह तुगलक का राज्याभिषेक थट्टा के नजदीक हुआ। पुनः फिरोज का राज्याभिषेक दिल्ली में अगस्त 1351 ई० में हुआ। उसने स्वयं को खलीफा का सहायक धोषित किया। उसका खलीफे पर बहुत विश्वास था और उसने उससे दो बार शासक के रूप में स्वीकृति प्राप्त की। उसका खलीफे के नाम पर खुतबा भी पढ़वाया। उसके शासनकाल में सल्तनत का विखंडन हो रहा था। इसका मुख्य कारण उसके पूर्ववर्ती शासक मुहम्मद तुगलक की नीतियाँ थी। मुहम्मद तुगलक ने सामंतों के प्रति कड़ा रूख अपनाया था और इस कारण उनमें व्यापक असंतोष था। ऐसे स्थिति में फिरोजाशाह के पास तुष्टीकरण की नीति अपनाने के अतिरिक्त कोई चारा न था। सामंतों को तुण्ट करनें के लिये उसनें 'इक्तादारी प्रथा' फिर से शुरू कर दी और सेना में अलाउद्दीन खिलजी के समय से दिये जा रहे नगर वेतन की पद्धति को समाप्त कर दिया। उसने सामंती और सैन्य दोनों प्रणालियों को वंशानुगत बना दिया। कालान्तर में इसके भयंकर दुष्परिणाम सामने आये। उसने 'जजिया' बाह्मणों पर पुनः आरोंपित कर दिया।

फिरोजशाह तुगलक ने बेरोजगारी की समस्या दूर करने के लिए एक विभाग की स्थापना की। गरीब लोगों के मदद के लिये 'दीवाने–इस्तीकाक' की स्थापना की। 'खैरात' बाँटने के लिये 'दिवाने खैरात' की स्थापना की। उसके काल में दासों की संख्या लगभग 1 लाख 80 हजार दी गयी थी। अतः उसके देखभाल के लिए उसे एक अलग विभाग 'दीवाने बन्दगान' की स्थापना करनी पड़ी। वह एक कट्टर सुन्नी और एक असहिष्णु शासक था। दिल्ली सल्तनत का वह प्रथम सुल्तान था जो इस्लाम का कड़ाई से पालन करता था। इसके बावजूद फिरोजशाह ने पहली बार 'राजत्व के सिद्धांत' को नयी परिभाषा दी। वह सल्तनत काल का पहला शासक था जिसनें जनकल्याण के कार्य किये। कुछ इतिहासकार उसें इसी आधार पर सल्तनतकाल का महानतम शासक मानते है। इसके द्वारा कुछ सुधार निम्नलिखित है।

आर्थिक सुधार– मुहम्मद–बिन–तुगलक के शासनकाल में सल्तनत की आर्थिक स्थिति बेहद चिन्ताजनक हो गयी थी। प्रशासनिक योजनाओं और सैन्य अभियानों से सरकारी खजाना खाली हो गया था। चूँकि वह राज्य की आमदनी में वृद्धि करना चाहता था और लोगों पर अतिरिक्त करारोपण भी नही करना चाहता था। अतः उसने कृषि उत्पादन के वृद्धि पर जोर दिया। इसके लिये उसने दिल्ली और हरियाणा के क्षेत्रों में ग्यारह नये नहरों का निर्माण करवाये। इससे उत्पादकता बढी और राज्य की आय भी। इसके अतिरिक्त उसने बारह सौ फलों के बाग लगवाये, जिनके फलों को बेचकर 1,80,000 टंका की अतिरिक्त आमदनी की । राजस्व व्यवस्था में सुधार करते हुए उसनें सारे गैर इस्लामी करों को समाप्त कर दिया, और केवल कुरान द्वारा स्वीकृत चार करों–खराज, जकात, जजिया और खम्स ही वसूल किया।

वह पहला शासक था जिसने सिंचाई कर (षराब) वसूल किया। मुद्रा व्यवस्था के अन्तगर्त उसनें बड़ी संख्या में ताँबे व चाँदी के मिश्रित सिक्के जारी किये। इन्हें 'अद्धा' व 'बीरत' कहते थे।

कल्याणकारी कार्य– फिरोजाशाह ने अनेक कल्याणकारी कार्य किये। उसने यात्रियों की सुविधा के लिए 'सराय' बनाए। निर्धनों को मुफ्त खाना देने के लिए 'लंगर' की व्यवस्था की। उसने पशुंओं के चिकित्सा के लिये भी अस्पताल खुलवाए। जैसा की पहले बतलाया जा चुका है कि दान देने के लिये उसने दीवाने–ए–खैरात की स्थापना की इससे निर्धन व अनाय युवतियों के विवाह का खर्च, निर्धनों के मुफ्त भोजन का खर्च आदि किया जाता था। 'दिवाने–ए–इस्तकाक' के द्वारा बुद्धिजीवियों, विद्वानों और विद्यार्थियों को सहायता मुहैया कराया जाता था। शिक्षा के प्रसार के लिये उसने अनेक मकतबों और मदरसों की स्थापना की।

फिरोजशाह के शासन के दोष– फिरोजशाह ने विभिन्न वर्गो विशेषकर सामंतों को संतुष्ट करने के लिये जो नीति अपनायी जो अन्ततः इस साम्राज्य के लिये धातक सिद्ध हुई। सुल्तान का पद शक्तिहीन हो गया और ऊलेमा, सामंत सैनिक वर्ग शक्तिशाली हो गया। ऊलेमा को संतुष्ट करने के लिये फिरोजशाह तुगलक ने एक संकीर्ण धार्मिक नीति का अवलंबन किया। उसने ब्राह्मणों पर 'जजिया' आरोपित कर दिया और उसे बड़ी ही क्रुरतापूर्वक वसूल भी किया। अपने सैन्य अभियानों के दौरान उसने अनेक मंदिरों को तोड़ा और बहुसंख्यक हिन्दुओं की भावनाओं को ठेस पहुँचाई। यह अन्ततः साम्राज्य के लिये घातक सिद्ध हआ। सामन्तों कों तुष्टकरने के लिये फिरोजशाह ने जागीरदारों को वंशनुगत बना दिया तथा नियुक्तियों में योग्यता के आधार को हटा दिया। सामन्तवादों को उसने केन्द्रीय नियंत्रण से भी मुक्त कर दिया। इससे वे उन्मुक्त आचरण करने लगे। सैनिकों के प्रति भी फिरोजशाह तुगलक ने उदारता की नीति अपनायी। सैनिको की नियुक्तियों को भी वंशानुगत बना दिया।

फिरोजशाह की तुष्टीकरण की नीतियाँ वस्तुतः उसके पूर्ववर्ती शासक की असफलताओं से प्रभावित थी। वह किसी वर्ग को विरोध का अवसर नही देना चाहता था। इसमें संदेह नही कि तात्कालीक दीर्धकाल में इसके परिणाम धातक सिद्ध हुए। निष्कर्षतः हम यह कह सकते है कि जहाँ एक ओर फिरोजशाह ने राजस्व को नई दिशा प्रदान की और प्रजा के हित के अनेक कार्य किये किन्तु अपने तुष्टीकरण की नीति से उसने साम्राज्य को पतन की ओर भी धकेल दिया।

fnYyh lYrur d iru d dkj.k

दिल्ली सल्तनत की स्थापना 1206 ई० को हुई तथा मुगल साम्राज्य की स्थापना 1526 ई॰ में। यानि 1526 ई० तक दिल्ली सल्तनत का शासनकाल जारी रहा। अर्थात दिल्ली सल्तनत का इतिहास तीन शताब्दियों से अधिक का इतिहास है। इस अवधि में सल्तनत की स्थिति में काफी राजनीतिक उतार–चढाव आता रहा। 1398 ई० में तैमूर लंग के आक्रमण तक सल्तनत का रूप एक विशाल साम्राज्य का रहा, परंतु तैमूर के आक्रमण के बाद सल्तनत का क्षेत्र संकुचित होकर एक छोटे राज्य का हो गया। लोदी शासकों द्वारा इसका विस्तार पुनः किया गया परन्तु बाबर के आक्रमण ने इसे फिर नष्ट कर दिल्ली सल्तनत का पतन कर दिया।

इस तरह दिल्ली सल्तनत के लिए उत्तरदायी कारण निम्नलिखित हैः

1. **राजनीतिक अस्थिरता–** सर्वप्रथम दिल्ली सल्तनत की राजनीतिक व्यवस्था ही इसके पतन के लिये उत्तरदायी रहा। क्योंकि उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम इस काल मे निधारित नही था, जिसके कारण महत्वकांक्षी एवं शक्तिशाली सामान्तों, राजकुमारों, दासों द्वारा बराबर गद्दी हथियाने के प्रयास होते रहे। जिसका उदाहरण पाँचों वंशों के शासन काल में दिखता हैं परिणामस्वरूप, प्रथम, यह हुआ कि राजवंश का शीध्र पतन होने लगा जिसके कारण किसी वंश के प्रति लोगों, सामान्तों, अधिकारियों इत्यादि का पूर्ण स्वामीभक्ति का विचार विकसित नही हो पाया। द्वितीय, वंश के बराबर परिर्वतन से राजनीतिक अस्थिरता बनी रही। जिसके कारण महान शासकों की नीतियाँ, सुधार कार्यक्रम इत्यादि स्थायी रूप से लागू नहीं हो सकी और उनका प्रभाव एक निश्चित तथा छोटे समय तक सीमित रहा। इन सब कारणों से सल्तनत राज्य बराबर अव्यवस्थित बना रहा।
2. **आन्तरिक प्रतिरोध व विद्रोह–** दिल्ली सल्तनत के पतन यानि सल्तनत व्यवस्था की दुर्बलता के दो अन्य महत्वपूर्ण कारण थे। प्रथम, राजपूतों का प्रतिरोध तथा द्वितीय, सामन्तों का विद्रोह। सल्तनत की स्थापना के पूर्व उतरी भारत तथा मध्य भारत के शासक वर्ग के रूप में राजपूतों की सता बनी रही थी। तुर्को के आक्रमण के

बाद राजपूतों की सता का क्षेत्र सिमट कर कुछ क्षेत्रों में हो गया परन्तु राजपूत शक्ति का पूर्ण विनाश नहीं हो पाया। दूसरी ओर राजपूतों के द्वारा भी तुर्को की सता को स्वीकार नहीं किया गया था तथा मातृभूमि के प्रेम की भावना के कारण अपने क्षेत्र को पुनः प्राप्त करने के लिए उनके द्वारा बराबर विद्रोह जारी रहा था। इन विद्रोहों के दमन में सल्तनत की सैनिक शक्ति, आर्थिक शक्ति का ह्यास होता रहा और राज्य की शक्ति दिनानुदिन कमजोर होती गयी। दूसरी तरफ सल्तनत काल में सामन्त वर्ग को पूर्णतः अनुशासित और नियंत्रित करने के प्रयास बहुत सफल नही सिद्ध हो सके। बलबन और अलाउद्दीन के अतिरिक्त अन्य शासकों द्वारा सामन्तों को अनुशासित और नियंत्रित करने के प्रयास प्रायः असफल रहा। सामन्त अपनी राजनीतिक महत्वकांक्षा के कारण बराबर विद्रोह का कारण बने रहे और इनके दमन यानि विद्रोह को दबानें के प्रयास में भी सैन्य–शक्ति तथा आर्थिक शक्ति का ह्यास होता रहा, जो दिल्ली सल्तनत के पतन का कारण बना।

3. **विदेशी आक्रमण–** बराबर विदेशी आक्रमण भी दिल्ली सल्तनत के सामने अनेक समस्याएं उत्पन्न करती रही जो दिल्ली सल्तनत के पतन का कारण बनी। सल्तनत के आरंभिक काल से ही उतर पश्चिम सीमान्त में मंगोल आक्रमणों की समस्या बनी रही और इस कारण भी सल्तनत की सेना का एक बड़ा भाग तथा सल्तनत काल का अधिकांश समय सीमान्त क्षेत्र से जुड़ा रहता था। तुर्क सुल्तानों की शक्ति का मुख्य आधार उसकी सेना थी और सेना पर अत्यधिक बोझ तथा खर्च बढ़ने से राज्य का अस्तित्व तथा स्थिति प्रभावित हुई। तुगलक काल से सैन्य शक्ति का पनत तीव्र गति से आरंभ हुआ और कुछ समय पश्चात् यानि तैमूर के आक्रमण ने सल्तनत की सैन्य तुगलक वंश की सता नाममात्र के लिए रह गयी और स्वय तुगलक अपनी राजधानी छोड़कर भाग निकला। सुल्तान की कमजोरी ने सामंतों, सुबेदारों तथा पुराने शासन यानि राजपूतों को स्वतंत्र होने की प्रेरणा दी। परिणामस्वरूप गुजरात, मालवा, खानदेश एवं जौनपुर जैसे राज्य स्थापित हुए। इसी प्रकार 1526 ई० में बाबर के आक्रमण के द्वारा भी सल्तनत के पतन की प्रक्रिया को पुरा किया। अतः विदेशी आक्रमण के विनाशकारी प्रभाव भी दिल्ली सल्तनत के विघटन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

4. **विघटनकारी तत्वों का योगदान–** सल्तनत के पनत के विघटनकारी तत्वों का योगदान भी महत्वपूर्ण रहा। आरंभिक काल से ही सल्तनत का पूर्वी भाग यानि बंगाल तथा बाद में दक्षिणी प्रान्तों के द्वारा स्वतंत्र होने के लिए संघर्ष करता रहा। क्योंकि सल्तनत की राजधानी यानि दिल्ली से इन प्रान्तों का शासन चला पाना संभव नहीं था। सल्तनत की राजधानी यानि दिल्ली से इन प्रान्तों की दूरी काफी अधिक थी तथा आवागमन तथा संचार की सुविधाएँ विकसित नहीं थी। भौगोलिक बाधाएँ, दूर स्थित प्रान्तों पर नियंत्रण में अवरोध प्रस्तुत कर रही थी। ऐसी हालत में केन्द्रीय प्रशासन की थोड़ी–सी कमजोरी अथवा केन्द्रीय प्रशासन के विरूद्ध थोड़ा सा असंतोष भी विद्रोह के लिए प्रेरक का काम करती थी और इन विद्रोहों ने सल्तनत के पतन में निश्चित योगदान दिया करती थी।

5. **विशिष्ट कारण–** दिल्ली सल्तनत के विघटनकारी तत्वों में इस सल्तनत के तीन शासकों की नीतियाँ ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। इसमें मुहम्मद बिन तुगलक का शासन काल सल्तनत के इतिहास में एक विभाजन रेखा के समान है जब सल्तनत चरमोत्कर्ष पर पहुँकर पतन की ओर अग्रसर हो गयी। तुगलक के शासन काल तक दिल्ली से यानि मुख्यालय से दूर स्थित प्रान्तों पर नियंत्रण की समस्या जटिल हो चुकी थी। राज्य में आर्थिक संकट उत्पन्न हो चुका था और मुहम्द बिन तुगलक द्वारा किये गये प्रशासनिक प्रयोगों जैसे राजधानी परिर्वतन इत्यादि कारणों की असफलता की वजह से सुल्तान के प्रति लोगों का असंतोष काफी बढ़ गया था। इन सब कारणों की वजह से सल्तनत में विद्रोह आरंभ हो चुके थे जिनकी परिणति बंगाल, विजयनगर और बहमनी राज्यों के स्वतंत्र होने में देखा जा सकता है।

इसके बाद फिरोज तुगलक ने अपने शासनकाल में समस्याओं पर नियंत्रण प्राप्त करने के स्थान पर उन्हें स्थगित करने का प्रयास किया। इसने तुष्टिकरण की नीति अपनायी जिसका उद्देश्य सामन्त, ऊलेमा, सैनिक एवं अन्य प्रमुख वर्गों को संतुष्ट रखना था। किन्तु सामन्तों को प्रदत सुविधाएं केंन्द्रीय शासन के प्रति विद्रोह का कारण बनी। ऊलेमाओं की इच्छानुसार अपनायी गयी धार्मिक कट्टरता की नीति बहुसंख्यक हिन्दुओं को क्षुब्ध करने में सहायक हुई तथा सैनिको

को दिये गये विशेषाधिकार सैन्य संगठन को कमजोर बनाने में सहायक हुए। फलस्वरूप सल्तनत के पतन का पहला चरण यानि तुगलक काल (1398) के समय का चरण पूरा हुआ।

दूसरे चरण में इब्राहिम लोदी की नीतियों ने दिल्ली सल्तनत के विघटन यानि पतन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। क्योंकि इब्राहिम लोदी अपने सामन्तों को अप्रसन्न करने का दोषी था तथा लोदी में राज्य की समस्याओं को सुलझाने की क्षमता नहीं था। एक ही समय इब्राहिम लोदी को दो–तीन तरफों से युद्ध करना पड़ा। यानि उस पर एक ओर राजपूतों और दूसरी ओर गुजरात के शासक द्वारा आक्रमण की संभावना बनी हुए थी। इसी समय इब्राहिम लोदी को बाबर के आक्रमण का सामना करना पड़ा यानि पानीपत का पहला युद्ध (1526) के साथ ही दिल्ली सल्तनत का अस्तित्व भी समाप्त हो गया।

अतः दिल्ली सल्तनत के पतन में सल्तनत काल की राजनीतिक अस्थिरता, प्रशासनिक अव्यवस्था, राजपूतों का आन्तिक प्रतिरोध, सामन्तों का विद्रोह, विदेशी आक्रमण तथ मुहम्मद–बिन–तुगलक, फिरोजशाह तुगलक की नीतियाँ, तैमूर लंग के आक्रमण एवं इब्राहीम लोदी की नीतियाँ इत्यादि महत्वपूर्ण कारक बनी।

fnYyh lYrur dk fo?kVu vkj iru

फ़ीरोज़ तथा उसके उत्तराधिकारी मुहम्मद तुग़लक़ के शासन काल के उत्तरार्ध साम्राज्य के विभिन्न भागों में दरबार विद्रोह हुए। दूरवर्ती क्षेत्रों में निवास करने वाले विशेषकर महत्वकांक्षी सरदारों के लिए विद्रोह करना कोई नयी बातें नहीं हैं। अधिकांश मामलों में केन्द्रीय सेना और निष्ठावान सरदारों की सहायता से सुल्तान विद्रोहियों को दबाने में सफल होते थे। मुहम्मद तुग़लक़ को अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। साम्राज्य के विभिन्न क्षेत्रों–बंगाल, माबर (तमिलनाडु), वारंगल, कांपिली (कर्नाटक), पश्चिम बंगाल, अवध, गुजरात और सिंध में बारी–बारी से विद्रोह होने लगे। मुहम्मद तुग़लक पूर्ण रूप से किसी पर विश्वास नहीं कर सकता था। इसलिये वह विद्रोहों को दबाने के लिये देश के एक भाग से दूसरे भाग तक दौड़ धूप करता रहा। इससे उसकी सेना थक गई। दक्षिण भारत के विद्रोह सबसे गंभीर थे। सर्वप्रथम इस क्षेत्र में स्थानीय शासकों ने विद्रोहों को संगठित किया। सुल्तान शीध्र दक्षिण भारत पहुंचा। कुछ ही समय के बाद उसकी सेना में प्लेग फैल गया। कहा जाता है कि प्लेग से उसकी दो–तिहाई सेना इस दुनिया से कूच कर गयी। इस प्रकार से मुहम्मद तुग़लक संभल न सका। दक्षिण भारत से सुल्तान के लौटने के शीघ्र बाद वहाँ एक दूसरा विद्रोह हुआ जिसका नेतृत्व हरिहर और बुक्का नामक दो भाईयों ने किया था। उन्होंने एक राज्य की स्थापना की जिसका विस्तार धीरे–धीरे होता गया। यह विजयनगर राज्य था जिसने शीघ्र समस्त दक्षिण भारत को अपना अंग बना लिया। दकन में ही विजयनगर के उत्तर दिशा में कुछ विदेशी सरदारों ने दौलताबाद के निकट एक राज्य की स्थापना की जो बहमनी साम्राज्य के रूप में विकसित हुआ। बंगाल भी अब स्वाधीन हो गया। बहुत प्रयास के बाद मुहम्मद तुग़लक अवध, गुजरात और सिंध के विद्रोहों को दबाने में सफल रहा। मुहम्मद तुग़लक़ जब सिंध में था, उसकी मृत्यु हो गयी और फ़ीरोज उसका उत्तराधिकारी बना।

मुहम्मद तुग़लक़ की नीति ने अमीरों के अतिरिक्त सेना में भी गहरा असंतोष फैला दिया था। उसने प्रभावशाली मुसलमान अध्यात्मवादियों और सूफ़ी संतों से भी टक्कर ली थी। लेकिन मुहम्मद तुग़लक की लोक प्रियता का वर्णन बढा–चढ़ा कर नहीं करना चाहिए। जब कही वह लम्बे समय तक राजधानी से दूर रहता था, दिल्ली पंजाब तथा उत्तर भारत में साम्राज्य के अन्य भागों में प्रशासन का कार्य सामान्य रूप से चलता था।

फ़ीरोज तुग़लक को गद्दी पर बैठने के बाद मुख्य रूप से दिल्ली सल्तनत के विघटन को रोकने की समस्या का सामना करना पड़ा। उसने अमीरों, अध्यात्मवादियों और सेना को शांत करने की नीति अपनायी और उन्हीं क्षेत्रों को अपने अधिकार में रखा जिन पर केन्द्र से सुविधापूर्वक नियंत्रण रखा जा सकता। अतः उसने दक्षिण भारत और दकन पर अपने अधिकार को पुनः स्थापित करने का प्रयास नही किया। उसने बंगाल के विरूद्ध दो युद्धों का नेतृत्व किया लेकिन दोनों में असफल रहा। इस प्रकार बंगाल दिल्ली सल्तनत के हाथ से निकल गया। फिर भी सल्तनत उतनी ही बड़ी रही जितनी की अलाउद्दीन के शासन काल के प्रारम्भिक दिनों में थी। फ़ीरोज ने जाजनगर (उड़ीसा) के शासक के विरुद्ध भी एक अभियान छेड़ा। उसने पंजाब की पहाड़ियों में स्थित कांगड़ा के विरूद्ध भी एक अभियान

छेड़ा। विद्रोहियों से निपटने के लिये उसने गुजरात और थट्टा के विरूद्ध लम्बा अभियान चलाया। यद्यपि विद्रोही कुचल दिये गये पर कच्छ के रण में मार्ग भूलने के कारण सेना को भारी विपत्ति का सामना करना पड़ा।

फ़ीरोज एक विख्यात सेनापति नहीं था। लेकिन उसके शासन काल में शांति बनी रही और विकास हुआ। उसने आदेश दिया था कि जब भी किसी सरदार की मृत्यु हो जाय तो उसके पद और इक़्ता पर उसके पुत्र का अधिकार होना चाहिए। और यदि पुत्र न हो तो दामाद और दामाद भी न हो तो गुलाम का अधिकार होना चाहिए। लेखपरीक्षण के समय इक़्ता संबंधी कोई बकाया सरदार और पदाधिकारियों के पास यदि रह जाय तो उन्हें यंत्रण न देने का नियम बनाया। इससे सरदार बड़े प्रसन्न हुए और यह एक महत्त्वपूर्ण कारण था जिससे गुजरात और थट्टा के अतिरिक्त कहीं भी विद्रोह नहीं हुआ। फिर भी पदाधिकारों का चयन और इक़्ता को वंशानुगत बनाने की नीति से आगे चलकर नुकसान अवश्य होना था। इस सीमित दायरे से बाहर निकलकर योग्य सैनिकों के चुनाव की उम्मीद कम हो गयी और सुल्तान को भी कुछ ही लोगों पर ही निर्भर रहना पड़ा।

फ़ीरोज़ ने वंशानुगत सिद्धान्त को सेना में भी लागू कर दिया। शांतिकाल में पुराने सैनिक अपने बदले में अपने पुत्रों और दमादों और उनके न होने पर अपने गुलामों को भी सैनिक सेवा के लिये भेज सकते थे। सैनिकों को नक़द वेतन के बदले में भू–राजस्व वाले गांव दिये जाते थे। इसका अर्थ यह था कि या तो सैनिकों को भू–राजस्व वसूल करने के लिये सेना से अनुपस्थित हो कर स्वयं जाना पड़ता था या फिर मध्यस्थ की सहायता लेनी पड़ती थी जो उन्हें लगान का आधा या एक तिहाई भाग ही देता था। इस प्रकार सैनिक अंत में लाभान्वित न हो सके। इस प्रकार संपूर्ण सैनिक प्रशासन ढीला पड़ गया और लिपिकों को रिश्वत देकर सैनिक बेकार घोड़ो की गणना करवाने लगे। ग़लत प्रकार की उदारता दिखाते हुए सुल्तान ने एक बार स्वयं गणना करने वाले लिपिक को रिश्वत देने के लिये एक सैनिक को धन दिया था।

फ़ीरोज़ ने अपने को सच्चा मुसलमान शासक और अपने राज्य को ही सही अर्थों में इस्लामी राज्य बताकर अध्यात्मवादियों का समर्थन प्राप्त करने का प्रयास किया।

fQjkt rqxyd d mÙkjkf/kdkjh

फिरोज के उत्तराधिकारी उपरोक्त परिस्थितियों में शासन की बागडोर संभाले रखने व महत्वकांक्षी सरदारों व विद्रोही राजाओं पर नियंत्रण करने में सफल हो सके। सभवतः इसके मुख्य कारण फिरोज के सुधार थे, जिनके कारण सरदार बड़े शक्तिशाली बन गए थे व सेना अयोग्य बन गई। प्रान्तीय वली स्वतन्त्र होने लगे व सेना आयोग्य बन गई । दिल्ली सल्तनत का राज्य वस्तुतः दिल्ली के आस–पास के क्षेत्रों तक सीमित रहा।

तैमूर लंग का आक्रमण (1398 ई०)

तैमूर के आक्रमण ने सल्तनत की दुर्बलता को और भी बदतर बना दिया। उसकी सेना ने दिल्ली के रास्ते में पड़ने वाले अनेक नगरों को निर्दयता से लूटा व दिल्ली में भी खूब लूटमार मचाई । दिल्ली सल्तनत के पतन के बाद उसका मुकाबला करने वाला कोई नही था। इस तरह तैमूर के आक्रमण ने पुनः भारत के दुर्बल शासन को दर्शाया।

rF; ,d nf"V e

दिल्ली सल्तनत वंशावली

I गुलाम वंश

1. कुतुबद्दीन ऐबक (1206–1210)
2. आराम बख्श (1210 ई०)
3. इल्तुतमिश (1210–1236 ई०)
4. रूकुद्दीन फिरोज (1236)
5. रजिया बेगम (1236–1240)

6. मैजुद्दीन बहरम (1240–42)
7. अलाद्दीन मसूद (1242–1246)
8. नासिरउद्दीन मोहम्मद (1246–1266 ई०)
9. गियासुद्दीन बलबन (1266–1287 ई०)
10. कैकुवाद (1287–1290 ई०)

II खिलजी वंश

1. जलालुद्दीन खिलजी (1290–1296 ई०)
2. अलाउद्दीन खिलजी (1296–1316 ई०)
3. कुतुब मुबारक खिलजी (1316–1320 ई०)
4. खुसरो खान (1320)

III तुगलक वंश

1. गियाउद्दीन तुगलक (1320–1325)
2. मुहम्मद बिन तुगलक (1325–1351)
3. फिरोजशाह तुगलक (1351–1388)
4. नसिरूद्दीन महमूद (1394–1412)

IV सैयद वंश

1. खिज्र खां (1414–1421)
2. मुबारक शाह (1421–1434)
3. मोहम्मद शाह (1434–1445)
4. आलम शाह (1445–1451)

V लोदी वंश

1. बहलोल लोदी (1451–1489 ई०)
2. सिकंदर लोदी (1489–1517 ई०)
3. इब्राहीम लोदी (1517–1526 ई०)

v/;k; 18

fnYyh lYrur & lekt vkSj vFkZO;oLFkk

- *आर्थिक तथा सामाजिक जीवन*
- *काश्तकार तथा ग्रामीण भद्रजन*
- *व्यापार उद्योग और व्यापारी*
- *सामाजिक जीवन और जीवन–स्तर*
- *नगर, जीवन, गुलाम, कारीगर*
- *जाति, सामाजिक रीति–रिवाज*

vkfFkZd rFkk lkekftd thou

दिल्ली सल्तनत के लोगों के आर्थिक जीवन के संबंध में हमें बहुत कम जानकारी मिलती है। समकालीन इतिहसकार साधारण लोगों के जीवन की अपेक्षा राजदरबार की घटनाओं में विशेष रूचि रखते थे। फिर भी उन्होंने जहां–तहां वस्तुओं के भावों का उल्लेख किया है। उत्तरी अफ्रीका स्थित तंजियर का निवासी इब्नेबतूता ने चौदहवीं शताब्दी में भारत का भ्रमण किया था। वह मुहम्मद तुगलक के दरबार मे ंआठ वर्षों तक रहा। उसने भारत की विस्तृत यात्रा की। उसने भारतीय उत्पादन जैसे फल–फूल, जड़ी–बूटियां आदि, सड़कों की अवस्था और जन–जीवन का विशद उल्लेख किया है। गुजरात और बंगाल के विषय में भी जानकारी मिलती है। इन यात्रियों के अनाजों, फलों और फूलों से संबंधित विवरणों से हम परिचित हैं। इब्नेबतूता का कथन है कि भूमि इतनी उपजाऊ थी कि प्रतिवर्ष दो फसलें पैदा की जा सकती थीं और साल में तीन बार धान रोपा जाता था। तिल, गन्ना और कपास भी पैदा की जाती थी। उनसे तेल पेरने, गुड़ बनाने और बुनाई आदि कई ग्रामीण उद्योगों के लिये सामग्री उपलब्ध होती थी।

dk'rdkj rFkk xzkeh.k Hknzt u

पहले ही जैसे सल्तनत काल में ही भारत में काश्तकारों की जनसंख्या बहुत अधिक थी। पहले की भांति काश्तकार घोर परिश्रम करते और बड़ी मुश्किल से जीवन यापन कर पाते थे। देश के विभिन्न भागों में बार–बार अकाल पड़ते थे और युद्ध होते थे जिससे किसानों की परेशानी बढ़ जाती थी।

फिर भी सभी काश्तकाीर जीवन–निर्वाह स्तर पर नहीं रहते थे। गाँव का मुखिया (मुकद्दम) और छोटे ज़मींदार (खुत) एक उच्च स्तरीय जीवन का आनंद उठाते थे। अपनी भूमि के अतिरिक्त उनके पास कर मुक्त या रियायती दर पर कर वाली भूमि भी होती थी। यदाकदा वे अपनी शक्ति का दुरूपयोग करते और सीधे रगदे किसानों को अपना भू–राजस्व भी देने के लिये विवश करते थे। ये लोग इतने समृद्ध थे कि मूल्यवान अरबी और ईरानी घोड़ों पर सवारी करते अच्छे वस्त धारण करते और उच्च वर्ग के सदस्यों की भांति व्यवहार करते थे। अलाउद्दीन खिलजी ने उनके विरूद्ध कड़े, कठोर कदम उठाये और उनके बहुत–सी सुविधाओं में कटौती कर दी। फिर भी उनका जीवन–स्तर सीधे–सीधे काश्तकारों से कहीं ऊँचा था। ऐसा प्रतीत होता है कि अलाउद्दीन के मरणोपरान्त उन्होंने अपने पुराने तौर–तरीके अपना लिये थे।

समाज का दूसरा समृद्ध वर्ग हिन्दू रईसों या स्वाधीन राजाओं का था जिन के पास उनकी पुरानी रियासतें थीं। हिन्दू रईसों के बलबन के दरबार में जाने के सम्बन्ध में बहुत से संदर्भ प्राप्त होते हैं। किन्तु इस संबंध में कोई संदेह नहीं है कि हिन्दू रईस उस क्षेत्र में भी प्रभावशाली बने रहे, जो दिल्ली सुल्तानों के सीधे अधिकार में था।

0;kikj m|kx vkj 0;kikjh

दिल्ली सल्तनत की स्थापना से आवागमन के साधनों में वृद्धि हुई। मुद्रा व्यवस्था जो चांदी के टंके और ताँबे के दिरहम पर आधारित थी, मजबूत हुई। इस प्रकार देश के व्यापार में निश्चित रूप से वृद्धि हुई। इसके कारण नगरों की संख्या में भारी वृद्धि हुई। इब्नेबतूता दिल्ली को पूर्वी इस्लाम दुनिया का सबसे बड़ा शहर बताता है। वह कहता है कि दौलताबाद (देवगिरी) आकार–प्रकार में दिल्ली के बराबर था और यह उत्तर और दक्षिण के व्यापारिक विकास का सूचक था। उत्तर–पश्चिम में स्थित लाहौर और मुल्तान, पूर्व में कड़ा और लखनौती, तथा पश्चिम में आन्हिल वाड़ा (पाटन) और कैम्वे (खंभात) उस समय के प्रसिद्ध शहरों में थे। उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रखकर ही इतिहासकार ने कहा है कि "सल्तनत शहरी अर्थव्यवस्था का विकसित रूप प्रस्तुत करती है।" इस प्रकार की अर्थ–व्यवस्था बड़े पैमाने पर होने वाले व्यापार के लिए निशचित रूप से अनिवार्य थी। बंगाल और गुजरात के नगर बढ़िया किस्म के वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध थे। दूसरे नगरों में भी बढ़िया किस्म के वस्त्र तैयार किए जाते थे। गुजरात का कैम्वे सूती वस्त्रों और सोना तथा चांदी के काम के लिए प्रसिद्ध था। बंगाल का सोनार गांव कच्चे रेशम और महीन सूती वस्त्र (जो बाद में मलमल कहलाया) के लिए प्रसिद्ध था। वहां अनेक दस्तकारी के काम भी होते थे जैसे चमड़े, धातु का काम, गलीचा बनाना आदि। तुर्कों ने कुछ नये दस्तकारी के काम आरम्भ किए जिसमें कागज का निर्माण शामिल था। कागज निर्माण कार्य चीन ने दूसरी शताब्दी में आरंभ किया था जिसकी जानकारी अरब वासियों को पांचवीं शताब्दी में हुई थी और यह चौदहवीं शताब्दी में ही यूरोप पहुंचा।

चरखा और धुनकी जैसे दो आविष्कारों से वस्त्रोत्पादन में भी विकास हुआ। धुनकी से रूई शीघ्र और अच्छी तरह साफ की जा सकती थी। इसमें सबसे महत्वपूर्ण बात भारतीय दस्तकारों का हस्त कौशल था। पहले से ही भारतीय वस्त्रों की लाल सागर और फारस की खाड़ी के देशों में बड़ी खपत थी। इस काल में चीन में भी अच्छे किस्म के भारतीय वस्त्रों का प्रचलन हुआ। जहां उसको रेशमी वस्त्र से भी ज्यादा महत्व दिया जाने लगा। भारत उत्तम श्रेणी के वस्त्रों (अतलस आदि) शीशे के समान और घोड़े भी पश्चिम एशिया से आयात करता था। चीन से यह कच्चे रेशम और चीनी मिट्टी के बरतन मंगाता था।

भारत का स्थल और जलमार्ग से होने वाला विदेशी व्यापार, वस्तुतः एक अन्तर्राष्ट्रीय उद्योग था। यद्यपि हिन्द महासागरीय व्यापार में अरबवासी अग्रणी थे, वे भारतीय व्यापारियों को व्यापार से कदापि नहीं निकाल सके जिनमें तमिल और गुजराती हिन्दू–मुसलमान दोनों शामिल थे। मुस्लिम वोहरा सौदागरों का इस व्यापार में हाथ था। तटीय व्यापार एवं तटवर्ती बन्दरगाहों, उत्तरी भारत का मध्यवर्ती व्यापार मारवाड़ी।

lkekftd thou vkj thou&Lrj

मुल्तान और प्रमुख मलिकों के जीवन–यापन का स्तर तत्कालीन विश्व के उच्चतम जीवन–स्तर अर्थात् पश्चिम और मध्य एशिया की इस्लामी दुनिया के शासक वर्ग के जीवन स्तर के समकक्ष था। उस समय जबकि यूरोप अभी भी अपने पिछड़ेपन को दूर भगाने के लिये प्रयत्नशील था, इस्लामी दुनिया के शासक–वर्ग की समृद्धि चकाचौंध करने वाली थी और प्रत्येक देश का शासक वर्ग इसका अनुकरण करने का प्रयत्न करता था। हिन्दू नरेशों की भांति प्रायः सभी भारतीय सुल्तानों ने अपना महल बनवाया था। बलबन के राजदरबार की शानोशौकत इस प्रकार थी कि वह आगंतुकों को प्रभावित और संवेदनशील हृदय में श्रद्धायुक्त भय उत्पन्न करने में सक्षम थी। अलाउद्दीन खलज़ी और उसके उत्तराधिकारियों ने भी इसी परम्परा का अनुसरण किया। इब्नेबतूता द्वारा मुहम्मद तुगलक के महल का वर्णन किया गया है। कोई भी व्यक्ति जो सुल्तान से मिलना चाहता था उसे तीन अत्यन्त सुरक्षित ऊँचे दरवाजों से होकर हजारों स्तम्भों वाले दरबार में प्रवेश करना होता था। यह एक विशाल हाल था जो पालिशदार लकड़ी के स्तम्भों पर स्थित था और सभी तरह की कीमती वस्तुओं से अलंकृत और सुसज्जित था। यह वही स्थान था जहाँ सुल्तान का आम–दरबार लगाता था।

मुहम्मद तुगलक अपने प्रत्येक मलिक के सम्मान में दो पोशाक दिया करता था–एक जाड़े में और दूसरा गर्मी में। अनुमानतः वह इस प्रकार का 200,000 पहनावा प्रतिवर्ष उपहार में दिया करता था। इन पहनावों में साधारणतः आयात किए हुए वस्त्रों जैसे मलमल, बूटेदार कपड़े या ऊनी कपड़े होते थे जिन पर ज़री, मखमल और बहुमूल्य पदार्थों का

काम किया होता था। इन पर अवश्य ही बहुत बड़ी धन–राशि व्यय की जाती होगी। सुल्तान की वर्षगांठ, नौ रोज (फारसी साल का पहला दिन), राज्यारोहण की सालगिराह जैसे उत्सवों के अवसरों पर बहुत बड़ी संख्या में अमीरों तथा अन्य लोगों को उपहार दिये जाते थे।

शाही कारखाने जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है, सुल्तानों की सभी अवश्यताओं की पूर्ती करते थे। वे रेशम, सोना और चाँदी के तार आदि की बनी कीमती वस्तुओं को तैयार करते थे। यहां पर उत्तम और दुर्लभ सामान इक्ट्ठा होता था। भंडारों के अधीक्षकों को फ़ीरोज़ तुग़लक़ की ओर से यह आदेश था कि जहां कहीं भी और किसी भी कीमत पर बढ़िया तैयार की हुई वस्तुएं मिलें, तो कारखानों के लिए खरीद लें। कहा जाता है कि एक समय मुल्तान के लिए एक जोड़ा जूता सत्तर हजार टंके में खरीदा गया था। राजघराने के उपयोग की अधिकांश वस्तुएँ सोना और चाँदी की कढ़ाई की हुई और रत्नों की बनी होती थी। भंडार हरम की वस्तुओं का भी प्रबन्ध करता था। लगभग प्रत्येक सुल्तान का एक हरम होता था। हरम में रानियां और उनके देशों की स्त्रियां होती थी। उनकी देखभाल और सुरक्षा के लिये हरम में एक बड़ी संख्या में नौकर–नौकरानियाँ और गुलाम रखे जाते थे। सुल्तान के सभी महिला रिश्तेदारों माता सहित, चाची, मौसी आदि भी हरम में रहती थीं। प्रत्येक के रहने के लिए अलग–अलग आवास की व्यवस्था की जाती थी।

मलिकों ने सुल्तानों के ठाट–बाट और रहन–सहन की नकल करने का प्रयास किया। वे महलों में निवास करते, महंगी वस्तुओं के बने परिधान प्रयोग में लाते और एक बड़ी संख्या में नौकरों, गुलामों और परिचरों से घिरे रहते थे। वे शानदार दावतों और उत्सवों के आयोजन करने मे एक दूसरे से होड़ करते थे। फिर भी कुछ अमीरों ने कलाकारों और विद्वानों को भी संरक्षण प्रदान किया।

अलाउद्दीन ने मलिकों को दबाकर रखा था लेकिन उसके उत्तराधिकारियों के काल में पुनः वे ठाट–बाट से रहने लगे। तुगलकों के काम में मलिकों के वर्ग की बन आयी। तेजी से साम्राज्य विस्तार होने के कारण मुहम्मद तुग़लक़ के काल में अमीरों को अधिक वेतन और भत्ते दिये जाते थे। कहा जाता है कि मुहम्मद तुग़लक़ के व़जीर की आय इराक प्रान्त की आमदनी के बराबर थी। अन्य अग्रणी मंत्री, 20,000 से 40,000 टंके प्रतिवर्ष पाते थ। प्रधानल सदर 60,000 टंके प्रतिवर्ष पाता था। उसके बहुत से पुत्र और दामाद थे जिन्हें अलग में भत्ता मिलता था।

तुग़लक़ शासकों के काल में कुछ मलिकों ने बड़ी–बड़ी सम्पत्तियाँ अपने वारिसों के लिए छोड़ी थी। फ़ीरोज़ का आरिज़े ममालिक बशीर तेरह करोड़ की संपत्ति छोड़कीर मरा था। इस आधार पर कि बशीर मूलतः उसका गुलाम था, फीरोज ने उसकी अधिकांश संपत्ति जब्त कर ली और शेष उसके पुत्रों में वितरित कर दी। इसे कुछ अंश तक अपवाद भी कहा जा सकता है। किसी भी मृतक अमीर की संपत्ति प्रायः सुरक्षित होती थी और उसके पुत्रों को हस्तांतरित करने की स्वीकृति दे दी जाती थी। यही वही वर्ग था जो भूमि खरीदकर उन पर बगीचा, फलवादिका, बाज़ार आदि बनवाता था। सुल्तान और उसके अमीर भारतीय फलों के गुण को विकसित करने में बहुत रुचि लेते थे। खरबूजों और अंगूरों के गुणों मे विशेष रुप से उन्नति हुई थी।

इस प्रकार एक नये भूमि सम्पन्न वर्ग के विकास की शुरूआत हुई। लेकिन पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में दिल्ली सल्तनत के विघटन से इस प्रवृति में रुकावट आ गई।

uxj] thou] xqyke] dkjhxj

तुर्की शासक वर्ग प्रधानतः नगरों में वास करता था व उन्हें नगर जीवन से रुचि थी। बहुत से नगरी, रक्षक सेना को भोजन, सामान और सेनाएं प्रदान करने के लिए सैननिक छावनियों के चारों और विकसित हुए। कालान्तर में उनमें से बहुत सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में उभरे।

मध्यकालीन नगरों की आबादी मिश्रित होती थी जिनमें अमीरों की संख्या अल्प, सरकारी विभागों के संचालन के लिये लिपिक वग, दुकानदार, कारीगर, भिखारी आदि की संख्या अधिक होती थी। यह स्पष्ट है कि जो लिखना–पढ़ना जानते थे, उन्हें लिपिकों और निम्न दर्जे के अधिकारी के पदों पर बहाल किया जाता था। उस समय अध्यापक का कार्य मुख्य रूप से मुसलमान धर्म–शास्त्रियों (उलेमा) के हाथों में था। अतः उलेमा और निम्न दर्जे के कर्मचारियों के चिंतन और आचरण का ढंग एक ही तरह का था। अधिकांश इतिहासकार इसी वर्ग से आये थे और उनकी रचनाएं

उस वर्ग के विचारों तथा प्रतिकूल प्रभावों को प्रतिबिंबित करती हैं। भिखारी सामान्यतः बड़ी संख्या में साधारण नागरिकों की तरह शस्त्र धारण करते थे और कभी–कभी कानून और व्यवस्था के लिए समस्या खड़ी कर देते थे।

नगरी का दूसरा बड़ा वर्ग–गुलामों और घरेलू नौकरों से बना था। गुलाम–प्रथा बहुत लम्बे समय तक फ़ारस, पश्चिम एशिया और यूरोप में कायम रही। हिन्दू शास्त्रों मे कई प्रकार के गुलामों की स्थिति का उल्लेख है। उनमें परिवार में जन्में, खरीदे गये, उपार्जित (अन्य स्त्रोतों से प्राप्त) तथा उत्तराधिकार में प्राप्त गुलामों का वर्णन है। दास प्रथा को अरबों ने और बाद में तुर्कों ने भी अपनाया था। अधिकतर युद्ध बंदियों को गुलाम बनाने का रिवाज था। महाभारत में भी युद्ध बंदी को गुलाम बनाने का प्रमाण मिलता है। तुर्की ने भारत के अंदर और बाहर कें युद्धों में इस प्रथा का व्यवहार बड़े पैमाने पर किया। पश्चिम एशिया और भारत में भी गुलामों के क्रय–विक्रय के लिये बाजार विद्यमान थे। तुर्की, काकेशिया, यूनान और भारत के गुलाम उपयोगी समझे जाते थे। अतः बाजार में उनकी मांग अधिक थी। साधरणतः गुलाम घरेलू कार्यों, साथ रहने या विशेष गुणाों के कारण खरीदे जाते थे। गुणवान गुलामों या रूपवान लड़के और रूपवती लड़कियों की कीमत कभी–कभी अधिक होती थे। गुणवान गुलामों को महत्वपूर्ण समझा जाता था और उनमें से कुछ ऊँचे पदों पर पहुंचे हुए थे। कुतुबुद्दीन ऐबक के गुलाम इसके उदाहरण हैं। फ़ीरोज़ तुग़लक़ भी गुलामों के गुण की पहचान करने वाला था। उसने 180,000 गुलामों को एकत्र किया था। कभी–कभी ऐसे गुलामों के साथ कठोर व्यवहार किया जाता था। यह कहा जा सकता है कि गुलामों की स्थिति घरेलू नौकरों से बहुत अच्छी थी क्योंकि गुलामों के भोजन और आवास की व्यवस्था करना मालिक का उत्तरदायित्व था। दूसरी ओर एक स्वतंत्र व्यक्ति भूख से मृत्यु की गोद में सो सकता था। गुलामों को शादी की अनुमति थी। वे कुछ निजी सम्पत्ति के स्वामी हो सकते थे। फिर भी यह सर्वमान्य था कि गुलाम प्रथा अमानवोचित है। स्त्री अथवा पुरुष गुलामों को सुविधा देना हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच एक प्रशंसनीय कार्य समझा जाता था।

सल्तनत काल में नगर–निवासियों के लिये खाद्य–पदार्थ सामान्यतः सस्ते थे। अलाउद्दीन ख़लजी के समय के तीन खाद्य पदार्थों के मूल्य का उल्लेख हो चुका है। उसके काल में गेंहू 7½, जौ 4 और चावल 5 जीतल प्रतिमन (लगभग 15 किलोग्राम) की दर से बिकते थे। मुहम्मद तुग़लक़ के काल में तेजी से मूल्यवृद्धि हुई लेकिन फ़ीरोज़ के काल में वे लगभग अलाउद्दीन कालीन मूल्यों के स्तर तक आ गये थे। यह संभव है कि उसके काल में कृषि विस्तार के कारण ऐसा हुआ है।

नगर निवासियों के जीवन–निर्वाह के खर्च का अनुमान लगाना कठिन है । एक आधुनिक इतिहासकार का अनुभव है कि फ़ीरोज़ के शासनकाल में एक पुरुष, उसकी पत्नी, एक नौकर, एक अथवा दो बच्चे वाला एक परिवार प्रतिमाह 5 टंके खर्चकर जीवित रह सकता था।

इस प्रकार निम्न स्तर के सरकारी पदाधिकारी या एक सैनिक को जीवन–यापन करना आसान था। लेकिन शिल्पकारों और श्रमिकों पर यह उसी प्रकार लागू नहीं हो सकता था। अकबर के शासन काल में भी एक अकुशल श्रमिक को 2½ से 3 रुपये या इससे भी कम महीने में मिलते थे। आय के अनुपात में निवास करने वाले शिल्पकारों तथा श्रमिकों का जीवन–निर्वाह कठिन रहा होगा।

इस प्रकार मध्यकालीन समाज विषमताओं का समाज था। यह विषमता हिन्दू समाज की अपेक्षा मुस्लिम समाज में अधिक प्रतिबिंबित होती थी। इसका कारण यह था कि हिन्दू समाज ग्रामीण था जहां विषताएं कम दिखाई देती थी। यह उल्लेख किया गया है कि मुस्लिम सामंत वर्ग बड़े ठाट–बाट का जीवन व्यतीत करता था। कुछ धनी हिन्दू और मुसलमान सौदागर भी ठाट–बाट से रहते थे। ग्रामीण क्षेत्रों और नगरों के लोग भारी संख्या में सरल जीवन व्यतीत करते थे और प्रायः उन्हें अनेक प्रकार के उत्सव, मेले आदि कुछ सीमा तक उनको जीवन की नीरसता के मुक्ति दिलाते थे।

tkfr] lkekftd jhfr&fjokt

इस काल में हिन्दू स्मृतिकारों ने ब्राह्मणों को समाज में ऊँचा स्थान देना जारी रखा, यद्यपि इन्होनें इस वर्ग के अयोग्य सदस्यों की कड़े शब्दों में निन्दा की। दार्शनिकों का एक वर्ग इस बात का समर्थन करता है कि ब्राह्मण केवल विपत्ति

के समय ही नहीं वरन् सामान्य परिस्थितियों में भी कृषि कार्य कर सकते हैं। उनका मत था कि कलियुग में यज्ञादि कार्य जीविका के पर्याप्त साधन नहीं है।

स्मृति ग्रंथ अब भी इस बात पर जोर देते रहे कि अपराधियों को दंडित करना और अच्छे को आंखों की पुतली समझना क्षत्रियों का धर्म है और प्रजा की रक्षा के लिये शस्त्र धारण करना केवल उन्हीं से संबंध रखता है। शूत्रों के कर्तव्यों और व्यवसायों और उनकी असमर्थताओं की न्यूनाधिक रूप से पुनरावृत्ति हुई। जबकि शूद्रों का परम कर्त्तव्य था दूसरी जातियों की सेवा करना, उन्हें मांस और मदिरा व्यवसाय को छोड़कर सभी व्यवसायों को अपनाने की छूट थी। शूद्रों के लिये वेदों के अध्ययन एवं सस्वर पाठ के निषेध की पुनरावृत्ति की गई। लेकिन पुराणों के सस्वर–पाठ को श्रवण करने पर कोई बंधन न था। कुछ लेखकों ने यहां तक कह डाला कि शूद्रों को भोजन करना, उनके साथ एक ही मकान में निवास करना, एक ही चारपाई पर बैठना और विद्वान शूद्र से धार्मिक शिक्षा ग्रहण करने से भी बचना चाहिए। इसे एक ज्यादती का ही विचार समझना चाहिए। लेकिन चान्डालों और जातिबहिष्कृत लोगों के साथ मिलने–जुलने पर भी कठोर प्रतिबंध था।

हिन्दू समाज की स्त्रियों की स्थिति मे बहुत कम सुधार हुआ था। लड़कियों का बाल–विवाह और नारी की पति–सेवा तथा पतिभक्ति जैसे प्राचीन सामाजिक नियम चलते रहे। परित्याग और रोगी होने जैसी विशेष परिस्थितियों में विवाह–विच्छेद की अनुमति थी। किन्तु सभी ग्रंथकार इससे सहमत नहीं हैं। कलियुगी निषिद्ध रिवाजों में विधवा–विवाह भी सम्मिलित था। लेकिन यह स्पष्ट रूप से तीन उच्च वर्गों में ही लागू होता था। सती प्रथा के संबंध में कुछ ग्रंथकार इसका जोरदार समर्थन करते हैं जबकि दूसरे इसका समर्थन कुछ विशेष परिस्थितियों के अंतर्गत करते हैं। कुछ यात्रियों ने देश के विभिन्न भागों में इस प्रकार के प्रचलित होने का उल्लेख किया। इब्नेबतूता ने नगाड़ों की भारी ध्वनि के बीच एक स्त्री द्वारा सती होने के वीभत्स दृश्य का वर्णन किया है। उसके कथनानुसार सती होने के लिये सुल्तान से अनुमति लेनी पड़ती थी।

संपत्ति के संबंध में भाष्यकारों ने विधवा की संपत्ति के अधिकार को उस स्थिति में समर्थन प्रदान किया है जब की वह पुत्रहीन हो या संपत्ति संयुक्त परिवार की न हो यानी अविभाजित हो। इस प्रकार विधवा केवल संपत्ति की संरक्षिका ही नहीं थी वरण् उसे विक्रय का भी पूर्ण अधिकार प्रप्त था। अतः यह स्पष्ट है कि हिन्दू विधि में स्त्री के संपत्ति संबंधी अधिकार में सुधार हुए।

इस काल में स्त्री को पृथक रखने और बाहरी व्यक्तियों के सामने घूंघट काढ़ने जैसी प्रथा उच्च वर्ग की स्त्रियों में बहुत प्रचलित थी। स्त्रियों को कुदृष्टि से बचाने की प्रथा को अपनाया और वे इसे अपने साथ भारत लाए। उनकी देखा–देखी यह प्रथा भारत में भी विशेष रुप से उत्तर भारत में फैल गयी। परदा प्रथा के फैलने का कारण यह है कि हिन्दुओं में मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा उनकी स्त्रियों को अपहृत किये जाने का भय था। आक्रमण के युग में स्त्री को युद्ध के पुरस्कार के रुप में देखा जाता था। संभवतः परदा–प्रथा के प्रचलन के महत्वपूर्ण कारण सामाजिक थे। कालान्तर में यह समाज के उच्च वर्ग का प्रतीक बन गया और जो इज्जतदार कहलाना चाहते थे, उन्होंने इस प्रथा का अनुकरण करने का प्रयास किया। बाद में इसके लिये स्त्रियों पर विपरीत प्रभाव पड़ा और वे पुरुषों पर और अधिक अवलम्बित हो गई।

तुर्कों के काल में मुस्लिम समाज, नस्ल और जातिगत वर्गों में विभाजित रहा। तुर्कों, इरानियों, अफगानों और भारतीय मुसलमानों में एक दूसरे के साथ वैवाहिक संबंध बिरले ही हो पाता है। वस्तुतः हिन्दुओं के अतिरिक्त इन वर्गों में भी एक प्रकार से जाति–प्रथा विकसित हुई। हिन्दू समाज के निम्न वर्गों के जो व्यक्ति धर्म–परिवर्तन कर लेते थे, उनके साथ भी भेदभाव बरता गया।

इस काल में हिन्दू और उच्च श्रेणी के मुसलमान के बीच भी सामाजिक मेल–मिलाप अधिक नहीं था। इसके दो प्रमुख कारण थे। पहला था मुसलमानों में श्रेष्ठता की भावना और दूसरा था पारस्परिक विवाहों का धार्मिक निषेध और एक साथ बैठकर भोजन न करना। हिन्दू जातियां मुसलमानों के साथ सदा वही प्रतिबंध लगाती थीं जो शूद्रों पर लागू होता था। लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिये कि जातिय प्रतिबंधों के कारण मुसलमानों, सवर्ण हिन्दुओं और शूद्रों के बीच सामाजिक सम्पर्क बन्द नहीं हुआ। अनेक अवसरों पर हिन्दू सैनिक मुसलमानों में भर्ती किये गये। अधिकांश अमीरों के यहां हिन्दू व्यक्तिगत प्रबंधक के रूप में काम करते थे। स्थानीय शासनतंत्र प्रायः हिन्दुओं के हाथों में ही बना रहा।

अतः एक दूसरे के संपर्क में आने के अनेक अवसर हाथ लगते थे। अतः यह सोचना कि दोनो समुदायों के लोग अपने तक ही सीमित रहते थे और उनका एक–दूसरे के साथ कोई संपर्क नहीं था, न तो सत्य है और ना ही व्यावहारिक। हमारे समक्ष इस कथन की सत्यता का कोई प्रमाण नहीं है। स्वार्थों के टकराव के अतिरिक्त सामाजिक और सांस्कृतिक विचारों, रीतियों और विश्वासों की विभिन्नता के कारण तनाव हुआ और पारस्परिक सूझ–बूझ और सांस्कृतिक मेल–मिलाप की प्रक्रिया मंद पड गई।

आर्थिक दशा–मध्य काल में भारत सोने की चिड़िया कहलाता था। यहाँ धन की लालच में ही विदेशी आक्रमणकारियों ने इस देश पर आक्रमण किये। महमूद गजनवी अपने आक्रमणों में इस देश की सम्पत्ति लूट कर ले गया। इन आक्रमणों तथा उसके बाद की राजनीतिक उथल–पुथल ने देश की अर्थ–व्यवस्था को प्रभावित किया, परन्तु बाद में सुदृढ़ शासन–व्यवस्थ स्थापित हो जाने से अर्थ–व्यवस्था अधिक बिगड़ने से बच गई, यद्यपि दिल्ली के सुल्तान अधिकतर आन्तरिक विद्रोहों को दबाने और बाह्य युद्धों में व्यस्त रहे।

कृषि–सल्तनत काल में भारत एक कृषि–प्रधान देश था। यहाँ की बहुसंख्यक जनता का मुख्य उद्यम खेती था। उत्पादन का प्रमुख स्त्रोत भूमि था जिससे मनुष्यों के लिए अन्न और पशुओं के लिए चारा प्राप्त होता था। हल और बैल की सहायता से खेती होती थी। फसल अच्छे मानसून पर निर्भर थी। फीरोज तुगलक ने नहरों का निर्माण सिंचाई के लिए कराया था, परन्तु आम तौर पर किसान वर्षा पर निर्भर था। वर्षा न होने पर अकाल पड़ जाता था और उस स्थिति में कृषक ही नहीं, बल्कि जनसाधारण की स्थिति खराब हो जाती थी। सामान्य स्थिति में उपज अच्छी होती थी और दोआब का क्षेत्र अपनी उर्वरा शक्ति के लिए प्रसिद्ध था। किसान को अपनी फसल से जो कुछ प्राप्त होता था, उसका एक बड़ा भाग भूमि–कर के रूप में सरकार के पास चला जाता था। अलाउद्दीन ने भूमि–कर पचास प्रतिशत कर दिया। इसके अलावा पशु कर, चरागाह कर और जजिया कर अलग थे। इससे किसानों की स्थिति शोचनीय हो गई। उसकी उपज का कुछ भाग घरेलू मजदूर, बढ़ई, लुहार और कुम्हार इत्यादि को चला जाता था। शेष में वह अपना, अपने परिवार और पशुओं का भरण–पोषण करता था।

खाद्यान्नों का मूल्य–खाद्यान्नों की अधिकता और जनसंख्या का भार कम होने के कारण वस्तुओं के मूल्य सस्ते थे। अकाल के समय खाद्यान्न के मूल्य बहुत बढ़ जाते थे। जलालुद्दीन खिलजी के समय पड़े अकाल में अनाज का मूल्य 1 जीतल प्रति सेर हो गया था। इसी प्रकार मुहम्मद तुगलक के समय ने पड़ने वाले अकाल के समय अनाज का मूल्य सोलह–सत्तरह जीतल प्रति सेर और फीरोज तुगलक के समय पड़ने वाले अकाल में अनाज का मूल्य दो–तीन टंका प्रति मन हो गया था।

इन असाधारण परिस्थितियों को छोड़कर अनाज के मूल्य सस्ते थे। अलाउद्दीन खिलजी, मुहम्मद तुगलक और फीरोज तुगलक के शासन–काल में खाद्यान्नों के मूल्य निम्नलिखित प्रकार थे–

वस्तुएँ	अलाउद्दीन खिलजी	मुहम्मद तुगलक	फीरोज तुगलक
	(मूल्य जीतल में प्रतिमन की दर से)		
गेंहूँ	$7\frac{1}{2}$	12	8
जौ	4	8	4
चावल	5	14	–
दाल	5	–	4
मसूर	3	4	4
चीनी (सफेद)	100	80	–
चीनी (साफ्ट)	60	64	120, 140

उपर्युक्त तालिका से पता चलता है कि उलाउद्दीन खिलजी के शासन–काल की अपेक्षा मुहम्मद तुगलक के शासन–काल में खाद्यान्न के मूल्य बढ़ गये। परन्तु फीरोज तुगलक के शासन–काल में मूल्य पहले के ही धरातल पर आ गये। केवल चीनी ही एक अपवाद है जिसका मूल्य फीरोज के शसन–काल में अलाउद्दीन और मुहम्मद तुगलक के शासन–काल से भी अधिक हो गया। मूल्यों के विषय में यह कहना आवश्यक है कि एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में मूल्यों में अन्तर होता था। इसके साथ ही साथ देश के आन्तरिक भागों की अपेक्षा बड़े नगरों में मूल्यों में अन्तर होता था। इब्नबतूता के अनुसार, बंगाल में खाद्यान्न के भाव सबसे सस्ते थे। चीनी का मूल्य गेहूँ के अनुपात में बहुत तेज था जिससे प्रतीत होता है कि चीनी का उपभोग जनसाधारण की पहुँच से बाहर था, परन्तु गुड़ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध था और जनसाधारण के उपभोग के लिए आजकल की अपेक्षा किसी भी दशा में कम न होगा।

उद्योग–धंधे–उद्योग–धन्धे जाति एवं वंश परम्परागत थे। कारीगर पीढ़ी–दर–पीढ़ी अपने वंश–परम्परागत उद्योग में लगे रहते थे। दिल्ली सुल्तानों ने कुछ शाही कारखाने भी स्थापित किए जो सुल्तान, उसके परिवार और दरबारियों की आवश्यकता की पूर्ति करते थे। कुछ प्रमुख उद्योगों का वर्णन आगे किया जाता है–

वस्त्र उद्योग–वस्त्र उद्योग देश का सबसे प्रधान उद्योग था। सूती, रेशमी और ऊनी तीनों प्रकार के वस्त्रों का निर्माण होता था। वस्त्र उद्योग सारे देश में फैला हुआ था। काम्बे, सूरत, अहमदाबाद, बुरहानपुर, पटना, दिल्ली, आगरा, लाहौर, मुल्तान वस्त्र के केन्द्र थे। बंगाल सिल्क और कश्मीर ऊनी वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध था। बंगाल और गुजरात प्रदेश वस्त्र उद्योग के प्रमुख केन्द्र थे जहाँ बहुत ही उत्तम प्रकार का कपड़ा तैयार किया जाता था। मुर्शिदाबाद और बनारस रेशम उद्योग के लिए प्रसिद्ध थे। रेशम, मसलिन, किमखाब एवं साटन के बने कपड़े का प्रयोग अमीर वर्ग करता था। चाँदी और सोने के तारों पड़े जरी के कपड़ों का भी निर्माण किया जाता था। सूती वस्त्रों का निर्माण भी बड़े पैमाने पर किया जाता था। अनेक कारीगर कपड़े की बुनाई, रंगाई, और छपाई में लगे हुए थे।

धातु उद्योग–धातु उद्योग बड़ा व्यापक था। सेना के लिए बड़े पैमाने पर शस्त्रों की आवश्यकता होती थी। हथियार बनाने में लोहे का प्रमुख रूप से प्रयोग किया जाता था। कालिन्जर, मुल्तान, लाहौर, और गोलकुंडा उत्तम ढंग की तलवारों के लिए प्रसिद्ध थे। कृषि के लिए भी बड़े पैमाने पर औजारों का निर्माण होता था। सोने–चाँदी के सुन्दर जड़ाऊ आभूषण बनाये जाते थे। सुल्तान, शाही परिवार एवं उसके दरबारी रत्न–जड़ित आभूषणों का प्रयोग करते थे। आभूषण उद्योग, देशव्यापी था। आभूषणों के निर्माण में निपूण कारीगर लगे हुए थे। तैमूर भारतीय कारीगरों से इतना प्रभावित हुआ था कि वह इनमें से कुछ को अपने साथ समरकन्द ले गया। बड़ी मात्रा में ताँबे और पीतल के बर्तन बनाते थे जिनका रसोई में प्रयोग होता था।

चर्म उद्योग–चमड़ा जूते बनाने, घोड़ो की जीन, पानी भरने की मशक इत्यादि कार्यो में प्रयोग किया जाता था। चमड़ा पशुओं की खाल से प्राप्त किया जाता था। स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यह उद्योग सारे देश में फैला हुआ था। दिल्ली चमड़ा उद्योग के लिए प्रसिद्ध था। कैम्बे चप्पलों के लिए प्रसिद्ध था। चमड़े के वस्त्र भी बनाये जाते थे जिन्हें गुजरात के बन्दरगाहों से निर्यात किया जाता था।

मिट्टी के बर्तन–प्राचीन काल से ही मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग होता आया है। कुम्हार मिट्टी के बर्तन, पानी पीने के मटके और विभिन्न प्रकार के कलात्मक खिलौने बनाते थे। यह उद्योग सारे देश मे फैला हुआ था। मकान बनाने के लिए बड़ी संख्या में मिट्टी के खपड़े और ईंटों का प्रयोग होता था।

अन्य उद्योग–लकड़ी का काम भी सारे देश में होता था। बढ़ई किसानों की आवश्यकता के लिए हल और दूसरे औजारों के लिए लकड़ी का काम करता था। लकड़ी के सुन्दर खिलौने भी बनाये जाते थे। लकड़ी की बनी घरेलू वस्तुओं का निर्माण बढ़ई करते थे। मकान बनाने में भी लकड़ी का प्रयोग होता था।

चीनी का निर्माण भी बड़े पैमाने पर किया जाता था। गन्ने की फसल खूब होती थी जिसके रस से चीनी, गुड़ और शक्कर बनती थी। कागज का भी निर्माण होता था। अमीर खुसरों ने दिल्ली में कागज बनाये जाने का वर्णन किया हैं। कागज विभिन्न प्रकार थे, परन्तु इसका उत्पादन अधिक मात्रा में नहीं होता था। हाथीदाँत से सुन्दर कलात्मक वस्तुएँ बनाई जाती थीं, जैसे चूड़ियाँ, कंगन और विभिन्न प्रकार के खिलौने।

तेल और इत्र का भी निर्माण होता था। लाहौर, काम्बे और बनारस में सुगंधित तेल और इत्र बनाये जाते थे। तेल कोल्हू से पेर कर निकाला जाता था। तेल सरसों, तिल, गोला इत्यादि का निकाला जाता था। सल्तनत काल में उद्योगों का अच्छा विकास हुआ।

व्यापार–मध्यकाल में आन्तरिक और विदेशी व्यापार उन्नति पर था। देश की आवश्यकता की पूर्ति के पश्चात् जो माल बचता था, उसका निर्यात कर दिया जाता था। आजकल की तरह उस समय यातायात के तीव्र साधन नहीं थे। उस समय यातायात के प्रमुख साधन बैलगाड़ी, रथ, ऊँट, हाथी और खच्चर थे। भारी माल ढोने के लिए हाथियों का प्रयोग किया जाता था। आन्तरिक व्यापार के लिए उस समय अनेक राजमार्ग थे। सेना के आवागमन के लिए इन राजमार्गों को ठीक दशा में रखा जाता था। इन राजमार्गों को सुरक्षित रखने का हर सम्भव प्रयत्न किया जाता था। सड़क के दोनों ओर छायादार वृक्ष लगे होते थे। यात्रियों और व्यापारियों की सुविधा के लिए स्थान–स्थान पर सराय बनी हुई थीं। नदी मार्ग से भी माल एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजा जाता था। बन्जारे माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते थे। बन्जारा एक घुमक्कड़ जाति थी जो यातायात का कार्य करती थी। बन्जारे बड़े–बड़े काफिलों में चलते थे और कभी–कभी इनके काफिलों में चालीस हजार तक बैल होते थे।

स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यापारी फेरी लगाकर अपना माल बेचते थे तथा गाँव में निश्चित दिनों पर हाट या बाजार लगते थे जहाँ सभी प्रकार का सामान मिलता था। बड़ा व्यापार उत्तम में गुजराती, मुल्तानी और मारवाड़ी तथा दक्षिण में चेट्टियों द्वारा होता था।

विदेशी व्यापार भी उन्नत दशा में था। विदेशी व्यापार अरब देशों, पूर्वी अफ्रीका, लंका, बर्मा, चीन, जापान, पूर्वी द्वीप–समूह, नेपाल, अफगानिस्तान और फारस इत्यादि देशों से होता था। इब्नेबतूता अदन में हिन्दू व्यापारियों के जहाजों का वर्णन करता है। काम्बे, सूरत भड़ोंच, कालीकट, कोचीन, मच्छलीपट्टम, चटगाँव इत्यादि उस समय के प्रसिद्ध बन्दरगाह थे जहाँ से समुद्र द्वारा विदेशों से व्यापार होता था। स्थल–मार्ग द्वारा अफगानिस्तान, तिब्बत, नेपाल, और भूटान से व्यापार होता था।

अरबी घोड़ो का प्रमुख रूप से आयात किया जाता था। सेना में इनकी बड़ी माँग थी। चीन से रेमी वस्त्रों का आयात होता था। पूर्वी अफ्रीका तट से हाथी–दाँत का आयात होता था। फारस से घोड़े, खच्चर, शराब और सूखे मेवों का आयात होता था। व्यापार सन्तुलन भारत के पक्ष में था, अतः सोने का भी आयात होता था।

निर्यात की वस्तुओं में कपड़ा सर्वप्रमुख था। विदेशों में भारतीय कपड़े की बड़ी माँग थी। गुजरात के बन्दरगाहों से बड़ी मात्रा में कपड़े और नील का निर्यात होता था। बंगाल से चीनी का निर्यात होता था। निर्यात की अन्य वस्तुएँ अनाज, केसर और विभिन्न प्रकार के मसाले थे। मालाबार तट काली मिर्च और विभिन्न प्रकार के मसालों के उत्पादन का प्रमुख केन्द्र था।

इस प्रकार व्यापार उन्नत दशा में था। व्यापार का संतुलन भारत के पक्ष में होने कारण भारत सोने की चिड़िया कहलाता था। देश में आर्थिक सम्पन्नता होते हुए भी लोगों के जीवन–स्तर में बड़ी विषमता थी। देश के मोटे तौर पर दो ही वर्ग थे–वैभव–सम्पन्न वर्ग और अनसाधारण जिनका रहन–सहन बहुत सादा था। वैभव–सम्पन्न वर्ग में सुल्तान, राजपरिवार उसके दरबारी और उच्च अधिकारी आते थे। सुल्तान स्वयं पर, राजपरिवार पर एवं अपने दरबार पर धन को पानी की तरह बहाता था। सुल्तान और उसके दरबारी सोने और चाँदी के बर्तनों का प्रयोग करते थे। विलासिता पर बहुत धन खर्च किया जाता था। सुल्तान बड़ी संख्या में गुलाम रखते थे। सुल्तान का अनुकरण उसके दरबारी करते थे। दरबारी सुल्तान की तरह ही विलासिता में डूबे रहते थे। उन्हें वेतन के रूप में एक बड़ी राशि सरकार से मिलती थी। व्यापारी वर्ग भी काफी सम्पन्न था। परन्तु जनसाधारण, कृषकों और मजदूरों की दशा शोचनीय थी। उत्पादक वर्ग के मेहनत की कमाई उच्च वर्ग की विलासिता पर खर्च होती थी।

v/;k; 19

fnYyh lYrur & /keZ vkSj laLÑfr

यह अध्याय हमे सल्तनतकालीन धार्मिक आन्दोलनों तथा कला और संस्कृति की जानकारी प्रदान करती है। यह दो भागों मे विभक्त है–

- *दिल्ली सल्तनत – भक्ति एवं सूफी मत*
- *दिल्ली सल्तनत – कला व संस्कृति*

HkfDr vkUnksyu

प्राचीन भारतीय हिन्दू दर्शन के अनुसार मोक्ष प्राप्त करना ही अथवा जीवन–मरण के बन्धन से छुटकारा प्राप्त करना ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। मोक्ष प्राप्ति के तीन मार्ग बतलाये गये हैं – ज्ञान, कर्म और भक्ति। सल्तनत काल में कई हिन्दू संतों और सुधारकों ने हिन्दू धर्म के लिए एक आन्दोलन प्रारम्भ किया था। चूंकि यह आन्दोलन भक्ति पर जोर देता था, इसलिए इसे भक्ति आन्दोलन के नाम से पुकारा जाने लगा।

HkfDr vkUnksyu dh mRifÙk ds dkj.k

भक्ति आन्दोलन की उत्पत्ति के निम्नलिखित मुख्य कारण थे:

1. हिन्दू धर्म में जाति–प्रथा की जटिलता निरंतर बढ़ती जा रही थी। ऊँच नीच की भावना से हिन्दू समाज का निम्न वर्ग दुखी था। भक्ति आन्दोलन में चूँकि ऊँच–नीच और जाति प्रथा का खण्डन किया गया, अतः समाज के निम्न वर्ग ने विशेष रूप से इसका समर्थन किया।
2. हिन्दू समाज में शूद्रों की बड़ी दुर्दशा थी। उन्हें किसी प्रकार के कोई सामाजिक और धार्मिक अधिकार प्राप्त नहीं थे और उच्च वर्ग के हाथों सब प्रकार की यातनाएं उन्हें सहनी पड़ती थी। इन यातनाओं से बचने के लिए तथा इस्लाम धर्म के समानता तथा भ्रातृभाव के सिद्धान्तों से प्रभावित होकर अनेक शूद्र मुसलमान बनने लगे। भक्ति आन्दोन की उत्पत्ति इस परिवर्तन को रोकने और शूद्रों के साथ अच्छा व्यवहार करने के हेतु हुई।
3. मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण कर अनेक मन्दिरों और मूर्तियों का विनाश कर दिया। हिन्दू धर्म के समर्थकों में इससे घोर निराशा फैलने लगी और धर्म पर से उनका विश्वास डगमगाने लगा। भक्ति आन्दोलन के माध्यम से हिन्दुओं में पुनः आस्था पैदा करना, धर्म के प्रति पुनः आशा का संचार करना और ईश्वर के प्रति भक्ति का मंत्र फूंकना जरूरी समझा गया।
4. कुछ इतिहासकारों के अनुसार भक्ति आन्दोलन की उत्पत्ति हिन्दू धर्म का इस्लाम के साथ सम्पर्क होने और उसके प्रभाव का परिणाम था। डॉ० ताराचन्द (Influence of Islam on Indian Culture) और डॉ० युसुफ हुसैन (Glimpses of Medieval Indian Culture) इसी मत के समर्थक हैं। उनका मानना है कि भक्ति आन्दोलन के सन्तों ने एकेश्वरवाद का समर्थन, मूर्तिपूजा का खण्डन और जातिप्रथा का बहिष्कार इस्लाम से प्रेरणा पाकर ही किया।

किन्तु उपर्युक्त विद्वानों का यह मत शान्तिपूर्ण लगता है। भक्ति की परम्परा भारत में काफी पुरानी है। यह कहना है कि भक्ति का वास्तविक विकास इस देश में मुसलमानों के आगमन के पश्चात् हुआ, उचित नहीं है। गीता भक्ति का आधारभूत ग्रंथ है। गीता में कृष्ण मोक्ष की प्राप्ति के लिए कर्म के साथ ही साथ भक्ति मार्ग को भी प्रधानता देते हैं। गीता का निम्न श्लोक भक्ति के भाव से ओतप्रोत है:

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज,
अहं त्वां सर्वपापेम्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच।

इस श्लोक में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तुम सब धर्मों को छोड़कर एकमात्र मेरी शरण में आओ, मेरी पूजा और भक्ति करो, मैं तुम्हारे समस्त पापों का नाश कर दूंगा। इस श्लोक से स्पष्ट हो जाता है कि भारत में भक्ति की परम्परा काफी पुरानी है। अभिलेखीय स्रोतों से भी यह ज्ञात होता है कि भक्ति का भारत में दूसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व भी अस्तित्व था और श्री गार्डे को पाली साहित्य में इसका उल्लेख मिलता है। विदेशी विद्वान् बुहलर भी यह मानते हैं कि भारत में ईसा से आठ सौ वर्ष पूर्व भी भक्ति का उल्लेख मिलता है। फ्रांसीसी विद्वान् सेनार्ट के अनुसार भी भारत में भक्ति का सिद्धान्त अत्यंत प्राचीन है। श्रीमद्भागवत में भी ईश्वर के प्रति प्रेम और भक्ति व्यक्त करने वाली प्रार्थना का उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विद्वानों का यह मत कि भक्ति आन्दोलन की उत्पत्ति इस्लाम के सम्पर्क और प्रभाव के परिणामस्वरूप हुई, उचित प्रतीत नहीं होता। वास्तव में जैसा कि उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है भक्ति आन्दोलन में एकेश्वरवाद और सामाजिक समानता के सिद्धान्तों को लेकर उस पर इस्लाम के प्रभाव की कल्पना भी व्यर्थ ही लगती है। भारतवर्ष में बहुदेववाद होते हुए भी एक ब्रह्म और ईश्वर की कल्पना पुरातनकाल से चली आ रही है। अतः एकेश्वरवाद के सिद्धान्त को इस्लाम की देन मानना उचित नहीं लगता।

वास्तव में भक्ति आन्दोलन का उदय सर्वप्रथम दक्षिण भारत में हुआ और इसमें आलवार सन्तों की महत्वपूर्ण भूमिका रही। पाँचवी से लेकर नवीं शताब्दी तक दक्षिण भारत में अनेक आलवर संत हुए जिन्होंने दक्षिण में भक्ति के सिद्धान्त का खूब प्रचार किया। तिरुमल रुई, विरुमंगेई, पेरियालवार, कुलशेखर, तिरुद्यान, भूतम, मम्मालबार आदि कुछ ऐसे ही आलवार संत थे। ये आलवार संत निम्नजातियों के थे और उच्च शिक्षा न मिलने पर उनमें उच्च गुणों का समावेश था। वे सभी विष्णु के उपासक थे। उनके विचारों और भावों में भक्ति तथा विनम्रता का अपूर्व संगम देखने को मिलता है। "मेरा जन्म द्विजन कुल में नहीं हुआ, न मैं चारों वेदों का जानने वाला हूँ। मैं अपनी इन्द्रियों को भी नहीं जीत पाया हूँ। इस कारण भगवान् मुझे तुम्हारे प्रकाशमय चरणों के अतिरिक्त अन्य किसी भी शक्ति का भरोसा नहीं है।" आलवार सन्तों के ये भाव थे जिनसे भक्ति भावना के अस्तित्व में कोई संशय नहीं रह जाता। इन आलवार संतों ने कुछ गीतों की भी रचना की जो प्राप्ति (सब कुछ छोड़कर भगवान् की शरण में गिरने की भावना) से ओतप्रोत हैं। इन आलवार सन्तों के प्रयत्नों से भक्ति की भावना का दक्षिण में खूब प्रचार हुआ और यह जनजीवन का अभिन्न अंग बन गयी। इन आलवार संतों द्वारा तमिल भाषा में लिखे गये भक्ति गीतों का सम्पादन नाथमुनि ने नवीं शताब्दी में किया, जो "प्रबन्धम्" कहलाता है। प्रबन्धम् वास्तव में भक्ति आन्दोलन का आदि ग्रंथ कहा जाता है। यद्यपि ये आलवार संत निम्न जाति के थे, परन्तु अपने सदगुणों और भक्ति के माध्यम से उनकी समाज में प्रतिष्ठा इतनी बढ़ गयी कि भगवान् विष्णु के साथ उनकी पूजा होने लगी।

इन सभी तथ्यों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भक्ति आन्दोलन इस्लाम की देन कदापि नहीं था। भक्ति आन्दोलन के सन्तों ने जिन सिद्धान्तों का प्रचार किया, वे उन्होंने इस्लाम से नहीं सीखे अपितु वे भारत में किसी न किसी रूप में पहले से ही विद्यमान थे। भारतवर्ष में भक्ति आन्दोलन का उदय सर्वप्रथम दक्षिण भारत में हुआ। आलवार सन्तों द्वारा पाँचवी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक भक्ति का प्रचार सम्पूर्ण दक्षिण भारत में कर इसे घर–घर पहुँचा दिया गया। यहाँ से धीरे–धीरे यह आन्दोलन उत्तरी भारत में भी फैल गया। उत्तरी भारत में इसे लोकप्रिय बनाने में रामानन्द, नामदेव, बल्लाभाचार्य, चैतन्य, कबीर एवं नानक आदि संतों का प्रमुख योगदान रहा।

Hkfä vkUnksyu ds çeq[k lar

jkekuqt

रामानुज मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन के प्रथम महान् वैष्णव संत थे। उनका जन्म मद्रास के निकट 1016 ई० में तिरुपति में हुआ। वे सगुण ईश्वर के उपासक थे। उनके अनुसार भक्ति ही मुक्ति प्राप्ति का प्रमुख साधन है। उनका मत विशिष्टाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध है। उनका मानना था कि ब्रह्म ही परम सत्य है और आत्मा और जगत् ब्रह्म के ही विभिन्न रूप हैं। आत्मा भक्ति के द्वारा ही ब्रह्म को प्राप्त कर सकती है।

रामानुज के अनुसार शूद्र और जातिच्युत लोग भी अपने गुरु की इच्छा के आगे पूर्ण समर्पण कर मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। उन्होंने उन्हें एक निश्चित दिन कुछ मन्दिरों में आने की अनुमति दे दी। इस प्रकार उन्होंने शूद्रों के लिए भी वैष्णव धर्म में आने के मार्ग खोल दिए।

fuEckd!

भक्ति आन्दोलन के द्वितीय नेता निम्बार्क थे। वे दक्षिण के तेलगू ब्राह्मण थे और रामानुज के ही समकालीन थे। लेकिन बाद में वह उत्तरी भारत के वृन्दावन में स्थायी रूप से बस गये थे। वह कृष्ण और राधा के उपासक थे। उन्होंने भेदाभेद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा, परमात्मा, और जगत् एक से ही हैं किन्तु साथ ही उनमें परस्पर भिन्नता भी है। उनमें समानता इस आधार पर है कि आत्मा और जगत् पूर्णतः परमात्मा (ईश्वर) पर ही निर्भर है और उनका ईश्वर के बिना अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। उन्होंने भी परमात्मा के प्रति पूर्ण समर्पण और भक्ति पर ही जोर दिया। उन्होंने कृष्ण को ही ईश्वर का रूप माना है।

jkekuUn

अभी तक सभी वैष्णव धर्म–गुरु दक्षिण भारत में ही हुए थे। रामानन्द पहले वैष्णव संत थे जिनका जन्म उत्तरी भारत में हुआ। उनका जन्म प्रयाग (इलाहाबाद) में हुआ। बहुत ही कम उम्र में वे रामानुज सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये थे और अपने गुणों के बल पर बाद में वे इस सम्प्रदाय के धर्मगुरु बन गये थे। रामानन्द ने पुरानी परम्परा को त्यागकर शूद्रों को अपना शिष्य बनाया और समस्त धार्मिक कार्यों में उन्हें उच्च वर्गों की तरह बराबरी से भाग लेने दिया। यद्यपि मध्य युग में स्त्रियों का धार्मिक कार्यों में भाग लेना वर्जित माना जाता था किन्तु रामानन्द ने इस परम्परा को भी नहीं माना और स्त्रियों को भी अपना शिष्य बनाया। उच्चवर्ण, निम्न वर्ण और स्त्रियों को मिलाकर उनके लगभग 12 प्रमुख शिष्य थे। धन्ना जाट, सेना नाई, रैदास और कबीर उनके ऐसे शिष्य थे जो निम्न वर्ग के थे। पद्मावती और सुरसीर नामक दो स्त्रियाँ भी उनकी शिष्याएँ थीं। इस प्रकार रामानन्द पहले ऐसे भक्ति संत हुए जिन्होंने बिना किसी जन्म, जाति, धर्म और लिंग भेद के सभी के लिए वैष्णव धर्म के दरवाजे खोल दिये।

उत्तरी भारत में सर्वप्रथम वैष्णव धर्म के प्रचार का श्रेय रामानन्द को ही है। ऐसा माना जाता है कि भक्ति आन्दोलन को वही दक्षिण से उत्तर लाये। वह रामानुज के ही विशिष्टाद्वैत दर्शन को मानते थे। लेकिन वे विष्णु की जगह राम के उपासक थे और उनहोंने राम की भक्ति का ही प्रचार किया। रामानन्द का मानना था कि प्रेम एवं भक्ति के द्वारा ही ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। उनका मानना था कि ईश्वर के सामने सभी मनुष्य बराबर हैं और इसलिए वे सभी आपस में भाई–भाई हैं।

oYyHkkpk;!

वल्लाभाचार्य वैष्णव सम्प्रदाय की कृष्ण–भक्ति शाखा के एक महान् संत थे। उनके पिता का नाम लक्ष्मण भट्ट था और वो तेलंगाना के निवासी थे। वल्लाभाचार्य का जन्म 1479 ई० में बनारस में उस समय हुआ जब उनके माता–पिता तीर्थयात्रा के लिए बनारस आये थे। वल्लाभाचार्य जब 11 वर्ष के थे तभी उनके माता–पिता की मृत्यु हो गयी थी। वल्लाभाचार्य बड़े ही प्रतिभाशाली बालक थे। बताया जाता है कि वे जब बालक थे तभी उन्होंने चारों वेद, छह शास्त्र और 18 पुराणों पर अधिकार प्राप्त कर लिया था। माता–पिता की मृत्यु के बाद उन्होंने अपना सारा समय अध्ययन और साधना में लगाया। अपनी शिक्षा–दीक्षा पूरी हो जाने पर वे कुछ समय तेलंगाना में रहे और उसके बाद उन्होंने उत्तरी भारत में वृन्दावन को अपना स्थायी निवास स्थान बनाया। यहाँ उन्होंने 1520 ई० से कृष्ण भक्ति पर उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया। वे गृहस्थ जीवन को आध्यात्मिक उन्नति के लिए बाधक नहीं समझते थे। उन्होंने बनारस की एक कन्या महालक्ष्मी से विवाह किया था जिससे उनके अनेक पुत्र पैदा हुए थे। उनकी मृत्यु 1531 ई० में काशी में हुई।

वल्लाभाचार्य भगवान् श्रीकृष्ण के उपासक थे और वे कृष्ण की श्रीनाथजी के नाम से उपासना करते थे। वे श्रीकृष्ण को परमब्रह्म, पुरुषोत्तम और परमानन्द के रूप में मानते थे। उनके अनुसार परम ब्रह्म को हार्दिक भक्ति से ही प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु इस भक्ति में ईश्वर के प्रति ऐसा प्रेम और लगाव होना चाहिए कि भक्त स्वयं को विस्मृत कर दे। उन्होंने पृष्टि मार्ग की स्थापना की। वल्लाभाचार्य के उपदेशों में एक भावनात्मक प्रेरणा थी जिसके फलस्वरूप उनके

अनेक अनुयायी बन गये थे जिनमें 84 को उनके प्रिय शिष्य माना जाता है। वल्लाभाचार्य ने ब्रजप्रदेश, राजस्थान और गुजरात में भक्ति आन्दोलन को काफी लोकप्रिय बनाया।

prU;

चैतन्य की गिनती भक्ति आन्दोलन के महान् संतों में की जाती है। वे वैष्णवं सम्प्रदाय की कृष्ण भक्ति शाखा के एक अन्य प्रसिद्ध संत थे। उनका जन्म 1486 ई० में बंगाल प्रान्त के अन्तर्गत नदिया में हुआ था। उनके पिता का नाम जगन्नाथ मिश्र था जो बड़े ही धार्मिक प्रवृति के विद्वान् पुरुष थे। उनकी माता शची भी बड़ी धार्मिक प्रवृत्ति की थी। चैतन्य के बचपन का नाम विश्वम्भर था और वे अत्यंत ही प्रतिभाशाली थे। कहा जाता है कि उन्होंने केवल 15 वर्ष की अल्पायु में ही संस्कृत भाषा और साहित्य, व्याकरण और तर्कशास्त्र पर अधिकार प्राप्त कर लिया था। बाईस वर्ष की अवस्था में उन्होंने ईश्वरपुरी नामक एक सन्त पुरुष से दीक्षा ले ली। अपने इस गुरु से वे इतने प्रभावित हुए कि वे कृष्ण के परम भक्त बन गये और सदैव उनके नाम का कीर्तन करने लगे। कृष्ण भक्ति के आवेश में वे कभी–कभी मूर्च्छित और समाधिस्थ हो जाते थे। चैतन्य ने देश के अनेक भागों का भ्रमण किया और अंत में वे स्थायी रूप से पुरी में ही बस गये और वहीं 1533 ई० में उनकी मृत्यु हो गयी।

चैतन्य ने परमात्मा पर जिसको वे कृष्ण या हरि के नाम से पुकारते थे, पूर्ण आस्था रखने का उपदेश दिया। चैतन्य के उपदेशों का सार संक्षेप में इस प्रकार है, ''अगर कोई जीव कृष्ण पर श्रद्धा रखता है और अपने गुरु की सेवा करता है तो वह मायाजाल से मुक्त होकर कृष्ण के चरणों को प्राप्त होता है।'' उनका मानना था कि श्रद्धा और भक्ति और कीर्तन तथा नृत्य के द्वारा ऐसी भावावेशमयी स्थिति उत्पन्न की जा सकती है, जिसमें परमात्मा से साक्षात्कार हो सकता है। पर उनके अनुसार यह साक्षात्कार केवल गुरू की सहायता से ही सम्भव हो सकता था। उन्होंने बिना जाति और धर्म का भेदभाव किये सभी को उपदेश दिये। अपने अनुयायियों पर चैतन्य का प्रभाव इतना गहरा था कि वे उन्हें कृष्ण का ही रूप मानने लगे थे। बंगाल और उड़ीसा में वैष्णव धर्म को लोकप्रिय बनाने में चैतन्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। आर्शीवादी लाल श्रीवास्तव (मध्यकालीन भारतीय संस्कृति) लिखते हैं, "उन्होंने जो उपदेश दिये, वे सीधे जनता के हृदय में उतर गये। पीड़ित मानवता को उनका परमात्मा के प्रति प्रेम का सन्देश मरहम सा लगा, और इसने सिद्ध कर दिया कि मानव हृदय राजनीतिक और सामाजिक विषमताओं के बीच भी ऊँचा उठ सकता है। इसने जीवन को स्फूर्ति, साहित्य को रचनात्मक शक्ति और मानव सम्बन्धों की पवित्रता प्रदान की।

ukeno

नामदेव भक्ति आन्दोलन के महाराष्ट्र के सबसे महान् संत थे। वे जाति से दर्जी थे और पन्द्रहवीं सदी के प्रथम अर्द्धांश में हुए थे। उन्होंने हिन्दू समाज में प्रचलित जाति–पाति और रीतिरिवाजों का खण्डन किया और बिना किसी जाति और धर्म के भेदभाव के अपने शिष्य बनाये। उनके कुछ मुसलमान भी शिष्य थे जो बाद में हिन्दू बन गये थे। अपने समकालीन भक्ति सन्तों की भाँति नामदेव भी एक ईश्वर में आस्था रखते थे और मूर्तिपूजा तथा धार्मिक कर्मकाण्डों के विरूद्ध थे। उनका मानना था कि भगवत प्रेम और भक्ति के द्वारा ही मोक्ष प्राप्त की जा सकती है।

dchj

भक्ति आन्दोलन के संतों मे कबीर ऐसे प्रथम संत हुए जिन्होंने हिन्दू तथा इस्लाम धर्म की एकता पर विशेष बल दिया। कबीर के प्रारम्भिक जीवन के बारे में कोई निश्चित जानकारी नहीं है। कहा जाता है कि वे बनारस की एक विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे, जिसने लोक–लज्जा के भय से उन्हें नवजात अवस्था में एक तालाब के किनारे छोड़ दिया था जहाँ से उन्हें नीरू नामक एक मुसलमान जुलाहा उठाकर ले गया और उसी ने अपने पुत्र की तरह उनका लालन–पालन किया था। कबीर के माता–पिता की तरह उनके जन्म की तिथि के बारे में भी विद्वानों में मतभेद है। लेकिन अधिकांश विद्वानों का यह मानना है कि उनका जन्म 1440 ई० के आसपास हुआ था।

कबीर बचपन से ही विचारशील प्रवृति के थे। बड़े होने पर वे प्रसिद्ध वैष्णव संत रामानन्द के शिष्य बन गये थे और रामानन्द के सबसे क्रान्तिकारी शिष्य माने जाते थे। कबीर गृहस्थ जीवन के विरूद्ध नहीं थे और उन्होंने विवाह किया था। वह वेद तथा कुरान दोनों को स्वीकार नहीं करते थे। वह हिन्दू धर्म और इस्लाम दोनों के व्यर्थ के धार्मिक आडम्बरों और रीति रिवाजों के विरूद्ध थे। वे हिन्दू धर्म में प्रचलित मूर्तिपूजा और जाति–पाति के कट्टर विरोधी थे।

इसी प्रकार वे मुसलमानों में प्रचलित नमाज, रमजान के उपवास और मकबरों तथा कब्रों की पूजा के भी घोर विरोधी थे।

कबीर एक निराकार ईश्वर को मानते थे और ईश्वर की एकता में विश्वास रखते थे। उनका मानना था कि हरि, राम, अल्लाह, रहीम और गोविन्द ईश्वर के ही विभिन्न नाम है। उनके अनुसार ईश्वर न तो मन्दिर में निवास करता है और न ही मस्जिद में। वह न बनारस में और न ही मक्का में निवास करता है बल्कि वह भक्त के हृदय में रहता है। उनका मानना था कि ईश्वर की प्राप्ति कर्मकाण्डों और आडम्बरों से नहीं हो सकती बल्कि वह भक्ति और अविरल मनन से ही हो सकती है और इसके लिए आत्मा सभी प्रकार के पाखण्ड, बेईमानी और बाह्म आडम्बरों से मुक्त होनी चाहिए। कबीर ने हिन्दुओं और मुसलमानों की एकता के लिए भी प्रयत्न किये। उन्होंने गुरू की आवश्यकता पर भी बल दिया। कबीर के उपदेशों का जनसाधारण पर बड़ा प्रभाव पड़ा और अनेक हिन्दू विशेष रूप से निम्न जातियों के हिन्दू और मुसलमान उनके शिष्य बन गये। उन्होंने एक पंथ की स्थापना की जो कबीर पंथ कहलाया और इस पंथ ने अपने गुरू के सिद्धांतों का खूब प्रचार किया।

ukud

कबीर के बाद नानक एक दूसरे प्रमुख निर्गुण संत थे। नानक का जन्म 1469 ई० में एक खत्री परिवार में तलवण्डी में हुआ था जो अब ननकाना के नाम से जाना जाता है तथा पाकिस्तान में शेखूपुरा जिले में है। कबीर की तरह नानक भी गृहस्थ जीवन को आध्यात्मिक उन्नति के बीच बाधक नहीं समझते थे। इसलिए उन्होंने गृहस्थ जीवन का परित्याग नहीं किया और उनके परिवार में उनकी पत्नी और दो पुत्र थे। गृहस्थ जीवन का पालन करते हुए भी वे अपना सारा समय साधना, उपदेशों और मानव सुधार के कार्यों में लगाते थे। उन्होंने बहुत से प्रेरणादायक पदों और गीतों की रचना की जिन्हें बाद में सिक्खों के पाँचवे गुरू अर्जुन ने एक ग्रंथ के रूप में संकलित कर दिया जो 'गुरू ग्रंथ साहिब' के नाम से जाना जाता है।

कबीर की तरह नानक भी वेदों और कुरान को नहीं मानते थे तथा जाति–पाति, रस्म–रिवाज, धार्मिक आडम्बरों, उपवासों, तीर्थ यात्राओं और मूर्ति पूजा के विरोधी थे। उन्होंने मुसलमानों, हिन्दुओं और यहाँ तक कि अछूतों को भी अपना शिष्य बनाया था।

नानक एक निराकार ब्रह्म में आस्था रखते थे। उनका मानना था कि ईश्वर के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण कर उसका नाम जपने से मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है। वे मुक्ति को ही मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानते थे। नानक के उपदेशों में नैतिकता, नम्रता, सत्य, दान और दया को प्रमुख स्थान प्राप्त था। नानक कर्म और पुनर्जन्म में भी विश्वास रखते थे। नानक के शिष्यों ने धीरे–धीरे एक अलग सम्प्रदाय का रूप ग्रहण कर लिया था और कालान्तर में वह सिक्ख धर्म के रूप में परिवर्तित हो गया था।

Hkfä vkUnksyu ds çeq[k fl)kar

भक्ति आन्दोलन के सन्तों ने अपने जो विचार और सिद्धान्त जनता के सामने रखे वे बिल्कुल एक जैसे नहीं थे परंतु फिर भी उनके विचारों में मौलिक समानता विद्यमान थी। इस संतों की रचनाओं का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि इनके निम्नलिखित सिद्धांत एक जैसे थेः–

1. ***ईश्वर की एकता***–भक्ति आन्दोलन के सभी सन्त ईश्वर की एकता में दृढ़ विश्वास रखते थे। उनकी दृष्टि में ईश्वर, अल्लाह, राम, रहीम और विष्णु सब एक थे।

2. ***ईश्वर की भक्ति***–भक्ति आन्दोलन के सभी संत ईश्वर की भक्ति को मुक्ति प्राप्त करने का सफल साधन समझते थे। उनकी भक्ति स्वार्थ रहित और अनन्य श्रद्धा पर आधारित थी। रामानुज का कहना था कि सच्चे मन से ईश्वर की भक्ति करने वाला व्यक्ति जीवन–मरण के बन्धन से छूट जाता है।

3. ***ईश्वर के सम्मुख आत्मसमर्पण की भावना***–इन संतों का यह मानना था कि ईश्वर के सम्मुख पूर्ण रूप से आत्म समर्पण किए बिना ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।

4. ***गुरू की महत्ता में विश्वास***–ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति के लिए संत गुरू की सहायता को आवश्यक समझते थे।

5. ***सामाजिक समानता और भ्रातृत्व***—भक्ति आन्दोलन के सभी संत सामाजिक समानता के समर्थक और जाति प्रथा व छूआछूत के विरोधी थे। उन्होंने जाति प्रथा तथा वर्गभेद का खण्डन किया और प्राणिमात्र की एकता पर बल दिया। वे जातिप्रथा को ईश्वरीय इच्छा के प्रतिकूल समझते थे और सब मनुष्यों को एक ही ईश्वर की सन्तान मानते थे। रामानन्द का कहना था कि—

   "जात—पात पूछे नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि को कोई।"

6. ***मूर्तिपूजा में अविश्वास***—ये संत मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे और मूर्तिपूजा को व्यर्थ समझते थे।

भक्ति आन्दोलन के तत्कालीन हिन्दू धर्म और समाज पर निम्नलिखित प्रभाव हुए—

1. भक्ति आन्दोलन के सन्तों ने हिन्दू समाज में प्रचलित धार्मिक अन्धविश्वासों और कर्मकाण्डों का विरोध किया जिसके फलस्वरूप अन्धविश्वासों और कर्मकाण्डों पर से लोगों का विश्वास उठने लगा और हिन्दू धर्म का रूप स्वस्थ बनने लगा। साथ ही मूर्ति पूजा पर से भी लोगों का विश्वास उठने लगा।
2. चूँकि सभी भक्ति संत जातिगत भेदभाव और ऊँचनीच के विरोधी थे और उन्होंने सभी जातियों में से अपने शिष्य बनाये, इससे निम्नजाति के लोगों की सामाजिक एवं धार्मिक दशा में सुधार हुआ। भक्ति आन्दोलन द्वारा निम्न जाति के हिन्दुओं द्वारा जो इस्लाम धर्म ग्रहण किया जा रहा था, उस पर रोक लगी।
3. भक्ति आन्दोलन से देश में एक नये वातावरण का निर्माण हुआ। मुसलमानों के धार्मिक अत्याचारों से पीड़ित हिन्दुओं के हृदयों को भक्ति की शीतल छाया ने बड़ी राहत पहुँचाई।
4. भक्ति आन्दोलन और उसके सन्तों ने हिन्दू धर्म एवं संस्कृति की रक्षा की ओर यहाँ तक कि अभूतपूर्व राजनैतिक उथल पुथल और अत्याचारों के वातावरण में भी हिन्दुत्व की ज्योति को जलाये रखा। भक्ति आन्दोलन ने हिन्दुओं में असीम उत्साह का संचार किया जिससे वे इस्लाम के धर्म प्रचार तथा धर्म परिवर्तन से अपनी रक्षा कर सके।
5. भक्ति आन्दोलन ने धार्मिक और सामाजिक सहिष्णुता को जन्म दिया। इससे देश में हिन्दू—मुस्लिम एकता का वातावरण निर्मित हुआ।
6. भक्ति आन्दोलन से प्रान्तीय भाषाओं का विकास हुआ। इन भक्तों ने अपने उपदेश स्थानीय भाषाओं में ही दिये। अनेक वैष्णव संतों ने हिन्दी, बंगाली, मराठी, राजस्थानी इत्यादि भाषाओं में विशाल साहित्य की रचना की जिससे प्रान्तीय भाषाओं का विकास हुआ।

Hkkjr e: lQh /ke

इस्लामी रहस्यवाद को ही सूफी धर्म कहा जाता है। सूफी धर्म का भारत में प्रवेश यहाँ दिल्ली सल्तनत की स्थापना होने (1206 ई०) के कई वर्षों पूर्व हो गया था। परंतु दिल्ली सल्तनत की स्थापना के पश्चात् ही बाहरी मुस्लिम देशों से बड़ी संख्या में सूफी भारत में आये और यहाँ विभिन्न भागों में बस गये।

lQh /ke dh mRifÙk

जहाँ तक सूफी धर्म की उत्पत्ति का प्रश्न है, इस बारे में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। डॉ० यूसुफ हुसैन का मानना है कि "सूफी धर्म का जन्म इस्लाम के पक्ष में हुआ था और यह विदेशी विचारों और रस्मों से प्रभावित नहीं हुआ। यद्यपि सूफी धर्म भारत में कई सौ वर्षों तक प्रचलित तो रहा लेकिन वह भारतीय विचारधारा और वातावरण से अछूता रहा।" डॉ० युसूफ हुसैन के इस मत को पूरी तरह से स्वीकार नहीं किया जा सकता। जहाँ तक सूफी धर्म के भारत से बाहर और इस्लाम धर्म से जन्म होने का प्रश्न है इस बारे में निश्चित रूप से तो कुछ नहीं कहा जा सकता किन्तु जहाँ तक भारत में सूफी धर्म के इतिहास का सवाल है,यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह हिन्दू विचारधारा, विश्वास और रीति रिवाजों से बहुत ही प्रभावित हुआ है। उदाहरण के लिए आत्मा तथा परमात्मा के बीच प्रेमिका और प्रेमी जैसे सम्बन्ध होने की बात हिन्दू धर्म की अपनी विशेषता है जिसे कि भारत में सूफियों ने अपना लिया था। इसी प्रकार उपवास करना और शरीर को यातना देना आदि कुछ ऐसी प्रथाएँ थीं जो सूफियों ने हिन्दू धर्म से ग्रहण की थीं। इसी प्रकार चिश्ती सम्प्रदाय (सिलसिले) ने भारत में अपने विकास के प्रारम्भिक चरण में बहुत सी हिन्दू प्रथाएँ और रिवाज

अपना लिये थे। ऐसी प्रथाओं में शेख (खानकाह का प्रधान) को झुककर प्रणाम करना, कमण्डल रखना, नवीन अनुयायियों के सिर का मुण्डन, भक्त मण्डलियाँ (सभा) आदि प्रमुख हैं। इस प्रकार जैसा कि आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव (मध्यकालीन भारतीय संस्कृति) मानते हैं, "भारत से बाहर मुस्लिम देशों में सूफी धर्म का मूल आकार–प्रकार जो भी रहा हो, लेकिन भारत में आने के बाद इसका रूप काफी बदल गया।"

ogknr|y o|tn ¼vkRek ijekRek dh ,drk½ dk fl)kr

सूफी लोग आत्मा और परमात्मा की एकता के सिद्धांत में जिसे वे वहादतुल वुजूद के नाम से पुकारते थे, विश्वास करते थे। इसमें हक को परमात्मा और खल्क को सृष्टि माना गया है। इसका तात्पर्य यह है कि सृष्टि की विभिन्नता में ईश्वर की एकरूपता ही निहीत है और सभी देखे जाने वाले पदार्थों के पीछे वही वास्तविकता है। शेख मुहीउद्दीन इब्नुल अरबी (1165–1240 ई०) ने इस सिद्धांत को जिसका कि उल्लेख फुतुहात–एक–मक्किया नामक ग्रंथ में मिलता है, इन शब्दों में व्यक्त किया है, "ईश्वर के सिवा कुछ नहीं है, ईश्वर के अतिरिक्त वहाँ किसी का अस्तित्व नहीं है, यहाँ तक कि 'वहाँ' जैसा भी कुछ नहीं है और सभी चीजों का सार एक ही है।" डॉ० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव (मध्यकालीन भारतीय संस्कृति) लिखते हैं कि, "सूफी लोग ईश्वर से सीधा सम्पर्क स्थापित करने के लिए आतुर रहते थे और वे आत्मा के परमात्मा में लीन हो जाने की सम्भावना पर विश्वास करते थे। कहा जाता है कि सूफी इस धुन में इतने खो जाते थे कि उन्हें परमात्मा से एक क्षण के लिए भी ध्यान हटाना गवाँरा नहीं होता था।" परमात्मा में लीन हो जाने के इस आदर्श को सूफी मारिफात या वस्ल (एकीकरण) के नाम से पुकारते हैं। परमात्मा में लीन हो जाने की इस यात्रा में उन्हें निम्न 10 अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता था–तौबा (पश्चाताप), वारा (विरक्ति), जुहद (पवित्रता), फक्र (निर्धनता), सब्र (धैर्य), शुक्र (कृतज्ञता), खौफ (भय), रजा (आशा), तबक्कुल (सन्तोष) और रिजा (ईश्वर की इच्छा के प्रति अधीनता)।

सूफियों के दो मुख्य लक्ष्य होते थे– 1. परमात्मा से सीधा बौद्धिक और भावनात्मक सम्पर्क स्थापित करना और 2. इस्लाम एवं मानवता की सेवा करना। यह सेवा केवल मुसलमानों तक ही सीमित नहीं थी बल्कि सूफी सन्तों द्वारा हिन्दुओं और विशेषकर निम्न जातियों के हिन्दूओं को भी इस्लाम का उपदेश दिया जाता था। सूफियों के उपदेशों से प्रभावित होकर अनेक निम्न जाति के हिन्दू मुसलमान हो गये थे और इस प्रकार भारत में इस्लाम के प्रसार में सूफी सन्तों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही थी।

सूफी सन्त खानकाओं में रहते थे। उनके खानकाह और जमैयत खाने आमतौर पर नगर के बाहर हरिजन और निम्न जातियों की बस्तियों के पास हुआ करते थे। ये खानकाह साधारणतः मिट्टी के बने होते थे। इनमें एक या दो कमरे होते थे और घासफूस से छाये रहते थे। जमैयतखाना एक बड़ा सा हाल होता था और यह भी घास फूस से छाया रहता था। सूफी सन्त जमैयतखाना में ही अपने शिष्यों को उपदेश दिया करते थे। सूफी सन्त गृहस्थ जीवन व्यतीत करते थे और उनके पत्नियाँ और बच्चे होते थे। कुछ सूफी सन्त एक से अधिक पत्नियाँ भी रखते थे। उदाहरण के लिए जैसा कि बताया जाता है शेख मुइनुद्दीन चिश्ती के दो पत्नियाँ थीं। सूफी विशेषकर चिश्ती सम्प्रदाय के सूफी गरीबी जीवन व्यतीत करते थे और उनकी आजीविका का मुख्य साधन सर्वसाधारण द्वारा स्वेच्छा से दी गयी भिक्षा होती थी। उनमें से कुछ खेती द्वारा भी जीविका कमाते थे। परन्तु चिश्तियों के विपरीत सुहरार्दी सम्प्रदाय के सूफी सुल्तानों द्वारा दी गयी भेटे स्वीकार करते थे और ठाट–बाट का जीवन व्यतीत करते थे।

e|[; lQh lEçnk;

भारत में सूफी कई सम्प्रदायों में बँटे हुए थे। इनमें चिश्ती, सुहरावर्दी, नक्षबन्दी और कादिरी प्रमुख है। इन सम्प्रदायों को 'सिलसिले' के नाम से पुकारा जाता था। सुहरावर्दी सम्प्रदाय मुख्य रूप से सिन्ध, मुल्तान और पंजाब तक ही सीमित था यद्यपि सुहरावर्दी सन्त दिल्ली और अवध में भी पाये जाते थे। जबकि चिश्ती सम्प्रदाय भारत के अनेक भागों में जैसे अजमेर, राजस्थान के कुछ अन्य नगरों और पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, उड़ीसा तथा दक्षिण के अनेक भागों में फैला हुआ था।

fp'rh lEçnk;

चिश्ती सम्प्रदाय के सूफी सन्त पूर्णतः अपने आप को सुल्तानों, राजनीति और सरकारी सेवा से अलग रखते थे और उनके प्रति घृणा और उदासीनता का भाव रखते थे। अधिकांश चिश्ती सूफी संत अत्यंत दरिद्रता का जीवन व्यतीत करते थे। वे व्यक्तिगत सम्पत्ति को मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में बहुत बड़ी बाधा मानते थे। उदाहरण के लिए शेख मुईनुद्दीन चिश्ती और शेख कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी के अपना स्वयं का कोई घर नहीं था। शेख फरीदगंज–ए–शकर ने जब उनके जीवन के बाद के वर्षों में उनका परिवार बहुत अधिक बढ़ गया तभी अपने परिवार के लिए एक छोटा सा कच्चा घर बनाया था। साधारणतः चिश्ती संतों के घरों में सदैव भूख की स्थिति बनी रहती थी। उनकी जीविका का मुख्य साधन सर्वसाधारण द्वारा दी गयी भेटें होती थी। सम्भवतः 13वीं सदी में हमोदुद्दीन नागौरी ही एकमात्र ऐसे चिश्ती सन्त थे जिन्होंने जीविका के लिए भेटों की बजाय कृषि कार्य करना अधिक उचित माना।

चिश्ती सन्त इच्छाओं का दमन करने के लिए जिनसे कि मनुष्य को कभी सच्चा सुख प्राप्त नहीं होता, भूखे मरना मुख्य आवश्यकता मानते थे। कहा जाता है कि शेख फरीद चौबीस घण्टों के दौरान भोजन के रूप में एक गिलास शर्बत, कुछ मुनक्के और एक ज्वार की रोटी लेते थे। बहुधा चिश्ती सन्तों के पास अपना तन ढकने के लिए पर्याप्त कपड़े भी नहीं होते थे। शेख मुईनुद्दीन चिश्ती अपना शरीर ढकने के लिए केवल मात्र एक कपड़ा प्रयोग करते थे जिसमें कि जगह–जगह पैबन्द लगे हुए होते थे। शेख फरीद अपने फटे हुए कपड़ों में ही बड़ा आध्यात्मिक सुख अनुभव करते थे।

शेख मुईनुद्दीन चिश्ती

मुईनुद्दीन चिश्ती भारत में चिश्ती सम्प्रदाय के प्रथम सन्त थे। उनकी दरगाह अजमेर में है और वे ख्वाजा के नाम से जाने जाते हैं। ऐसा माना जाता है कि उनका जन्म 1141 ई० के लगभग पूर्वी ईरान में स्थित सिजिस्तान नामक प्रान्त में हुआ था। वे अपनी युवावस्था में ही भारत पर मुहम्मद गौरी के आक्रमण तथा तराइन के द्वितीय युद्ध में अजमेर के चौहान शासक पृथ्वीराज तृतीय की पराजय के पूर्व ही भारत आ गये थे और कुछ समय तक लाहौर में रहने के बाद फिर अजमेर आकर वहीं स्थायी रूप से बस गये थे। शेख मुईनुद्दीन ने दो विवाह किये थे और कहा जाता है कि उनकी एक पत्नी हिन्दू और दूसरी मुसलमान थी। अजमेर में ही 1236 ई० में उनकी मृत्यु हो गई थी। ख्वाजा का मानना था कि ईश्वर के समक्ष सभी बराबर हैं और मानवता की सेवा करना ही ईश्वर की सर्वोच्च भक्ति है। उन्होंने हिन्दुओं के प्रति बड़ा ही उदार दृष्टिकोण अपनाया था। यही कारण था कि वे हिन्दू और मुसलमानों में समान रूप से प्रिय थे।

शेख हमीदुद्दीन नागौरी

शेख हमीदुद्दीन नागौरी मुईनुद्दीन चिश्ती के मुख्य शिष्य थे। मुईनुद्दीन चिश्ती ने उनकी साधना तथा भक्ति से प्रभावित होकर उनको सुल्तान–उत–तारिकीन (सूफियों के सुल्तान) की उपाधि दी थी। वे भी मुईनुद्दीन चिश्ती की तरह गृहस्थ जीवन व्यतीत करते थे और अपनी पत्नी सहित नागौर के पास सुवाल नामक गाँव में एक कच्ची झोंपड़ी में रहते थे। अपनी जीविका के लिए वे एक छोटे से भूभाग के खेत में खेती करते थे और एक साधारण ग्रामीण की तरह रहते थे। भारत में हमीदुद्दीन नागौरी ही एकमात्र ऐसे चिश्ती संत थे जो जीविका के लिए सर्वसाधारण से किसी भी प्रकार की भेंट स्वीकार नहीं करते थे और कृषिकार्य से ही अपना काम चलाते थे। उनकी मृत्यु 1276 ई० में नागौर में हुई।?

कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी

कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी शेख मुईनुद्दीन चिश्ती के प्रमुख शिष्य और भारत में चिश्ती सम्प्रदाय के एक प्रसिद्ध सूफी संत थे। उनका जन्म फरगना के औस नामक स्थान पर हुआ था। किन्तु वे इल्तुतमिश के शासनकाल में दिल्ली में आकर बस गये थे। सुल्तान इल्तुतमिश उनका बड़ा सम्मान करता था और उन्हें अपना गुरू मानता था। उसने उनसे अपने महल के ही पास रहने की प्रार्थना की थी किन्तु उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया और शहर के बाहर एक खानकाह में रहने लगे। इल्तुतमिश ने उन्हें शेख–उल–इस्लाम का पद स्वीकार करने की प्रार्थना की तो उन्होंने इसे भी स्वीकार करने से मना कर दिया। शेख कुतुबुद्दीन काकी रहस्यवादी गीतों के बड़े प्रेमी थे। उनकी मृत्यु 1235 ई० में दिल्ली में हुई।

शेख फरीदुद्दीन गंज–ए–शिकार

शेख फरीदुद्दीन शेख कुतुबुद्दीन काकी के सबसे प्रिय शिष्य थे। उनका जन्म मुल्तान के पास कहिवाल नामक जगह पर 1175 ई० में हुआ था। वे छोटी उम्र में ही शेख कुतुबुद्दीन काकी के शिष्य हो गये थे। बाद में वे पहले कुछ समय हाँसी में रहे और फिर वहाँ से अजोधन चले गये और वहीं स्थायी रूप से बस गये थे। अजोधन में ही 1265 ई० में उनकी मृत्यु हुई और वहीं उन्हें दफना दिया गया। जैसा कि सियारूल औलिया से हमें जानकारी मिलती है शेख फरीदुद्दीन के कई पत्नियाँ और सन्तानें थीं और वे बड़ा ही दरिद्रता का जीवन व्यतीत करते थे तथा उनकी सदैव ही भूखों मरने की नौबत बनी रहती थी।

शेख फरीदुद्दीन जनसाधारण में शेख फरीद के नाम से प्रसिद्ध थे। उन्होंने अनेक शिष्यों को शिक्षा दी थी और बहुत से खानकाह स्थापित किये थे। उनके मुख्य शिष्यों में शेख निजामुद्दीन औलिया सर्वाधिक प्रसिद्ध थे। शेख फरीद ने हाँसी और अजोधन में सूफी धर्म का प्रचार किया। ऐसा माना जाता है कि उन्हीं के प्रयत्नों से चिश्ती सम्प्रदाय एक अखिल भारतीय सम्प्रदाय बन गया था।

निजामुद्दीन औलिया

शेख निजामुद्दीन औलिया शेख फरीद के सबसे मुख्य शिष्य थे। उनका जन्म 1236 ई० में बदायूँ में हुआ था। वे बीस वर्ष की आयु में अजोधन आ गये और यहीं शेख फरीद के शिष्य बन गये। 1258 ई० में वे अजोधन से दिल्ली आये और वहाँ गयासपुर में उस स्थान पर बस गये जहाँ कि आजकल उनकी दरगाह स्थित है। 1265 ई० में उनके गुरू शेख फरीद ने उन्हें अपना खिलाफतनामा बख्शा और चिश्ती सम्प्रदाय के सिद्धांतों का प्रचार करने का आदेश दिया जिसे उन्होंने बड़ी सफलता से पूरा किया। इतिहासकार जियाउद्दीन बरनी (तारीखे फीरोजशाही) लिखता है कि, "शेख निजामुद्दीन ने अपने द्वार सभी लोगों के लिए खोल दिये थे और उन्होंने अमीरों तथा सामान्य व्यक्तियों, धनी तथा निर्धनों, शिक्षितों और अशिक्षितों, शहरियों और देहातियों, सैनिकों तथा सेनानायकों और स्वतंत्र व्यक्तियों तथा दासों सभी को अपना शिष्य बनाया था। ये लोग बहुत सी अनुचित बातों से दूर रहते थे क्योंकि वे स्वयं को शेख का शिष्य मानते थे। जनसाधारण का झुकाव मजहब और नमाज की ओर हो गया था और अनेक स्त्री–पुरूष, युवक और वृद्ध, दुकानदार और नौकर, बच्चे और गुलाम सभी उनकी खानकाह में नमाज़ पढ़ने आते थे। बहुत से लोग जो प्रायः शेख के दर्शनों को आते थे, नियमानुसार अपनी चश्त और इशराक की नमाज़ पढ़ते थे।"

निजामुद्दीन औलिया ने अपने जीवनकाल में बड़ी ख्याति प्राप्त की और वे महबूबे इलाही (अल्लाह के प्रिय) के नाम से प्रसिद्ध हो गये। उनके प्रचार कार्य ने भारत में चिश्ती सम्प्रदाय को लोकप्रिय बनाने में बहुत योगदान दिया। निजामुद्दीन औलिया सुल्तान नासिरूद्दीन महमूद से लेकर सुल्तान गयासुद्दीन तुगलक तक दिल्ली के सात सुल्तानों के समकालीन थे किन्तु वे इनमें से किसी के भी दरबार में कभी नहीं गये। कहा जाता है कि सुल्तान जलालुद्दीन खलजी शेख निजामुद्दीन से भेंट करने के लिए बड़ा उत्सुक था किन्तु शेख ने उससे मिलने से इन्कार कर दिया था। सुल्तान कुतुबुद्दीन मुबारक खलजी ने जब उनको दरबार में उपस्थित होने का आदेश दिया तो उन्होंने इस आदेश को मानने से इन्कार कर दिया।

lqgjkonÊ lQh lEçnk;&cgkmíhu tdkfj;k

भारत में चिश्ती सम्प्रदाय के बाद सुहरावर्दी सम्प्रदाय दूसरा प्रमुख सूफी सम्प्रदाय था। इस सम्प्रदाय का प्रसार मुख्य रूप से उत्तर–पश्चिम भारत में हुआ था। इस सम्प्रदाय के संस्थापक शेख शिहाबुद्दीन सुहरावर्दी थे। भारत में उनके अनेकों शिष्य थे जिनमें मुल्तान के शेख बहाउद्दीन जकारिया विशेष प्रसिद्ध थे। वास्तव में भारत में सुहरावर्दी सम्प्रदाय को संगठित करने का श्रेय बहाउद्दीन जकारिया को ही है। उनका जन्म मुल्तान के समीप कोट अरोर नामक स्थान पर 1182–83 ई० में हुआ था। वे युवावस्था में ही अध्ययन के उद्देश्य से इस्लामी शिक्षा के केन्द्र खुरासान, बगदाद, बुखारा, मदीना आदि का भ्रमण कर चुके थे। बगदाद में वे शेख शिहाबुद्दीन सुराहवर्दी से मिले थे और वहीं वे उनके शिष्य बन गये थे। बाद में अपने गुरू के निर्देशानुसार उन्होंने सुल्तान में एक खानकाह स्थापित किया था और वहीं रहकर काफी समय तक वे सुहरावर्दी सम्प्रदाय के प्रसार के लिए कार्य करते रहे थे। यहीं 1262 ई० में उनकी मृत्यु हो गयी।

बहाउद्दीन जकारिया की गिनती भारत में 13वीं शताब्दी के बहुत ही प्रभावशाली सूफी सन्त के रूप में होती है। चिश्ती सन्तों की तरह वे निर्धनता का जीवन जीने और शरीर को यातनाएँ देने में विश्वास नहीं करते थे, बल्कि वे एक आरामदेह और संतुलित जीवन व्यतीत करने में विश्वास रखते थे। वे आत्मदमन और उपवासों में अधिक आस्था नहीं रखते थे। किन्तु वे इस्लाम के नियमों का दृढ़ता से पालन करने में विश्वास रखते थे। बहाउद्दीन जकारिया धन के संग्रह को अनुचित नहीं मानते थे। उन्होंने स्वयं ने बड़े पैमाने पर धन का संग्रह किया था। चिश्ती सन्तों के विपरीत वे अपने समय के राजनीतिक मामलों में भी भाग लिया करते थे। यही कारण था कि बहुत से लोग और विशेष रूप से उच्च वर्ग के लोग उनके अनुयायी बन गये थे। उन्होंने सुहरावर्दी सम्प्रदाय को चिश्ती सम्प्रदाय से बिल्कुल भिन्न व्यवस्था पर संगठित किया था।

शेख सुद्रद्दीन आरिफ

शेख बहाउद्दीन जकारिया की मृत्यु के बाद उनके पुत्र शेख सुद्रद्दीन आरिफ उनके उत्तराधिकारी हुए और मुल्तान में उनका स्थान ग्रहण किया जबकि उनके शिष्य सैय्यद जलालुद्दीन सुर्ख बुखारी ने उच्छ में एक प्रभावशाली सुहरावर्दी सूफी केन्द्र की स्थापना की। इस प्रकार भारत में सुहरावर्दी सम्प्रदाय मुल्तान और उच्छ की दो शाखाओं में विभाजित हो गया। बहाउद्दीन जकारिया के पश्चात् सुहरावर्दी सूफियों ने वंशानुगत उत्तराधिकार का नियम अपना लिया। सुद्रद्दीन आरिफ मुल्तान की सुहरावर्दी शाखा के लगभग 23 वर्ष तक प्रधान रहे। धार्मिक एवं राजनीतिक मामलों में उनके विचार अपने पिता से मौलिक रूप से भिन्न थे। अपने पिता के विपरीत धन संचय को वे अपने आध्यात्मिक विकास में बाधक मानते थे। इसलिए कहा जाता है कि अपने पिता की सम्पत्ति में से जो हिस्सा उनको प्राप्त हुआ था, उसमें से उन्होंने 7 लाख टंका दान कर दिया था। यही नहीं उन्होंने खानकाह के जीवन में भी सादगी ला दी थी।

सैय्यद जलालुद्दीन सुर्ख बुखारी

जलालुद्दीन सुर्ख बुखारा के निवासी थे। वहाँ से वे मुल्तान आये और यहाँ बहाउद्दीन जकारिया के शिष्य बन गये थे। जलालुद्दीन सुर्ख बड़े प्रभावशाली सूफी सन्त थे। उनके विचारों से प्रभावित होकर उच्छ के बहुत से हिन्दुओं ने इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया था। उनके नेतृत्व में सुहरावर्दी सम्प्रदाय की उच्छ शाखा ने सिन्ध के राजनीतिक और धार्मिक जीवन में बहुत महत्त्व प्राप्त कर लिया था।

सैय्यद जलालुद्दीन मखदूम–ए–जहानियाँ (1308–1383 ई०)

सैय्यद जलालुद्दीन मखदूम–ए–जहानियाँ सैय्यद जलालुद्दीन सुर्ख बुखारी के पौत्र थे। उनकी गिनती अपने समय के महान् सुहरावर्दी सन्तों में की जाती थी। उन्होंने भारत से बाहर अनेक इस्लामी देशों की यात्रा की थी और वहाँ वे अपने गुरू के बहुत से सूफी सन्तों के सम्पर्क में आये थे। मुहम्मद बिन तुगलक ने उनके विचारों से प्रभावित होकर उन्हें शेख–उल–इस्लाम के पद पर नियुक्त कर दिया था। मुहम्मद बिन तुगलक के बाद उसका उत्तराधिकारी फीरोज तुगलक भी उनका बड़ा सम्मान करता था।

शेख रूकनुद्दीन अबुल फथ

सद्रुद्दीन आरिफ की मृत्यु के बाद उनके पुत्र रूकनुद्दीन अबुल फथ सुहरावर्दी सम्प्रदाय की मुल्तान शाखा के प्रधान बने। उन्होंने सुहरावर्दी सम्प्रदाय को लोकप्रिय बनाने और उसका प्रचार करने के लिए बहुत कार्य किया। आधुनिक विद्वानों का मत है कि सुहरावर्दी सम्प्रदाय के इतिहास में रूकनुद्दीन को वही स्थान प्राप्त है जो चिश्ती सम्प्रदाय में निजामुद्दीन औलिया का है। उन्होंने लगभग आधी सदी तक सुहरावर्दी सम्प्रदाय के विचारों का खूब प्रचार किया। जियाउद्दीन बरनी लिखता है कि सिन्ध की समस्त जनता उनका खूब सम्मान करती थी और अनेकों उलेमा तक उनके विचारों से प्रभावित होकर उनके शिष्य बन गये थे।

dkfnjh lEçnk;

कादिरी सम्प्रदाय की स्थापना बगदाद के शेख अब्दुर कादिर जिलानी के द्वारा 12वीं शताब्दी में की गयी थी। भारत में इस सम्प्रदाय के प्रथम सन्त शाह नियामतुल्ला और नासिरूद्दीन मुहम्मद जिलानी थे और वे 15वीं शताब्दी के मध्य में हुए थे। मुहम्मद जिलानी सिन्ध में उच्छ में बस गये थे।

मुगलकाल में शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह कादिरी सम्प्रदाय का अनुयायी बन गया था और उसने कादिरी सम्प्रदाय के सूफी संत मिया मीर से लाहौर में भेंट भी की थी। दारा द्वारा कादिरी सम्प्रदाय से ही सूफी धर्म के बारे में ज्ञान प्राप्त किया और सूफियों पर उसने दो स्वतंत्र ग्रंथों की रचना की थी।

uD'kcUnh lEçnk;

नक्शबन्दी सम्प्रदाय की गिनती भी एक प्रमुख सूफी सम्प्रदाय के रूप में की जाती थी किन्तु भारत में इसका प्रवेश बहुत बाद में मुगल काल में हुआ। भारत में नक्शबन्दी सम्प्रदाय का प्रचार ख्वाजा बकी बिल्लाह (1563–1603 ई०) द्वारा किया गया था। वे इस सम्प्रदाय के जन्मदाता ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबन्दी (1317–1389 ई०) के सातवें उत्तराधिकारी थे। इस सम्प्रदाय के अनुयायी सनातन इस्लाम में आस्था रखते थे और इस्लाम धर्म में किसी भी प्रकार के परिवर्तन किये जाने के विरोधी थे।

सल्तनत काल में अनेक ऐसे सुल्तान हुए जो केवल कुशल सैनिक और योद्धा ही नहीं थे बल्कि वे कला और साहित्य के पोषक भी थे। उन्होंने कला विशेषकर स्थापत्य कला और साहित्य को जो संरक्षण प्रदान किया उसके फलस्वरूप सल्तनत काल में स्थापत्य कला और साहित्य के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हुई।

LFkkiR; dyk

सन्तनत काल में अनेक ऐसे सुल्तान हुए जो केवल कुशल सैनिक और योद्धा ही नहीं थे बल्कि वे कला और साहित्य के पोषक भी थे। उन्होंने कला विशेषकर स्थापत्य कला और साहित्य को जो संरक्षण प्रदात किया उसके फलस्वरूप सल्तनत काल में स्थापत्य कला और साहित्य के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हुई।

दिल्ली के लगभग सभी सुल्तानों की भवन निर्माण में बहुत रूचि थी। तुर्कों की भारत विजय के समय तक मध्य एशिया में स्थापत्य कला की एक विशिष्ट शैली विकसित हो चुकी थी। यह शैली ट्रांस–आक्सियाना, ईरान, अफगानिस्तान, इराक, मिश्र, उत्तरी अफ्रीका तथा दक्षिणी पश्चिमी यूरोप की स्थानीय शैलियों और अरब की मुस्लिम शैली के समन्वय से बनी थी। इस शैली को सारसैनिक या इस्लामिक शैली के नाम से पुकारा जाता है। 12वीं सदी के अन्तिम दशक में तुर्की विजेता स्थापत्य कला की यही शैली अपने साथ भारत लाये थे। इस विदेशी स्थापत्य कला की मुख्य विशेषताएँ चार थीं– 1. गुम्बद, 2. ऊँची–ऊँची मीनारे, 3. मेहराब तथा 4. मेहराबी डाटदार छत। किंतु तुर्कों को भारत में एक बहुत ही विकसित स्थापत्य कला की शैली मिली। इस शैली की मुख्य विशेषताएँ थीं– (क) पटी हुई छतें, (ख) आगे निकले हुए ब्रेकेट, (ग) शिखर, (घ) घोड़ियों पर आधारित मेहराब, (ङ) चौड़े छज्जे और (च) छोटे–छोटे गोल और चौकोर खम्भे।

किन्तु चूंकि मुसलमान विजेता थे, इसलिए उन्होंने यहाँ इमारतों के निर्माण में इस्लामिक स्थापत्य कला का ही अनुसरण करने का प्रयत्न किया। परन्तु वे अपनी मध्य एशिया की इमारतों के ज्यों के त्यों नमूने यहाँ नहीं बना सके। उन्होंने जो इमारतें यहाँ बनवायी उन्हें वे स्थानीय स्थापत्य कला के प्रभाव से बचा नहीं सके और इस प्रकार दोनों शैलियों के सम्मिश्रण से एक नयी स्थापत्य कला का विकास हुआ जिसे हिन्दू–मुस्लिम शैली के नाम से पुकारा जाता है। मुस्लिम और भारतीय स्थापत्य कला के इस समन्वय में जिन तत्त्वों ने बड़ा योग दिया वे निम्नलिखित थे– 1. मुस्लिम शासकों को भारतीय कारीगरों और संगतराशों से काम लेना पड़ा। इन लोगों की इमारतों की रूपरेखा और उनकी रचना के तरीकों के बारे में अपनी अलग ही धारणाएँ थी जो सदियों से यहाँ प्रचलन में थीं। इसलिए उन्होंने तुर्की शासकों द्वारा बनायी गयी इमारतों में सजावट और बनावट की बहुत सी भारतीय परम्पराओं का समावेश कर दिया। 2. प्रारम्भिक तुर्की विजेताओं ने बहुत से हिन्दू और जैन मन्दिरों को गिरवाकर उनकी सामग्री से ही अपनी मस्जिदों, मकबरों और महलों का निर्माण करवाया था। 3. हिन्दू और मुस्लिम शैलियों में बहुत विभिन्नता होते हुए भी दोनों ही इमारतों में कुछ बातें मिलती जुलती थीं। इसलिए कभी–कभी तुर्की सुल्तानों ने हिन्दू तथा जैन मन्दिरों की चौरस छतों को तोड़कर

उनके स्थान पर गुम्बद तथा मीनारें बनाकर उन्हें मस्जिदों का रूप दे दिया। सर जॉन मार्शल के शब्दों में, "हिन्दू मन्दिर और मुस्लिम मस्जिद की एक मिलती जुलती बात यह थी कि दोनों ही में एक खुला आँगन होता था जिसके चारों ओर कमरे तथा स्तम्भों की पंक्तियाँ बनी होती थीं। इस योजना पर बने हुए मन्दिरों को सरलता से मस्जिदों में बदला जा सकता था। इसलिए विजेताओं ने सर्वप्रथम उनका इसी कार्य के लिए उपयोग किया। फिर एक ओर आधारभूत विशेषता जिसने दोनों शैलियों के बीच कड़ी का काम किया, वह यह थी कि हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही कलाएँ सजावट प्रधान थीं। इन्हीं कारणों से स्थानीय हिन्दू कला मुस्लिम स्थापत्य कला को प्रभावित करती रही।

nkl lYrkuk dh bekjr

स्थापत्य के क्षेत्र में सल्तनत काल की पहली कृति दिल्ली की कुव्वत–उल–इस्लाम नामक मस्जिद थी जिसका निर्माण कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा उस समय करवाया गया था जबकि वह मुहम्मद गौरी द्वारा जीते गये भारतीय प्रदेशों के गवर्नर के रूप में कार्य कर रहा था। इस मस्जिद का निर्माण 1195 ई० में प्रारम्भ हुआ था और 1199 ई० में समाप्त हो गया था। यह एक हिन्दू मन्दिर के चबूतरे पर मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा गिराये गये अनेक हिन्दू और जैन मन्दिरों की सामग्री से बनायी गयी थी। इस मस्जिद के बहुत से खम्भे, शहतीर और खम्भों के शिरोभाग हिन्दू मन्दिरों को तोड़कर प्राप्त किये गये थे और उन्हें शीघ्रता से काट–छाँटकर मुस्लिम मस्जिद की आवश्यकताओं के अनुसार बना लिया गया था। इसमें इस्लामी शैली की केवल एक ही विशेषता है–सामने एक पत्थर की जाली है जिस पर मुस्लिम ढंग की डिजाइनें तथा सजावट है और कुरान की आयतें खुदी हुई हैं। कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा बनायी गयी एक अन्य इमारत अजमेर में स्थित अढ़ाई दिन का झोंपड़ा है। यह भी एक मस्जिद है। यह इमारत पहले एक संस्कृत विद्यालय था जिसका निर्माण चौहान शासक विग्रहराज चतुर्थ ने करवाया था। कुतुबुद्दीन ने इसका ऊपरी भाग गिराकर गुम्बज और मेहराबें बनाकर इसे मस्जिद का रूप दे दिया था। शैली और रचना में अढ़ाई दिन का झोंपड़ा कुव्वत–उल–इस्लाम मस्जिद से मिलता जुलता है। लेकिन यह उसकी अपेक्षा अधिक सुन्दर और विशाल है। कुतुबुद्दीन ऐबक के काल की तीसरी इमारत कुतुबुमीनार है। इसका निर्माण कार्य कुतुबुद्दीन ऐबक के समय में ही प्रारम्भ हुआ किन्तु वह इसकी केवल पहली मंजिल ही बनवा सका और बाद में सुल्तान इल्तुतमिश (1211–1236 ई०) ने इसे पूरा बनवाया। ऐसा माना जाता है कि इल्तुतमिश ने अपने गुरू दिल्ली के प्रसिद्ध चिश्ती सूफी सन्त कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी के नाम पर इस इमारत का नाम कुतुबमीनार रखा था। इसकी कुल ऊँचाई 250 फीट है और इसमें पाँच मंजिलें है। इसकी रूपरेखा और रचना पूर्णरूप से इस्लामिक है।

कुतुबमीनार को पूर्ण कराने के अतिरिक्त इल्तुतमिश ने कुछ और इमारतों का भी निर्माण कराया। उनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण इमारत उसके ज्येष्ठ पुत्र नासिरूद्दीन महमूद का मकबरा है जो सुल्तान गढ़ी के नाम से प्रसिद्ध है। यह मकबरा कुतुबमीनार से लगभग तीन मील दूर मलकापुर में स्थित है और इसे इल्तुतमिश ने 1231–32 ई० में बनाया था। भारत में तुर्की द्वारा निर्मित यह पहला मकबरा था और इसीलिए कुतुबमीनार के विपरीत स्थापत्य सम्बन्धी ब्यौरों की बातों तथा सजावट की दृष्टि से यह हिन्दू शैली के अधिक निकट है। अन्य किसी मकबरे में हिन्दू शैली का इतना प्रभाव नहीं दिखायी देता जितना इस मकबरे में मिलता है। इनके अतिरिक्त इल्तुतमिश ने और भी कई इमारतों का निर्माण कराया था जिनमें हौज–ए–शम्सी, शम्सी ईदगाह, बदायूँ की जामा मस्जिद और नागौर में स्थित अतारकिन का दरवाजा प्रमुख हैं।

इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद दास वंश के सुल्तानों के समय में जिन इमारतों का निर्माण हुआ उनमें प्रमुख इल्तुतमिश का ही मकबरा है। यह लाल पत्थर का बना हुआ है और कुव्वत–उल–इस्लाम मस्जिद के पीछे स्थित है। इल्तुतमिश के इस मकबरे की सल्तनत काल के प्रारम्भिक काल में बनी अत्यंत सजावट–पूर्ण इमारतों में गिनती होती है। किन्तु इसकी सजावट को देखकर ऐसा लगता है कि यह सजावट आवश्यकता से अधिक कुछ कुनियोजित और निर्जीव सी है। बलबन द्वारा अपने लिए बनवाया गया लाल महल नामक भवन और दिल्ली में स्थित उसका मकबरा इस काल की अन्य महत्त्वपूर्ण इमारतें है। बलबन का मकबरा शुद्ध इस्लामिक शैली पर बना हुआ है और इसके मेहराब भारत में तुर्की सुल्तानों के समय में बनायी गयी इमारतों के मेहराबों में सर्वोत्तम हैं।

f[ky th dky dh bekjr

अलाउद्दीन खिलजी के समय में सल्तनतकालीन स्थापत्य कला के क्षेत्र में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। वह महान् निर्माता था। उसने अनेक इमारतों का निर्माण करवाया जिनमें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं–अलाई दरवाजा तथा जमैयतखाना मस्जिद। अलाई दरवाजा दिल्ली में कुतुबमीनार के पास स्थित है। यह 1310–11 ई० में बनकर पूरा हुआ था। यह एक वर्गाकार बड़ा कक्ष है जिसके ऊपर एक गुम्बद है। इसकी चारों दीवारों में एक मेहराबदार दरवाजा है। सारी इमारत लाल पत्थर की बनी हुई है लेकिन सजावट के लिए सफेद संगमरमर की पट्टियों का प्रयोग किया गया है और बड़ी ही सुन्दरता से दीवारों पर कुरान की आयतें लिखी हुई हैं। जमैयतखाना मस्जिद दिल्ली में ही निजामुद्दीन औलिया की दरगाह के पास बनी हुई है। भारत में निर्मित मस्जिदों में यह पहली ऐसी मस्जिद है जो पूर्णरूप से मुस्लिम आदर्श पर बनी हुई है। अलाई दरवाजा और जमैयतखाना मस्जिद मूलरूप से एक ही नमूने पर बने हुए हैं और दोनों में इस्लामी स्थापत्य कला के तत्त्वों की प्रधानता है। इनके अतिरिक्त अलाउद्दीन ने दिल्ली के पास सीरी नामक एक नया नगर भी बसाया था। सीरी नगर कुतुब क्षेत्र के उत्तर में स्थित था और इसकी नींव 1303 ई० में डाली गयी थी। सीरी नगर में ही उसने हजारसितून (हजार खम्भोंवाला) नामक महल बनवाया था। सीरी नगर के पश्चिमी कोने पर उसने हौज खास नामक एक विशाल तालाब भी खुदवाया था जो लगभग 700 एकड़ भूमि के विशाल क्षेत्र में फैला हुआ था।

rqxyd dkyhu bekjr

तुगलक काल में स्थापत्य कला के आदर्शों और शैली दोनों में ही महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए और दास तथा खलजी युग की सजावट तथा वैभव का स्थान इस्लामी सादगी ने ले लिया। इस परिवर्तन का कारण सम्भवतः तुगलक सुल्तानों के पास धन का अभाव होना और उनका धार्मिक विचारों तथा रूचि में अत्यंत कट्टर होना था। सर जॉन मार्शल इस परिवर्तन का एक और ही कारण बताते हैं। वे लिखते हैं कि जब से मुहम्मद तुगलक दिल्ली को लगभग उजाड़कर वहाँ की सारी जनता को जबर्दस्ती दौलताबाद ले गया था तब से वहाँ कुशल कारीगरों का अभाव हो गया था। इन सब कारणों के ही परिणामस्वरूप तुगलक सुल्तानों की इमारतें खिलजियों की इमारतों की तुलना में कम सुन्दर और कम कलात्मक थीं।

गियासुद्दीन तुगलक ने जो इमारतें बनायीं उनमें दो बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। ये हैं तुगलकाबाद नगर और उसका अपना स्वयं का मकबरा तुगलकाबाद कुतुबक्षेत्र के पूर्व में बसाया गया था और यहीं उसने एक महल भी बनवाया था। इस महल के बारे में इब्नेबतूता लिखता है कि, "गियासुद्दीन का बड़ा महल सुनहरी ईंटों से बना था और जब सूर्योदय होता था तो वह इतनी तेजी से चमकता था कि किसी की उस पर आँख नहीं ठहरती थी।" अब यह नगर और महल केवल खण्डर मात्र ही रह गये हैं। मार्शल का मानना है कि "कुछ ही पुराने किलों के खण्डहर तुगलकाबाद के खण्डहरों से अधिक प्रभावोत्पादक होगें।" गियासुद्दीन तुगलक का मकबरा तुगलकाबाद नगर की चार दीवारी के भीतर ही बना हुआ है। यह लाल पत्थर का बना हुआ है और सुन्दरता के लिए कहीं कहीं इसमें संगमरमर की पट्टियाँ जड़ी हुई हैं। इसका पूरा विशाल गुम्बज संगमरमर का बना हुआ है। मार्शल लिखते हैं कि "इस बनावट का और विशेषकर चमकदार विशाल गुम्बज का प्रभाव यह पड़ा है कि इमारत में कुछ हल्कापन और विविधता आ गयी है। लेकिन फिर भी इसकी पक्की दीवारों और मजबूत आनुपातिक बनावट से इसकी सादगी और मजबूती का ही अनुमान होता है।"

मुहम्मद तुगलक द्वारा कई इमारतों के बनाये जाने का उल्लेख मिलता है किन्तु ये सभी सम्भवतः मामूली सामग्री से बनाये गये प्रतीत होते हैं क्योंकि अब इनमें से कोई भी इमारत उपलब्ध नहीं है। तुगलक सुल्तानों में फीरोज तुगलक (1351–88 ई०) को सबसे बड़ा निर्माता माना जाता है। उसने अनेक किलों, मस्जिदों, नहरों और मकबरों का निर्माण करवाया। दिल्ली में हौज खास के पास उसने एक सुन्दर दुमंजिला मदरसा बनाया जो फीरोजी मदरसा के नाम से जाना जाता था। उसने अनेक शहर भी बसाये जिनमें हिसार फिरोजा, जौनपुर, फीरोजपुर (बदायूँ के पास), फतेहाबाद प्रमुख हैं। उसने दिल्ली में कोटला फीरोजशाह नाम से एक किला भी बनवाया था जिसके अब खण्डहर मात्र ही रह गये हैं।

फीरोज तुगलक के प्रख्यात वजीर खानेजहाँ तिलंगानी का मकबरा जो निजामुद्दीन औलिया की दरगाह के दक्षिण में बना हुआ है, तुगलक काल की एक अन्य प्रसिद्ध इमारत है। इस मकबरे का निर्माण उसके पुत्र खानेजहाँ जौनाशाह ने 1370–71 ई० में करवाया था। कहा जाता है कि यह मकबरा जेरूसलम के 'डोम ऑफ दी रॉक' जैसा लगता है। तुगलक काल की एक अन्य महत्त्वपूर्ण इमारत कबीरूद्दीन औलिया का मकबरा है जो लाल गुम्बद के नाम से प्रसिद्ध है। इस मकबरे का निर्माण सुल्तान नासिरूद्दीन महमूदशाह तुगलक (1383–92 ई०) के शासनकाल में हुआ था।

l¸;n vkj yknh lYrkuk dh bekjr

सैय्यद वंश और लोदी वंश के समय में जो इमारतें बनायी गयीं उनमें मकबरे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन मकबरों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम तो वे मकबरे जो कि खानेजहाँ तिलंगानी के मकबरे की तरह अठपहला योजना पर बनाये गये थे। अठपहला योजना पर इस काल के बने हुए मकबरों में मुबारकशाह सैय्यद, मुहम्मदशाह सैय्यद और सिकन्दर लोदी के मकबरे प्रमुख हैं। मुबारकशाह और मुहम्मदशाह सैय्यद के मकबरे तिलंगानी के मकबरे से भी अधिक अच्छे बने हुए हैं। सिकन्दर लोदी का मकबरा मुहम्मदशाह सैय्यद के मकबरे के नमूने पर ही 1517 ई० में बनाया गया था। इसके चारों ओर चार दीवारी बनी हुई है और चारों कोनों पर बुर्जिया हैं। इसकी सजावट को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए इसमें जो मुलम्मेदार टाइल लगाये गये हैं वे इसकी अपनी विशेषता है। इसकी एक अन्य विशेषता इसमें दोहरे गुम्बद का प्रयोग है। इस प्रकार सिकन्दर लोदी का मकबरा दो बातों के लिए महत्त्वपूर्ण है, एक तो दुहरे गुम्बद के प्रयोग के लिए और दूसरे चारदीवारी से घिरे सहन की विशालता और उसकी अर्द्ध सजावट के लिए। इन दोनों ही बातों में इसने मुगलकाल के मकबरों का पथ–प्रदर्शन किया है।

वर्गाकार योजना के आधार पर इस काल में जो मकबरे बनाये गये उनमें महत्त्वपूर्ण हैं, बड़ा खाँ का गुम्बद, छोटे खाँ का गुम्बद, बड़ा गुम्बद, शिहाबुद्दीन ताजखाँ का मकबरा और दादी का गुम्बद। ये सभी मकबरे 15वीं सदी में बनाये गये थे और साधारणतया अठपहला मकबरों से अधिक ऊँचे हैं। लेकिन इन मकबरों में अठपहला मकबरों के गम्भीर सौंदर्य का अभाव है।

लोदी सुल्तानों के समय में निर्मित मस्जिदों में मोठ की मस्जिद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका निर्माण 16वीं सदी के प्रारम्भ में सिकन्दर लोदी के वजीर मियां भुवा के द्वारा करवाया गया था। सर जॉन मार्शल का मानना है कि, "लोदियों की स्थापत्य कला में जो कुछ भी सर्वश्रेष्ठ है उसका संक्षिप्त रूप मोठ की मस्जिद में विद्यमान है। इसमें स्वतंत्र कल्पना, डिजाइन की स्पष्ट विविधता, प्रकाश और साँचे तथा रूपरेखा और रंग के समन्वय का जो प्रदर्शन है वह इसको इस्लामिक कला के सम्पूर्ण क्षेत्र में सर्वाधिक ओजस्वी और सुन्दर इमारतों में स्थान दिलाता है।"

çkUrh; LFkkiR;

तुगलक सुल्तानों के शासनकाल में दिल्ली सल्तनत के पतन के कारण अनेक स्वतंत्र प्रान्तीय राज्यों की स्थापना हो गयी थी। इन प्रान्तीय राज्यों के शासकों ने अनेक महलों, मस्जिदों तथा मकबरों का निर्माण कराया था। ये प्रान्तीय शैलियाँ दिल्ली की शैली से मूल तत्त्वों के सम्बन्ध में काफी समानता रखती हैं किन्तु कुछ बातों में वे एक दूसरे से भिन्न तथा दिल्ली की शैली से भिन्न हैं। उदाहरण के लिए प्रान्तीय राज्यों के शासकों द्वारा बनायी गयी इमारतों की तुलना में दिल्ली सुल्तानों द्वारा बनायी गयी इमारतें अधिक सुन्दर थीं। इसका कारण यह था कि प्रान्तीय राज्यों के शासक दिल्ली सुल्तानों के बराबर धन व्यय नहीं कर सकते थे। इसके अतिरिक्त तुर्कों के आगमन से पूर्व से ही प्रचलित स्थानीय कला परम्पराओं तथा प्रान्तों की विशेष परिस्थितियों के कारण वहाँ की शैलियों में परिवर्तन हो गया था।

cxky

बंगाल के सुल्तानों द्वारा बनायी गयी इमारतें अधिकतर ईंटों की थीं और उनमें पत्थर का बहुत ही कम प्रयोग किया गया था। इन इमारतों की मुख्य विशेषता थी– 1. छोटे–छोटे खम्भों पर बनायी गयी नुकीली मेहराबें, 2. बाँस की इमारतों से ली गयी हिन्दू मन्दिरों की लहरियेदार कार्निसों की परम्परागत शैली का मुस्लिम अनुकरण और 3. कमल जैसे सुन्दर खुदाई के हिन्दू सजावट के प्रतीक चिन्हों का अपना लिया जाना। इन इमारतों के खण्डहर, लखनौती, गौड़ तथा पांडुआ में आज भी पाये जाते हैं। बंगाली स्थापत्य कला की प्रथम महत्त्वपूर्ण इमारत पांडुआ की सुप्रसिद्ध

अदीना मस्जिद है जिसे बंगाल के सुल्तान सिकन्दरशाह ने 1339 ई० या 1374 ई० में बनवाया था। यह बहुत ही विशाल इमारत है और बंगाल में इसकी गणना संसार की आश्चर्यजनक वस्तुओं में की जाती है किन्तु सर जॉन मार्शल के अनुसार "इसकी डिजाइन इसके आकार के अनुसार नहीं थी।" पांडुआ में सुल्तान जलालुद्दीन मुहम्मदशाह का मकबरा बंगाली शैली की एक अन्य सुन्दर इमारत है। इसकी गणना बंगाल के सुन्दरतम् मकबरों में की जाती है। गौड़ में स्थित दरवील दरवाजा नामक भवन ईंटों से बनी इमारत का इतना उत्कृष्ट नमूना है कि उसकी तुलना विश्व के किसी भी भाग में बनी ईंटों की इमारत से की जा सकती है। बंगाल की अन्य प्रसिद्ध इमारतें बड़ा सोना मस्जिद, छोटा सोना मस्जिद, लोटन मस्जिद और कदम रसूल मस्जिदें हैं।

tkSuiqj

जौनपुर के शर्की सुल्तानों को स्थापत्य कला में विशेष रूचि थी जिसके फलस्वरूप शर्की राज्यवंश के 100 वर्ष के शासन काल में यहाँ अनेकों इमारतों का निर्माण हुआ जिनमें महल, मस्जिदें और मकबरे सभी सम्मिलित थे। शर्की सुल्तानों की इमारतों की मुख्य विशेषता उनमें हिन्दू तथा मुस्लिम स्थापत्य शैलियों का समन्वय है। वे अपनी भारी ढालू दीवारें, चौकोर स्तम्भों, छोटी गैलरियों और कोठरियों के कारण महत्त्वपूर्ण समझी जाती हैं। अटाला मस्जिद शर्की शैली की एक अत्यंत सुन्दर इमारत है जिसका निर्माण शर्की सुल्तान इब्राहीम शाह ने करवाया था। इस मस्जिद का सबसे प्रभावशाली अंग है, इसके महराबों–मिम्बर के सामने का अग्रभाग जहाँ कि दर्शक के सामने तीन भारी भरकम विशाल आकार–प्रकार के प्रवेश द्वार पर्दों के समान दिखायी देते हैं। इसमें मस्जिद के एक नवीन आदर्श को प्रस्तुत किया गया है जो कि कालान्तर में जौनपुर की स्थापत्य कला शैली की एक विशेषता बन गया।

झँझरी मस्जिद जौनपुर शैली की एक अन्य महत्त्वपूर्ण मस्जिद है जिसे इब्राहीम शर्की ने ही 1430 ई० के लगभग बनवाया था। यह अब खण्डहर अवस्था में है। यह मस्जिद भी अटाला मस्जिद के नमूने पर ही बनी है। तीसरी महत्त्वपूर्ण मस्जिद लाल दरवाजा मस्जिद है। इसका प्रवेश द्वार लाल रंग का होने के कारण इसका नाम लाल दरवाजा मस्जिद पड़ गया। जौनपुर की सर्वश्रेष्ठ इमारत वहाँ की जामी मस्जिद है जिसका निर्माण हुसैनशाह शर्की ने 1417 ई० के लगभग करवाया था। यह जौनपुर की मस्जिदों में सबसे बड़ी है।

xqtjkr

प्रान्तीय स्थापत्य शैलियों में गुजरात शैली सर्वश्रेष्ठ तथा सुन्दर मानी जाती है। इस शैली की मुख्य विशेषताएँ लकड़ी पर सुन्दर नक्काशी, सुन्दर पत्थर का सुन्दर जाली का काम तथा अत्यधिक सजावट है। अहमदाबाद नगर में जिसकी स्थापना अहमदशाह ने 1411 ई० में की थी, गुजरात के सुल्तानों द्वारा अनेक भव्य इमारतों का निर्माण कराया गया था। गुजरात शैली की सबसे सुन्दर इमारत अहमदाबाद की जामी मस्जिद है जिसे अहमदशाह ने 1423 ई० में बनवाया था। पर्सी ब्राउन का मत है कि "यह मस्जिद पूरे देश में नहीं तो कम से कम पश्चिमी भारत में मस्जिद निर्माण कला का श्रेष्ठतम् नमूना है।" इस मस्जिद के महत्त्वपूर्ण अंग है, इसके विविधतापूर्ण विभिन्न भाग, सुन्दर स्तम्भों की कतारें और सुन्दर धनी खुदाई वाली गैलरियाँ। साथ ही इसकी बारीक पत्थर की जालियों और फूल–पत्तियों की बेलों में बहुत ही सुन्दर खुदाई की गयी है। इन सभी सुन्दर अंगों के कारण इसे विश्व की सुन्दरतम् इमारतों में रखा जा सकता है।

अहमदशाह का मकबरा भी गुजरात शैली की एक महत्त्वपूर्ण इमारत है जो जामी मस्जिद के पूर्व में एक अहाते में स्थित है। महमूद बेगड़ा (1458–1511 ई०) द्वारा अहमदाबाद से 78 मील दक्षिण–पूर्व में चम्पानेर नामक नगर की स्थापना की गयी थी और वहाँ उसने अनेक इमारतों का निर्माण करवाया था जिसमें वहाँ की जामा मस्जिद अत्यंत उल्लेखनीय है। इस मस्जिद की गणना बहुत ही सुन्दर इमारतों में की जाती है और फर्ग्युसन तो स्थापत्यकला की दृष्टि से इसे गुजरात शैली की सबसे सुन्दर इमारत मानते हैं।

ekyok

मालवा के सुल्तानों द्वारा अनेक इमारतों का निर्माण करवाया गया। इन इमारतों पर यद्यपि दिल्ली शैली का बहुत प्रभाव था लेकिन फिर भी वे दिल्ली शैली की नकल मात्र ही नहीं थी और उनकी अपनी एक अलग शैली थी। मालवा के सुल्तानों द्वारा माण्डू को अपनी राजधानी बनाया गया और वहाँ उन्होंने बड़ी मात्रा में इमारतों का निर्माण कराया।

nh/kl mÙkjh; ç'u

1. आर्यों की उत्पति के विभिन्न सिद्धांतों का वर्णन करें। इसमें से कौन सबसे ठीक है। स्पष्ट करें।
2. वर्धमान महावीर का जीवन चरित्र तथा शिक्षाओं का वर्णन करें।
3. चंद्रगुप्त मौर्य के शासन प्रबंध की मुख्य विशेषताओं का वर्णन करें।
4. अशोक के धम्म से आप क्या समझते है? इसके सिद्धांतों और महत्त्व का वर्णन करें।
5. फाहियान् कौन था। उसने हमे भारत के संबंध मे क्या–क्या जानकारी दी है? वर्णन करें।
6. मुसलमानों के द्वारा राजदूतों की हार के कारणों पर प्रकाश डालें।
7. बलबन ने "लौह और रक्त" की नीति का अनुसरण किया। वर्णन कीजिए।
8. अलाउद्दीन खिलजी की आर्थिक नीति क्या थी? उसके गुणों और अवगुणों पर प्रकाश डालें।
9. प्राचीन भारतीय इतिहास के श्रोतों का संक्षेप में वर्णन करें।
10. सिंधु घाटी के सामाजिक और धार्मिक जीवन का वर्णन करें। इस सभ्यता के नष्ट होने के कारणों का विवेचन करें।
11. बौद्ध धर्म के प्रभावों का वर्णन कीजिए।
12. समुद्रगुप्त की सफलताओं का वर्णन करें। उसे "भारत का नेपोलियन" क्यों कहते हैं?
13. ह्वेनसांग कौन था? उसने हर्ष के समय की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक अवस्थाओं के बारे में क्या बताया है।
14. भारत में महमूद गजनवी के मुख्य आक्रमणों का वर्णन करें। उसे आक्रमणों का उद्देश्यों के बारे में आलोचनात्मक विवरण दें।
15. "मुहम्मद तुगलक का चरित्र दो विरोधों का मिश्रण था।" व्याख्या करें।
16. भक्ति आंदोलन के बारे में आप क्या जानते हैं? इसकी मुख्य विशेषताओं का वर्णन करें। इसका भारतीय जनमानस पर क्या प्रभाव पड़ा?
17. "नव–पाषाण युग" से आप क्या समझते है? इस युग में भारतीय लोगों के जीवन की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करें।
18. अशोक के धम्म से आप क्या समझते हैं? उसने इसे फैलाने के लिए जो उपाय किए उनकी विवेचना करें।
19. चोल के शासन प्रबंध और चोल कला का विवरण करें।
20. भारतीय इतिहास के निर्माण के पुरातत्त्व संबंधी सामग्री कहाँ तक सहायक है।
21. प्रारंभिक वैदिक काल के आर्यों के राजनीतिक व सामाजिक जीवन का वर्णन करे।
22. ऋगवैदिक काल में आर्यों के सामाजिक व धार्मिक जीवन का वर्णन करें।
23. चंद्रगुप्त मौर्य के नागरिक तथा सैनिक प्रबंध की विवेचना करें।
24. "कनिष्क कला, धर्म और साहित्य का संरक्षक था।" विवेचना करें।
25. राजपूतों के अधीन सामंतवाद के उत्थान और विकास का विवरण दें।
26. फिरोज तुगलक के सुधारों का वर्णन कीजिए। क्या वह एक सफल शासक था?
27. उत्तर–वैदिक काल के आर्यों के राजनीतिक संगठन और आर्थिक जीवन का वर्णन करें।

28. "बौद्ध धर्म हिंदू धर्म के भीतर ही एक सुधार आंदोलन था।" इस कथन की विवेचना करें।
29. हर्ष के शासन प्रबंध और साहित्यिक कार्यों की विवेचना करें।
30. सिंधु घाटी सभ्यता का प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करें।
31. गुप्त काल को "भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग" क्यों कहा जाता है?
32. मौर्यकालीन नागरिक व सैनिक प्रशासन का वर्णन करें।
33. मुहम्मद तुगलक की काल्पनिक योजनाओं का संक्षिप्त वर्णन करें। उसकी सभी योजनाएँ क्यों असफल रहीं?

vfr y?kq mÙkjh; ç'u

1. नव पाषाण काल का समय क्या था?
2. उत्तर वैदिक काल के आर्यों का मुख्य पेय पदार्थ क्या था?
3. पंचतंत्र का लेखक कौन था?
4. कम्बोज महाजनपद की राजधानी कहाँ थी?
5. मौर्य वंश के अंतिम शासक का नाम क्या था?
6. बौद्ध धर्म की दूसरी सभा कहाँ और कब हुई?
7. अशोक ने कौन–सा नगर बसाया था?
8. सुदर्शन झील का उल्लेख किस शिलालेख में हैं?
9. हाथीगुम्फा अभिलेख किस राजा की जानकारी देता है?
10. कुतुबमीनार को किसने पूरा कराया?
11. 'भारत का नेपोलियन' किसे कहते है?
12. "पृथ्वीराज रासो" के रचयिता कौन थे?
13. जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर कौन थे?
14. उत्तरी भारत का प्रथम ऐतिहासिक राजा कौन था?
15. किन जातियों को द्विज माना जाता है?
16. जब सिकंदर ने भारत पर आक्रमण किया तो किस राजा की वीरता से वह अत्यधिक प्रभावित हुआ था?
17. मत्स्य महाजनपद किस भू–क्षेत्र से संबंधित माना जाता है?
18. हर्षवर्धन किस वंश से संबंधित था?
19. 'जकात' किनसे लिया जाता था?
20. संगम साहित्य की रचना किस भाषा में हुई है?
21. सिंधु घाटी के लोगों की लिपि कैसी थी?
22. "आर्यों का मूल निवास उत्तरी ध्रूव था" मत के प्रतिपादक?
23. किस शासक ने चौथी बौद्ध संगीति का आयोजन किया था?
24. 1192 ई० के तराईन युद्ध में गोरी ने किसे पराजित किया?
25. किस सुल्तान ने अपनी राजधानी लाहौर से दिल्ली स्थानांतरित किया?
26. किस सुल्तान ने सांकेतिक मुद्रा प्रचलित की?
27. विजयनगर के किस शासक को "आंध्र मोज" कहा जाता है?

28. लोदी वंश का पतन किस युद्ध के उपरांत हुआ?
29. नवपाषाण युग के किस आविष्कार द्वारा यातायात के साधनों में क्रांतिकारी परिवर्तन आया?
30. रामायण की रचना किसने की?
31. सिकंदर को भारत पर आक्रमण करने के लिए किसने निमंत्रण दिया था?
32. मगध विजय के समय कनिष्क की भेंट किस बौद्ध भिक्षु से हुई थी?
33. पल्लवों की राजधानी का नाम बताइए।
34. महमूद गजनवी ने भारत के किस भाग को गजनी साम्राज्य का हिस्सा बनाया था?
35. किस तुर्की शासक ने भारत में नहरें बनवाई?
36. यूनानी शासक मिनाण्डर के विषय में कौन–सा बौद्ध ग्रंथ जानकारी देता है?
37. किस काल में मनुष्य भोजन उत्पादक हो गया?
38. छठी सदी ई० पू० में उत्तरी भारत में कुल महाजनपदों की संख्या कितनी थी?
39. मौर्य काल मे सबसे प्रसिद्ध विश्वविद्यालय कौन–सा था?
40. 'जजिया' किससे वसूल किया जाता था?
41. भारत की प्रथम आर्य–पूर्व नगरीय सभ्यता का क्या नाम था?
42. झेलम नदी के पास किस भारतीय शासक ने सिकंदर का प्रतिरोध किया?
43. "भारत का शेक्सपीयर" किसे कहते है?
44. चोल शासक राजराजा द्वारा बनवाया गया प्रसिद्ध मंदिर?
45. मनुष्य किस काल में भोजन उत्पादक बना था?
46. महात्मा बुद्ध ने पहला उपदेश कहाँ दिया था?
47. इलाहाबाद शिलालेख का लेखक कौन था?
48. कौशल जनपद की राजधानी क्या थी?
49. "यात्रियों का राजकुमार" किसे कहते है?
50. महाभारत का रचयिता कौन था?
51. 'सैण्ड्रोकोट्स' किस भारतीय शासक को कहते है?
52. किसने यह बताया कि "सैण्ड्रोकोट्स" चंद्रगुप्त मौर्य को कहते थे?
53. "इंडिका" किसकी कृति है?
54. "इतिहास के पिता" कौन है?
55. सिकंदर कहाँ का निवासी था?
56. अशोक के दरबार में टॉलमी का दूत कौन था।
57. 'बुद्धचरित' की रचना किसने की?
58. "माध्यमिक सूत्र" के रचनाकार कौन थे?

सही मिलान करें–

1.

	पुस्तक		रचयिता
(क)	पंचतंत्र	(i)	जयदेव
(ख)	गीत गोविंद	(ii)	किताब–उल–हिंद
(ग)	परिशिष्ट पर्व	(iii)	विष्णु शर्मा
(घ)	अलबरूनी	(iv)	विशाखदत्त
(ङ)	देवी चंद्रगुप्तम	(v)	हेमचंद

2.

	सूची–1		सूची–2
(क)	गुलामों का गुलाम	(i)	सिंधु घाटी सभ्यता
(ख)	अजातशत्रु	(ii)	बलबन
(ग)	कालीबंगा	(iii)	मगध साम्राज्य
(घ)	इब्नबतूता	(iv)	फाह्यान
(ङ)	चंद्रगुप्त-II	(v)	सफरनामा

3.

	पुस्तक		रचयिता
(क)	हर्षचरित	(i)	कल्हण
(ख)	मुद्राराक्षस	(ii)	चंदबरदाई
(ग)	राजतरंगिनी	(iii)	बाणभट्ट
(घ)	पृथ्वीराज रासो	(iv)	कालिदास
(ङ)	रघुवंश	(v)	विशाखदत्त

4.

	पुस्तक		रचयिता
(क)	पृथ्वीराज रासो	(i)	कल्हण
(ख)	राजतरंगिनी	(ii)	बाणभट्ट
(ग)	किताब–उल–हिंद	(iii)	फिरदौसी
(घ)	शाहनामा	(iv)	अलबरूनी
(ङ)	कादम्बरी	(v)	चंदबरदाई

5.

	पुस्तक		रचयिता
(क)	अर्थशास्त्र	(i)	पातंजलि
(ख)	तारीख–ए–फिरोजशाही	(ii)	विशाखदत्त
(ग)	महाभाष्य	(iii)	कौटिल्य
(घ)	देवीचंद्रगुप्तम्	(iv)	हेमचंद्र
(ङ)	परिशिष्ट पर्व	(v)	जियाउद्दीन बरनी

6.

	पुस्तक		रचयिता
(क)	कल्हण	(i)	इण्डिका
(ख)	विशाखदत्त	(ii)	अर्थशास्त्र

(ग)	कौटिल्य	(iii)	हर्षचरित
(घ)	मैगस्थनीज	(iv)	राजतरंगिनी
(ङ)	बाणभट्ट	(v)	मुद्राराक्षस

7. **दर्शन** **प्रतिपादक**

(क)	सांख्य	(i)	गौतम
(ख)	योग	(ii)	कपिल
(ग)	न्याय	(iii)	पतंजलि
(घ)	वैशेषिक	(iv)	जैमिनी
(ङ)	मीमांसा	(v)	कणाद

8. **सूची–1** **सूची–2**

(क)	महावीर का जन्म	(i)	वैशाली
(ख)	महावीर की मृत्यु	(ii)	कुंड़ग्राम
(ग)	महावीर को ज्ञान प्राप्ति	(iii)	पावन
(घ)	महावीर का सर्वाधिक प्रभाव	(iv)	जाम्भिग्राम

9. **नाम** **कारण**

(क)	महावीर	(i)	बंधन रहित
(ख)	बईमान	(ii)	इंद्रिय विजेता
(ग)	श्रमण	(iii)	देवताओं द्वारा दिया गया नाम
(घ)	अहैत	(iv)	सुख–दुःख से रहित
(ङ)	जिन	(v)	राग–द्वेष से रहित
(च)	निर्ग्रेथ	(vi)	अपरिमित पराक्रमी

10. **संगीति** **स्थान**

(क)	प्रथम बौद्ध संगीति	(i)	वैशाली
(ख)	द्वितीय बौद्ध संगीति	(ii)	राजगृह
(ग)	तृतीय बौद्ध संगीति	(iii)	कुण्डलग्राम
(घ)	चतुर्थ बौद्ध संगीति	(iv)	पाटलिपुत्र

11. **महाजनपद** **स्थिति**

(क)	मत्स्य	(i)	जयपुर के आसपास
(ख)	अवंति	(ii)	मालवा के आसपास
(ग)	कम्बोज	(iii)	राजोरी और हजारा जिला
(घ)	वत्स	(iv)	आधुनिक इलाहाबाद
(ङ)	चेदि	(v)	बुंदेलखंड

12. **कार्य** — **वर्ष**

(क)	कलिंग विजय	(i)	20 वें वर्ष
(ख)	लुंबनी यात्रा	(ii)	8 वें वर्ष
(ग)	धम्म यात्रा	(iii)	10 वें वर्ष
(घ)	धम्म महामात्रों की नियुक्ति	(iv)	14 वें वर्ष

13. **स्तंभ** — **जानवर**

(क)	सारनाथ	(i)	सिंह
(ख)	संकिसा स्तंभ	(ii)	बैल
(ग)	रूम्मिदेई	(iii)	हाथी
(घ)	रामपुरवा	(iv)	घोड़ा

14. **वेद** — **संकलन**

(क)	ऋगवेद	(i)	जादू–टोना
(ख)	यर्जुवेद	(ii)	मंत्रो का संकलन
(ग)	सामवेद	(iii)	गद्य रूप मे
(घ)	अथर्ववेद	(iv)	गान से

15. **सूची–1** — **सूची–2**

(क)	अथर्ववेद	(i)	गान
(ख)	सामवेद	(ii)	कठोपनिषद
(ग)	नचिकेता की कहानी	(iii)	आख्यक
(घ)	सत्यमेव जयते	(iv)	मुण्डकोपनिषद्
(ङ)	रहस्यवाद	(v)	अथर्वा ऋषि

हड़प्पाः

1. हड़प्पा लोग किस धातु से परिचित नहीं थेः

(क) चाँदी — (ग) सोना

(ख) लोहा — (घ) कांसा

2. मनुष्य ने सबसे पहले अग्नि का प्रयोग करना आरंभ कियाः

(क) प्राचीन पाषाण युग में — (ग) मध्य–पाषाण युग में

(ख) नव–पाषाण युग में — (घ) ताम्र–पाषाण युग में

3. हड़प्पा के लोग किस प्रमुख देवता की पूजा करते थेः

(क) ब्रह्मा — (ग) विष्णु

(ख) शिव — (घ) वरूण

4. सिंधु घाटी सभ्यता किस युग की है:

(क) लौह युग (ग) कांस्य युग

(ख) नवपाषाण युग (घ) कोइ नही

5. सिंधु घाटी सभ्यता है:

(क) प्रागैतिहासिक (ग) ऐतिहासिक

(ख) अर्द्ध ऐतिहासिक (घ) उत्तर ऐतिहासिक

6. सिंधु घाटी सभ्यता को हड़प्पा संस्कृति कहा है:

(क) आर०डी० साहनी (ग) जॉन मार्शल

(ख) आर०डी० बनर्जी (घ) बी०बी० लाल

7. सिंधु घाटी सभ्यता में किस पशु का उल्लेख नहीं है:

(क) हाथी (ग) बकरी

(ख) घोड़ा (घ) गाय

8. हड़प्पा किस नदी के तट पर स्थित है:

(क) रावी (ग) भोगवा

(ख) सरस्वती (घ) सिंधु

9. मोहनजोदड़ो का उत्खनन कब हुआ था:

(क) 1921 (ग) 1923

(ख) 1922 (घ) 1924

10. हड़प्पा संस्कृति का सर्वाधिक आधुनिक स्थल है:

(क) खर्वी (ग) धौलावीरा

(ख) अली मुराद (घ) सुतकांगेडोर

11. सैन्धव सभ्यता का बंदरगाह शहर कौन है:

(क) लोथल (ग) धौलावीरा

(ख) कालीबंगा (घ) मोहनजोदड़ो

12. 'लोथल' शब्द का अर्थ है:

(क) मृत (ग) बंदरगाह

(ख) छोटा (घ) कोई नही

13. 'मोहनजोदड़ो' शब्द का अर्थ है:

(क) मृतकों का टीला (ग) नदी तट

(ख) बंदरगाह (घ) विशाल भवन

14. सैंधव सभ्यता की लिपि कैसी थीः

(क) चित्रात्मक (ग) ध्वन्यात्मक

(ख) कीलाक्षर (घ) कोई नही

15. हड़प्पा सभ्यता के किस स्थल से सूती कपड़ा अथवा कपास का प्रत्यक्ष प्रमाण मिला हैः

(क) कालीबंगा (ग) मोहनजोदड़ो

(ख) लोथल (घ) हड़प्पा

16. सिंधु के नगरों का व्यापार संपर्क निम्न में से किन–किन स्थानों से था?

(क) खेतड़ी (ग) कोलार

(ख) मध्य एशिया (घ) उपर्युक्त सभी

17. हड़प्पा सभ्यता की मुद्राएँ किससे निर्मित की जाती थीः

(क) तांबा (ग) मिट्टी

(ख) कांसा (घ) सोना

18. हल से जमीन जोते जाने का प्रमाण मिला हैः

(क) रोपड़ (ग) बनवाली

(ख) कालीबंगा (घ) लोथल

19. कांस्य की नर्तकी की मूर्ति कहाँ से प्राप्त हुई हैः

(क) मोहनजोदड़ो (ग) कालीबंगा

(ख) बनवाली (घ) रोपड़

20. हड़प्पा संस्कृति का सबसे प्रामाणिक काल

(क) 2500 BC – 1750 BC (ग) 2500 BC – 1990 BC

(ख) 3500 BC – 1500 BC (घ) 3000 BC – 1000 BC

21. मोहनजोदड़ों किस नदी के तट पर हैः

(क) रावी (ग) चेनाव

(ख) सिन्धु (घ) सरस्वती

22. जॉन मार्शल ने हड़प्पा सभ्यता को कहा हैः

(क) आर्य सभ्यता (ग) मिश्रित सभ्यता

(ख) द्रविड़ सभ्यता (घ) कोई नही

23. जैन साहित्य रचित हैः

(क) प्राकृत में (ग) मगधी में

(ख) पाली में (घ) कोई नही

24. बुद्ध का वास्तविक नामः

(क) सिद्धसेन (ग) सिद्धार्थ

(ख) बुद्ध (घ) कोई नही

25. सिद्धार्थ ने कितने वर्ष की उम्र में गृह त्याग कियाः

(क) 28 (ग) 30

(ख) 29 (घ) कोई नही

26. बुद्ध के प्रथम उपदेश को क्या कहा गया हैः

(क) धर्म विजय (ग) महापरिनिर्वान

(ख) धर्म चक्र प्रवर्तन (घ) धर्मस्थीय

27. गौतम बुद्ध किस भाषा में उपदेश देते थेः

(क) प्राकृत (ग) मगधी

(ख) हिन्दी (घ) संस्कृत

28. मगध की राजधानी गिरिव्रज का नाम राजगृह किसने कियाः

(क) विम्बसार (ग) शिशुनाम

(ख) अजातशत्रु (घ) कोई नही

वैदिकः

29. 'आर्य' शब्द का अर्थ हैः

(क) यायावर (ग) धुड़सवार

(ख) उत्कृष्ट (घ) इनमें से कोई नही

30. ऋगवैदिक आर्यों की भाषा थीः

(क) संस्कृत (ग) संस्कृत

(ख) पालि (घ) इनमें से कोई नही

31. गंगा नदी का उल्लेख किस वेद में पहली बार हुआ हैः

(क) अथर्ववेद (ग) सामवेद

(ख) यजुर्वेद (घ) ऋृगवेद

32. ऋृगवेद के 10वें मंडल में किसका उल्लेख पहली बार मिलता हैः

(क) चंडाल (ग) शूद्र

(ख) पुरोहित (घ) योद्धा

33. चित्रित धूसर मृद्भांड (PGW) किस काल से संबंधित हैः

(क) सिंधु घाटी सभ्यता (ग) पूर्व वैदिक सभ्यता
(ख) उत्तर वैदिक सभ्यता (घ) मौर्य काल

34. ऋृगवेद में 'जन' और 'विश' शब्द का उल्लेख कितनी बार हुआ हैः

(क) 250, 175 (ग) 275, 170

(ख) 200, 150 (घ) 275, 175

35. ऋृगवैदिक काल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण नदीः

(क) सरस्वती (ग) सिंधु

(ख) गंगा (घ) यमुना

36. 'पुरूष्णी' किस नदी को कहते थेः

(क) काली (ग) रावी

(ख) सिंधु (घ) चेनाव

37. ऋृगवैदिक युग की सर्वाधिक प्राचीन संस्था थीः

(क) विदथ (ग) समिति

(ख) सभा (घ) कोई नही

38. वैदिककालीन लोगों ने सर्वप्रथम किस धातु का प्रयोग कियाः

(क) तांबा (ग) सोना

(ख) लोहा (घ) कांसा

39. यजुर्वेद का प्रमुख देवता कौन थाः

(क) प्रजापति (ग) पशुपति

(ख) रूद्र (घ) इंद्र

40. 'असतो मा सद्गमय' कहाँ से लिया गया हैः

(क) ऋृगवेद (ग) यजुर्वेद

(ख) सामवेद (घ) अथर्ववेद

41. 'सत्यमेव जयते' कहाँ से लिया गया हैः

(क) कठोपनिषद् (ग) महानारायणोपनिषद

(ख) मुण्डकोपनिषद् (घ) श्वेताश्वतरोपनिषद

42. वैदिक युग 'कुलाल' क्या थीः

(क) युद्ध कला (ग) योग कला

(ख) बर्तन बनाने की कला (घ) पठन–पाठन

43. 'जनपद' शब्द का पहली बार प्रयोग किन ग्रंथों में मिलता हैः

(क) ब्राह्मण ग्रंथों में (ग) उपनिषद

(ख) अरण्यक (घ) कृष्ण यजुर्वेद

44. वैदिक काल में 'गोहन' किसे कहा गया है:

(क)	अतिथि	(ग)	गुरु
(ख)	योद्धा	(घ)	कोई नहीं

45. वैदिक गंथ में 'ब्रीहि' किसे कहा गया है:

(क)	चावल	(ग)	यव
(ख)	गेहूँ	(घ)	कोई नही

46. गायत्री मंत्र किस वेद से लिया गया है:

(क)	ॠगवेद	(ग)	यजुर्वेद
(ख)	सामवेद	(घ)	अथर्ववेद

47. कौन वैदिक देवता नहीं है:

(क)	सूर्य	(ग)	अश्विन
(ख)	मित्र	(घ)	इंद्र

48. 'चारो आश्रम' की जानकारी कहाँ से मिलती है?

(क)	ज्वाला उपनिषद	(ग)	तैतरीय उपनिषद
(ख)	इशोपनिषद	(घ)	वृहदारण्य उपनिषद

49. तिलक ने आर्यों का निवास स्थान माना है:

(क)	तिब्बत	(ग)	आर्कटिक
(ख)	मध्य एशिया	(घ)	पंजाब

50. पाली साहित्यों में कितने महाजनपदों की चर्चा है:

(क)	15	(ग)	17
(ख)	16	(घ)	18

51. छठी सदी ई०पू० में सबसे पूर्व में कौन–सा जनपद स्थित था:

(क)	अंग	(ग)	मगध
(ख)	बंग	(घ)	कोई नहीं

52. मगध की प्राचीन राजधानी कहाँ थी:

(क)	राजगीर	(ग)	पुष्पपुर
(ख)	पाटलिपुत्र	(घ)	गिरिव्रज

53. शूरसेन की राजधानी कहाँ थी:

(क)	मथुरा	(ग)	श्रावस्ती
(ख)	उज्जैन	(घ)	वाराणसी

54. बुद्ध के समय कोसल नरेश कौन थाः

(क) प्रसेनजित (ग) अजातशत्रु

(ख) बिम्बसार (घ) कोई नही

55. गंधार की राजधानी थीः

(क) तक्षशिला (ग) पोतन

(ख) राजपुर (घ) कोई नही

56. किस संगमयुगीन राज्य के संरक्षण में "संगमों" का आयोजन हुआ थाः

(क) चेर (ग) पांड्य

(ख) चोल (घ) कदम्ब

57. "तोलकाप्पियम्" संबंधित हैः

(क) तमिल महाकाव्य (ग) तमिल नाटक

(ख) तमिल लेख (घ) तमिल व्याकरण ग्रंथ

58. सबसे प्राचीन वेद कौन हैः

(क) ॠगवेद (ग) सामवेद

(ख) यजुर्वेद (घ) अथर्ववेद

59. कौन त्रिवेद में शामिल नहीं हैः

(क) सामवेद (ग) अथर्ववेद

(ख) ॠगवेद (घ) यजुर्वेद

60. 'पुरुष सूक्त' ॠगवेद के किस मंडल में हैः

(क) पहले (ग) आठवें

(ख) सातवें (घ) दसवें

61. 'गायत्री मंत्र' किस वेद में हैः

(क) यजुर्वेद (ग) सामवेद

(ख) अथर्ववेद (घ) ॠगवेद

62. 'ऐतरेय ब्राह्मण' ग्रंथ संबंधित हैः

(क) ॠगवेद (ग) अथर्ववेद

(ख) सामवेद (घ) यजुर्वेद

63. 'गोपथ ब्रह्मण' ग्रंथ संबंधित हैः

(क) सामवेद (ग) अथर्ववेद

(ख) यजुर्वेद (घ) ॠगवेद

64. वन पुस्तकें हैंः

(क) अरण्यक (ग) ब्राह्मण

(ख) उपनिषद (घ) वेदांग

65. वेदांग की संख्या हैः

(क) 5 (ग) 6

(ख) 4 (घ) 8

66. प्रमाणिक उपनिषदों की संख्या हैः

(क) 11 (ग) 7

(ख) 18 (घ) 12

67. पुराणों की संख्या कितनी हैः

(क) 18 (ग) 10

(ख) 12 (घ) 108

68. रामायण में कांडों की संख्याः

(क) 8 (ग) 7

(ख) 6 (घ) 5

69. महाभारत में पर्वों की संख्याः

(क) 18 (ग) 10

(ख) 12 (घ) 7

70. संगमकाल का सर्वाधिक महत्वपूर्ण नगर थाः

(क) पुहार (ग) अरिकामेड

(ख) उरैयूर (घ) कावेरीपट्टनम्

71. 'सागरपूजा' शुरू की

(क) नेडियान (ग) नेडुजेलियन

(ख) पलशालै (घ) कारकै

72. जैन तीर्थकरों की संख्या

(क) 23 (ग) 25

(ख) 24 (घ) 22

73. बिम्बसार का वैद्य थाः

(क) सुनीध (ग) चेटक

(ख) चरक (घ) जीवक

74. यूनीनी ग्रंथों में चंद्रगुप्त मौर्य को कहा गया हैः

(क) अमित्रचेटस (ग) सैन्ड्रोकोटस

(ख) एग्रेमीज (घ) अमित्रघात्र

75. चंद्रगुप्त मौर्य ने किस धर्म को अपनायाः

(क) जैन (ग) हिन्दू

(ख) बौद्ध (घ) कोई नही

76. ''विवीताध्यक्ष'' कौन–सा पदाधिकारी थाः

(क) चारागाह का (ग) व्यापार का

(ख) जेल का (घ) खान का

77. किस के प्रभाव में आकर अशोक बौद्ध हो गयाः

(क) उपगुप्त (ग) उपाति

(ख) बुद्धगुप्त (घ) आनंद

78. सातवाहन वंश का संस्थापक थाः

(क) शतकर्णी (ग) सिमुक

(ख) कण्व (घ) पुलुमावी

79. "गाथा सप्तशती" की रचना कीः

(क) बिल्हण (ग) कल्हण

(ख) हाल (घ) सिमुक

80. सातवाहनों की राजभाषा थीः

(क) संस्कृत (ग) प्राकृत

(ख) पालि (घ) कोई नही

81. 'रेशम मार्ग' कहाँ से कहाँ तक जाता थाः

(क) भारत से रोम (ग) चीन और भारत

(ख) चीन से रोम (घ) कोइ नही

82. ''द्वितीय अशोक'' कहते हैः

(क) हर्ष को (ग) चंद्रगुप्त–I

(ख) कनिष्क को (घ) कोई नही

83. कनिष्क ने किस सम्प्रदाय का प्रचार कियाः

(क) जैन (ग) महायान

(ख) हीनयान (घ) वज्रयान

84. गुप्त किसके सामंत थेः

(क) कुषाणों के (ग) सातवाहनों के

(ख) मौर्यों के (घ) शुंगो के

ग्रीकः

85. सिंकदर ने भारत पर कब आक्रमण कियाः

(क) 327 BC (ग) 326 BC

(ख) 324 BC (घ) 325 BC

86. सिंकदर की मृत्यु कब हुईः

(क) 342 BC (ग) 326 BC

(ख) 323 BC (घ) 325 BC

87. गिरनार में 'सुदर्शन झील' का निर्माण करायाः

(क) बिंदुसार (ग) चंद्रगुप्त मौर्य

(ख) अशोक (घ) रूद्रदमन

88. अशोक द्वारा मौर्य साम्राज्य में मिलाया जाने वाला प्रांतः

(क) मगध (ग) दक्षिणी प्रांत

(ख) पश्चिमी प्रांत (घ) कलिंग

89. अशोक की मृत्यु कब हुईः

(क) 232 ई०पू० (ग) 231 ई०पू०

(ख) 233 ई०पू० (घ) कोई नही

90. जैन धर्म के प्रथम तीर्थकरः

(क) महावीर (ग) पार्श्वनाथ

(ख) ऋषभदेव (घ) भद्रबाहु

91. तीसरी–बौद्ध संगीति का आयोजन हुआः

(क) तक्षशिला (ग) राजगृह

(ख) वैशाली (घ) पाटलिपुत्र

92. कनिष्क का शासन कालः

(क) 78 ई० (ग) 110 ई०

(ख) 120 ई० (घ) 140 ई०

93. चौथी बौद्ध संगीति का आयोजन किसने किया थाः

(क) कनिष्क (ग) अशोक

(ख) हर्ष (घ) कालाशोक

94. चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का शासनकालः

(क) 355—375 ई० (ग) 375—380 ई०

(ख) 380—414 ई० (घ) 415—455 ई०

95. हूणों को पराजित करने वाला गुप्त शासकः

(क) समुद्रगुप्त (ग) स्कंदगुप्त

(ख) उपगुप्त (घ) कुमारगुप्त

96. हर्ष कब शासक बनाः

(क) 606 ई० (ग) 642 ई०

(ख) 647 ई० (घ) 630 ई०

97. शशांक कहां का शासक थाः

(क) बंगाल का (ग) वल्लभी का

(ख) मालना का (घ) कोई नही

98. हर्ष की राजधानी थीः

(क) पेशावर (ग) पाटलिपुत्र

(ख) कन्नौज (घ) कोई नही

99. फाहियान किसके समय में भारत आयाः

(क) समुद्रगुप्त (ग) स्कंदगुप्त

(ख) विक्रमादित्य (घ) विक्रमादित्य

100. पालवंश का संस्थापकः

(क) देवपाल (ग) धर्मपाल

(ख) गोपाल (घ) महीपाल

101. ''त्रिपक्षीय संघर्ष'' किस स्थान के लिए हुआः

(क) मगध (ग) राजगीर

(ख) कन्नौज (घ) कोई नही

102. ''रामचरितपाल'' के रचयिताः

(क) अभिनंद (ग) संध्याकर नदी

(ख) दिवाकरनंदी (घ) कोई नहीं

103. किसके शासनकाल में सुलेमान भारत आया थाः

(क) नागभट्ट–I (ग) मिहिरभोज

(ख) नागभट्ट– II (घ) कोई नहीं

104. 'कर्पूर मंजरी' के लेखकः

(क) दंडी (ग) महेंद्रपाल

(ख) राजशेखर (घ) बाणभट्ट

105. प्रतिहारों का अंतिम शासकः

(क) दंतिदुर्ग (ग) सिमुक

(ख) कृष्ण– II (घ) कोई नही

106. त्रिपक्षीय युद्ध में भाग लेने वाला पहला राष्ट्रकूट शासकः

(क) कृष्ण–I (ग) ध्रुव

(ख) दंतिदुर्ग (घ) गोविंद

107. राष्ट्रकूटों का अंतिम शासक कौन थाः

(क) कर्क (ग) खोटिट्ग

(ख) कृष्ण– II (घ) कोई नहीं

108. "शांति पुराण" के लेखक हैंः

(क) अमोधवर्ष (ग) चामुण्डराय

(ख) पेन्ना (घ) शांतिवर्मन

109. पल्लववंश का संस्थापक थाः

(क) राजसिंह (ग) सिंहविष्णु

(ख) महेन्द्रवर्मन (घ) कोई नहीं

110. महाबलीपुरम नगर की स्थापना किसने कीः

(क) महेन्द्रवर्मन–II (ग) नरसिंहवर्मन– II

(ख) नरसिंहवर्मन– I (घ) महेन्द्रवर्मन– I

111. "मत्तविलास प्रहसन" की रचना किसने कीः

(क) महेन्द्रवर्मन–II (ग) पेन्ना

(ख) कोल्लाग (घ) महेन्द्रवर्मन– II

112. गजनी साम्राज्य का संस्थापक कौन था?

(क) शुबुक्तगीन (ग) महमूद गजनवी

(ख) अल्पतगीन (घ) नौशाशाह

113. जयपाल से पश्मिमोत्तर राज्य किस गजनी शासक ने छीना?

(क) औशाशाह (ग) अल्पतगीन

(ख) सुबुक्तगीन (घ) महमूद गजनवी

114. महमूद ने भारत पर कितने बार आक्रमण किया?

(क) 17 (ग) 16

(ख) 18 (घ) 15

115. ''तहकिकात–ए–हिंद'' के लेखकः

(क) अलरूहल (ग) अबुल फजल

(ख) मोहम्मद गोरी (घ) अलबरूनी

116. अलबेरूनी किसके राज्यदरबार से संबंधित थाः

(क) गोरी (ग) सुबुक्तगीन

(ख) गजनवी (घ) अल्पतगीन

117. महमूद का भारत पर पहला आक्रमण कब हुआः

(क) जुलाई, 1000 ई० (ग) अगस्त, 1500 ई०

(ख) सितंबर, 1000 ई० (घ) अक्टूबर, 1000 ई०

118. किस हिन्दूशाही शासक ने बार–बार पराजित होने के बाद आत्महत्या कर लीः

(क) आनंदपाल (ग) राज्यपाल

(ख) अजयपाल (घ) जयपाल

119. गजनवी ने सोमनाथ का मंदिर कब लूटाः

(क) 1027 (ग) 1025

(ख) 1026 (घ) 1024

120. सोमनाथ पर आक्रमण के समय गुजरात का शासक थाः

(क) मूलराज (ग) व्रिगहपाल

(ख) भीमदेव (घ) कुमारपाल

121. किस तुर्क आक्रमणकारी को ''बुतशिकन'' कहा गया हैः

(क) गोरी (ग) ऐबक

(ख) मोहम्मद कासिम (घ) गजनवी

122. हिन्दूशाही वंश की राजधानी थीः

(क) थट्टा (ग) अलोर

(ख) भंरा (घ) बहिन्द

123. फिरदौसी की कृति हैः

(क) चाच नामा (ग) शाहनामा

(ख) तारीख–ए–महमूदशाही (घ) तबकात–ए–नसिरी

124. भारत पर गजनवी का अंतिम आक्रमण हुआः

(क) 1026 ई० (ग) 1029 ई०

(ख) 1028 ई० (घ) 1029 ई०

125. गोरी का प्रथम भारत अभियान किसके खिलाफ थाः

(क) पंजाब (ग) काबुल

(ख) मुल्तान (घ) गुजरात

126. गोरी की राजधानी कहाँ थीः

(क) गोर (ग) मुल्तान

(ख) सिंध (घ) गजनी

127. मुहम्मद गोरी के भारत अभियानों का मुख्य उद्देश्य क्याः

(क) धन लूट (ग) इस्लाम का प्रचार

(ख) राज्यविस्तार (घ) कोई नही

128. भारत का प्रथम शासक जिसने गोरी को बुरी तरह हराया थाः

(क) जयचंद (ग) भीमराज–II

(ख) मूलराज–II (घ) पृथ्वीराज चौहान

129. तराईन की प्रथम लड़ाई में विजेता कौन थाः

(क) गोरी (ग) पृथ्वीराज चौहान

(ख) गजनी (घ) कोई नही

130. तराईन की दूसरी लड़ाई लड़ी गईः

(क) 1191 (ग) 1193

(ख) 1194 (घ) 1192

131. चंदबरदाई किसके दरबार में थाः

(क) पृथ्वीराज चौहान (ग) मूलराज–II

(ख) मूलराज–I (घ) कोई नही

132. अरब लेखक किस भारतीय शासक को ''रायपिथौरा'' कहते थेः

(क) भीमदेव (ग) अजयपाल

(ख) पृथ्वीराज चौहान (घ) राज्यपाल

133. मोहम्मद गोरी की मृत्यु हुईः

(क) 1198 (ग) 1206

(ख) 1210 (घ) 1211

134. भारत की पहली महिला शासिका कौन थीः

(क) लक्ष्मीबाई (ग) रजिया बेगम

(ख) जीजाबाई (घ) दुर्गावती

135. गोरी ने भारत पर प्रथम आक्रमण कब कियाः

(क) 1191 AD (ग) 1175 AD

(ख) 1192 AD (घ) 1186 AD

136. नानक देव ने किस भाषा में शिक्षा दीः

(क) हिन्दी (ग) अवधी

(ख) पंजाबी (घ) उर्दू

137. भारत में 'इक्तादारी प्रथा' किसने शुरू कियाः

(क) कुतुबुद्दीन (ग) इल्तुतमिश

(ख) बलबन (घ) अलाउद्दीन खिलजी

138. गोरी द्वारा पराजित कन्नौज का राठौड़ शासक थाः

(क) जयचंद (ग) गोविंदचंद

(ख) विजयचंद (घ) चंद्रदेव

139. किस तुर्की सुल्तान ने ब्राह्मणों पर 'जजिया'–कर लगायाः

(क) इल्तुतमिश (ग) बलबन

(ख) फिरोज तुगलक (घ) मोहम्मद तुगलक

140. पंजाब गजनवी साम्राज्य का भाग बनाया गयाः

(क) महमूद गजनवी द्वारा (ग) कुतुबुद्दीन ऐबक

(ख) गोरी द्वारा (घ) मुहम्मद बिन कासिम द्वारा

141. 'चहलगानी' की स्थापना की थीः

(क) कुतुबुद्दीन (ग) इल्तुतमिश

(ख) बलबन (घ) अलाउद्दीन खिलजी

142. कुतुबुद्दीन ऐबक ने अपने आपको किस वर्ष सुल्तान घोषित किया गयाः

(क) 1193 (ग) 1194

(ख) 1205 (घ) 1206

143. गुरु नानक देवजी का जन्म हुआ था:

(क) 1459 (ग) 1479

(ख) 1469 (घ) 1489

144. अश्वघोष किसके दरबार में थे:

(क) हर्ष (ग) अशोक

(ख) कनिष्क (घ) अजातशत्रु

145. 'चरक' क्या थे:

(क) चिकित्सक (ग) वास्तुकार

(ख) इंजीनियर (घ) कोई नही

146. कुषाण काल में मूर्तिकला की किस शैली जन्म हुआ:

(क) अमरावती शैली (ग) गंधार शैली

(ख) मथुरा शैली (घ) इसमें से कोई नही

147. चौथी बुद्ध संगीति का आयोजन कहां हुआ था:

(क) राजगृह (ग) कश्मीर

(ख) वैशाली (घ) पाटलिपुत्र

148. चोल शासकों ने किस भाषा को संरक्षण किया:

(क) संस्कृत (ग) प्राकृत

(ख) तमिल (घ) तेलुगु

149. चालुक्य–चोल वंश का प्रथम शासक था:

(क) वीर राजेन्द्र (ग) विक्रम चोल

(ख) कुलोतुंग प्रथम (घ) कोई नही

150. चालुक्य–चोल वंश का अंतिम शासक था:

(क) राजेन्द्र द्वितीय (ग) कुलोतुंग द्वितीय

(ख) राजेन्द्र तृतीय (घ) कुलोतुंग तृतीय

151. चोल किसके सामंत थे:

(क) राष्ट्रकूट (ग) पांड्य

(ख) पल्लव (घ) चालुक्य

152. 9वीं सदी के चोलों को पुनः स्थापित किया:

(क) विजयालय (ग) आदित्य

(ख) करिकाल (घ) राजराज

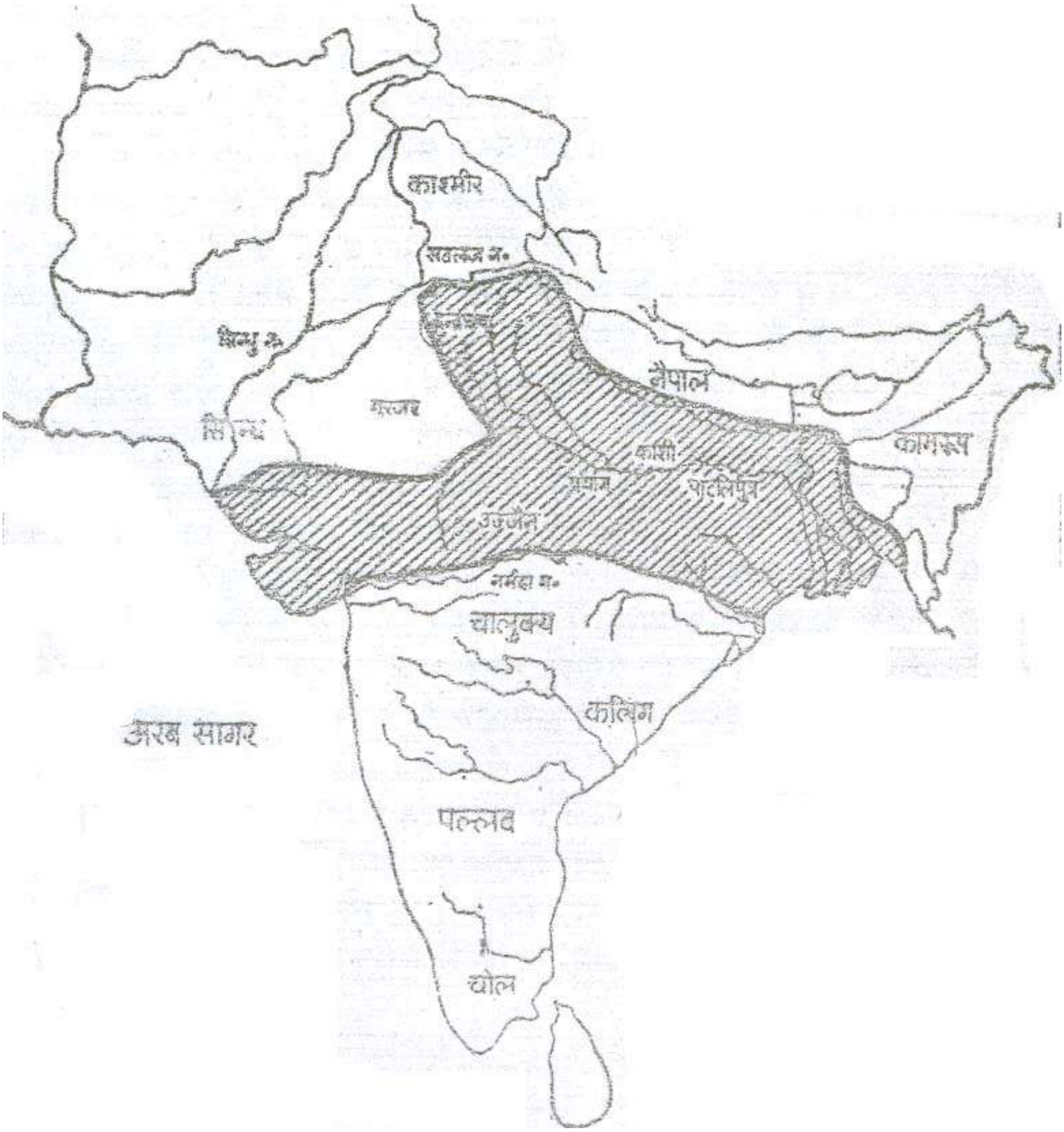
काश्मीर
सतलज न.
सिन्धु न.
सिन्ध
नैपाल
काशी
प्रयाग
पाटलिपुत्र
उज्जैन
कामरूप
नर्मदा न.
चालुक्य
कलिंग
अरब सागर
पल्लव
चोल

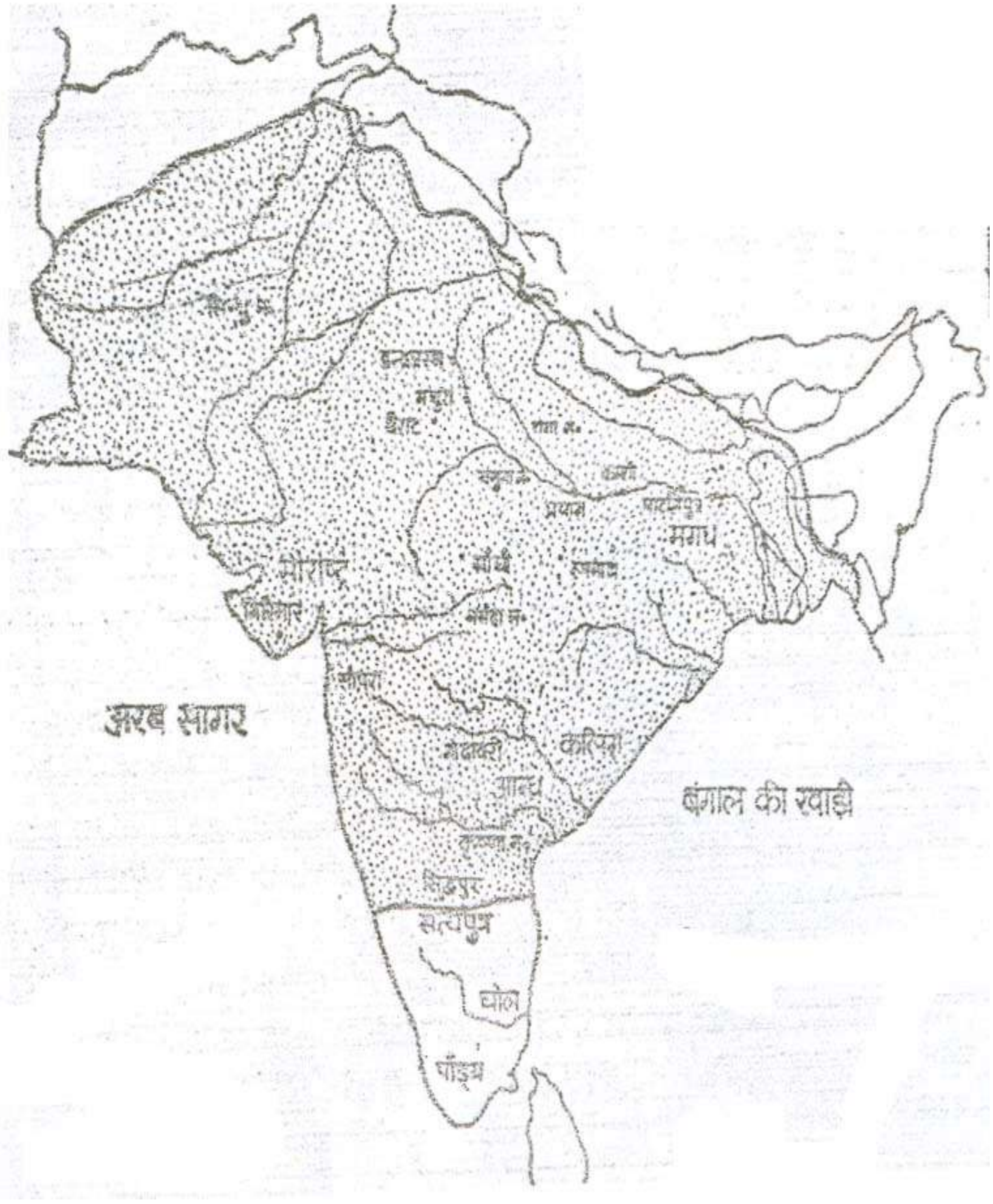
मथुरा
प्रयाग
पाटलिपुत्र
मगध
साँची
सौराष्ट्र
अरब सागर
कलिंग
आन्ध्र
सत्यपुत्र
चोल
पांड्य
बंगाल की खाड़ी

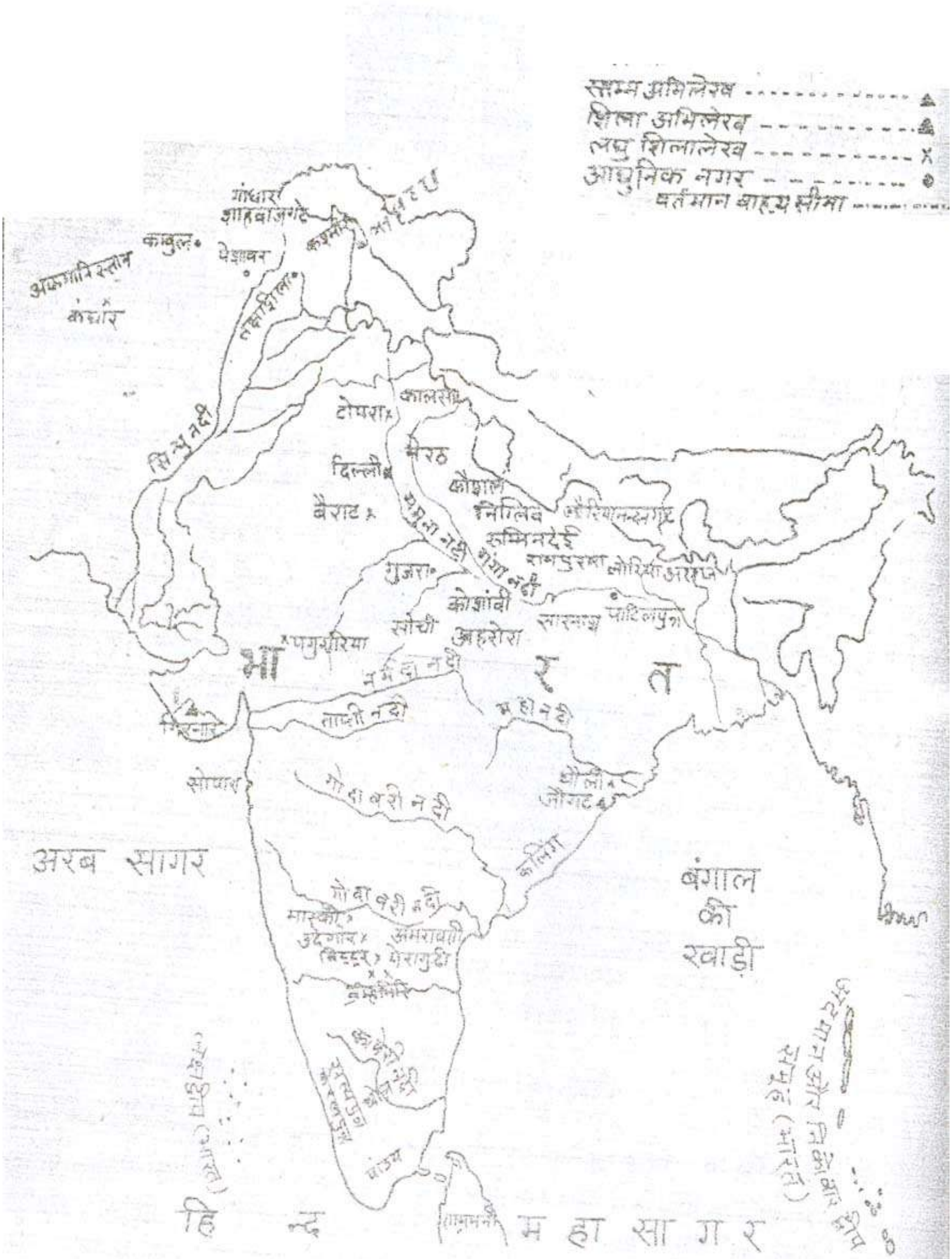
स्तम्भ अभिलेख
शिला अभिलेख
लघु शिलालेख
आधुनिक नगर
वर्तमान बाह्य सीमा
गांधार
काबुल
पेशावर
अफगानिस्तान
कंधार
तक्षशिला
सिन्धु नदी
टोपरा
कालसी
मेरठ
दिल्ली
बैराट
कौशाम्बी
सांची
नर्मदा नदी
ताप्ती नदी
महानदी
सोपारा
गोदावरी नदी
धौली
जौगढ़
कलिंग
अमरावती
भा र त
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
हि न्द म हा सा ग र

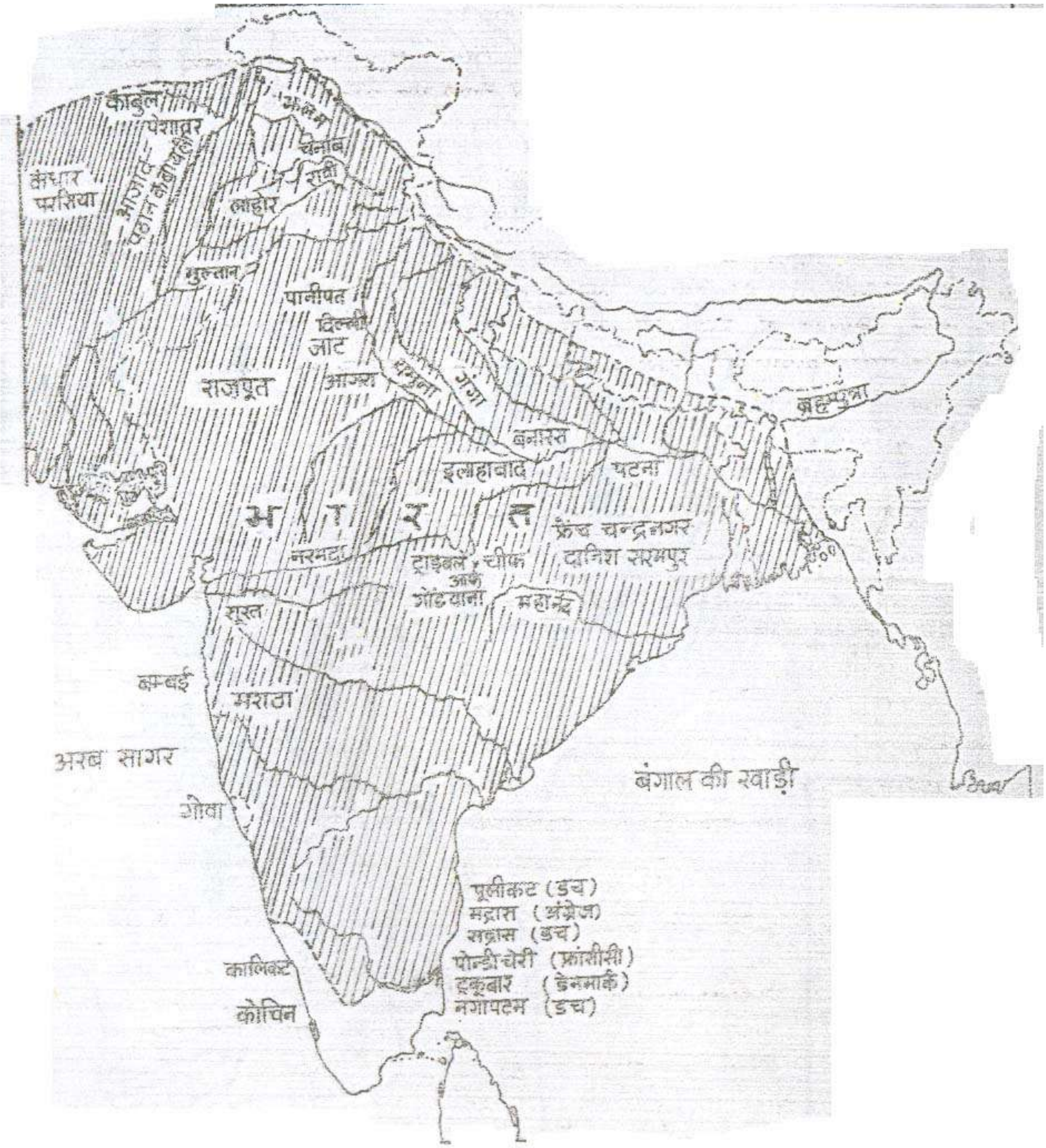
काबुल
पेशावर
कंधार
परसिया
आज़ाद पठान कबायली
झेलम
चेनाब
रावी
लाहौर
मुल्तान
पानीपत
दिल्ली
जाट
राजपूत
आगरा
यमुना
गंगा
बनारस
इलाहाबाद
पटना
ब्रह्मपुत्र
भारत
फ्रेंच चन्द्रनगर
दानिश सरमपुर
नरमदा
ट्राइबल चीफ
और
गोंडवाना
महानदी
सूरत
बम्बई
मराठा
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
गोवा
पुलीकट (डच)
मद्रास (अंग्रेज)
सद्रास (डच)
पोन्डीचेरी (फ्रांसीसी)
ट्रंकुबार (डेनमार्क)
नगापटम (डच)
कालिकट
कोचिन

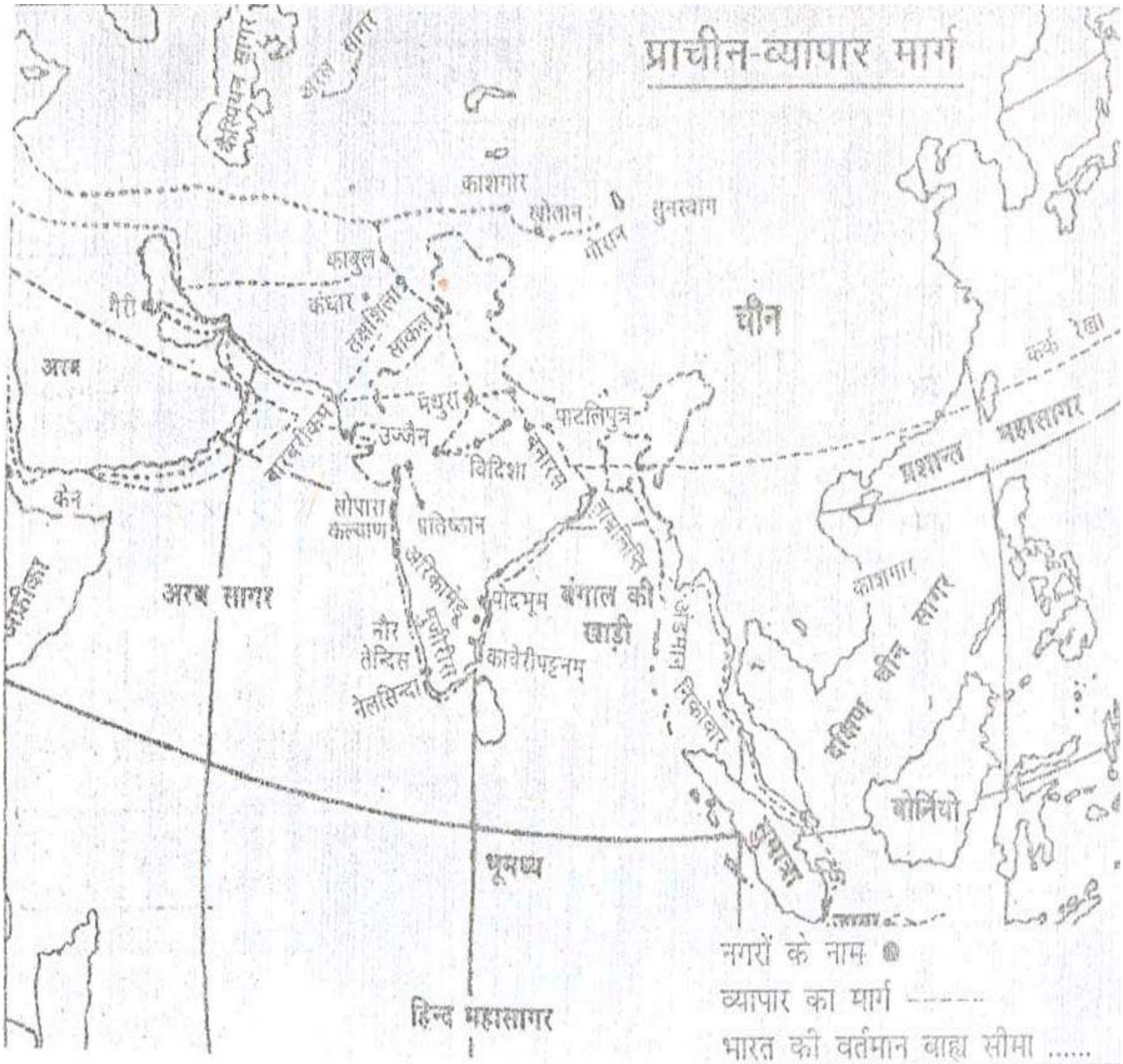
प्राचीन-व्यापार मार्ग
काशगार
खोतान
काबुल
कंधार
तक्षशिला
मथुरा
पाटलिपुत्र
उज्जैन
विदिशा
सोपारा
कल्याण
प्रतिष्ठान
बंगाल की खाड़ी
कावेरीपट्टनम
नेलसिन्दा
चीन
अरब सागर
हिन्द महासागर
बोर्नियो
दक्षिण चीन सागर
नगरों के नाम
व्यापार का मार्ग
भारत की वर्तमान बाह्य सीमा ......

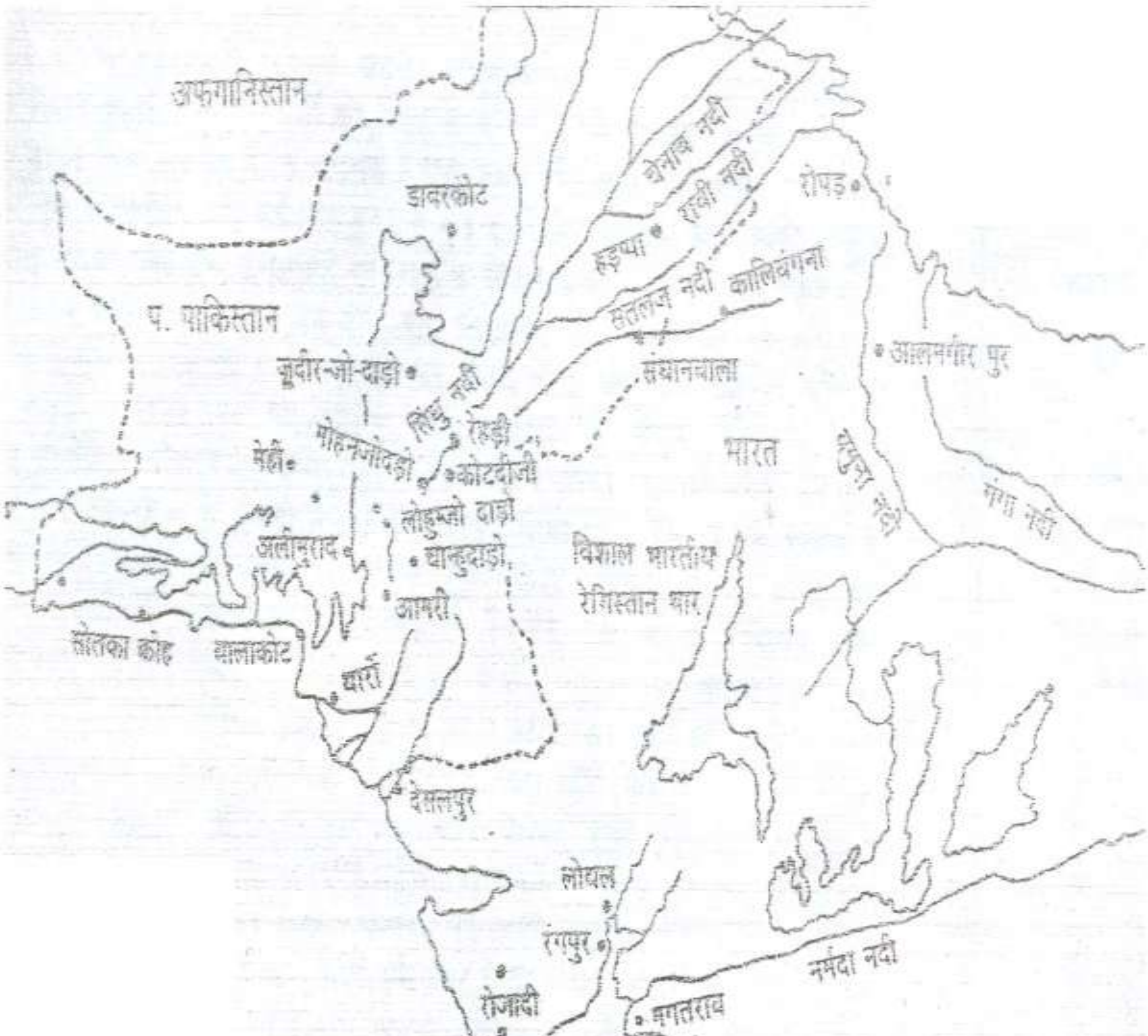
अफगानिस्तान
डाबरकोट
प. पाकिस्तान
सुतकागेंडोर
बालाकोट
अलीमुराद
लोहुम्जो दाड़ो
चान्हुदड़ो
आमरी
कोटदीजी
मोहनजोदड़ो
रहड़ी
सिंधु नदी
चेनाब नदी
रावी नदी
हड़प्पा
सतलज नदी
कालीबंगा
रोपड़
आलमगीर पुर
भारत
यमुना नदी
गंगा नदी
विशाल भारतीय
रेगिस्तान थार
देसलपुर
लोथल
रंगपुर
रोजादी
भगतराव
नर्मदा नदी